खण्ड ९ अंक १

दिसम्बर, १९८७ / मार्गशीर्ष-पौष, २०४४

संपादक

सुरेन्द्र बारलिंगे राजेन्द्र प्रसाद आनन्दप्रकाश दीक्षित

पुणे विश्वविद्यालय प्रकाशन

परामर्श (हिन्दी)

* पुणे विश्वविद्यालय का दर्शन विभाग एवं प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र, अमलनेर के संयुक्त तत्त्वावधान में प्रकाशित चिन्तनपरक त्रैमासिक पत्रिका
* नूतनमालिका (भूतपूर्व 'तत्त्वज्ञान-मंदिर' हिन्दी)

प्रकाशनार्थ लेख-सामग्री एवं अन्य प्रकार के पत्र-व्यवहार के लिए संपर्क करें : कार्यकारी संपादक, परामर्श (हिंदी) : दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, गणेशखिंड, पुणे ४११ ००७ (महाराष्ट्र)

सदस्यता शुल्क नकद या डिमांड ड्राफ्ट के द्वारा इस पते पर भेजा जाए : संपादक, परामर्श (हिंदी), दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे-४११००७

अंक न मिलने की सूचना अंक के प्रकाशित होने पर, एक महीने भर के भीतर कार्यालय में मिल जाए, तो अंक बचे होने पर पुनः भेज दिया जाएगा।

वार्षिक सदस्यता शुल्क

(१)	संस्थाओं के लिए	रु. ३०-००
(२)	व्यक्तियों के लिए	रु. २०-००
(३)	छात्रों के लिए	रु. १५-००
	एक प्रति	रु. ०६-००

आजीवन सदस्यता शुल्क : संस्थाओं के लिए रु. १०००-००
व्यक्तियों के लिए रु. २५०-००

इस अंक को प्रकाशित करने के लिये महाराष्ट्र राज्य साहित्य और संस्कृति मण्डल से आंशिक अनुदान मिला है।

* राशि मनिऑर्डर या डिमांड ड्राफ्ट के माध्यम से ही भेजें।
आजीवन सदस्यता शुल्क एक रकम में या दो समान किश्तों में दिया जा सकता है।

परामर्श (हिन्दी) पंजीकरण सं. 39883/79

प्रकाशनार्थ लेखों की दो टाईप की हुई प्रतियाँ भिजवाई जाएँ तो हमारे लिए अधिक सुविधा होगी। लेख सामान्यत: ६५०० शब्दों से बड़ा न हो। लेख के बारे में निर्णय लेख के प्राप्त होने पर दो महीनों में ही सूचित किया जायगा। जिन लेखों के प्रकाशन की पूर्वसूचना लेख प्राप्त होने से दो महीनों में लेखकों के पास नहीं पहुंचेगी उन्हें अस्वीकृत समझें। जिस लेखनसामग्री का हम उपयोग नहीं कर पाएँगे उसे आवश्यक पोस्टेज सहित लिफाफा साथ में रहने पर वापस किया जा सकेगा।

परामर्श वैचारिक पत्रिका है अत: विशुद्ध चिन्तनपरक सामग्री का स्वागत होगा। यह जरूरी नहीं कि लेखकों के विचारों से संपादक सहमत हों। प्रकाशित लेखों के संबंध में आई हुई वैचारिक टिप्पणियों का भी स्वागत है और उन्हें आवश्यकतानुसार प्रकाशित भी किया जाएगा। पत्रिका में प्रकाशित सामग्री का स्वामित्व-अधिकार पत्रिका का होगा।

पुणे विश्वविद्यालय का दर्शन विभाग और प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र अमलनेर के लिए संपादक सुरेन्द्र बारलिंगे ने यह त्रैमासिक महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा सभा प्रेस, पुणे ४११०३० में छपवाकर प्रकाशित किया।

परामर्श (हिन्दी) पंजीकरण सं. 39483 / 79

प्रकाशनार्थ लेखों की दो टाईप की हुई प्रतियां भिजवाई जाएँ तो हमारे लिए अधिक सुविधा होगी। लेख सामान्यत: ६५०० शब्दों से बड़ा न हो। लेख के बारे में निर्णय लेख के प्राप्त होने पर दो महीनों में ही सूचित किया जायगा। जिन लेखों के प्रकाशन की पूर्वसूचना लेख प्राप्त होने से दो महीनों में लेखकों के पास नहीं पहुंचेगी उन्हें अस्वीकृत समझें। जिस लेखनसामग्री का हम उपयोग नहीं कर पाएँगे उसे आवश्यक पोस्टेज सहित लिफाफा साथ में रहने पर वापस किया जा सकेगा।

परामर्श वैचारिक पत्रिका है अत: विशुद्ध चिन्तनपरक सामग्री का स्वागत होगा। यह जरूरी नहीं कि लेखकों के विचारों से संपादक सहमत हों। प्रकाशित लेखों के संबंध में आई हुई वैचारिक टिप्पणियों का भी स्वागत है और उन्हें आवश्यकतानुसार प्रकाशित भी किया जाएगा। पत्रिका में प्रकाशित सामग्री का स्वामित्व-अधिकार पत्रिका का होगा।

पुणे विश्वविद्यालय का दर्शन विभाग और प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र अमलनेर के लिए संपादक सुरेन्द्र बारलिंगे ने यह त्रैमासिक महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा सभा प्रेस, पुणे ४११०३० में छपवाकर प्रकाशित किया।

परामर्श (हिन्दी) पंजीकरण सं. 39883 / 79

प्रकाशनार्थ लेखों की दो टाईप की हुई प्रतियाँ भिजवाई जाएँ तो हमारे लिए अधिक सुविधा होगी। लेख सामान्यत: ६५०० शब्दों से बड़ा न हो। लेख के बारे में निर्णय लेख के प्राप्त होने पर दो महीनों में ही सूचित किया जायगा। जिन लेखों के प्रकाशन की पूर्वसूचना लेख प्राप्त होने से दो महीनों में लेखकों के पास नहीं पहुंचेगी उन्हें अस्वीकृत समझें। जिस लेखनसामग्री का हम उपयोग नहीं कर पाएँगे उसे आवश्यक पोस्टेज सहित लिफाफा साथ में रहने पर वापस किया जा सकेगा।

परामर्श वैचारिक पत्रिका है अत: विशुद्ध चिन्तनपरक सामग्री का स्वागत होगा। यह जरूरी नहीं कि लेखकों के विचारों से संपादक सहमत हों। प्रकाशित लेखों के संबंध में आई हुई वैचारिक टिप्पणियों का भी स्वागत है और उन्हें आवश्यकतानुसार प्रकाशित भी किया जाएगा। पत्रिका में प्रकाशित सामग्री का स्वामित्व-अधिकार पत्रिका का होगा।

पुणे विश्वविद्यालय का दर्शन विभाग और प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र अमलनेर के लिए संपादक सुरेन्द्र बारलिंगे ने यह त्रैमासिक महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा सभा प्रेस, पुणे ४११०३० में छपवाकर प्रकाशित किया।

परामर्श (हिन्दी)

पंजीकरण सं. 39883 / 79

प्रकाशनार्थ लेखों की दो टाईप की हुई प्रतियां भिजवाई जाएँ तो हमारे लिए अधिक सुविधा होगी। लेख सामान्यतः ६५०० शब्दों से बड़ा न हो। लेख के बारे में निर्णय लेख के प्राप्त होने पर दो महीनों में ही सूचित किया जायगा। जिन लेखों के प्रकाशन की पूर्वसूचना लेख प्राप्त होने से दो महीनों में लेखकों के पास नहीं पहुंचेगी उन्हें अस्वीकृत समझें। जिस लेखनसामग्री का हम उपयोग नहीं कर पाएँगे उसे आवश्यक पोस्टेज सहित लिफाफा साथ में रखने पर वापस किया जा सकेगा।

परामर्श वैचारिक पत्रिका है अतः विशुद्ध चिन्तनपरक सामग्री का स्वागत होगा। यह जरूरी नहीं कि लेखकों के विचारों से संपादक सहमत हों। प्रकाशित लेखों के संबंध में आई हुई वैचारिक टिप्पणियों का भी स्वागत है और उन्हें आवश्यकतानुसार प्रकाशित भी किया जाएगा। पत्रिका में प्रकाशित सामग्री का स्वामित्व-अधिकार पत्रिका का होगा।

पुणे विश्वविद्यालय का दर्शन विभाग और प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र अमलनेर के लिए संपादक सुरेन्द्र बारलिंगे ने यह त्रैमासिक महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा सभा प्रेस, पुणे ४११०३० में छपवाकर प्रकाशित किया।

पदार्थ

न्याय-वैशेषिक दर्शन के अनुसार यथासम्भव अति सरल रीति से 'पदार्थ' का सामान्य परिचय प्राप्त करने के उद्देश्य से यह विवेचन प्रस्तुत है।

— १ —

'पदार्थ' शब्द के घटक दो पद हैं – पद तथा अर्थ। पद शब्द से वह वर्ण या वर्णसमूह समझना चाहिए जो किसी वस्तु का बोध करने में समर्थ है। 'अर्थ' शब्द "अर्थोऽभिधेयरैवस्तुप्रयोजननिवृत्तिषु" – कोश के अनुसार वस्तुमात्र का बोधक है। जब हम पद एवम् अर्थ इन दोनों से घटित 'पदार्थ' शब्द का प्रयोग करते हैं तब 'पद का अर्थ' यह भाव स्पष्ट प्रतीत होता है। इसके अनुसार हम कह सकते हैं – पद का अर्थ पदार्थ है। वस्तुमात्र किसी न किसी पद का अर्थ होता ही है, अतः वस्तुमात्र के लिये 'पदार्थ' शब्द का प्रयोग उचित ही है, चाहे वह भावात्मक हो या अभावात्मक।

— २ —

उपर्युक्त कोश के अनुसार 'अर्थ' शब्द पांच अर्थों का बोधक है — (१) अभिधेय, (२) रै (धन), (३) वस्तु, (४) प्रयोजन, और (५) निवृत्ति इनमें से सर्वप्रथम अर्थ है — 'अभिधेय'। 'अभिधेय' शब्द अभिधा से निष्पन्न है, अतः जो वस्तु अभिधा से जानी जाय उसे अभिधेय कहते हैं जिस के ज्ञान के अभाव में किसी पद से अर्थबोध सम्भव ही नहीं है।

यह स्वाभाविक ही है कि जब कोई निर्माता किसी नवीन वस्तु का निर्माण करता है तब लोकव्यवहार के निर्वाह के लिये उसका कोई नाम भी अवश्य रखता है। ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो अस्तित्व में हो और उसका कोई नाम न हो; क्योंकि जब कोई व्यक्ति किसी वस्तु का निर्माण करता है तब वह यह इच्छा व्यक्त करता ही है कि इस वस्तु को इस नाम से समझा जाय। इसी इच्छा को सङ्केत,

शक्ति, अभिधा आदि नाम से न्याय-वैशेषिक दर्शन में कहा जाता है और यह इच्छा ही पद के द्वारा अर्थ-बोध कराने में सम्बन्ध-माध्यम बनती है। इससे यह स्पष्ट होता है कि पद एवम् अर्थ के मध्य सम्बन्ध स्वीकार करना आवश्यक है; अन्यथा किसी नियत पद से किसी नियत अर्थ के बोध की व्यवस्था नहीं हो सकती।

हम देखते हैं कि सभी भाषाओं में सभी पद अपने अपने अर्थ के बोध के लिये नियत हैं। पुस्तक पद से पुस्तक रूप अर्थ का ही मुख्य रूप से बोध होता है, घट आदि का नहीं। पुरुष पद से पुरुष रूप अर्थ का ही मुख्यतया बोध होता है, पशु आदि का नहीं। आदि आदि। इस प्रकार की सुनिश्चित व्यवस्था के लिये ऐसे एक सम्बन्ध का स्वीकार करना ही होगा जिसके सम्बन्धी दो हों — पद एवम् अर्थ। एक सम्बन्धी का ज्ञान दूसरे सम्बन्धी का स्मारक होता है यह एक लोकसिद्ध तथ्य है। इस के अनुसार इस सम्बन्ध के एक सम्बन्धी 'पद' का ज्ञान होने पर दूसरे सम्बन्धी 'अर्थ' का स्मरण किसी आकस्मिक प्रतिबन्धक के अभाव में अपरिहार्य होगा। अतः जिस पद का जिस अर्थ के साथ यह सम्बन्ध मान्य होगा उस पद का ज्ञान होने पर उससे सम्बद्ध अर्थ का नियमेन स्मरण सामान्य स्थिति में होगा ही। यह पद और अर्थ के बीच होनेवाला सम्बन्ध उपर्युक्त इच्छा से अतिरिक्त कुछ नहीं है जो सङ्केत, शक्ति, अभिधा आदि शब्दों से न्याय-वैशेषिक दर्शन में व्यपदिष्ट है।

इस 'अभिधा' नाम के सम्बन्ध के द्वारा ही पद से जो अर्थ प्रतीत होता है वह अभिधेय कहा जाता है और यही अभिधेय अर्थ शब्द का मुख्य अर्थ उपर्युक्त कोश के अनुसार मान्य है। यही अभिधेय अर्थ अभिधा के सम्बन्ध से जैसे अभिधेय कहा जाता है वैसे ही अभिधा के दूसरे नाम शक्ति के सबन्ध से शक्य (शक्तिवृत्ति-शक्ति-सम्बन्ध से ज्ञात होने वाला) कहा जाता है। 'अभिधेय' तथा 'शक्य' में कोई अन्तर नहीं है। इस प्रकार हमें यह समझ लेना चाहिये कि 'अर्थ' शब्द का मुख्य अर्थ अभिधेय (शक्य) है। यह अभिधेय ही पद का मुख्य अर्थ होता है; अतः 'पदार्थ' शब्द से मुख्य रूप में वही अर्थ समझा जाता है जो पद का अभिधेय-शक्य होता है। इसलिये पद का दूसरा नाम शक्त (शक्ति-विशिष्ट) है। शक्त शब्द भी 'शक्ति' सम्बन्ध को दृष्टि में रख कर प्रवृत्त है। पद एवम् अर्थ का सम्बन्ध 'शक्ति' है। यह सम्बन्ध पद में है, अतः पद शक्त है और इस सम्बन्ध के ज्ञान से पद का अर्थ प्रत्यायक होता है। अत अर्थ शक्य (शक्ति-ज्ञान के सहयोग से बोध्य) है।

— ३ —

अब प्रश्न हो सकता है कि क्या अभिधेय से भिन्न भी पद का कोई अर्थ होता है ? इसका सकारात्मक उत्तर देते हुए उदाहरण के रूप में हम कह सकते हैं कि कोई व्यक्ति इस वाक्य का प्रयोग करता है – 'वह सड़क पर जा रहा है' तो इस वाक्य में 'सड़क' पद का अर्थ सड़क ही है; पर जब कोई व्यक्ति 'मेरा घर सड़क पर है' इस रूप में वाक्यप्रयोग करता है तब इस वाक्य में 'सड़क' पद का अर्थ क्या सड़क ही माना जा सकता है ? नहीं; क्योंकि सड़क पर किसी का घर नहीं हो सकता। अतः अवश्य ही यहाँ 'सड़क' पद का अर्थ सड़क का किनारा ही करना होगा। यहाँ यह विचारणीय है कि उपर्युक्त दोनों वाक्यों में 'सड़क' पद का प्रयोग है और उनमें से एक वाक्य में 'सड़क' पद का अर्थ सड़क है तथा दूसरे वाक्य में 'सडक' पद का सडक का किनारा यह अर्थ है। क्या ये दोनों अर्थ 'सड़क' पद के मुख्य अर्थ हो अर्थ हो सकते हैं ? नहीं, क्यों कि यह सर्वथा लोकविरुद्ध होगा। उनमें से एक अर्थ को मुख्य तथा अन्य अर्थ को गौण मानना होगा और यह अन्य अर्थ 'किनारा' होगा। 'सडक का' यह भाग तो किनारा विशेष का परिचायक मात्र है जिससे बगीचा, नदी आदि का किनारा न समझा जा सके। ऐसी स्थिति में यह स्पष्ट है कि पद का अर्थ दो प्रकार का हो सकता है— एक मुख्य तथा दूसरा गौण। पद का जो मुख्य अर्थ होता है उसे शक्य अथवा अभिधेय शब्द से कहा जाता है, और जो गौण अर्थ होता है उसे लक्ष्य (लक्षणा से वोध्य) शब्द से कहा जाता है। इसी लिये किसी भी पद का शक्य अर्थ ही सर्वप्रथम ध्यान में आता है। जब किसी कारणवशात् उस अर्थ को स्वीकार करने से वाक्यार्थ बाधित होता है अथवा वक्ता का तात्पर्य उत्पन्न नहीं होता तब लक्ष्य अर्थ को भी पदार्थ मान कर वक्ता के तात्पर्य के अनुसार वाक्यार्थ का वर्णन किया जाता है।

— ४ —

उपर्युक्त दोनों वाक्यों में 'सड़क' पद का प्रयोग है। प्रथम वाक्य (वह सडक पर जा रहा है।) में 'सडक' पद का मुख्य (शक्य) अर्थ सडक स्वीकार करने पर वाक्यार्थ बाधित नहीं हो रहा है तथा वक्ता का तात्पर्य उत्पन्न हो रहा है। अतः प्रथम वाक्य में 'सडक का किनारा' यह गौण (लक्ष्य) अर्थ नहीं माना जाता। द्वितीय वाक्य (मेरा घर सडक पर है।) में 'सड़क' पद का सडक यह मुख्य अर्थ मानने पर वाक्यार्थ बाधित हो रहा है, अतः 'सडक का किनारा' यह गौण अर्थ ही स्वीकार करना पड़ता है। यहाँ यदि हम जानना चाहें कि 'मेरा

घर सड़क पर है' इस वाक्य में 'सड़क' पद का सड़क यह मुख्य अर्थ स्वीकार करने पर चूंकि सड़क पर घर होना असम्भव है अतः वाक्यार्थ बाधित होने के कारण 'सड़क का किनारा' यह गौण अर्थ माना जा रहा है, तो ऐसी स्थिति में उक्त वाक्य में 'सड़क' पद का प्रयोग ही क्यों किया गया है. 'सड़क के किनारे मेरा घर है' इसी रूप में ही वाक्य-प्रयोग क्यों नहीं किया गया, तो इसका उत्तर यह है कि सड़क के किनारे मेरा घर है ऐसा न कह कर सड़क पर मेरा घर है ऐसा कहते हुए वक्ता हमें यह बताना चाहता है कि मेरा घर सड़क के अतिसन्निकट है। वह यह समझ रहा है कि 'सड़क के किनारे मेरा घर है' ऐसा कहने पर 'सड़क के अतिसन्निकट मेरा घर है' यह बोध श्रोता को सम्भवतः न हो। अस्तु।

— ५ —

प्रस्तुत प्रसङ्ग में निष्कर्ष यह है कि पद का अर्थ ही पदार्थ है और यह अर्थ अभिधेय रूप में ही मुख्य अर्थ होता है; इसलिये पद का अभिधेय अर्थ ही सर्वप्रथम 'पदार्थ' शब्द से ध्यान में आता है। उसके अनन्तर उस अर्थ से वाक्यार्थ यदि सङ्गत नहीं होता है तो अन्य गौण - अप्रधान - लक्ष्य अर्थ भी पद से समझा जाता है। इतने से यह स्पष्ट है कि पदार्थ शब्द से मुख्यतः पद का अभिधेय अर्थ ही लेना चाहिये। गौण रूप से अन्य अर्थ भी विशेष स्थिति में लिये जा सकते हैं।

अब हम यह यों दृढ़ कर लें – 'पदार्थ' शब्द उस अर्थ का मुख्यतः बोधक है जो पद का अभिधेय अर्थात् शक्य है; अतः पदार्थ का लक्षण (असाधारण धर्म) पदाभिधेयत्व या पदशक्यत्व माना जा सकता है और इस लक्षण के अनुसार भावात्मक या अभावात्मक समस्त वस्तु - पदार्थ हैं, क्यों कि वे किसी न किसी पद के शक्य हैं ही।

— ६ —

न्याय - वैशेषिक दर्शन में पदार्थ शब्द का पर्याय 'तर्क' शब्द भी है। इसी लिये अन्नम्भट्ट ने अपनी पुस्तक का नाम **तर्कसङ्ग्रह** रखा है। यहाँ तर्क शब्द पदार्थ का ही बोधक है। 'तर्कसङ्ग्रह' शब्द की व्याख्या करते हुए अन्नम्भट्ट **दीपिका** में स्पष्ट कहते हैं—

"तर्क्यन्ते प्रतिपाद्यन्ते इति तर्काः द्रव्यादिपदार्थाः। तेषां संङ्ग्रहः संक्षेपेण रूपरूपकथनं क्रियते इत्यर्थः।"

(तर्कसङ्ग्रह व्याख्या दीपिकायाम्)

तर्कसङ्ग्रह की मेरुशास्त्री गोडबोले कृत वाक्यवृत्ति नाम की व्याख्या में भी इसी तथ्य को स्पष्ट किया गया है –

" तर्क्यन्ते प्रतिपाद्यन्ते इति तर्का द्रव्यादिपदार्थाः । तेषां सङ्ग्रहः लक्षणस्वरूपविभागप्रकारकज्ञानानुकूल सङ्क्षिप्तः व्यापारः । "

जगन्नाथ शास्त्रीकृत निरुक्ति नाम की तर्कसंग्रहव्याख्या में भी ऐसा ही स्पष्ट उल्लेख है —

तर्काणां द्रव्यादिपदार्थानाम् संग्रहः तर्कसंग्रहः ।

पदार्थ का पर्याय तर्क शब्द प्रतिपाद्य (प्रतिपादन विषय) अर्थ को बता रहा है, यह उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है । अतः पदार्थ का लक्षण प्रतिपाद्यत्व भी हो सकता है – " प्रतिपाद्यत्वं पदार्थत्वम् " । अर्थात् जो जो प्रतिपाद्य (प्रतिपादन-योग्य) है वह वह पदार्थ है । तर्कसङ्ग्रह के कई व्याख्याकारों का यह अभिमत है कि अन्नम्भट्ट के तर्कसङ्ग्रह का आरम्भ पदार्थों के विभाग से किया है । " द्रव्य-गुण - कर्म - सामान्य - विशेष - समवायाभावाः सप्तपदार्थाः । "

पदार्थों के विभाग करने के पूर्व उनका सामान्य परिचय देना आवश्यक है । क्यों कि सामान्य रूप से ज्ञात वस्तु का ही विभाग किया जा सकता है; इसीलिये अन्नम्भट्ट अपने ग्रन्थ के नाम में तर्क शब्द जोड़ कर पदार्थ का सामान्य परिचय दे रहे हैं — जो प्रतिपादनीय है वह पदार्थ है। इस से भी यह स्पष्ट है कि वस्तु-मात्र पदार्थ है, क्यों कि जो कुछ भी अस्तित्व में है वह सब प्रतिपादनीय होता ही है ।

— ७ —

प्रारम्भ में यह कहा गया है कि पदार्थ शब्द पद एवम् अर्थ इन दो शब्दों से बना है । इन में से अर्थ शब्द की सिद्धि ऋ धातु से थ प्रत्यय करके की जाती है । ऋ+थ इस स्थिति में ऋ को अर् गुण कर दिया जाता है । इस तरह अर्थ शब्द बन जाता है । ' ऋ गतौ ' इस धातुपाठ के अनुसार ऋ धातु का गति यह अर्थ है । जिन धातुओं का गति अर्थ होता है उनका ज्ञान भी अर्थ होता है । इस तरह ऋ का प्रकृत में ज्ञान यह अर्थ है तथा थ का अर्थ विषय है; अतः अर्थ शब्द का अर्थ है — ज्ञानविषय ।

पद शब्द का प्रयोग प्रकृत सन्दर्भ में किसी विशेष तथ्य को स्पष्ट करने के लिये नहीं किया गया है । पद से भी अर्थ का ज्ञान होता है, इसलिये पद शब्द का प्रयोग कर दिया गया है । याने पद शब्द यहाँ तात्पर्यार्थ का वाचक होने से ' पदार्थ ' और ' अर्थ ' से एक ही मतलब निकलता है । ऐसी स्थिति में सम्पूर्ण पदार्थ शब्द

'ज्ञानविषय' इस अर्थ को स्पष्ट कर रहा है। अतः 'ज्ञानविषयत्वं पदार्थत्वम्'—जो ज्ञान का विषय है वह पदार्थ है -- यह भी पदार्थ का लक्षण किया जा सकता है और इससे भी स्पष्ट हो रहा है कि भावात्मक तथा अभावात्मक जो भी कुछ है वह वस्तुमात्र पदार्थ है, क्यों कि वस्तुमात्र किसी न किसी के ज्ञान का विषय होता ही है।

— ८ —

न्याय-वैशेषिक दर्शन के मर्मज्ञ कुछ विद्वानों का मत है कि पदार्थ का लक्षण 'पदार्थत्व' ही है। इनका आशय यह है -- 'पदार्थत्व' एक अखण्ड उपाधि है, इसका आश्रय ही पदार्थ है। न्याय-वैशेषिक में धर्म (आधेय) के दो प्रकार मान्य हैं — जाति एवम् उपाधि। इस सम्बन्ध में विस्तृत एवम् स्पष्ट विवेचन किसी अन्य निबन्ध में किया जायगा। यहाँ हमें इतना ही ध्यान में लेना है कि जो धर्म नित्य हैं तथा अनेक में समवाय सम्बन्ध से विद्यमान हैं वे जाति हैं, तथा इनसे भिन्न धर्म उपाधि हैं। यहाँ 'उपाधि' शब्द जातिभिन्न धर्म में रूढ़ समझना चाहिये — "जातिभिन्नः धर्मः"

उपाधि भी दो प्रकार की है — सखण्ड एवम् अखण्ड। सखण्ड वह है जिस में खण्ड (भाग) हों और यह तभी सम्भव है जब वह कम से कम दो पदार्थों से घटित अवश्य हो। यहाँ सखण्डत्व का तात्पर्य विश्लेषण से है और इसलिये सखण्ड उपाधि विश्लेषणीय होनी चाहिये। इसके अतिरिक्त अखण्ड उपाधि वह है जो अविश्लेषणीय हो, याने जिसके सम्बन्ध में विश्लेषण की आवश्यकता न पड़े। उदाहरण के रूप में हम दो धर्मों को ले सकते हैं — पांडित्य तथा अधिकरणता। पाण्डित्य पण्डित का धर्म है। पण्डित उसे कहते हैं जिस में 'पण्डा' हो। याने जिसे ज्ञान हो। 'पंडा' उस बुद्धि का नाम है जो सत् (उचित) और असत् (अनुचित) के विवेक से सम्पन्न हो। इसी लिये पण्डित शब्द की व्याख्या की जाती है — "सद्-असत् - विवेकशालिनी बुद्धिः पण्डा, पण्डा अस्ति अस्य इति पण्डितः" इस से यह स्पष्ट हो रहा है कि सद् - असद् - विवेकसम्पन्न बुद्धि ही पाण्डित्य है। इसमें अनेक खण्ड (भाग) स्पष्ट हैं – सद् - असद् - विवेक, सम्पन्नता, बुद्धि एवम् उसका योग आदि। इसीलिये पाण्डित्य एक सखण्ड उपाधि है। यह जाति नहीं है, क्यों कि वह अनित्य है।

'अधिकरणता' अधिकरण का असाधारण धर्म है। समस्त अधिकरणों का अनुगम सुविधा से करने के लिये ही अखण्ड धर्म के रूप में इसे स्वीकार किया जाता है। अधिकरण अधिकरणता नाम के अखण्ड धर्म के साथ ध्यान में आ

जाता है यह प्राय: सभी व्युत्पन्नों का अनुभव है। इस प्रकार के अखण्ड उपाधि को जाति मानने में कोई प्रमाण नहीं है। प्रत्युत छः प्रकार के जाति-बाधकों में से 'असम्बन्ध' से वह बाधित है। 'असम्बन्ध' उस धर्म के जाति होने में बाधक होता है जो स्वयम् समवाय सम्बन्ध से कहीं न रहता हो, अथवा जिसमें समवाय सम्बन्ध से कोई न रहता हो। अधिकरणता न स्वयम् समवाय सम्बन्ध से कहीं रहती है, न उसमें कोई समवाय सम्बन्ध से रहता है। अतः 'असम्बन्ध' रूप जाति-बाधक के कारण 'अधिकरणता' जाति नहीं है। अधिकरणता अधिकरण में अवश्य रहती है, परन्तु वह स्वरूप सम्बन्ध से रहती है, न कि समवाय सम्बन्ध से। इसीलिये अधिकरणता को अखण्ड उपाधि माना जाता है।

ऐसे ही प्रकृत सन्दर्भ में पदार्थत्व भी अखण्ड उपाधि है। यह जाति इसलिये नहीं है कि इसके जातित्व का साधक कोई प्रमाण नहीं है। वस्तुमात्र के बोधक रूप में पदार्थ शब्द अनादि काल से इतना रूढ़ हो गया है कि अवयवार्थानुसन्धान की अपेक्षा बिना किये ही यह वस्तुमात्र का बोध करा देता है। वस्तुमात्र का असाधारण धर्म वस्तुत्व जैसे किसी प्रकार की व्याख्या से निरपेक्ष हो कर अखण्ड रूप में प्रतीत होता है वैसे ही वस्तुमात्र का धर्म पदार्थत्व भी व्याख्या-निरपेक्ष हो कर ही अखण्ड रूप में प्रतीत होता है। अतः यह अखण्ड धर्म पदार्थत्व जिसमें है उसे पदार्थ माना जाता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भावाभावात्मक वस्तुमात्र पदार्थ है, क्यों कि वस्तुमात्र में पदार्थत्व है।

न्याय-वैशेषिक विभाग — सुधाकर दीक्षित
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी – २२१००२
(उ. प्र.)

भारतीय परम्परा में लोकसंग्रह की अवधारणा

— १ —

व्यवित के अपने सम्बन्ध में ज्ञान के विषय को अस्मिता कहा जाता है जो अधिष्ठाता या संकल्प के रूप में व्यक्ति का नियोजन करती है। किन्तु इस अधिष्ठाता का स्वरूप अतीत में घटी घटनाओं के समूह से निरूपित नहीं होता बल्कि उस मूल्य या अर्थ से निरूपित होता है जिसे वह भविष्य में चरितार्थ करना चाहता है। और क्योंकि अतीत भी इस अधिष्ठाता का ही अतीत होता है इसलिए वह भी इसी प्रकार भव्योन्मुखता का ही अतीत होता है। अवश्य इस अतीत का एक शुद्ध घटनात्मक पक्ष भी होता है, किन्तु वह स्वयं उस व्यक्ति के लिए निरर्थक तो होता ही है वह वस्तुस्थिति से अलग, विश्लिष्ट और उद्गृहीत (एब्स्ट्रेक्ट) भी होता है। उसके निरर्थक होने का अर्थ है कि वह व्यक्ति का निर्माण नहीं करता, उसका घटक नहीं होता। उसका घटक अतीत वही होता है जो किसी नेय अर्थ से, आदर्श या अन्वेष्य के अर्थ से, अन्तःप्रविष्ट होता है। गान्धी जी ने अपनी आत्मकथा को "सत्य के प्रयोग" नाम दिया था, यह नाम वास्तव में किसी भी "जीवनी" का होता है— जहां तक वह "जीवनी" होती है। अधिकांश जीवन 'जीवनी' से वंचित होते हैं, जिसके होने की न्यूनतम शर्त कर्मों का संकल्प के अधीन होना होता है। जीवन-रहित इन जीवनों को ही कबीर ने 'रात गँवाई सोय करि, दिवस गँवायो खाय' कहा है। इस प्रकार एक व्यक्ति को, जीवनी को, एक नेयार्थ कह सकते हैं। ऐसा अर्थ जो व्यवित की उन सब, भावनाओं, विचारों उद्विग्नताओं और कार्यों के माध्यम से अपने को व्यवत और संपादित करता है जिनको वह व्यक्ति अपने से सम्बद्ध करता है। यों व्यक्ति के जीवन में अन्य भी असंख्य घटनाएं घटित होती हैं— सोना-जगना, खाना-पीना दफ्तर जाना आदि, किन्तु ये व्यक्ति-सम्बद्ध घटनाएं नहीं होतीं, क्योंकि ये किसी नेयार्थ से अन्तःप्रविष्ट नहीं होतीं।

यही नेयार्थ किसी जाति के जीवन में परम्परा कहा जाता है। यों साधारण अर्थ में परंपरा तो संपूर्ण जैव जगत् का ही लक्षण है। किन्तु यह शब्द जैव सातत्य मात्र के लिए प्रयुक्त नहीं होता, यह नेयार्थ के आत्मविकास, मूल्य के आत्मचरितार्थन के क्रम के लिए ही प्रयुक्त होता है। यों जातीय जीवन में अनेक अर्थ-परम्पराएं या नेय अर्थ होते हैं किन्तु एक मुख्य अर्थ रहता है जिसे हम संस्कृति कहते हैं, परंपराओं को सभ्यता कह सकते हैं। सांस्कृतिक परंपरा इन उपपरंपराओं का समावेश करती है किन्तु साथ ही यह इनसे अतिरिक्त भी होती है। ये उप-परंपराएँ कहां तक सांस्कृतिक अर्थ से स्वतंत्र हैं और कहां तक उससे अन्तःशासित हैं यह जाति विशेष की सांस्कृतिक सप्राणता पर निर्भर करता है, कभी-कभी यह प्राण इतना क्षीण होता है कि उन उपपरंपराओं में या सामाजिकों के अन्य व्यवहारों में सांस्कृतिक नेयार्थ के लक्षण प्रयत्न से भी खोज पाना कठिन होता है, किन्तु इससे उस सांस्कृतिक परपरा को कोई दूसरा नाम नहीं दिया जा सकता। उदाहरण के लिए चार आश्रमों और चार पुरुषार्थों की व्यवस्था जीवन को मोक्ष के अनुसार व्यवस्थित करने के विचार में प्रतिष्ठित है। इनके स्वरूप का कालिदास ने बहुत सुन्दर निरूपण इस प्रकार किया है-

वे ब्रह्मचर्य-काल में विद्याभ्यास करते हैं, त्याग के लिए धन संग्रह करते हैं, कभी अनजाने में भी झूठ नहीं बोल जाएं इसलिए मितभाषी हैं, और योग से इच्छानुसार शरीर त्याग करते हैं।[1]

किन्तु भारतीय समाज कभी सामान्य रूप से इस प्रकार का था, एसा नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति के लिए ऐसा होना भारतीय समाज का आदर्श था। आदर्श विषयक यह दृष्टि ही संस्कृति है, इसके अनुसार आचरण में न्यूनता और अधिकता संस्कृति-भ्रष्टता या असंस्कृतता मानी जाती है। संस्कृति-भ्रष्टता एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अवधारणा है जिसका संस्कृति-विषयक विचार में ध्यान रखना आवश्यक है। संस्कृति-भ्रष्टता का अर्थ है कि संस्कृति वह मानदंड है जो किसी जीवन को प्रमाणित करती है और जिसके अनुसार नहीं होने में वह समाज व्यक्तियों के जीवन की असफलता या निकृष्टता देखता है। दृष्टि या मानदंड वही रहने पर समाज में सामान्यरूप से भी उल्लंघन उस समाज की संस्कृति में परिवर्तन का द्योतक नहीं होता, वह उस समाज के, उसकी सभ्यता के, पतन का द्योतक होता है। सांस्कृतिक परम्परा में परिवर्तन पहले की दृष्टि का स्थान दूसरी दृष्टि के ले लेने पर होता है और तब उस समाज की संस्कृति को दूसरा नाम दिया जाता है। उदाहरणतः पश्चिम में मध्ययुग का अन्त ग्रीक-ईसाई संस्कृति के पतन और भौतिक-वैज्ञानिक संस्कृति के आविर्भाव के साथ हुआ। इस नवीन संस्कृति के जन्मदाता

गैलिलियो और डेकार्ट को कहा जा सकता है। सोरोकिन ने इस संस्कृति को सेन्शण्ट (ऐन्द्रिक, इन्द्रियार्थवादी) नाम दिया है। भारतीय संस्कृति में ऐसा गम्भीर परिवर्तन पहले कहीं लक्षित नहीं होता, एक बड़ा मोड़ माहात्मा बुद्ध के साथ अवश्य दिखायी देता है। एक दूसरा नया मोड़, जो कभी आमूल परिवर्तन का रूप ले सकता है वह भारत में पाश्चात्य संस्कृति के साथ संपर्क से आरम्भ हुआ जिसे एक नयी प्रेरणा और बल भारत की स्वतन्त्रता के बाद मिला है।

किन्तु यहां विचारणीय नये सांस्कृतिक प्रत्यय के आविर्भाव का प्रश्न नहीं है, यहां विचारणीय केवल यह है कि हम किसी परंपरा को नाम किस प्रकार देते हैं, उसका अवच्छेदक किस प्रकार निश्चित करते हैं। उदाहरणत: हमारे इस परिसंवाद के आयोजकों का प्रस्ताव है कि भारतीय संस्कृति लोकोन्मुख थी, अतिलोकोन्मुख नहीं थी। यह प्रस्ताव आज बहुतों का है, प्रोफेसर सच्चिदानंद मूर्ति ने अपनी बहुत विद्वत्तापूर्ण पुस्तक इंडियन स्पिरिट[२] में भारतीय परम्परा को लोकोन्मुख ही दिखाने का प्रयत्न किया है। इसी प्रकार कुछ दूसरे भी विशेषत: रूसी और उनके भारतीय अनुयायी यह प्रयत्न कर रहे हैं। किन्तु दूसरी ओर बहुत से विचारकों ने इसे अतिलोकोन्मुख ही देखा है। इसे अतिलोकोन्मुख पाश्चात्य विचारकों ने ही देखा हो ऐसा नहीं है, अनेक ऐसे भारतीय विचारक भी हैं, जिन्हें किसी भी प्रकार पश्चिम से प्रभावित नहीं कहा जा सकता, जिन्होंने इस संस्कृति को अतिलोकोन्मुख ही देखा है। इनमें श्री अरविन्द, रामकृष्ण परमहंस और गोपीनाथ कविराज का, और वास्तव में असंख्य दूसरे विद्वानों का, नाम लिया जा सकता है। अब गोपीनाथ कविराज "भारतीय संस्कृति में सेवा का आदर्श"[३] नामक लेख में बुद्ध की करुणा को इस आदर्श के रूप में देखते हैं, जो बुद्ध मनुष्य के रोग-शोक से नहीं बल्कि उसकी भवबाधा से, अतिलौकिक दु:ख या अविद्या से द्रवित थे। द्रष्टव्य है कि बुद्ध में करुणा का प्रथम उद्रेक मनुष्य के लौकिक रोग-शोक को देख कर ही हुआ था, किन्तु इसका निदान खोजने के लिए वे अस्पताल खुलवाने की ओर अग्रसर नहीं हुए, वे तत्त्वसाक्षात्कार कराने की ओर अग्रसर हुए। इसी प्रकार श्री अरविन्द ऐहिक जीवन को नहीं, दिव्य जीवन को अन्वेष्य मानते हैं। अवश्य तिलक और दयानन्द भारतीय संस्कृति का संदेश दूसरा देखते है, किन्तु दूसरे कुछ कामशास्त्र और अर्थशास्त्र में ही भारतीय मनीषा का उत्कर्ष देखना चाहते हैं। जहाँ तक तिलक और दयानन्द का प्रश्न है, वे वास्तव में भारतीय संस्कृति के व्याख्याकार नहीं होकर भारतीय समाज की तात्कालिक दुर्गति का निदान खोजने वाले थे जिसके लिए उन्होंने परंपरा का आवश्यकता के अनुसार उपयोग किया, संस्कृति को निरूपित नही किया। परंपरा का इस प्रकार नवनिर्माण के लिए उपयोग पूर्णत:

उचित है क्योंकि यह हमें अतीतोन्मुख नहीं बना कर अतीत को भविष्योन्मुख बनाता है। इसी प्रकार कामसूत्र या अर्थशास्त्र में भारतीय मनीषा का उत्कर्ष खोजने वाले भी वास्तव में भारतीय संस्कृति के नवसर्जन की इच्छा से प्रेरित हैं। यह बात दूसरी है कि इस इच्छा में दृष्टि कितनी उथली और पश्चिम उथले ज्ञान से प्रेरित है।

अब यहाँ प्रश्न है कि प्रस्तुत परिसंवाद का प्रस्ताव नवनिर्माण के उद्देश्य से प्रेरित है या कि परंपरा के स्वरूप को समझने के उद्देश्य से प्रेरित है, और यदि यह पहले उद्देश्य से प्रेरित है तो क्या परम्परा की इस प्रकार की पुनर्व्याख्या उपयोगी होगी ?

यदि परिसंवाद के आयोजकों का उद्देश्य दूसरा है तो हम उनकी इस धारणा से अपने को पूर्णतः असहमत पाते हैं कि भारतीय संस्कृति एक लोकोन्मुख संस्कृत थी और इसमें लोक-सग्रह का आदर्श ऐहिक जीवनमूलक था। किन्तु हमारी इस प्रस्थापना का स्पष्टीकरण और इसके समर्थन में कुछ युक्तियाँ प्रस्तुत करना आवश्यक है।

जैसा कि स्पष्ट है, भारतीय परंपरा में वह सब कुछ था जो किसी भी परंपरा मे हो सकता है, अथवा कहें जीवन के सभी पक्ष थे, जैसा कि स्वाभाविक है- जैसे काव्य, शिल्प, विज्ञान, घूसखोरी और वामाचार, सब। किन्तु ये सब संस्कृति या संस्कृति के अंग नहीं कहे जा सकते, इनमें अतिम दो तो किसी भी प्रकार की परम्परा के अंग नहीं कहे जा सकते, क्योंकि ये परंपरा होने की अनिवार्य शर्त (नेय अर्थ-मूलक होना) की पूर्ति नहीं करते। पहले तीन परम्परा के अंग हैं किन्तु स्वय से सांस्कृतिक परम्परा के अंग इन्हें नहीं कहा जा सकता, इन्हें सभ्यता की परम्परा के अंग कहा जा सकता है जो संस्कृति की वाहक हो भी सकती है और नहीं भी हो सकती। यहाँ सभ्यता और संस्कृति में होने वाले भेद को परिभाषित करना आवश्यक है। हम कहेंगे कि संस्कृति सत् और मूल्य विषयक, दूसरे शब्दों में जगत् और जीवन के परमार्थविषयक वह दृष्टि होती है जो एक ओर किसी समाज में सार्थकता विषयक मानदण्ड का निर्धारण करती है और दूसरा ओर उसे अपनी व्याख्या में निरन्तर नियुक्त रखती है। इसके विपरीत सभ्यता जीवन की सहज अभिव्यक्ति के क्रम में उद्भूत अर्थों और उनके सम्यक् और विपुल क्रियान्वयन की परम्परा होती है। इस प्रकार कालिदास का काव्य रसात्मक अर्थ की अभिव्यक्ति के रूप में भारतीय सभ्यता की परम्परा का अंग है और आदर्श जीवन की व्याख्या में सांस्कृतिक परम्परा का। टैगोर ने कालिदास

के काव्य की व्याख्या में कालिदास की यह संस्कृति-दृष्टि अत्यंत सुन्दर रूप से उद्घाटित की है। दूसरी ओर वात्स्यायन का कामसूत्र और चाणक्य का अर्थशास्त्र भारतीय सभ्यता की परम्परा के अंग तो हैं, सांस्कृतिक परम्परा के नहीं। अब, संस्कृति की हमारी परिभाषा पर आपत्ति की जा सकती है कि सत् और श्रेयस् के सम्बन्ध में किसी समाज की कोई एक दृष्टि नहीं होती क्योंकि देश और काल के विस्तार में एक ही समाज में अनेक दृष्टियाँ रहती हैं। ऊपर हम ने श्री अरविंद, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी दयानंद और लोकमान्य तिलक का उल्लेख किया था। इसी प्रकार प्राचीन भारत में चार्वाक, केशकंबली, नैयायिक और मीमांसक भी थे। तब क्यों ऐसा माना जाय कि भारतीय संस्कृति की कोई एक दृष्टि थी। दूसरे शब्दों में, यह क्यों नहीं कहा जाए कि इस संस्कृति में एकसाथ आध्यात्मिक अद्वैतवादी, अनेकवादी और भौतिक अद्वैतवादी प्रवृत्तियाँ थीं। किन्तु ऐसा कहना संस्कृति के स्वरूप के सम्बन्ध में ना-समझी की पराकाष्ठा होगी। यहाँ समाज को एक विराट् पुरुष के रूप में कल्पित करते हुए कहा जा सकता है कि वह अपनी दृष्टि की जाँच और स्पष्टीकरण के लिए उस पर हो सकने वाले विभिन्न आक्षेपों पर विचार करता है और ऐसे जितने ही आक्षेप, जितनी ही सशक्त युक्तियों के साथ वह प्रस्तुत करता है उतनी ही सुदृढ़ और समृद्ध उसकी अपनी दृष्टि होती है। इस प्रकार भारत के विभिन्न दर्शन-संप्रदाय भारत की विभिन्न सांस्कृतिक दृष्टियों के प्रतिनिधि नहीं हैं; वे उसके अपने ऊहापोह, तर्क-वितर्क के विभिन्न सूत्र कहे जा सकते हैं। उदाहरणतः न्याय, वैशेषिक और मीमांसा या चार्वाक दर्शन जबकि वैचारिक दृष्टि से बहुत समृद्ध दर्शन-व्यवस्थाएँ हैं, ये भारतीय जीवन-दृष्टि (सत् और मूल्य विषयक परमार्थ-दृष्टि) के निर्धारक रूप में प्रतिष्ठित दिखायी नहीं देते, जीवन-दृष्टि के निर्धारक के रूप में केवल निम्न परम्परा दिखायी देती है- वेद, उपनिषद्, सांख्य, शून्यवाद, विज्ञानवाद, गीता और विभिन्न वेदांत-दर्शन संप्रदाय। यहाँ कहा जा सकता है कि ये कोई एक दृष्टि प्रस्तुत नहीं करते। यह सही है, कि यह केवल अंशतः और ऊपरी दृष्टि से ही सही है। उदाहरणतः वेद को लोकोन्मुख दृष्टि के रूप में देखा गया है जो सही भी है, किन्तु उसमें अतिलोक का बोध भी स्पष्ट है। उनमें विशेषतः ऋग्वेद के नासदीय सूक्त (१०.१२९.१-७) में यह दृष्टि पूर्णतः स्पष्ट है। वास्तव में उपनिषदों में कुछ वैदिक मंत्र ज्यों के त्यों संगृहीत हैं। जहाँ तक लोकदृष्टि का प्रश्न है वह भी पीछे पुरुषार्थ-व्यवस्था में प्रथम तीन-पुरुषार्थों के रूप में मोक्ष-दृष्टि में संगृहीत हो गई। महाभारत को सामान्य रूप से और गीता को विशेष रूप से इस दृष्टि के तत्त्व के अतिलोक दृष्टि में समन्वय के प्रयत्न के रूप में देखा जा सकता है। उपनिषदों में भी वास्तव में लोक-दृष्टि का

त्याग नहीं है, उसके तत्त्वार्थ का उसके व्यवहार-पक्ष से स्वतंत्र मनन है, जिस मनन के बिना उस दृष्टि के अर्थ का विकास संभव नहीं है। उदाहरणत: गीता के निम्न श्लोक द्रष्टव्य हैं।

यज्ञार्थात्-कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्म-बन्धनः। (३.९)
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते। (४.२३)

अर्थात् यज्ञ वह कर्म है जो मोक्ष-साधक है और वह प्रत्येक कर्म यज्ञ है जो फलाकांक्षा से मुक्त होकर, निरहंकार भाव से किया जाता है। उपनिषद्-दृष्टि भी इससे भिन्न नहीं है, उसमें लोक-दृष्टि का निषेध कहीं नहीं है। **ईश उपनिषद्** के मंत्र– 'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्। तेन त्यक्तेन भुंजीथा, मा गृधः कस्यस्विद् धनम्" को अपवाद के रूप में नहीं उसके प्रतिनिधि के रूप में ही देखना चाहिए।[४]

इस दृष्टि को एक मोड़ मिला महात्मा बुद्ध और उनके अनुयायी माध्यमिक और विज्ञानवादी दार्शनिकों के साथ। उन्होंने संसार को असत् और उच्छेद्य तथा अविद्यामूलक के रूप में देखा। ऐसा नहीं है कि यह दृष्टि पूर्णतः उच्छेदवादी है। नागार्जुन स्पष्ट रूप से शून्य के अभावात्मक होने का निषेध करते हैं और सम्यक् दृष्टि के लिए संसार और निर्वाण को अभिन्न कहते हैं। इस दृष्टि में उपनिषद्-दृष्टि से भेद यह है कि इसमें लोक को अतिलोकमय, उससे प्रकाशित नहीं देखकर अतिक्रमणीय के रूप में देखा गया है। वास्तव में 'द्वादशनिदानचक्र' को लोकोच्छेदवाद के रूप में भी देखा जा सकता है। किन्तु यह दृष्टि गीता, शंकर, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत और काश्मीर शैव आदि में नहीं मिलती। सांख्य को भी इन्हीं की श्रेणी में रखा जा सकता है। किन्तु इन उत्तरवर्ती दार्शनिकों के बावजूद भारतीय संस्कृति में इस बौद्ध दृष्टि का प्रवेश हो गया था और इसने उसे बहुत दूर तक प्रभावित किया है। शंकर प्रच्छन्न बौद्ध नहीं होकर भी उससे अप्रभावित नहीं हैं, निर्गुण भक्ति-संप्रदाय में इसका प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है। किन्तु बौद्ध दृष्टि और औपनिषद् दृष्टि में एक मौलिक साम्य भी है, यह साम्य ब्रह्म और मोक्ष में तथा बुद्धत्व और निर्वाण में एक ओर तथा इनमें और जगत् में दूसरी ओर सत् की दृष्टि से अभेद देखने में है। यहाँ अवांतरतः सन्त तुकाराम का उल्लेख समीचीन होगा जो अपने को ईश्वर से अभिन्न कहने को अकल्पनीय कहते हैं। इसका उल्लेख प्रोफेसर सच्चिदानन्द मूर्ति ने अपनी ऊपर उल्लिखित पुस्तक में किया है। किन्तु संत का कथन भारतीय मनीषा का प्रतिनिधि नहीं होकर उस पर एक आक्षेप जैसा ही है। इसका प्रमाण तुलसीदास जैसे सगुणवादी

का यह कथन है– "सियाराममय सब जग जानी।" तुकाराम के कथन के पीछे ईश्वर की महत्ता और अपनी क्षुद्रता की अनुभूति है जिसे अद्वैतवादी कबीर ने अदभुत कौशल से इस प्रकार व्यक्त किया है–

"बाहर कहों तो सतगुरु लाजै, भीतर कहों तो झूठा लो।" (यदि मैं कहता हूँ कि ईश्वर जगत् में व्याप्त नहीं है तो यह ईश्वर की महिमा के प्रतिकूल है, किन्तु यदि कहता हूँ कि वह अभिन्न है तो यह झूठ होगा क्योंकि वह इससे बहुत अधिक है।")

किन्तु किसी समाज की सांस्कृतिक दृष्टि अतिलोकोन्मुख होने का अर्थ यह नहीं है कि उसमें लोक का संग्रह नहीं है, उसमें सप्राणता और क्षीणप्राणता के अनुसार लोकजीवन के सभी पक्षों का विकास, ह्रास या विकासाभाव देखा जा सकता है और समाज-भेद के अनुसार इस विकास और ह्रास के रूप भी भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। अतिलोकोन्मुख सांस्कृतिक दृष्टि के साथ-साथ प्राचीन भारत में अर्थशास्त्र की परंपरा भी रही है, राजा को द्रोह की आशंका होने पर पुत्र-वध तक की अनुमति है; कामशास्त्र की परंपरा भी रही है जिसमें काम-केलियों का नग्नतम और स्थूलतम चित्रण है। आध्यात्मिक अभेदवाद के साथ सामाजिक भेदों की ऐसी कठोर स्थापना भी रही है जैसे मानो ये भेद पारमार्थिक हों, किन्तु जैसा कि हमने कहा, ये सब सांस्कृतिक दृष्टि के अवच्छेदक नहीं हैं। वास्तव में ये किसी भी संस्कृति के अवच्छेदक नहीं हो सकते क्योंकि ये ऐसे अर्थ से संयुक्त नहीं हैं जो नेय हो, जो क्रियान्वयन की सुदीर्घ, सुविस्तृत और गंभीर परंपरा का निर्माण कर सके। इसीसे कामसूत्र की तो कोई परंपरा ही नहीं रही और अर्थशात्र की परंपरा बहुत आगे नहीं बढ़ी! ऐसा नहीं है कि इनकी परंपराएँ बन नहीं सकती थीं, किन्तु उसके लिए विचारकों की इन विषयों में निरन्तर रुचि बनी रहना आवश्यक था जो नहीं बनी रही, इससे ये शास्त्र विचार का उच्चतर स्तर नहीं प्राप्त कर सके। यदि ये विचार का स्तर प्राप्त कर पाते तो भी इन्हें भारतीय संस्कृति की नहीं, सभ्यता की परंपराएँ कहा जाता।

इस प्रतिपादन के स्पष्टीकरण के लिए हम आधुनिक पाश्चात्य संस्कृति को उदाहरण-स्वरूप देखेंगे। सोरोकिन ने इसे इन्द्रियार्थक (सेंशण्ट) नाम दिया है। यह नाम सर्वथा उचित है, किन्तु इस अर्थ में नहीं कि इसकी दृष्टि ऐन्द्रिक सुखमूलक है, यद्यपि यह भी है, बल्कि इसलिए क्योंकि इसके लिए इन्द्रियमूलक प्रत्यय ही सत् या परमार्थ है। इस दृष्टि का सूत्रपात गैलिलियो के साथ हुआ और इसने न

केवल प्रकृति की भौतिक व्याख्या की बल्कि मनस्, समाज आदि की भी तदनुसार ही व्याख्या की। और इससे स्वभावतः नीति भी इन्द्रिय सुखमूलक ही हो सकती थी। ऐसा नहीं है कि यूरोप में और दृष्टियां नहीं हैं, वहाँ और दृष्टियाँ भी हैं और वे उपर्युक्त प्रकार से इन्द्रियार्थक दृष्टि के विशदीकरण के प्रसंग में उठाए गए आक्षेपरूप भी नहीं हैं, किन्तु इसका कारण दूसरा है और वह यह कि यह इन्द्रियार्थक दृष्टि यूरोप के लिए नयी है और प्राचीन ग्रीक और ग्रीक-ईसाई दृष्टियां भी वहां समानान्तरतया हैं जैसे भारत में वैदिक यज्ञीय दृष्टि औपनिषद् दृष्टि के समानान्तर शताब्दियों तक रही। ग्रीक और ईसाई दोनों दृष्टियां आध्यात्मिक हैं जो क्रमशः क्षीण हो गई, केवल ग्रीक-दृष्टि अंशतः इन्द्रियार्थक दृष्टि के उपजीव्य के रूप में बच रही है। किन्तु १८ वीं शताब्दियों के जर्मन-एन्लाइटनमेंट-आंदोलन ने, जिसका उच्चतम शिखर गोयथे और स्पेंगलर में निष्पन्न हुआ, इन दो दृष्टियों के नवसर्जन से ही अपना उपजीव्य प्राप्त किया।

यों ईसाई और ग्रीक दोनों दृष्टियां भी अतिलोकोन्मुख ही हैं, सुकरात और प्लेटो दोनों इन्द्रियगम्य को असत् मानते हैं, किन्तु ब्रह्माद्वैत अथवा सांख्यीय कैवल्य और मोक्ष केवल भारतीय दृष्टि की ही विलक्षणताएं हैं, और ये इतनी अधिक विलक्षण हैं कि इसे किसी दूसरी संस्कृति के समीप भी नहीं रखा जा सकता, जैसे और संस्कृतियों को परस्पर रखा जा सकता है।

किन्तु इस विलक्षण दृष्टि से कुछ लोग इसके सम्बन्ध में ऐसे निष्कर्ष निकालते हैं जो भ्रामक हैं। इनमें एक निकर्ष यह है कि इस दृष्टि में ऐहिक जीवन की उपेक्षा प्रतिफलित होती है और दूसरा यह है कि निर्वाण, मोक्ष या आनन्द का अन्वेषण व्यक्तिमूलक ही हो सकता है परिणामतः यह दृष्टि सामाजिक जीवन की, लोक-संग्रह की, उपेक्षा करती है। किन्तु ये दोनों आक्षेप अयुक्त हैं। जहां तक पहले आक्षेप का सम्बन्ध है, उसकी भ्रामकता इस बात में है कि यह लौकिकता को सर्वोच्च और अविवाद्य मूल्य मानता है। किन्तु वास्तव में लौकिकता स्वयं में मूल्य होने के योग्य ही नहीं है, यह मूल्यान्वेषण में अनिवार्य पूर्वापेक्षा अवश्य है जैसा कि कालिदास के "शरीरमाद्यं खलु धर्म-साधनम्" पद में स्वीकृत है। किन्तु इस पूर्वापेक्षा या साधन को साध्य के रूप में स्वीकार करना भयावह है जैसा कि आज पश्चिम और उसके अनुकर्ता अन्य सभी अनुभव कर रहे हैं।

लौकिकता का मूल्य के रूप में अनुसरण ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्, के परामर्श में ही प्रतिफलित हो सकता है, जिस परामर्श का मूल नितान्त सन्देहवादी-निराशावादी दृष्टि में है।

जहां तक मोक्ष या संन्यास-दृष्टि के असामाजिक या लोक-संग्रहविमुख होने का प्रश्न है यह धारणा आत्मा-सम्बन्धी आधारभूत भ्रांति पर आधारित है। मोक्ष-दृष्टि के लिए वैयक्तिता उपाधि है। अवश्य सामाजिकता भी उपाधि है, क्योंकि जगत् ही उपाधि है, किन्तु इनकी यह औपाधिकता इनके इस स्वरूप के ज्ञान के साथ समाप्त हो जाती है। इस ज्ञान के साथ जगत् निषिद्ध नहीं, ब्रह्ममय हो जाता है। यह कोई सिद्धान्त की बात नहीं है, इसी युग में रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, श्री अरविन्द और रमण महर्षि इसके उदाहरण हैं। इनमें कहीं जगत् का निषेध नहीं मिलता न उपनिषद् के ऋषियों, बुद्ध या शंकर में मिलता है। अब, जगत् की औपाधिकता के ज्ञान के साथ लौकिक आचरण में सामाजिकता साधना का प्रथम सोपान है व्यक्ति परकता नहीं, क्योंकि व्यक्तिपरकता का मूल अहंकार में है जो इस ज्ञान के साथ कहीं संगत नहीं हो सकता। यहां सब्बं खनिकं के उपदेष्टा महात्मा बुद्ध के वचन का उद्धरण प्रासंगिक होगा। **महापरिनिब्बान सुत्त** में वे कहते हैं: जब तक भिक्षुओं, भिक्षुक एक हो बैठक करेंगे, एक हो उत्थान करेगें, एक हो संघ के करणीय कार्य करेंगे तब तक भिक्षुओं की वृद्धि ही समझना, हानि नहीं। किन्तु द्रष्टव्य है कि इसमें सामाजिकता केवल सार्वभौम ही हो सकती है, हिन्दू और मुसलमान में विभक्त सामाजिकता नहीं—सर्वे भवन्तु सुखिनः – क्योंकि 'मेरा' 'और' 'अन्य का' में भेद का मूल वही अहंकार में है। इसके अतिरिक्त महाराजा अशोक के कार्य सर्वविदित ही हैं। भारतीय नीतिशास्त्र का एक बहुत प्रसिद्ध श्लोक भी यहां उल्लेखनीय है जिसका अर्थ है 'कुल के लिए एक को, ग्राम के लिए कुल को, और जनपद के लिए ग्राम को छोड़ देना चाहिए'। यहां यह स्पष्टीकरण आवश्यक है कि इस श्लोक में 'एक' का अर्थ 'अन्य एक' नहीं है बल्कि 'स्वयं' है। इस श्लोक का अन्तिम पद है आत्मा के लिए सब कुछ त्याग देना चाहिए। (आत्मार्थे सर्वं पृथिवीं त्यजेत्) यह भारतीय दृष्टि का वैशिष्ट्य है और इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि 'आत्मा' पद व्यक्तिवाचक नहीं होकर सर्वसमावेशात्मक परमार्थ का वाचक है। इस प्रकार इस संस्कृति के लिए लोक-संग्रह एक मूल्य है किन्तु वह सर्वोच्च मूल्य नहीं है। और मैं नहीं समझता कि उसे सर्वोच्च मूल्य क्यों होना चाहिए। किसी को समाज – सेवा, पर दुःख निवारण को मूल्य क्यों मानना चाहिए? यदि इसका उत्तर यह नहीं हो कि यह कर्म सेवा करने वाले को उदात्त बनाता है, उसे अहंता की संकुचित सीमा से मुक्त करता है तो मुझे इसका कोई औचित्य नहीं दीखता। यह द्रष्टव्य है कि यज्ञ-दृष्टि में भी मनुष्य परमपद नहीं है. उस दृष्टि में वह जगत् की समग्रता में एक पदमात्र है, जिस जगत् में अनेक लोक और असंख्य योनियां हैं। यहां यह उल्लेखनीय है कि इस दृष्टि की जर्मन एन्लाटन्मेण्ट दृष्टि से अदभुत्

समानता है। इसमें सब लोक और सब स्तर परस्पर आदान-प्रदान के सम्बन्ध से सम्बन्धित हैं। इस प्रकार भारतीय सांस्कृतिक परंपरा में लोक-संग्रह-दृष्टि यज्ञ-दृष्टि की एक ओर और मोक्ष–दृष्टि की दूसरी ओर अनुषंगी रही है। गीता का निष्काम कर्मयोग-दर्शन कर्म और लोक-संग्रह विषयक इस दृष्टि का सर्वोत्कृष्ट प्रतिपादन है। इस प्रसंग में गीता के निम्न श्लोक विशेषरूप से द्रष्टव्य हैं :

इस यज्ञ से सन्तुष्ट हुए देवता तुम्हारा परितोष करें। इस प्रकार परस्पर परितोषण करते हुए तुम सब परम श्रेयस् को प्राप्त करो। (३.११)

"किन्तु जो मनुष्य आत्मा का अनुशीलन करता है और आत्मा में रमण करने में ही सन्तुष्ट रहता है उसके लिए कुछ भी करणीय नहीं रह जाता।" (३ १७) "इसलिए तू अनासक्त भाव से कर्तव्य कर्मों को कर। क्योंकि अनासक्त भाव से कर्म करते हुए ही मनुष्य परम पद (उच्चतम सत् और श्रेयस्) को प्राप्त करता है। जनक आदि ने कर्म के द्वारा ही परमपद प्राप्त किया था। (हे अर्जुन) इस तत्त्व-दृष्टि के साथ ही तू लोक-संग्रह कर सकता है।"[४] इनमें प्रथम श्लोक में कर्म का तत्त्व मनुष्य और प्रकृति में, जो प्रकृति भौतिक रूप में नहीं बल्कि विषयिता (देवता) से अध्युषित रूप में कल्पित है (यहाँ सामरस्य द्वारा श्रेयोमय सुख की उपलब्धि को देखा गया है।) दूसरे श्लोक में इस भाव के ब्रह्म भाव में अतिक्रमण को, आत्म-तत्त्व के साक्षात्कार को, परम श्रेयस् कहा गया है। तीसरे और चौथे श्लोक में इस तत्त्व-दर्शन में प्रतिष्ठापूर्वक कर्म का स्वीकार है। यह अंतिम दृष्टि वुद्ध के निर्माण-काय-धारण-दृष्टि के अनुरूप है। भारतीय लोक-संग्रह दृष्टि यही है। 'वैष्णवजन तो तेने कहिये जो पीर पराई जाने रे' की भावना-दृष्टि भी इसी परंपरा में है, किन्तु इसे भक्ति-योग की दृष्टि के रूप में देखना ही उचित है, पाश्चात्य समाज-दृष्टि, अथवा ईसाई नैतिक दृष्टि की अनुरूपता में नहीं। किन्तु इन भक्तियोग या सांख्य योग-दृष्टियों में ये पाश्चात्य दृष्टियां निषिद्ध नहीं होतीं, अनिवार्य अनुषंगी बनती हैं। इसका उदाहरण पहले अशोक ने और आज बहुत उच्चतर स्तर पर महात्मा गांधी ने प्रस्तुत किया है।

किन्तु आज कुछ लोग पश्चिम के प्रभाव में इसे या तो इस प्रकार अतिलोकोन्मुख देखते हैं कि उसमें समाज और इस प्रकार नैतिकता भी निषिद्ध हो जाती है, क्योंकि इनके अनुसार नैतिकता अन्य की चिन्ता में है।[५] या फिर इसमें भौतिकवादी–ऐहिकतावादी-समाजवादी दृष्टि की खोज करते हैं। यों इन दो पक्षों में मूलतः एक साम्य है, कि दोनों का मानदंड आधुनिक पश्चिम है। अन्तर केवल यह है कि एक इस मानदण्ड पर भारतीय संस्कृति को अस्वीकार की दृष्टि से देखता है– और दूसरा उसे उस मानदण्ड पर खरा दिखाना चाहता है।

यहां एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न है जिस पर इस परिसंवाद को और अन्यत्र भी सबको, विचार करना चाहिए और वह यह कि हम यों भारतीय संस्कृति की दुहाई क्यों देते हैं? क्यों हम जहां हैं उससे आगे की ओर नहीं देख कर पीछे की ओर देखते हैं? कर्म के लिए भविष्यत् की ओर देखा जाता है अतीत की ओर नहीं, अतीत की ओर केवल भूल- सुधार के लिए देखा जाता है। अवश्य कुछ दूसरे प्रसंग भी होते हैं, जैसे इतिहासकार का और जीवनी-लेखक का प्रसंग, किन्तु वह दूसरी बात है। यहां हम अतीत का आवाहन अपने को लौकिकता के पैमाने पर जातीय रूप से खरा सिद्ध करने के लिए कर रहे हैं, जब कि वास्तव में इसका अन्तर्निहित प्रयोजन अपनी खोई हुई पहचान, अपनी लुप्त अस्मिता पुनः प्राप्त करना है। परिसंवाद के आयोजकों ने इसका औचित्य यह दिया है कि किसी समाज का निर्माण करने के लिए उसकी संरचना और उसकी मानसिकता को समझना आवश्यक है और उसका मूल अतीत में होता है। हमारे समाजकी इस मानसिकता को हम पश्चिम की आंखों से देखने के कारण ठीक से नहीं देख पा रहे हैं।[6] यह सही है, किन्तु ऐसा क्यों है? ये 'हम' कौन हैं जो अपने को अन्य की आंखों के माध्यम से देख रहे हैं? इसका उत्तर यह है कि वे हम वही हैं जो यहां और इसी प्रकार के दूसरे समाज-नियामक स्थलों पर संयोगवश बैठे हैं। हमारी राजनीतिक पराधीनता के काल में अंग्रेजों ने भाषा के रूप में हमारी दृष्टि अपनी आंखों से स्थानान्तरित कर दी, यहां तक कि संस्कृत पढ़ने के लिए भी अंग्रेजी को माध्यम बना दिया। तब उसका कोई दूसरा परिणाम होना असम्भव था। किन्तु उसका इलाज हम आज भी कहां कर रहे हैं? आज भी हम अंग्रेजी ही को अपने विचार और संवाद का माध्यम बनाये हुए हैं और उस माध्यम को छोड़ने के लिए तैयार नहीं हैं, क्योंकि यह हमें अधिकार और शक्ति के स्थलों पर बनाये रखने में बहुत बड़ा साधन है। किन्तु तब हम यह आशा कैसे कर सकते हैं कि हम अपनी परंपरा में प्रतिष्ठित हो सकेंगे और उसे अपनी आंखों से देख सकेंगे? दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि क्या हम अपने भविष्यत् का निर्माण इहलोकोन्मुख दृष्टि अपना कर कर सकते हैं या कि अतिलोकोन्मुख दृष्टि अपना कर? तब यदि हमारी परंपरा हमारी भविष्य-दृष्टि के अनुकूल नहीं है तो हम उसके अनुसार क्यों चलें? यहां यह समझ लेने की आवश्यकता है कि परंपरा का अस्वीकार एक बात है और उससे विच्छिन्न होना दूसरी बात। इनमें पहले में सृजनात्मकता, लकीर का फकीर होने से इन्कार है, तो दूसरी में आत्मविस्मृति।

तब हमें भविष्य का निर्माण किस दृष्टि से करना चाहिए? इस पर हमारा उत्तर है कि एक अर्थ में संस्कृति का अर्थ ही अतिलौकिकता है, लौकिकता तो प्राणिमात्र को सुलभ है। तब संस्कृति को लोकोन्मुख बनाने का अर्थ है पशु-सुलभ

भाव को दृष्टि के रूप में अपनाना और इस प्रकार अधिकाधिक बढ़ाना, जिसका परिणाम अमानुषिकता होना स्वाभाविक है। जहां तक अतिलौकिकता का अर्थ विशेष-अतिलौकिकता है— ब्रह्म-भाव, एक ओंकार—भाव वह सत्य की दृष्टि से खरी है या नहीं यह प्रश्न दार्शनिक विमर्श का विषय है, उससे पृथक् वांछनीयता-अवांछनीयता सम्बन्धी विचार का नहीं। केवल वांछनीय-अवांछनीय का प्रसंग कर्म-विषयक है। साधारणतः लोगों की यह धारणा है कि अतिलोकोन्मुख दृष्टि निष्कर्म-ण्यता जनक होती है। इसके सम्बन्ध में यहां हमें केवल यही करना है कि इस भाव ने न तो शंकराचार्य को अपार शास्त्राध्ययन और दार्शनिक दिग्विजया-भियानों से रोका और न गुरु गोविन्दसिंह को अन्याय के विरुद्ध निरन्तर संघर्षरत रहने से। इसने गुरु को यह सामर्थ्य अवश्य दी कि वे अपने सुकुमार पुत्रों के दीवार में चुन दिये जाने पर भी अविचलित रह सके। इसलिए यह आशा की जा सकती है कि यह दृष्टि यदि कभी हमारे विश्वविद्यालयों के अध्यापकों और उनके द्वारा शिक्षित वर्ग को मिल सकी तो वह उन्हें भारत के भविष्य-निर्माण के मार्ग से विचलित नहीं करेगी।*

सी. ५१, मधुवन पश्चिम, यशदेव शल्य
टोंक रोड, जयपुर ३०२०१५.

टिप्पणियाँ

*पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़ के संस्कृत और दर्शन विभाग के संयुक्त तत्त्वावधान में फरवरी १९८७ में आयोजित परिसंवाद में प्रस्तुत।

१. त्यागाय संभृतार्थानां सत्याय मितभाषिणाम्।
यशसे विजिगीषूणां प्रजायै गृहमेधिनाम्॥
शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्धक्ये मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥ रघुवंश, प्रथम सर्ग, ७-८

२. भारतीय संस्कृति और साधना, खंड २, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना- १९६४।

३. इस मन्त्र का अर्थ है- "इस अस्थिर जगत् में जो भी कुछ है वह ईश्वर से अध्युषित है (उस अचल तत्त्व पर प्रतिष्ठित है), इसलिये इसे उसके द्वारा दिया हुआ मान कर ही उसका उपयोग करो और किसी

अन्य भाग के प्रति लालसा मत करो।" इस मन्त्र में स्पष्टतः जगत् को अपने आप में प्रतिष्ठा का निषेध है, बहुत कुछ उसी प्रकार जिस प्रकार प्लेटो में इन्द्रियार्थों का निषेध है और इसके उपभोग के प्रति यज्ञ-दृष्टि है। किन्तु प्रोफेसर सच्चिदानन्द मूर्ति ने इसके अन्तिम पद 'मागृध : कस्य स्विद्धनम्' की व्याख्या की है- "जब तक तुम जीते हो अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ प्राप्त करने के लिये अथक परिश्रम करो।" द्रष्टव्य-**इण्डियन स्पिरिट**, पृ. ११. अब ऐसा नहीं है कि प्रोफेसर मूर्ति को संस्कृत नहीं आती हो, क्योंकि वे संस्कृत के और भारतीय शास्त्रों के उच्चतमकोटि के विद्वानों में गणनीय हैं, तब इसका कारण यही कहा जा सकता है कि वे भारतीय सांस्कृतिक दृष्टि को लोकोन्मुख दिखाने के प्रयत्न में इस मन्त्र को इस प्रकार पढ़ रहे हैं।

४. देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः, परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ (३.११) यस्त्वात्मरतिरेवस्यादात्मतृप्तश्च मानवः, आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते। (३.१७)
तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर, असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पुरुषः (३.१९)

५. आगे देखें।

६. द्रष्टव्य : प्रोफेसर दयाकृष्ण; सोशियल फिलोसोफी : पास्ट एंड फ्यूचर, भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला, १९६५
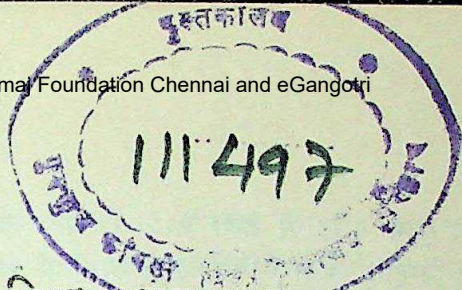
उपनिषद् : कुछ तथ्य

इतिहास का प्रधान कर्तव्य यदि कालानुसारी घटनाओं को नियमबद्ध करना है तो उपनिषद् तक का भारतीय इतिहास, इतिहास की दुःस्थिति का अंकन करता है। वेद के पश्चात् ब्राह्मण तथा आरण्यक का आविर्भाव हुआ, इसके अतिरिक्त किस समय ये सब घटित हुए इसके सम्बन्ध में कुछ निश्चित रूप से कहने का प्रयत्न प्राचीन भारतीय काल-गणना को अधिक क्लिष्टता की ओर ले जायगा। इसलिये ये तात्त्विक ग्रन्थ विश्वास करते हैं कि इतिहासकाल विनाशोन्मुख है तथा अनश्वर काल को ही जीवन का लक्ष्य मानना है। लेकिन इस दृष्टि को अपनाते हुए काल जैसे ऐतिहासिक माध्यम को उन्होंने बिल्कुल भुला दिया। काल से सम्बन्धित इस अनिश्चित अवस्था के कारण जब पश्चिमी विचारकों ने यह स्थापित किया कि वैदिक काल ३५०० साल पहले (ईसापूर्व १५००) है, तो पूर्वीय चिन्तकों ने आम तौर पर इससे भी बढ़ कर उसके काल की स्थापना की। इस ऐतिहासिक सन्दिग्धता में राधाकृष्णन् के समान दुःखी होने से कोई प्रयोजन नहीं महसूस होता। उसका समय एक हजार वर्ष आगे-पीछे हो जाय तो भी उनकी तात्त्विक महत्ता बढ़ती भी नहीं, घटती भी नहीं। विण्टरनिट्ज़ ने ठीक ही कहा है कि मात्र अनुमानाधिष्ठित काल-निर्धारण करने के बजाय काल-निर्धारण न करना बहत्तर है। [1]

काल से सम्बन्धित इस प्रकार के विवाद में तिथि, पक्ष, नक्षत्र आदि सब बताने की हठधर्मिता है तो अत्यधिक कठिनाई पैदा होती है। नहीं तो देखा जा सकता है कि सामान्यतया वेदों की प्राचीनता सभी इतिहासकारों ने एक तथ्य के रूप में स्वीकृत की है। आर्य जाति का सबसे प्राचीन साहित्य वैदिक संहिताओं का संग्रह है ऐसा मैक्समूलर, डॉयसन्, ब्लूमफील्ड, विण्टरनिट्ज़ आदि सभी लेखकों ने एक ही स्वर में घोषित किया है। [2] ऐसा लगता है कि वैदिक सूक्तों से पूर्वीय देशों का मस्तिष्क जागृत होकर जिव्हा वाचाल हो गयी। इतिहासकारों के किसी भी सन्देहास्पद काल-विचार से बढ़ कर इस सामान्य तत्त्व का महत्त्व है।

परामर्श (हिन्दी), वर्ष ९, अंक १, दिसम्बर, १९८७

यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जायं तो पता चलेगा कि उपनिषद्-काल के सम्बन्ध में जिन्होंने बिचार किया उनमें सामान्य रूप से मतैक्य उत्पन्न हुआ है। अनुमान है कि ईसा-पूर्व १००० से ५०० के बीच, बुद्ध से पहले प्रमुख सभी उपनिषदों की रचना हो चुकी थी। डॉ. राधाकृष्णन् के अनुसार हम निश्चित रूप से यह कह सकते हैं कि बुद्ध से पूर्व जिन उपनिषद् ग्रन्थों की रचना हुई वे हैं — छान्दोग्य, बृहदारण्यक, तैत्तिरीय, ऐतरेय, कौशीतकी, केन, ईश और माण्डूक्य।[३] अनुमान है कि ये ईसा-पूर्व आठवीं या सातवीं शती में रचित होंगे। प्रधानत: मैक्समूलर तथा डॉयसन् को आधार मान कर किया गया यह कालनिर्णय भारतीय दार्शनिक चिन्तन के राधाकृष्णन् तथा दासगुप्त जैसे इतिहासकारों को स्वीकृत है। कुल मिला कर उपनिषद् काल के पूर्वापर सम्बन्ध में मतैक्य देखा जा सकता है। ऐसा स्वीकार किया जाता है कि प्राचीन संस्कृत गद्य में लिखित उपनिषदों को पद्य में लिखित उपनिषदों से अधिक प्राचीनता देनी होगी। ब्राह्मण ग्रन्थों की गद्यात्मकता ही इस निर्णय का आधार है। इन सब बातों का ध्यान में रख कर अधोलिखित प्रकार का एक विभाजन डॉयसन् ने किया है :–

१. प्राचीन गद्योपनिषद् – बृहदारण्यक, छान्दोग्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, कौशीतकी तथा केन (इनमें ब्राह्मणों के गद्य से समानता प्रकट है, तथा ये बुद्ध और पाणिनी से भी प्राचीन हैं)।

२. पद्योपनिषद् – कठ, ईश, श्वेताश्वतर, मुण्डक (उपर्युक्त उपनिषदों की जितनी प्राचीनता नहीं तो भी ये बुद्ध के पूर्व काल के हैं)।

अर्वाचीन गद्योपनिषद् – वैदिक सम्बन्ध के बिना प्राचीन उपनिषदों की छाया में बाद में रचित।

इस काल-निर्णय का उपनिषदों के अध्ययन में विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान है। वेद के समान उपनिषद् भी प्राचीन हो जाने पर एक महान् तथ्य सिद्ध होगा। क्योंकि पुराने उपनिषद् साक्षात् वेद-शरीर तथा उससे उद्भूत वैदिक परम्परा से सजीव सम्बन्ध रखते हैं। बाद के सैद्धान्तिक भेदों से आविर्भूत कई उपनिषदों को इस प्रकार की आगमन-शुद्धि का अधिकार नहीं है। ये वास्तव में पुराणों, तान्त्रिक ग्रन्थों या धर्म-सिद्धान्तों से सम्बन्धित हैं।

परम्परागत रूप से प्राचीन कहे जानेवाले उपनिषद् दस हैं — ईशावास्य (ईशम्), केन (काठकम्), प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, छान्दोग्य और बृहदारण्यक।[४] ये ही विश्वप्रसिद्ध दशोपानिषद् की कोटि में आते हैं। पश्चिमी

विचारक इन्हें 'अभिजात उपनिषद्' के नाम से अभिहित करते हैं। शंकराचार्य ने इन सब उपनिषदों पर भाष्य लिखा है जो इन दशोपनिषदों की कीर्ति को दस गुना बढ़ा देता है। बादरायण ने ब्रह्मसूत्र (वेदान्तसूत्र) में इन सभी उपनिषदों से उद्धरण नहीं लिये। मात्र उद्धरण-संख्या के आधार पर विचार करें तो ब्रह्मसूत्रकार के द्वारा सम्मानित उपनिषदों की तालिका इस क्रम में होगी – छान्दोग्य, बृहदारण्यक, कठ, मुण्डक, तैत्तिरीय, कौशीतकी, प्रश्न, ईश, माण्डूक्य; ऐतरेय आदि को छोड़ दिया। यद्यपि ऐतरेय को उद्धृत नहीं किया गया तथापि यह स्पष्ट है कि एक जगह सूत्र में उसकी ओर दृष्टिपात किया गया है। दशोपनिषद् की कोटि में न आनेवाले कौशीतकी को उद्धृत करने से उसको भी प्राचीनता की ख्याति प्राप्त हो गयी। ऐसा बताया जाता है कि दशोपनिषदों से भी बढ़ कर एक और श्वेताश्वतर उपनिषद् पर श्री शंकराचार्य ने भाष्य लिखा। अतः उसको भी प्रसिद्धि मिली। डॉयसन् तथा राधाकृष्णन् मानते है कि श्वेताश्वतर उपनिषद् पर शंकराचार्य का भाष्य उपलब्ध है। नवीन आलोचक इस पक्ष को स्वीकार नहीं करते।[५] ऐसा एक मत प्रचलित है कि नृसिंहपूर्वतापिनी उपनिषद् का उपलब्ध भाष्य शंकराचार्य का है।[६] एक प्रबल तर्क यह भी है कि माण्डूक्य उपनिषद् का भाष्य शंकराचार्य का नहीं है। यह तो ठीक ही है कि ब्रह्मसूत्र में उस उपनिषद् का उद्धरण है। पर शंकराचार्य ने भी उसमें से एक भी शब्द लिये बिना उसे छोड़ दिया। माण्डूक्य उपनिषद् पर शंकराचार्य का जो भाष्य बताया जाता है उसमें उक्त उपनिषद् को उपनिषद् नहीं, अपितु प्रकरण ग्रन्थ मान लिया है। परन्तु शंकराचार्य के परात्पर गुरु गौड़पाद की कारिका माण्डूक्य उपनिषद् की व्याख्या है। अतः इस उपनिषद् की प्रसिद्धि को तनिक भी क्षति नहीं पहुंची। यही नहीं, शंकराचार्य ने अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य मे उसकी दो-तीन कारिकाएँ उद्धृत की हैं। उनको शंकराचार्य के द्वारा माण्डूक्य कारिका की परोक्ष-स्वीकृति का प्रमाण कहा जा सकता है। ब्रह्मसूत्र भाष्य में शंकराचार्य ने चौदह उपनिषदों से उद्धरण लिये हैं – छान्दोग्य, बृहदारण्यक, तैत्तिरीय, मुण्डक, कठ, कौशीतकी, श्वेताश्वतर, प्रश्न, ऐतरेय केन, ईश, जाबाल, महानारायण तथा पैंगल। इस प्रकार परम्परागत महत्त्वपूर्ण दशोपनिषद् तथा बादरायण एवं शंकराचार्य की स्वीकृति के कारण अन्य पाँच उपनिषद् भी मान्य हो गये।[७]

जब डॉ. राधाकृष्णन् यह बताते हैं कि बुद्ध के पूर्वकालीन उपनिषदों का विशेष महत्त्व है तब यह भी स्वीकार करना पड़ता है कि उनकी संख्या दस से भी कम होगी। किन्तु प्रमुख उपनिषदों की संख्या बाद में बढ़ती जाती है। रामानुजाचार्य ने उपनिषदों पर भाष्य नहीं लिखा। फिर भी उपर्युक्त पन्द्रह

उपनिषदों तथा परमहंस, मैत्रेयी, सुबाल, चूलिका आदि अन्य उपनिषदों का रामानुजाचार्य ने या तो परामर्श किया है या उनका उपयोग किया । वज्रसूचिकोपनिषद् जातिभेद तथा ब्राह्मण विरुद्ध उपदेशों से युक्त है । अतः डॉ. राधाकृष्णन् ने प्रमुख उपनिषदों के साथ इसको सम्मिलित किया है ।

'दशोपनिषद् संग्रह' के बाद परम्परागत ख्याति प्राप्त संग्रह है अष्टोत्तर शत उपनिषद् संग्रह । दस तथा एक सौ आठ के बीच विद्यारण्य, नारायणाश्रमी जैसे आचार्य तथा डॉयसन्, ह्यूम जैसे पश्चिमी पण्डितों ने विभिन्न संख्या वाले संग्रह प्रकाशित किये । उपनिषदों की संख्या १०८ में भी सीमित नहीं रही; १४४, १८३, ३६५, ११८० जैसे विभिन्न उपनिषदों के संग्रहों के सम्बन्ध में सुनाया जाता है । मुक्तिकोपनिषद् जहाँ १०८ उपनिषदों के नाम निर्दिष्ट करता है, वहाँ दूसरी ओर ११८० उपनिषदों का हिसाब भी प्रस्तुत करता है ।[८] वेद की प्रत्येक शाखा के लिये एक स्वतन्त्र उपनिषद् के क्रम से ऋग्वेद के २१, यजुर्वेद के १०९, सामवेद के १००० तथा अथर्ववेद के ५० उपनिषद् मिला कर कुल ११८० उपनिषद् होने चाहिये; यह वैदिक निर्णय है । दो सौ से अधिक उपनिषद् प्राप्त हुए हैं । परन्तु उपनिषद् के विचारोत्कर्ष के लिये प्रातिनिधिक दशोपनिषद् ही हैं । संहितांश तथा ब्राह्मणानुबन्ध के साथ प्राचीन प्रामाणिक उपनिषदों में वेद के केन्द्रीय सन्देश को अनुभूति की महिमा तथा चिन्तन की गम्भीरता के साथ आविष्कृत किया गया । कालान्तर में इस देश में प्रचलित अन्यान्य आराधना के भेदों के फलस्वरूप विभिन्न सिद्धान्तों तथा प्राचीन उपनिषदों के अनुकरण के रूप में अनेकानेक उपनिषदों की रचना हुई, और वही शायद १०८ या ११८० उपनिषदों के आविर्भाव की कथा है ।[९]

इस प्रकार याज्ञवल्क्य तथा आरुणी के द्वारा उच्चरित महावाक्यों के साथ सामान्य गुरु के अनुकरण परक संकुचित वाद तथा लघु-चिन्तन उपनिषद् के नाम की छत्रछाया में यहाँ शोभायात्रा करने लगे । उपनिषदों के लोकातीत समग्र चिन्तन इन अनुकरणों में विलीन हुए । किन्तु इन नये उपनिषदों में प्रकट हुआ चिन्तन अनुकरणात्मक होने के बावजूद भी महत्त्वपूर्ण है । फिर भी कुल मिला कर नवीन आस्थावादी विश्वासों तथा श्रद्धाओं को प्राचीन उपनिषदों का आवरण पहना दिया गया । प्राचीन उपनिषदों में जहाँ वैदिक देवताओं का आधिक्य एवं प्राधान्य समाप्त हुआ, वहाँ नवीन उपनिषदों में नयी देवताओं का मानो प्रतिशोध के रूप में आविर्भाव हुआ । नवीन उपनिषदों को लगी चैतन्य-क्षति का एक उदाहरण प्रस्तुत करना अस्थाने न होगा – बह्वृचोपनिषद् नाम से प्रसिद्ध केनोपनिषद् का प्रारम्भ ही आँखों की आँख तथा शब्दातीत शब्द से सम्बन्धित

विचार से हुआ है। इसमें कई बार कहा गया है कि जिसकी चर्चा की गयी है वह ऐसा कुछ नहीं है जिसकी साधारण लोग उपासना करते हैं। परन्तु समय के परिवर्तन के साथ एक अन्य बह्वृचोपनिषद् का आविर्भाव हुआ। वह शाक्तोपनिषदों में से एक है। इस उपनिषद् का उद्देश्य यह स्तवन करना है कि सब कुछ त्रिपुर-सुन्दरी है। इस प्रकार की सृष्टियों के विषय में डॉयसन् का मत है कि ये "आत्मचेतना के विलम्ब से उत्पन्न तथा उपेक्षित बच्चें हैं।"

प्राचीन उपनिषदों के समान नवीन उपनिषदों को भी वेद-सम्बन्ध के बिना व्यवहृत नहीं किया गया। मात्र प्राचीन उपनिषदों का वैदिक सम्बन्ध स्पष्ट है। नवीन उपनिषदों में से प्रायः अत्यधिक उपनिषदों को अथर्ववेद से सम्मिलित करके प्रस्तुत किया गया है। प्रमेय-स्वभाव के कारण अन्य वेदों से यथोचित मिले हुए नवीन उपनिषद् भी नहीं के बराबर नहीं हैं। कौनसा उपनिषद् किस वेद के साथ सम्बन्ध रखता है इसका एक विवरण अधोलिखित है :-

१. ऋग्वेद– ऐतरेय, कौशीतकी (प्राचीन); नादबिन्दु, निर्वाण, बह्वृच आदि (नवीन)

२. कृष्णयजुर्वेद– कठ, तैत्तिरीय, श्वेताश्वतर (प्राचीन); कैवल्य, नारायण अमृतबिन्दु, योगशिख, कठरुद्र, वराह आदि (नवीन)

३. शुक्लयजुर्वेद– ईश, बृहदारण्यक (प्राचीन); जाबाल, निरालम्बन, पैंगल, मुक्तिक (नवीन)

४. सामवेद– केन, छान्दोग्य (प्राचीन); मैत्रेयी, मैत्रायणी, वज्रसूचि आदि (नवीन)

५. अथर्ववेद– प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य (प्राचीन); महानारायण, अथर्व-शिरस्स, नृसिहतापिनी आदि (नवीन)

नवीन उपनिषदों को उनके सैद्धान्तिक स्वभाव के आधार पर छः भागों में विभक्त कर सकते हैं : वेदान्तोपनिषद्, योगोपनिषद्, संन्यासोपनिषद्, वैष्णवोपनिषद्, शैवोपनिषद्, तथा शाक्तोपनिषद्। प्रमाणसहित यह विभाजन निम्नलिखित प्रकार से है– [१०]

१. वेदान्तोपनिषद्– वज्रसूचि, मुक्तिक, पैंगल, सुबाल, निरालम्बन, सर्व-सार आदि।

२. योगोपनिषद्–वराह, योगशिख, योगतत्त्व, तेजोबिन्दु अमृतबिन्दु, क्षुरिका, शाण्डिल्य, हंस आदि।

३. संन्यासोपनिषद्– जाबाल, आरुणेय, कठरुद्र, मैत्रेयी, परब्रह्म, परमहंस, संन्यास आदि।

४. वैष्णवोपनिषद्– नारायण, नृसिंहतापिनी, रामतापिनी, अव्यक्त, आदि।
५. शैवोपनिषद्– अथर्वशिरस्स, अथर्वशिखा, रुद्रहृदय, कैवल्य आदि।
६. शाक्तोपनिषद्– त्रिपुर, बहुवच, सौभाग्यलक्ष्मी आदि

प्राचीन उपनिषदों में भी अन्तिम समय में आविर्भूत उपनिषदों में सैद्धान्तिक पक्ष का अभाव दृष्टिगोचर होता है। किन्तु बाद में उपनिषदों के रचनाकार ऋषि न रहने से यह प्रवृत्ति अत्यधिक बढ़ने लगी। इस प्रकार नवीन देवताओं तथा सिद्धान्तों के आरोहण के लिये उपनिषद्-हिमालय को नीचे उतार दिया जाने लगा। इस स्थिति का आविर्भाव होने पर कई विचित्र रचनाएँ उपनिषद् नाम से, प्रकट और प्रसूत हुईं। अकबर बादशाह के ज़माने में, प्राय: उनके धार्मिक ऐक्य के कार्यक्रम के अंश के रूप में, मुसलमानी धार्मिक तत्त्वों को सम्मिलित कर 'अल्लोपनिषद्' का आविर्भाव हुआ।[१६] देशीय उत्थान के नाम पर रोमांचित होने लायक एक ऐतिहासिक घटना के रूप में इसकी व्याख्या न भी की जाय तो भी इसकी ओर ध्यान दिये बिना नहीं रहा जा सकता, क्यों कि इसका दूसरा एक पक्ष है। पहले दस उपनिषदों के बाद आविर्भूत कुछ दुर्बल उपनिषद् हमें यह भी सिखाते हैं कि एक बड़ा आध्यात्मिक सत्य आगामी वर्षों में कैसे संकुचित हो कर विनष्ट हो जाता है। 'अक्बाब्बरोपनिषद्' का आविर्भाव उस समय कैसे हुआ और वह भी अकबर के सम्बन्ध में ही? समय के बीत जाने पर क्रिश्चियन उपनिषद् का भी आविर्भाव हुआ। इसका यह प्रमाण उपलब्ध है कि इस प्रकार की प्रवृत्ति अंग्रेजी शासन के अन्त तक कायम रही। जो भी हो, स्वाधीन भारत मे कई वस्तु तथा घटनाओं के आविर्भाव होने के साथ उपनिषद्-द्रष्टा रूपी महर्षियों या नये नये उपनिषदों का आविर्भाव न होना देश का सौभाग्य है!

वेद के समान उपनिषद् भी कई शताब्दियों तक दुहरा कर जिनका गम्भीर अध्ययन किया गया ऐसे स्थायी रूप से प्रतिष्ठित ग्रन्थ है। यह मानना पड़ेगा कि यद्यपि इनमें से कई शंकराचार्य के समय तक भी नहीं लिखे गये थे, तथापि कुछ प्राचीन उपनिषदों के बारे में यह अनुमान है कि शायद ईसा के पूर्व १३०० में ये सर्वप्रथम लिखे गये।

उपनिषद् के अध्ययन के पूर्व ॐ का उच्चारण कर शान्तिमन्त्र जपने की एक पुरानी परम्परा है। शान्तिमन्त्र उपनिषदों के तत् तत् वेद-सम्बन्ध के अनुसार विशेष रूप से निर्दिष्ट किये गये हैं। उपनिषद् देवी के मंगलतिलक के समान ये मन्त्र प्रशोभित हैं। ये मन्त्र चित्ताकर्षक तथा विश्वचिन्तन से भरपूर हैं। ऋग्वेदोपनिषदों का शान्तिमन्त्र 'वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता' से, कृष्णयजुर्वेद का 'सहनाववतु' से, सामवेद का 'आप्यायन्तु ममाङ्गानि' से, तथा 'भद्रं कर्णेभिः' से अथर्ववेद का आरम्भ होता है।[१२]

उपनिषदों की भाषा कैसी है ? वेदभाषा से वह भिन्न है। लौकिक संस्कृत से उसका अधिक सादृश्य है। कुछ प्रयोग पाठकों को अधिक विस्मित कराते हैं। इसलिये चावल की पकने की अवस्था के स्तर पर उदाहरणतः कुछ प्रयोगों की आगे चर्चा की है।

वेदों में प्रचलित कुछ व्याकरण-रूप उपनिषदों में यत्र-तत्र शेष हैं। नकारान्त शब्द सप्तमी एकवचन में कभी बिना विभक्ति प्रत्यय के साथ प्रयुक्त हैं, जैसे तैत्तिरीय में 'परमे व्योमन्' (२.१) है। सामान्य प्रामाणिक प्रयोग 'व्योम्नि' है। वेद में इस प्रकार के कई प्रयोग हैं– देखिए ऋग्वेद १.१६४.७। अकारान्त पुल्लिग बहुवचन कभी 'आसः' प्रत्यय में समाप्त होता है। जैसे कठोपनिषद् में 'प्रवक्ष्यन्ति जनासः उदाहरण (१.१.१९) बहुवचन में 'आ, प्रत्यय मिला कर अकारान्त नपुसकलिंगी होता है। उसी प्रकार बृहदारण्यक में 'ती च शता' का प्रयोग मिलता है। जहाँ पंचमी का प्रयोग होना चाहिये वहाँ कभी कुछ आकारान्त या ईकारान्त स्त्रीलिंगी शब्द चतुर्थी में प्रयुक्त हैं। देखिए– "भूत्यै न प्रमदितव्यं" (तैत्तिरीय– १.२.११) उस सन्दर्भ में उपान्त्य प्रयोग पंचमी में होने से (सत्यात् न प्रमदितव्यं, धर्मान्न प्रमदितव्यं आदि) यह अन्तर स्पष्ट है। अकारान्त पुल्लिग 'कर्ण' शब्द तृतीया बहुवचन में 'कर्णेभिः' इस प्रकार प्रयुक्त है, जैसे प्रश्न जैसे उपनिषदों के शान्तिपाठ में 'कर्णैः' प्रयोग नहीं है। आत्मनेपद तथा परस्मैपद सामान्य रूप से मिला हुआ नहीं दिखायी पड़ता। 'ऐक्षता' के अतिरिक्त 'ऐक्षात्' परस्मैपदी प्रयोग आज तो स्वीकृत नहीं है। 'जयति' के बदले कई जगह 'जयते' का प्रयोग है। इसी प्रकार का 'सत्यमेव जयते' वाक्य प्रसिद्ध है। सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो इस तरह के कई विशेष प्रयोग उपनिषदों में पा सकते हैं।

लौकिक संस्कृत के दूध में वैदिक संस्कृत रूपी मिस्री की मिलावट जैसी है उपनिषद् की भाषा। लेकिन इस माधुर्य के पार पहुँचना ही औपनिषदिक भावना

तथा चिन्तन की महानता है। उपनिषद् जिस अमृत की खोज में थे उसका कोई अंशमात्र उसकी भाषा के साथ आद्यन्त मिला-जुला अनुभूत होता है। उपनिषद को हिमालय कहने पर यह तो नहीं भूल सकते कि हिमालय नित्य संगीत-वर्षिणी गंगाजी का सृजन करता है। उपनिषद् की गंगा कविता है। मैक्समूलर ने बताया है कि उपनिषदों की रचना कवियों ने की है, ऋषियों ने नहीं। ऋषियों ने ही तो इस प्रकार बताया है। डॉ. राधाकृष्णन् उनमें प्रसुप्त काव्यचेतना की प्रशंसा करते हुए ही उपनिषद् का अध्ययन प्रारंभ करते हैं। जिनको कविहृदय प्राप्त नहीं है वे वेदों तथा उपनिषदों की रचना नहीं कर सकते। प्रथमानुराग की दृष्टि से संसार का दर्शन करने पर उसके सौन्दर्य-रहस्य से उद्भूत आनन्दानुभूति की सरलता वैदिक सूक्तों में है। 'सर्वाधिक प्रिय इस दुनिया में' (अथर्ववेद–५.३०.१७) 'माँ के द्वारा सजायी तरुणी के समान' (ऋग्वेद- १.१२३.११) प्रभात का दर्शन वेद में कर हम आनन्दित हो जायें। परन्तु उपनिषदों की किसी कन्या से भेंट हो जाये तो वह 'लाठी टेक कर चलने वाले वृद्ध' (श्वेताश्वतर–४.३) के साथ चलने वाली होगी। प्रार्थनापरक लोकमङ्गलप्रियता तथा बालक-सुलभ निष्कलंक माधुर्य वेद की नैसर्गिक सुगन्ध है। उपनिषद् का चिन्तनपरिणीत घन रस वेद में नहीं, वेद के अन्त में हीं प्राप्त है। जब वेद गाता है कि इन सभी देवताओं को यह ससार अत्यधिक प्रिय है, तो उपनिषद् द्वारा स्पष्ट संसार में 'सत्य का मुख अमूल्य पदार्थ से आवृत है' (ईश, १५)। वेद में जब सूर्य, चन्द्र तथा तारांगण उदित हो कर प्रकाशित होते हैं तब सभी ग्रह जिस तम में अस्तंगत होते हैं उस तम के पार सूर्य उदित होता है। उसके अलकार, भाव सब शीघ्र ही हमारे मन को विष्णुपद में पहुँचाने वाले गरुड के पख बन जाते हैं। कहीं से आयी हवा से आकाश का हृदय-द्वार क्षण में खुल कर अपूर्व आकाश-संसार का आकस्मिक स्फुरण आँखों के समान हमारी आत्मा को भी स्तब्ध बनाता है। उदाहरण के रूप में एक अन्तर्दर्शन द्रष्टव्य होगा– "उस पुरुष की रूपश्री चमकाने वाले किसी वस्त्र के समान, श्वेत बकरी के खाल सी, इन्द्रगोप सी, अग्नि की ज्वाला सी, श्वेत-कमल सी शीघ्र चमक उठे एकमात्र इन्द्रधनुष सी। (बृह. २.३.६) सबसे सहज प्रतीकों से असाधारण में से असाधारण एक अनुभव का वर्णन करने का फल है यह। ऋषियों की वाणी के पीछे अर्थ दौड़ आता है; जिस प्रकार उच्चारण करना चाहिये उसी प्रकार उच्चरित उपनिषद् की ध्वनि सुनना पर्याप्त है। भाषा से अनभिज्ञ व्यक्ति भी उसके अर्थ के योग में छिपके बिना नहीं रह सकता। गहराई, ऊँचाई, प्रकाश, निगूढ़ता आदि के योग से जो उदात्तता आती है वही उनकी शैली की खासियत है। कभी-कभी मन की अनुगूँज न मिटाने वाला परिच्छेद भी पाया जाता है। उदाहरण के रूप में एक देखना

उपयोगी होगा– "आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दात् ह्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्ति, अभिसंविशन्ति।" (तैत्तिरीय– ३ ६.१) आत्मा के नेत्रों को हमेशा विकसित कराने वाला एक पद्य और देखिये (प्रश्न– १.८)

"विश्वरूपं हरिणं जातवेदसम्
परायणं ज्योतिरेकं तपन्तम्।
सहस्ररश्मिः शतधा वर्तमानः
प्राणः प्रजानां उदत्येष सूर्यः॥"

किस देश में इन सूक्तों का आविर्भाव हुआ ? एक दृष्टिकोण से इस प्रश्न का कोई औचित्य नहीं है। वेद के समान उपनिषद् भी अपनी चिन्तन प्रकृति में लोकोन्मुख हैं। वेद या उपनिषद् में 'विश्व' शब्द का जो प्रयोग हुआ है उसका अर्थ 'आसमान तथा धरती की सब वस्तुएँ' है। शंकराचार्य इसकी व्याख्या 'समस्त' शब्द न करते हैं। इस ओर कोई ध्यान ही नहीं देता कि हमारे बीच प्रचलित 'ऊपर आसमान नीचे धरती' इस प्रयोग में वेदोपनिषदों की प्राचीनता से उद्भूत एक मातृ-पितृ-संकल्प सम्मिलित है। बृहदारण्यकोपनिषद् (६.२.२) में उद्धृत एक ऋङ्मन्त्र (ऋग्वेद– १०.८८.१५) में इस प्रकार का एक अंश देख सकते हैं :

"प्राप्यमिदं विश्वमेतत् समेति
यदन्तरा पितरं मातरं च।"

विश्व-व्याप्त एकता का दर्शन यहाँ सफल होता है।

यह तो बताया गया कि इस विश्वोन्मुख चिन्तन के उद्भव-स्थान-रूपी उपनिषद् का आविर्भाव किस देश में हुआ इस प्रश्न के बारे में अत्यधिक गहराई से सोचने की कोई आवश्यकता नहीं। एक दृष्टि से इस प्रश्न में थोड़ा अनौचित्य भी है। शायद देशभर में व्याप्त एक वटवृक्ष भी मिट्टी के एक गठ्ठे से उग कर विकसित हुआ होगा। यहाँ हम मात्र इसी बात का पर्यालोचन करें कि उपनिषद् का आविर्भाव कहाँ से हुआ। इससे सम्बन्धित कुछ सूचनाएँ उपनिषदों में ही उपलब्ध हैं। यह स्थापित करने की विशेष आवश्यकता नहीं कि उत्तर दिशा में हिमालय की 'तुंगश्री शिखरें' स्थित हैं जो औपनिषदिक जनता को ज्ञात तथ्य है। इस उत्तरी पहाड़ के समान ही वे दाक्षिणात्य पहाड़ विन्ध्य को भी देश की रक्षा करने वाले एक सीमान्त के रूप में मानते थे (कौशीतकी – २.१३) इन पहाड़ों का नाम लिये बिना इतना ही सूचित करना पर्याप्त है कि उत्तरी तथा

दक्षिणी दिशाओं में पहाड़ हैं। इसी प्रकार पूर्व तथा पश्चिम के दो समुद्रों को भी संकेतित किया गया है। बृहदारण्यकोपनिषद् एक घोडे के रूप में पूर्वी तथा पश्चिमी समुद्र, प्रभात, सूर्य, हवा, आकाश, मिट्टी, ऋतुएँ, दिन-रात, नक्षत्र, पहाड़, वृक्ष-पौधे आदि सब को उस विश्वाकाश में व्याप्त एक प्रतिबिम्ब में सम्मिलित करके ही प्रारम्भ होता है।

तथापि इस संकल्पना में समस्त भारतवर्ष सम्मिलित हुआ नहीं दिखायी देता। ब्राह्मणों तथा पुराणों में भारतवर्ष को तीन भागों (आर्यावर्त, मध्यदेश तथा दक्षिणापथ) में तथा पांच दिशाओं (प्राची, दक्षिण, प्रतीची, उदीची और मध्यदेश) में विभक्त किया गया है। उपनिषदों में प्रतिबिंबित देश, उसकी विशालता "हिमवद्विन्ध्याचलमध्यदेश" है। धर्मक्षेत्र के नाम से प्रसिद्ध कुरुक्षेत्र ही उसका केन्द्र है।[13] इसका पुराना नाम ब्रह्मर्षिदेश है। यहाँ और इसके चारों ओर कौरवों तथा पाण्डवों के परस्पर मिल जुल कर रहने से वे सब देश मिल कर कुरुपांचाल-देश नाम से वह विख्यात हुआ। बताया जाता है कि वहीं सब से श्रेष्ठ भाषा बोली जाती थी। वेदकाल में विख्यात कई वर्ग तथा वंश उपनिषद्-काल में गायब हुए। वैदिक काल में पंजाब में स्थित पुरुवंश तथा भरतवंश (ये बाद में परस्पर में मिले), यदुवंश, तुर्वसुत्कल आदि सब अस्तंगत हुए। भरतवंश के अनुगामियों के रूप में कौरव तथा पाण्डव मंच पर आते हैं। वाशर, उशीनर, मात्स्यर आदि वंशज भी कुरुपांचालों के साथ ब्रह्मर्षिदेश, मध्यदेश में निवास करते थे! कोसल (वर्तमान अयोध्या), विदेह (तिरहुत) तथा काशी के परस्पर मिल कर रहने के साथ कुरुपांचालों के साथ विरोध प्रकट किया। वर्तमान बिहार के दक्षिण में मगध था। वर्तमान बिहार ही विदर्भ है। ये सब पूर्व दिशा में हैं – प्राच्यदेश।

पश्चिम में था प्रतीच्यदेश। पंजाब तथा सिन्धुघाटी में निवास किये निच्यर बाहीकर जैसे वर्ग यहाँ सम्मिलित हैं। उत्तर के निवासी हैं उदीच्यर्। उत्तरकुरु, उत्तरमान्द्र, गान्धार, केकय, काम्बोज, जैसे राज्य इस देश में थे। अपनी विशुद्धि में भाषा ने कुरुपांचाल की भाषा पर विजय प्राप्त की। तक्षशीला इस देश में था। काश्मीर संस्कृत प्रगति का एक केन्द्र था। उत्तरकुरु तथा उत्तरमान्द्र हिमालय के उस पार के जनसमूह तो हैं। सिम्मर के मतानुसार काश्मीर ही उत्तर कुरुदेश है-कुरुक्षेत्र के एकदम उत्तर में। दक्षिणमाद्र देश पंजाब में हुआ होगा। निकट भविष्य तक वह माद्रदेश के नाम पर हो जाना जाता था। माद्र लोग रावि, चेनाब नदियों के बीच के प्रदेश के निवासी थे तथा इतिहास के अनुसन्धाता संकेत करते हैं कि वह देश वर्तमान सियालकोट होगा।[14] अब उक्त प्रदेश पाकिस्तान के उत्तर-पश्चिम दिशा में आता है। पुराना गान्धार, केकय, काम्बोज जैसे प्रान्त उस समय

के वेदविज्ञान की पुण्यभूमि थी। अनार्य वर्ग निषाद, पुलिन्द, आन्ध्र, शराबर, चेर, जैसे विभिन्न नामों से जाने जाते थे। अनुमान लगाया जाता है कि निषाद' विन्ध्य तथा शतपुर के बीच तथा आंध्र, कृष्णा तथा गोदावरी के बीच पुलिन्द' और आन्ध्र के समीप उड़ीसा में शबर निवास करते थे। और कितने वंश तथा वर्ग उनका नामोल्लेख किया न जाते हुए अज्ञात रूप में ही इतिहासकारों की दृष्टि से ओझल हुए होंगे।

उपनिषदों से भी बढ़ कर इन देशों तथा जन-समूहों के बारे में अत्यधिक जानकारी ब्राह्मणों से प्राप्त होती है। विशेष कर शतपथ, ऐतरेय, गोपथ जैसे ब्राह्मणग्रन्थों से।

अधिक नहीं तो भी कुछ बिन्दुओं के बारे में स्पष्ट विवरण उपनिषदों से प्राप्त होता है। एक मुसाफिर गार्ग्य बालाकी नामक एक वेदविद् से सम्बन्धित एक परामर्श है (बृह. २१; कौशीतकी– ४.१)। प्रायः उपर्युक्त सभी देशों का उन्होंने भ्रमण किया था– कुशीनर, मात्स्य तथा कुरुपांचाल के बीच तथा काशी, विदेह आदि। काशी के राजा अजातशत्रु को ब्रह्मविद्या सिखाने के लिये गये। यह विद्वान् बाद में राजा के सामने न बोल सकने से उच्छृंखलता में फँस गये। इसकी कथा उन उपनिषदों में वर्णित है। छान्दोग्य में केकय राज्य के अधिकारी अश्वपति के द्वारा अजातशत्रु के साथ ब्राह्मणों को उपदेश दिया जाने की कथा है। कुरुप्रदेश में जीवित सबसे दरिद्र तथा श्रेष्ठ विद्वान् उषस्ति चाक्रायण के सम्बन्ध में छान्दोग्य में (१:१०–११) पढ़ सकते हैं। छान्दोग्य (५.३.१) तथा बृहदारण्यक (६.२.१) यह प्रस्तावित करते हैं कि पाञ्चाल देश के एक राजा प्रवहण जैबाली के पास श्वेतकेतु तथा पिता आरुणी ने जा कर वेदान्त का ज्ञान प्राप्त किया। विदेह के राजा जनक के सम्बन्ध में अनेक निर्देश बृहदारण्यक में (३.३.२; ४.११.३; ४.२.१; ४ ३.१) हैं। पुत्र श्वेतकेतु को आरुणी 'तत्त्वमसि' से वेदान्त का सार निर्दिष्ट करने लगे तो गान्धार में जाने वाले एक व्यक्ति की कथा दृष्टान्त स्वरूप में प्रस्तुत करते हैं (छान्दोग्य– ६.१४.१)। भारत के उत्तर-पूर्वी सीमा तक यह दृष्टान्त हमें पहुँचाते हैं। यह इस धारणा का सुधार प्रस्तुत करता है कि ऋषि एक जगह मौन रह कर तपस्या करनेवाले थे। ये बड़े प्रयासशील भी थे।[१५] 'चरैवेति' ही उनका उद्बोध था। इनको विचित्र अनुभवों का सामना करना पड़ा। युज्यु लाह्यायण ऋषि याज्ञवल्क्य से एक कथा कहते हैं (बृह.– ३.२.१)। युज्यु कुछ ऋषियों के साथ माद्रदेश में प्रवास करते हुए पातञ्जल काप्य नामक एक व्यक्ति के घर में पहुँचते हैं। उस समय उनकी बेटी को एक

गन्धर्व सता रहे थे। उत्तर कुरुदेश के समीपस्थ महावृक्ष नामक देश में जन्म लिये रैक्व नामक वेद-पण्डित की कथा छान्दोग्य में देख सकते हैं (४.१-२)।

कौनसे ऋषियों ने उपनिषद् मन्त्रों का दर्शन किया इसके लिये आन्तरिक प्रमाण अधिक नहीं हैं। वेदों में मन्त्रद्रष्टा ऋषियों के नाम सूक्तों के साथ सुरक्षित दिखायी पड़ते हैं। संहिताओं को क्रमबद्ध किये आश्वलायन जैसे ऋषियों के द्वारा निर्मित श्रौतसूत्रों में गोत्रपरम्परा तथा चरणव्यूहों के नाम-विवरण की तालिकाएँ हैं। ब्राह्मणों में वंशावलि भी है। कुछ उपनिषदों में वंशावलियों के समान तालिकाएँ तथा नामावलियाँ हैं। उदाहरणार्थ, बृहदारण्यक में दूसरे, चौथे तथा छठे अध्याय के अन्तिम 'वंश' देखने लायक हैं। वे उन उपनिषदों के रचयिता या ग्रहणकर्ता ऋषियों की नामावलि नहीं है, अपितु उनकी परम्पराओं की तालिका है। इसके साथ मन्त्रद्रष्टाओं के नाम भी दियायी पड़ेंगे।

औपनिषदिक ऋषियों के प्रतिनिधि हैं याज्ञवल्क्य। राजा तथा महात्मा जनक के दरबार के ज्ञान-विज्ञान-निधि पण्डित। इनका व्यक्ति-वैशिष्ट्य उपनिषदों में सर्वाधिक प्रज्वलित है। इनको कीथ 'सर्वोत्तम प्राज्ञ' कहते हैं तो डॉयसन् 'उपनिषद् लोक का सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति' विशेषण देते हैं। डॉ. विल्यम् चेंग्नर उनको 'आदर्श गुरु का नमूना' सम्बोधित करते हैं।[१६] याज्ञवल्क्य की चरित-सत्ता के सम्बन्ध में डॉयसन् को सन्देह है। दो पत्नियों (मैत्रेयी तथा कात्यायनी) वाले याज्ञवल्क्य ने कहोल नामक जिज्ञासु को यह उद्बोध दिया कि पुत्रैषणा यथार्थ ब्राह्मण के लिये उपयुक्त नहीं। विचार करने पर यह हमारे मन को रञ्जित किये बिना नहीं रह सकता (बृह. – ३.५.१)। प्राचीन काल में ऐसा विश्वास किया जाता था कि सम्पूर्ण शतपथ ब्राह्मण की रचना याज्ञवल्क्य ने की, उसी प्रकार आरण्यक तथा उपनिषद् रूपी बृहदारण्यक की रचना भी उन्होंने की। मैक्समूलर को इस बात का सन्देह नहीं है कि इस याज्ञवल्क्य से पूर्ण रूप से भिन्न हैं धर्मशात्र के रूप में प्रसिद्ध याज्ञवल्क्य।[१७] बृहदाण्यक के अन्त में याज्ञवल्क्य का नाम वंशावलि में दिया हुआ है। यही नहीं वहाँ ऐसा भी बताया गया है कि वे शुक्ल यजुर्वेद का आख्यान करते थे। पैंगलोपनिषद् पैंगल को याज्ञवल्क्य के द्वारा दिये गये उपदेश हैं। जाबालोपनिषद् में निर्देशक याज्ञवल्क्य ही हैं। जीवन की सारी गतिविधियों का आधार आत्मा ही है यह प्रमाणित करते हुए मैत्रेयी से वे जो विचार प्रस्तुत करते हैं वह भारतीयों की आत्मविद्या का उत्तम नमूना है। उपनिषद् रूपी समुद्र में हमारा मार्ग प्रशस्त करने वाले सबसे उन्नत दीपस्तंभ यह ऋषि हैं।

मुण्डकोपनिषद् के प्रारम्भ में ब्रह्मा से शुरु होनेवाली एक ऋषि परम्परा है। उक्त परम्परा के अन्तिम आचार्य अंगिरस से पास शौनक नामक वैभवशाली गृहस्थ जाते हैं तथा अंगिरस उनको उपदेश देते हैं। यही इस रचना की शैली है। उसी तरह यह प्रस्तुत किया हुआ स्पष्टतया दिखायी देता है कि श्वेताश्वतर नामक तपस्वी महर्षि श्वेताश्वतरोपनिषद् के मन्त्र एक ऋषिसंघ को बताते हैं। प्रश्नोपनिषद् में तत्त्वजिज्ञासु युवकों को उपदेश देने वाले आचार्य का नाम पिप्पलादन है। ऐसा एक संकेत है कि कौशीतक नामक ऋषि की वाणी है कौशीतकी उपनिषद् (२.१)। सुबालोपनिषद् के प्रारम्भ तथा अन्त में यह स्पष्ट बताया गया है कि उसमें वर्णित सारी चर्चा एक ऋषि की रचना है। प्रोक्ता ऋषियों के नाम का उल्लेख न होनेवाले कई उपनिषद् हैं। केनोपनिषद् एक महान् प्रश्न से प्रारम्भ होता है। एक महान् ऋषि का हृदय वहाँ स्पन्दित है। यह व्यक्त नहीं किया गया है कि प्रश्नकर्ता तथा प्रश्नों का हल करनेवाला कौन है। ईश जैसे प्रसिद्ध कई उपनिषद् इस प्रकार गौरव का अनुभव कराते हैं।

कई उपनिषदों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, स्त्रियाँ तथा अमानुषी अनेक आचार्य थे—महीदास, ऐतरेय, सत्यकाम जाबाल, उद्दालक, आरुणी, आरुणेय, श्वेतकेतु, प्रवहण जैबाली, शाण्डिल्य, रैक्व, भारद्वाज, बालाकी, जनक, अजातशत्रु, अश्वपति, गार्गी प्रतर्दन आदि। ब्राह्मण याज्ञवल्क्य जितने विख्यात हैं उतने ही या उससे भी ज्यादा प्रसिद्ध हैं विदेहाधिपति जनक। जिस उत्सुकता से उन्होंने याज्ञवल्क्य की प्रशंसा की उसी प्रकार डॉयसन् 'अपने राजदरबार के बौद्धिक जीवन के केन्द्र' के रूप में जनक की प्रशंसा करते हैं। इन दो व्यक्तियों से बृहदारण्यक तथा छान्दोग्य भरपूर हैं। जिन अन्य उपनिषदों में वे प्रकट नहीं होते उनमें भी सांध्यछाया के समान उनकी परछाई व्याप्त होती अनुभूत होती है। जनक का दरबार उस समय गहरे आत्मचिंतन का वसन्तोद्यान होकर शोभित है। अनेक उपनिषद् गुरु-शिष्य, पिता-पुत्र, पति-पत्नी तथा राजा-विद्वानों के बीच हुए संवाद के रूप में रचित हैं। तत्त्व-चिन्तन को मानुषी परिवेश प्रदान करके पूर्वपक्ष तथा सिद्धान्तपक्षों को अलग अलग कर उनके आघात-प्रत्याघातों से दृष्टिकोणों की विविधता उत्पन्न करनेवाली यह रीति बाद में समस्त भारतीय तत्त्वज्ञान में स्वीकृत हुई।

इस प्रकार की चर्चा में किसी भी पुरुष के साथ स्वतन्त्र तथा निर्भय होकर भाग लेने वाली एक स्त्री है गार्गी वाचक्नवी। वे याज्ञवल्क्य के लिये भी अतृप्तिकर क्षणों की सृष्टि कर सकने में समर्थ प्रतिभाशाली चिन्तका थीं। मैत्रेयी के साथ उन्होंने जनक के दरबार की शोभा बढाई।

कठोपनिषद् में यम नचिकेतस् को, छान्दोग्य में सनत्कुमार नारद को, तथा कौशीतकी में इन्द्र प्रतर्दन को आत्मोपदेश देते हैं। ये अमानुषी हैं। बैल, हंस चिड़ियाँ आदि सब सत्यकाम जाबाल के लिये गुरु बन जाते हैं (छान्दो. ४·४-८)।

संक्षेप में नाम तथा रूप को मिथ्या मानने वाले वे प्राचीन ऋषि अपने दर्शन के अमृत तत्त्व की कामना करते हैं, न कि अपनी अमरता की। उनको कर्तृत्व का अभिमान न था। वे तत्त्व के केवल द्रष्टा मात्र थे। चिन्तन को वाणी का एकमात्र लक्ष्य मानने वाले वे शेष सबको अयथार्थ तथा विचित्र मानते थे।[१८]

भूतपूर्व उपकुलपति, कालिकत विश्वविद्यालय — सुकुमार अषिक्कोड
कालिकत (केरळ)
हिन्दी विभाग, कोचीन विश्वविद्यालय — भाषान्तर : एन्. जी. देवकी
कोचीन– ६८२०२२ (केरळ)

टिप्पणियाँ

१. बाल गंगाधर तिलक का तर्क है कि वैदिक काल ईसा-पूर्व ४५०० तथा ब्राह्मणकाल ईसा-पूर्व २५०० तथा उपनिषदों का काल ई. पूर्व १६०० है। याकोबी वेद को ई. पू. ४००० के ग्रन्थ मानते हैं, मैक्स-मूलर ई. पू. १२०० के, और बिण्टरनित्स ई. पू. २५०० तथा २००० के बीच के मानते हैं। विण्टरनित्स का मत मध्यममार्गी तथा वस्तु-निष्ठता की दृष्टि से ज्यादा स्वीकार्य लगता है।

Vide Max Muller; *Indian Philosophy*, Vol. 1, p. 67
S. N. Dasgupta; *A History of Philosophy*, Vol. 1 p. 10.

M. Hiriyanna; *Essentials of Indian Philosophy*, p. 9

२. Vide Max Muller; *A History of Ancient Sanskrit Literature*, p. 63

Rogozin; *Vedic India*, p. 114

Bloomfield; *The Religion of the Veda*, p. 17

Winternitr; *A Hisrory of Indian Lirerature*, p. 6

३. *Indian Philosophy*, Vol. 1, p. 143. बाद में लिखे *The Principal Upanisads* नामक ग्रन्थ में राधाकृष्णन् ने इस तालिका से माण्डूक्य को हटा कर कठ को सम्मिलित किया है (p. 22) डॉयसन् की तालिका को उन्होंने स्वीकृत किया। अतः माण्डूक्य तथा बुद्ध से पहले इतिहास-ग्रन्थों में जो अंकित है वह गलत होगा।

४. " ईशकेनकठप्रश्नमुण्डमाण्डूक्यतित्तिराः।
ऐतरेयं च छान्दोग्यं बृहदारण्यकं तथा ॥" (मुक्तिकम्-- ३०)

इस श्लोक में नामक्रम का कोई आधारभूत तत्त्व नहीं लगता, इसके अलावा कि उक्त उपनिषदों के नाम छन्दबद्ध तथा लयगतिबद्ध किये जायें। छोटे नाम पहले तथा लम्बे कठिन नाम बाद में प्रयुक्त करने का प्रयत्न किया गया है।

५. *The Cultural Heritage of India*, Vol. 1, p. 347.

६. विद्यारण्यकृत माने जाने वाले **शांकरदिग्विजय** नामक काव्य में शंकराचार्य ने नृसिंहतापिनी उपनिषद् का भाष्य लिखा ऐसा बताया गया है। हमारा अनुमान है कि उल्लूर के **केरल साहित्य चरित्र** में जो यह बताया गया है कि उक्त भाष्य शंकराचार्य ने पद्मपाद की प्रार्थनानुसार लिखा (खण्ड १, पृ. १०२) वह एक आधारहीन प्रस्ताव दिखायी पड़ता है। उक्त महाकवि ने लोकश्रुति को आधार मान कर यह मत प्रकट किया है कि अथर्वशिखा, अथर्वशिरस्स आदि उपनिषदों पर भी शंकराचार्य ने भाष्य लिखे।

७. मैक्समुल्लर का यह तर्क है कि सबसे प्राचीन उपनिषद् है मैत्री (मैत्रायणी) - देखिये *Sacred Books of the East*, Vol. *XV*, p. 6 कीथ *The Religion and the Philosophy of the Veda and Upanishads* में लिखते हैं कि वज्रसूचिकोपनिषद् यह प्रमाणित करने वाला असाधारण उपनिषद् है कि ब्राह्मणत्व, जीवन, शरीर, जगत्, कर्म, धर्म आदि की चर्चा का प्राधान्य किसी भी उपनिषद् में नहीं है।

८. " एकैकस्यास्तु शाखाया एकैकोपनिषन्मता " (मुक्तिकम्– १४) । एक सौ आठ उपनिषदों के नाम मुक्तिकम् प्रस्तुत करता है । (३०–३९)

९. K. V Gajendragadkar; *Neo–Upanishadic Philosophy*, pp. 8–40.

१०. *The Philosophy of the Upanishads*, p. 8.

११. *The Cultural Heritage of India*, Vol. 1 p. 348.

अल्लोपनिषद् के रचनाकार अकबर के दरबार के सदस्य शेक्भावन (१५५५–१६०५) थे ।

१२. मुक्तिकोपनिषद् के प्रथम अध्याय में शान्तिपाठ दिये हुए हैं । शांकर-भाष्य का अध्ययन करते समय इन शान्तिमन्त्रों के अतिरिक्त अन्य छः उपनिषद्-वचनों का भी पाठ करने की परम्परा है ।

१३. विष्णुपुराण में पराशर महर्षि मैत्रेय को उस समय के भूविज्ञान का उपदेश देते समय भारत के सम्बन्ध में वह लोगों के देशप्रेम से गौरवान्वित हो ऐसा प्रस्ताव रखते हैं (२.२९–२६) । भारत ही श्रेष्ठ राज्य है तथा वहाँ का जन्म दुर्लभ है । उसकी सीमाएँ इस प्रकार बतायी गयी हैं (२.३.१;–

" उत्तरं यत् समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम् ।
वर्षं तद् भारतं नाम भारती यत्र सन्ततिः ॥ "

कूर्म (९.४७.२४–४४), वामन (४५), मत्स्य (११४), मार्कण्डेय (५४), भागवतम् (५.१९.९–२८) जैसे पुराणों में भारत का वर्णन देख सकते हैं । ' भारतं प्रथमं वर्षं ' से जम्बूद्वीप के अंश के रूप में ' हरिवंश ' का वर्णन करते हैं ।

मनुस्मृति में आर्यावर्त जैसे देशों की परिभाषाएँ देख सकते हैं (२.२२) :

" आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्राच्च पश्चिमात् ।
तयोरेवान्तरं गिर्योः आर्यावर्तं विदुर्बुधाः ॥ "

अमरकोश सरलता से बताता है : "आर्यावर्तं पुण्यभूमिर्मध्यं विन्ध्य-हिमालयोः" (२.१ ९) । आर्यावर्त में ब्रह्मावर्त, ब्रह्मर्षिदेश तथा मध्यदेश सम्मिलित हैं। कई इतिहासकारों के अनुसार आर्यावर्त तथा ब्रह्मावर्त, एवं ब्रह्मावर्त और ब्रह्मर्षिदेश में परस्पर भ्रम हुआ है। वर्तमान पूर्वी पंजाब से उत्तर प्रदेश के पूर्व तक व्याप्त प्रदेश आर्यावर्त कहलाता था। "आर्या आवर्तन्ते यत्र" व्युत्पत्ति - आर्यों का निवास-स्थान। मनुस्मृति में ब्रह्मावर्त को इस प्रकार वर्णित किया गया है (२.१७) :

"सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम् ।
तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते ॥"

अब प्रायः पाकिस्तान के साथ मिले हुए प्राचीन भारत का उत्तर-पश्चिमी भाग। फिर कुरुक्षेत्र (इसका पहला नाम ब्रह्मर्षिदेश था) को मिला कर कुरुपांचाल देश, मात्स्य, विदेह, शूरसेनक जैसे देश। ये तथा मध्यदेश मिलें तो आर्यावर्त होता है। मध्यदेश के सम्बन्ध में मनुस्मृति (२.२१) :

"हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्यं यत्प्राक् विनशनादपि ।
प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशस्स कीर्तितः ॥"

ऋग्वेद में प्रख्यात नदियों में से एक है सरस्वती। सबसे श्रेष्ठ माता तथा देवी के रूप में उसकी प्रशंसा की गयी है। (२,४१.१६–१८)। ऋग्वेद के दसवें मण्डल की नदीस्तुति (१०:७५.५) में गंगा तथा यमुना के बाद महत्त्व सरस्वती का है। सप्तसिन्धुओं में से एक। ऋग्वेद के छठे मण्डल का ६१ वां सूक्त मात्र इस नदी के सम्बन्ध में है। शतद्रु तथा यमुना के बीच की यह नदी है ऐसा अनुसन्धाताओं का मत है। दृषद्वती तानेश्वर के पास से हो कर बहने वाली नदी है। नैमिषारण्य इसके किनारे पर है। ऋग्वेद में (३.२३.४) कुरुक्षेत्र की दक्षिण सीमा पर कौनसी नदी है इसके सम्बन्ध में मतभेद है। यमुना और गंगा का संगम है प्रयाग।

१४. B. C. Law; *Historical Geography of Ancient and Medieval India*, p. 24.

१५. आगे लिखे गये रामपूर्वतापिनी उपनिषद् में लंका का उल्लेख है (४३, ४५)। नारदबिन्दूपनिषद् में 'भारतवर्ष' शब्द का प्रयोग दिखायी पड़ता है।

१६. *The Religion and the Philosophy of the Vedas and the Upnishads.*

The Philosophy of the Upanishads, p. 214.
William Chekner; *A Tradition of Teachers*, p. 11

१७. *A History of Ancient Sanskrit Literature*, p. 296
'याज्ञवल्क्य' शब्द का अर्थ याज्ञवल्क धारण करने वाला ऐसा बता सकते हैं। यज्ञं + वल्कं = यज्ञवल्कं (यज्ञ के लिये धारण किया जाने वाला अजिन)।

१८. मलयालम् साहित्य के समकालीन प्रसिद्ध समीक्षक प्रोफेसर सुकुमार उषिक्कोड़ के १९८५ में साहित्य अकादमी पुरस्कार से सम्मानित तत्त्वमसि ग्रन्थ के प्रथम खण्ड के पाँचवे अध्याय का भाषान्तर।

'कामायनी' के कथ्य की सन्दिग्ध प्रामाणिकता

हमारे विचार में किसी रचना की पड़ताल अथवा अनुशीलन करते समय दृष्टि सदा उसके कथ्य पर होती है। कथन की पड़ताल से ही उसकी दृष्टि एवं विश्व दृष्टि का बोध होता है। उसी समय हम यह भी जान लेते हैं कि उसकी दृष्टि हमारे लिए उपयोगी है या नहीं अथवा कितनी और किस सीमा तक उपयोगी है? प्रत्येक रसानुभूति के मूल में सदा कथ्य की उपादेयता ही निहित रहती है। संक्षेप में रचना का कथ्य पाठक के लिए जितना उपयोगी होता है उतनी ही श्रेष्ठ वह रचना आंकी जाती है। किन्तु रचना का कथ्य यूं आंका जाने वाला या उपयोगी नहीं बन जाता है। वह पाठक तक सम्प्रेषित होता है तो आंका जाने वाला बनता है। और सम्प्रेषित होने के लिए वह अपने में एक नोदन या प्रनोदन बल धारण किए रहता है। यही कथ्य की शक्तिमत्ता होती है जो कभी भी कथ्य से अलग नहीं रहती है।

आमतौर पर यही देखने मे आता है कि कथ्य की पड़ताल करते समय हम पहले रचना की विषय-वस्तु अथवा भाव की पड़ताल करते हैं और बाद में शैली का विश्लेषण करते हैं। यह एक परिपाटी सी बन गई है। कामायनी के साथ भी यही हुआ है। किसी ने उसके भाव पक्ष पर इतना बल दिया कि उसी को रचना का कथ्य मान लिया गया। और जिन्होंने प्रसाद के सर्जनात्मक वर्चस्व को स्वीकार किया उन्होंने उसके काव्य कौशल को तो सराहा किन्तु कथ्य को प्रतिक्रियावादी कह कर छुट्टी कर दी। हमारे विचार में कामायनी क्या मानस तक की ऐसी व्याख्या न तो रचना के साथ न्याय करती है और न उस रचना के माध्यम से व्याख्याकार ही अपने को स्पष्ट कर पाता है। कामायनी की विवेचना करते समय यदि हम उसके कथ्य की शक्तिमत्ता को बराबर ध्यान में रखे तो कदाचित् रचना के साथ न्याय हो सके और अन्य कलाकृति के अध्ययन का मार्ग भी प्रशस्त हो सके।

परामर्श (हिन्दी), वर्ष ९, अंक १, दिसम्बर, १९८७

यहाँ थोड़ा कथ्य को परिभाषित कर लेना भी जरूरी है। साधारणतया कथ्य का अभिप्राय विचार से लिया जाता है। किसी वस्तु, घटना एवं संघटना के संबंध में लेखक का क्या विचार है, अर्थात् उसके समर्थन अथवा निंदा–तिरस्कार में वह क्या कहता है। समस्त घटित के प्रति उसका क्या रुख है। दरअसल जिसे हम विचार कहते हैं वह वस्तु की समझ ही होती है। ध्यान देने की बात यह है कि किसी वस्तु की समझ या अर्थ भी वस्तु की समझ या अर्थ नहीं होता है। वह वास्तव में वस्तु को अन्य वस्तुओं से उसके संबंध की समझ होती है। क्योंकि हम वस्तु को न तो एकाकी जान सकते हैं और न परिभाषित कर सकते हैं। उसकी परिभाषा अन्य से सम्बन्धित करके ही दी जा सकती है। अतः वस्तु-विचार या वस्तु-अर्थ वस्तुओं के सम्बन्धों का विचार है।

वस्तु-अवधारणा भी यही है। इस पर हमने अन्यत्र विस्तार से चर्चा की है। और यह रेखांकित करने का प्रयास किया है कि वस्तु क्या है यह जानते ही हमारी भावनाएँ भी उस बोध से सम्पृक्त हो जाती हैं। मन एक समग्र इकाई है। वस्तु की समग्र समझ में प्रेक्षक भी अपने समग्र से ही उसे समझता या अंगीकार अथवा धारण करता है। वस्तु-बोध की इस आण्विक अथवा संश्लिष्ट प्रकृति के प्रकाश में ही हम किसी रचना-मूल की समझ प्राप्त कर सकते हैं।

कामायनी में प्रस्तुत कथा-वस्तु पर विचार करें तो हम देखते हैं कि जल प्लावन के अवशेषों में मनु ही सर्व प्रथम हमारे सामने आते हैं। देव-संस्कृति के ध्वंस की स्मृति ने उन्हें अकेला और निरुपाय कर दिया है। श्रद्धा के प्रबोधन से उन्हें जीवन का अर्थ मिलता है। गृहस्थी बस जाती है। किन्तु उनकी स्वार्थपरत की वासना-लोलुप प्रवृत्ति उन्हें परिवार से बाँध कर नहीं रहने देती है। वे परिवार की सुरक्षा, सुदृढता एवं विस्तार के लिए कुछ नहीं करते हैं। एक से अनेक होने की भावना उनमें लुप्त-प्राय है। इडीपस ग्रंथी उनमें इतनी प्रबल है कि वे श्रद्धा के लिए पुत्र से ही ईर्ष्या करने लग जाते हैं। श्रद्धा को उन्होंने बड़ी विचित्र स्थिति में डाल दिया है। वह पुत्र की बन कर रहे या पिता की। यह पिता-पुत्र की प्रतिद्वन्द्विता की गहराई में उतर कर प्रसाद क्या मनुष्य को अविवेकी पुरुष के रूप में देखना चाहते है? पश्चिम का इरेशनल मॅन कहीं यही तो नहीं है? नतीजा होता है कि मनु एक दिन माता और पुत्र दोनों को छोड़ कर परिवार से पलायन कर जाते हैं। राह चलते चलते सारस्वत प्रदेश की इड़ा के ससंर्ग में आकर भी वही किया जो श्रद्धा के साथ किया था। वे प्रजापति बने। राज्य के समस्त नियम-विधान उनके हाथ में आ गए। किन्तु उससे भी उन्हें सन्तोष नहीं हुआ।

एक दिन अपने बर्बरता-पूर्ण आचरण से इड़ा को ही हस्तगत कर लेना चाहा। प्रजा से परास्त हुए तो पुनः राज्य छोड़ गए। अन्ततः एक दिन श्रद्धा ने ही उन्हें ढूंढ निकाला। उसके ही सहयोग से उन्होंने क्षितिज पर नटराज शिव में समाहित इच्छा, क्रिया और ज्ञान के समन्वय से तादात्म्य स्थापित किया। तो क्या प्रसाद जीवन और जगत् को यह अर्थ देना चाहते हैं कि समरसता-सामंजस्य का मार्ग शिव का मार्ग है और वह श्रद्धा की स्मित रेखा से एकाकार होता है। इससे अर्थ यह निकलता है वि श्रद्धा ही व्यक्ति के विकास के मूल में है। लेकिन हमें कामायनी की कथा का यह अन्तिम भाग क्षेपक सा प्रतीत होता है। अन्यथा कथा तो वहां ठहर गई है, जहाँ श्रद्धा मानव को इड़ा के सुपुर्द कर या उसके संरक्षण में छोड़ कर मनु को लेकर नटराज शिव के मार्ग पर चल पड़ती है। मानव को उसका यही आशीर्वाद है कि वह तर्कमयी के साथ मिलकर श्रद्धामय होने से समाज से समरसता का प्रचार करे। इससे भी यही अर्थ निकलता है कि सामाजिक विकास के मूल में भी श्रद्धा ही है।

प्रश्न होता है कि श्रद्धा में ऐसा कौनसा तत्त्व है जो व्यक्ति और समाज दोनों को आगे बढ़ाने वाली शक्ति के रूप में सहायक सिद्ध होता है ?

कामायनी में उसके रूप-विस्तार को देखें तो पता चलता है कि वह एक ऐसा चरित्र है जिसे उसकी गुणवत्ता के कारण प्रसाद, व्यक्ति और समाज दोनों के लिए प्रेरणाप्रद मानते हैं। वह एक ऐसी प्रबुद्ध नारी है जिसने जीवन-जगत् का सार पा लिया है। मनु को भी वह उसे बताना चाहती है। उसका कहना है--

एक तुम यह विस्तृत भूखण्ड प्रकृति वैभव से भरा अमन्द

कर्म का भोग, भोग का कर्म यही जड़-चेतन कर आनन्द।" (कामायनी: श्रद्धासर्ग, पृ. २५)[२]

लेकिन यह काम मनु अकेले नहीं कर सकते हैं। उसके लिए वह अपनी सेवाएँ अर्पित कर देती है। और मनु को क्या करना है वह भी समझाती जाती है। उसका कहना है कि "वे शक्तिशाली हों, विजयी बनें, विश्व में गूंज रहा जयगान" उन्हें ही तो संस्कृति में मूल रहस्य बन कर यह बेल फैलानी है। और यह काम कुछ कठिन भी नहीं है। देव संस्कृति के बचे खुचे उपकरण लेकर तथा शक्ति के विद्युत्कणों को समन्वित करके मानवता को विजयी कर सकते हैं। मनु को इस काम से झिझकना नहीं चाहिए। काम में ही तो 'महाचिति' सजग हुई व्यक्त हो रही है। वह तो सर्ग इच्छा का परिणाम है। यहाँ पर श्रद्धा का पुरुष

संसर्ग से पूर्व ही मित्रवत् कान्ता सम्मित उपदेश शुरू हो जाता है। और जब वासना का वेग कानों की लाली को उभारने लगता है तब भी वह अपनी शालीनता को नहीं छोड़ती है। समर्पण करते समय भी वह गिड़गिड़ा सी लगती है। वह अपने को इतनी दुर्बल समझ रही है कि पूछने लगती है "क्या समर्पण चिर बन्ध बनेगा नारी हेतु ?" वह डरी हुई है। और डरना भी ठीक है। उसके कारण उसे खूब अच्छी तरह ज्ञात हैं। सारा जमाना उसके खिलाफ रहा है। देव दानव सबने उसे लूटा है। उसके लिए यही रास्ता है कि "मैं दे दूं और न फिर कुछ लूं।" उसके भीतर की लज्जा उसका इस प्रकार समर्थन करती हुई दिखाई देती है—

"नारी ! तुम केवल श्रद्धा हो, विश्वास रजत नग जग तल में,
आँसू के भीगे अँचल में मन का सब कुछ रखना होगा

तुमको अपनी स्मित रेखा से यह सन्धि-पत्र लिखना होगा।" (वहीं : लज्जा-सर्ग, पृ. ४५)

यह श्रद्धा का विवेक-सम्मत आचरण-बोध या धारणा है जो सदा नैतिक संवेदों की अनुभूति से सम्पृक्त है। संवेगों का आवेश उसमें लक्षित नहीं होता है। वह मनु के नर-पशु पर भी कुपित नहीं होती है। मनु को वह इतना ही कह कर उपालम्भ देती है कि—

"मनु। क्या यही तुम्हारी होगी उज्ज्वल मानवता
जिसमें सब कुछ ले लेना हो हन्त ! बची क्या शवयता।" (वहीं : कर्म-सर्ग पृ. ५५)

उसका तो उन्हें सिर्फ यही कहना है कि -
"औरों को हँसते देखो मनु — हँसो और सुख पाओ।

अपने सुख को विस्तृत कर लो सब को सुखी बनाओ।" (वही : कर्म-सर्ग, पृ. ५५)

किन्तु मनु उसकी एक नहीं सुनते हैं। फिर भी वह अपने काम में लीन रहती है। मनु के लिए उसके पास दीन अनुग्रह के अतिरिक्त कुछ नहीं है। वह बालियाँ बीनती, अन्न संग्रह करती और तकली कातते तकली को ही इस प्रकार सम्बोधित करके रह जाती है-

"चल री तकली धीरे-धीरे, प्रिय गए खेलने को अहेर !" (वहीं, ईर्ष्या-सर्ग, पृ. ६२)

उस निर्मोही को सहने के अतिरिक्त और उसके पास कोई चारा नहीं है।

और जब मनु का नर-पशु अतिचारी प्रजापति बनता है और एक दिन रक्तोन्माद में प्रजा की सामूहिक बलि के सामने परास्त होकर मुमूर्ष हुआ पड़ा रहता है तो उस समय भी श्रद्धा ही अपने मधुर स्पर्श का मरहम लगाने वहाँ पहुंच जाती है। श्रद्धा में उसके लिए प्रतिक्षोभ, क्रोध, घृणा, भर्त्सना आदि में से कुछ नहीं है। उसके लिए वह एक प्रवासी बावले के अलावा और कुछ नहीं है। उसके लिए वह इड़ा से भीख सी माँगती हुई दिखाई देती है। और जब मनु अपने अपराध की वह्नि में जल कर वहाँ से भी पलायन कर जाते हैं तो भी श्रद्धा उन्हें पुनः ढूंढने के लिए निकल पड़ती है। प्रसाद के शब्दों में वह–

" लोक अग्नि में तप गल कर, ढली स्वर्ण प्रतिमा बन —
वह मातृमूर्ति थी विश्व मित्र।" (वहीं, दर्शनसर्ग, पृ. १६१

इस प्रकार वह सब तरह की उपेक्षाएँ सह कर भी दूसरों का अपना दुलार ही देती रहती है। वह कभी भी अपना धैर्य नहीं खोती है। मनु भी अन्ततः उसकी मातृ-मूर्ति को पहचान लेते हैं और कहने लग जाते हैं कि–

" तुम देवी ! आह कितनी उदार, यह मातृमूर्ति हे निर्विकार,
हे सर्वमंगले ! तुम महती, सब का दुख अपने पर सहतीं
कल्याणमयी वाणी कहतीं, तुम क्षमा निलय में रहतीं,
मैं भूला हूँ तुमको निहार– नारी सा ही, वह तुच्छ विचार ! "
(वही, दर्शनसर्ग पृ. ११८)

और जब वे अपनी निरीहता प्रकट करते हैं और मान लेते हैं कि अब विकार मात्र रह गए हैं तो वह उन्हें उस स्थान पर ले जाने को तत्पर है जहाँ निरन्तर शान्ति रहती है। सुहाग छीनने वालों के प्रति भी वह ममतामयी और दयालु बनी रहती है क्यों कि उसने बिछुड़े को अवलम्ब दिया। अवलम्ब देना एक श्रेष्ठ मानव मूल्य है। उसने ममतामयी बन कर नारी धर्म का निर्वाह ही किया है। श्रद्धा इतनी उदार है कि वह इड़ा को क्षमा करने के साथ-साथ अपने पुत्र मानव को ही उसे सौंप देती है। राग बांटनेवाली का यह मन कितना महान् और कितना उदार और कितना उदात्त है। इतना ही नहीं उसके कोश में कुछ और भी है। वह इड़ा-मानव दोनों से शासक बन कर ऐसी राष्ट्र-नीति फैलाने का परामर्श देती है कि समाज में कहीं भी भय की व्याप्ति शेष न रहे। मानव को ढाढस बंधाती हुई वह कहती है कि -

"हे सौम्य ! इड़ा का शुचि दुलार, हर लेगा तेरा व्यथा भार,
यह तर्कमयी तू श्रद्धामय तू मननशील करे कर्म अभय
इसका तू सब संताप निचय, हरले, हो मानव भाग्य उदय,
सब की समरसता कर प्रचार, मेरे सुत ! सुन माँ की पुकार !"
(वहीं, दर्शनसर्ग पृ. ११४)

इसी समरसता को एक दिन मनु भी श्रद्धायुक्त तन्मय हुए इच्छा, क्रिया और ज्ञान के समन्वय में प्राप्त कर लेते हैं। इस समन्वय को उन्होंने श्रद्धा की स्मित रेखा ने ज्योतिर्मान किया था।

कुल मिला कर देखें तो लगता है कि श्रद्धा हाड़ मांस का शरीर धारण करके भी उसका अपना कहीं कुछ नहीं है, यद्यपि वह परम सुन्दरी है। वह वायवीय गुणों का एक ऐसा पुंज है जिसने मानव रूप धारण किया हुआ है। वह एक निर्विकार वत्सल भाव की प्रतिमूर्ति है। उसका पूर्वानुराग-अनुराग एवं विरह भी दीन, करुण एवं उदार है। उसके संवेदनशील स्वभाव में प्रसाद ने जिन गुणों का समावेश किया है उनमें नैतिक भावना, प्रेम भावना (क्षमाशीलता, उदारता, दयालुता, करुणा, वत्सलता सर्वहितकामना आदि) तथा आत्मगौरव की भावनाएँ सर्वोपरि हैं। वह सदा स्व पर, पर को तरजीह देती है। व्यक्तिगत रूप से उसके पति-प्रेम में एक निष्ठा के साथ-साथ आत्म विसर्जन का भाव है। मनु के प्रति उसमें अटूट पति-भक्ति है। दासत्व तो वहाँ नहीं है, किन्तु स्वनियोजित दासत्व तो वहाँ है। कवि ने इस अमूर्त भावों को श्रद्धा में मूर्तिमान किया हुआ है। इसे हम भावना का देवीकरण भी कह सकते हैं। यह निरपेक्ष को सापेक्ष अथवा ठोस सत्ता प्रदान करना है। यह कुछ इस प्रकार हुआ है कि मानों हमारी भावनाएं अथवा सवेद कोई सूक्ष्म तत्त्व हैं जिसे स्थूल करके दिखाना है। यही मानवता का पर्याय है। किन्तु वास्तव में हमारे भावों के सभी प्रकार– संवेग (इमोशन) आवेग अथवा अनुभूति संवेदन तथा संवेद (सेंटीमेण्ट) न कोई तत्त्व है और न चिरन्तन सत्य, जैसा कि प्रसाद ने कामायनी के आमुख में इस प्रकार कहा है, "सूक्ष्म अनुभूति या भाव चिरन्तन सत्य के रूप में प्रतिष्ठित रहता है, जिसके द्वारा युग-युग के पुरुषों की और पुरुषार्थों की अभिव्यक्ति होती रहती है।"– (आमुख : कामायनी) वास्तविकता यह है कि ये मानव-मन की संघटनाएँ मात्र हैं। बहुत लोग इसे तत्त्व कहते हैं। परन्तु हैं ये प्रक्रिया मात्र।– ऐसी प्रक्रिया जो सदा अन्य वस्तु एवं संघटना से प्रकाश में आती है, स्वयं का उनका अपना कोई

अस्तित्व नहीं होता है। बिना दूसरे के संदर्भ या सम्बन्ध के उसे हम अनुभूत नहीं कर सकते हैं। वह एक सापेक्ष सत्य होता है। परन्तु प्रसाद कुछ ऐसा दिखाते हैं कि मानों श्रद्धा में उक्त भावनाएँ जन्मजात हैं। जबकि मनु अपने में आदिम प्रवृत्तियों को ही धारण किए हैं। शायद मनु के आदि पुरुष होने का यही उनके लिए अर्थ हो। कवि का ध्येय कदाचित् यह रहा कि मानव के वृत्यात्मक स्वभाव को आधार मान कर उसके मानवीयकरण की प्रक्रिया को घटित करके दिखाया जाये। या शायद वे इस बात को रेखांकित करना चाहते हैं कि मनुष्य स्वभाव से अपने मूल में अविवेकी होता है। समस्या उस नर-पशु को आदमी बनाने की ही है। और यह श्रद्धा के माध्यम से हो सकता है। श्रद्धा के माध्यम का एक और अभिप्राय यह भी हो सकता है कि वह उन्हें कान्तासम्मित उपदेश से शिक्षित करे। किन्तु मनु पर उसका कोई ज्यादा असर नहीं पड़ता है। कवि का यह अभिप्रेत भी नहीं है। उसके लिए श्रद्धा एक व्यक्ति न होकर भावनाओं का प्रतीक है। इसीलिए उसे मनु-प्रदेश की न कह कर गांधार-प्रदेश की बताया गया है। उसका व्यक्तित्व भिन्न है। कवि का कहना है कि मन से यदि उन भावनाओं का संयोग हो जाता है (जो गांधार प्रदेश के हैं) तो उसमें मानवता विकसित अथवा प्रस्फुटित होती दिखाई दे सकती है। इसी को उसने मनन की स्थिति कहा है। इसका उल्लेख कामायनी में इस प्रकार आया है कि, "यदि यह श्रद्धा और मनु अर्थात् मनन के सहयोग से मानवता का विकास रूपक है तो बड़ा भावमय और श्लाघ्य है।" इसका आशय यह है कि मानव बनने के लिए श्रद्धामय होना है। यही कामायनी का मूल कथ्य है।

प्रश्न पैदा होता है कि यह मनन क्या चीज है? साधारणतया मनन का अर्थ चिन्तन या सोच-विचार से लिया जाता है। आत्म-चिन्तन भी इसी के लिए प्रयोग होता है। किन्तु चिन्तन मनन से नर-पशु मानव बनता है यह सन्दिग्धता-पूर्ण ही नहीं असम्भव भी है। आत्मलीन होना भी इसे ही कहा गया है। इस अवस्था से यदि किसी अन्य वस्तु की जरूरत पाई गई है तो वह आत्मा का ही दूसरा पर्याय पर-आत्मा बताया गया है। समस्त आध्यात्मवादी दर्शन इस आत्म-तत्त्व का बड़े विस्तार एवं गहनता से विश्लेषण-विवेचन करता आया है। इसकी उसने सूक्ष्म से सूक्ष्म व्याख्या की है और उसे ही मानव मुक्ति का मूलाधार सिद्ध किया है। प्रसाद भी आत्मानुभूति के इसी चिरन्तन सत्य को भाव तत्त्व के रूप में देखते हैं और श्रद्धा में उसे प्रतिष्ठित करते हैं। किन्तु उसमें प्रतिष्ठित प्रेम, आत्मगौरव एवं नैतिक विवेक आदि भावनाएँ किसी ऐसे मनन का फल नहीं हैं जो श्रद्धा में है और मनु में नहीं है।

हमारे विचार में मनन का अर्थ मन के उस नित्य-व्यापार से लिया जाना चाहिए जिसके मध्य वह इन भावनाओं का अर्जित करता है। दरअसल हमारी भावनाएँ (स्थायी भाव) मन की नित्य-क्रिया के उपार्जित तथ्य हैं, कोई जन्मजात मूल तत्त्व नहीं हैं।

नित्य प्रक्रिया के अन्तर्गत मन की ऊर्जा के प्रत्यक्षण, कार्यवृत्ति एवं संवेदन (अनुभूति) के सभी भेद-उपभेद कार्यरत रहते हैं। अनुभूति के अन्तर्गत चेतना के उन सभी भावों की गिनती होती है, जिन्हें हम संवेग (इमोशन), आवेग अथवा अनुभव या अनुभूति (फीलिंग) के अतिरिक्त संवेग (सेंटीमेन्ट) के नाम से जानते हैं। हमारा भावना जगत् भी यही है। प्रसाद ने मन की इन प्रकार की ऊर्जाओं को इच्छा, क्रिया और ज्ञान के पर्याय के रूप में माना है। इनके मनोविज्ञान में और आगे हमें जाने की आवश्यकता नहीं है। हमारा निवेदन केवल इतना है कि ये न किसी तत्त्व के विभाग हैं और न चिरन्तन। यह हमारा मानसिक जगत् है जो तत्त्व न होकर संघटना मात्र है। बहुत लोग इसे आत्म-तत्त्व भी कहते हैं। किन्तु है यह प्रक्रिया ही है और वह भी ऐसी प्रक्रिया जो बाह्य में संघटित संघटना से संघटित होती है। उसका स्वयं का कभी कोई अस्तित्व नहीं होता है। वह उस पर से प्रकाश में आता है जो उससे सर्वथा स्वतन्त्र होता है। वह एक तरह से वस्तु जगत् का ही परावर्तन या अनुचिन्तन होता है। बिना दूसरे के संदर्भ या संबंध के हम कभी भी मनोमय नहीं होते हैं। सच कहो तो यही सच्चा अध्यात्म है जो पर-सापेक्ष है। हम जब इस तथ्य को नजरअंदाज करते हैं तब हम सदा आत्मा या भाव की नित्यता के मोहजाल में फंसते जाते हैं। श्रद्धा में हमें जिन भावनाओं के दर्शन होते हैं वे मन की नित्य क्रिया के उपार्जित तथ्य हैं जो वस्तुगत यथार्थ के परावर्तन में उपलब्ध हुए हैं। सच यह है कि श्रद्धा ने भी उन्हें अर्जित नहीं किया है। अपितु उसके अन्दर जो एक और नारी है उसने उन्हें अर्जित किया था। वह तो उससे केवल तादात्म्य स्थापित करती है। दूसरे शब्दों में वे इतिहास पुरुष के अर्जित संस्कार हैं। उनकी अवधारणा को ही कवि ऐन्द्रिय बिंबों की समायोजना से श्रद्धा के चरित्र में तत्त्व रूप में पुनर्स्थापित करता है।

इतिहास में हुआ यह है कि जब चरवाहा पुरुष स्त्री को पीछे छोड़ गया, यूथ विवाह में सब स्त्रियां सब की पत्नियाँ हो गई, कबीलों के सरदार सम्पत्ति संचय करके राजन् की उपाधि धारण करने लगे या कबीले के विखण्डित होने पर परिवारों की सृष्टि होने लगी तो पुरुष के गहपति या गृहपति बन जाने से

नारी एकनिष्ठ भाव से घर की चार दीवारी में घिर गई। आगे चल कर जब राजन् सम्पत्ति का नाम मात्र का अधिकारी रह गया तो भू-सम्पत्ति सामंत के हाथ चली गई। बाद में उसकी जगह पूंजीपति ने ले ली। लेकिन किसी भी अवस्था में स्त्री-पुरुष के संबंधों में बहुत अधिक बदलाव नहीं आया। वह गौण से गौणतर होती गई। श्रद्धा के भीतर की नारी यह सब सहती रही। इतिहास पुरुष को भी उसका खेद हुआ– 'वह हाय ! अबला हुई।' पर कारण से वह अज्ञात ही रहा। उसे यह पता नहीं चल सका कि जीविकोपार्जन की विधी में परिवर्तन आ जाने से यह हुआ है। जैसे जैसे उत्पादन के नए औजार, नई रीतियाँ मालूम होती गईं वैसे वैसे ही उत्पादन विधि भी बदलती रही। पत्थर की जगह लोहे-लकड़ी के औजार आ गए, पशुपालन की जगह खेती ने ले ली। खेती के साथ उद्योग-धंधे भी चल निकले। फिर मशीन आ गई। इस प्रकार जनसंख्या की वृद्धि और जीविकोपार्जन की विधि के बदलते रहने से समाज संगठन भी बदलता गया। और उस बदलाव में आदमी आदमी के परस्पर संबंध भी बदल गए। इस बदलाव का मूलाधार अर्थ-प्रक्रिया थी। लेकिन इतिहास पुरुष उससे अनभिज्ञ रहा। वह नहीं जान सका कि श्रम विभाजन ने जिस प्रकार स्त्री को पुरुष की तुलना में गौण स्थिति में रख दिया था, वैसे ही विनिमय बाजार और मुद्रा ने आदमी आदमी के संबंधों को उससे भी कहीं ज्यादा विकृत किया। अब प्रधान और गौण के स्थान पर अधिकारी-अधीनस्थ, राजा-प्रजा, शासक-शासित, प्रभु-रैयत, शोषक-शोषित, जमीनदार-किसान और पूंजीपति-श्रमिक जैसे हो गए। कहने का अभिप्राय यह है कि पशुपालन युग के स्त्री पुरुषों के मध्य आया क्षुद्र अंतराल। यह अंतराल आगे के युगों में बड़ी खाई बन गया। जीविकोपार्जन की विधि की उत्तरोत्तर प्रगति में आदमी आदमी के संबंधों में जितना अंतराल बढ़ा उतना ही ज्यादा उत्पीड़न भी आया। किन्तु मनुष्य जाति फिर भी निर्मूल नहीं हुई अपनी सत्ता को बनाए रखने एवं बेहतर होने के उपक्रम में उसकी आंतरिक संघटना बाह्य संघटना से तालमेल बनाते हुए विसंगतिपूर्ण जीवन जीती रही। इसमें उसके भावना संस्कार ने बड़ी मदद की। वह अपने को ऐसे संस्कारों में ढालता गया कि सत्तावान् एवं बेहतर होता रहे। परन्तु यह व्यक्ति का एकल कर्म नहीं था। ऐसा नहीं किया कि वह बैठे ठाले अपने में सद्भावनाएँ ले आया हो और विषम परिस्थिति से बच निकला हो। हुआ यह कि जीवनयापन में वह न तो अपने औजारों या संसाधनों से लड़ा और न अपने सहकर्मी-सहयोगी से प्रतिकूल स्थितियों में लड़ता झगड़ता रहा। उसने अनिच्छा पर भी उससे सहयोग किया। वह कभी भी अपने परिवेश से उद्दीपन-अनुक्रिया संबंध में स्थित नहीं

रहा। उसने अनिच्छा पर भी उससे सहयोग किया और इच्छा पर तो किया ही। उसका यह इच्छा-अनिच्छा सहयोग सहकार उसका भावना संसार था। यही उसकी मानवता थी, यही उसका सौन्दर्य बोध था। यह एक दोहरी प्रक्रिया थी। कुछ बाहर घटित हुआ तो उसको देख कर बेहतर होने के लिए कुछ भीतर भी घटित होता गया। बाहरवाला भीतरवाले को संस्कारित, अनुकूलित करता रहा। यह अतीत में ही नहीं हुआ, वर्तमान में संघटित होता है। कर्मण्यावेश के समय वस्तु संवेदन, परिबोध आदि बिंबों के सूत्रीकरण जैसे ही हमारे मन में अवधारणा की अन्विति तक पहुँचते हैं वैसे ही हमारे संवेग अपने विषय से अनभिज्ञ रहने अथवा उसके कल्पनागत रहने अर्थात् अप्रस्तुत होने से प्रस्फुटन का अवसर नहीं पाते हैं, जिससे वे ऐसे तत्वों का उत्सर्जन करने लगते हैं (अपने विषय पर प्रक्षेपण का अवसर न पाने से) जो ऐन्द्रियगोचरता के सामीप्य में संवेदना या अनुभूति (फीलिंग) का संस्पर्श पा जाते हैं और वस्तु-वर्तन-विषयक अवधारणा से संयुक्त हो जाते हैं। इस प्रकार संवेगों से निसृत तत्त्व जो अवधारणा को आवेष्टित किए रहते हैं भावनाओं के रूप में अपनी पहचान कराते हैं। अभिप्राय यह है कि **अपने जीवनयापन के दौरान आर्थिक सामाजिक विकास की संगतता में जो नई प्रथा चल निकलती है और लोकाचार की मर्यादा प्राप्त कर लेती है, इतिहास पुरुष उसके प्रति अपनी अवधारणा बनाता और प्रशंसा-तिरस्कार की भावना के माध्यम से ही उसे ग्रहण कर पाता है।** उत्पादन विधि बदलती है उत्पादन संबंध बदलते हैं तो उसकी वस्तु-विषयक अवधारणा भी बदलती है। उसी प्रकार उसका भावनालोक भी रूपान्तरित होता रहता है। कतिपय उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जाती है।

प्रागैतिहास काल में जीव-हत्या, वध, निष्कासन, पशु-बलि आदि जीवनयापन की अनिवार्यता होने से प्रशंसा के विषय थे। कालान्तर में वे ही निन्दा के विषय हो गए। इसके विपरीत शूद्र, स्त्री, अनार्य, राक्षस आदि जो निन्दा तिरस्कार के विषय होते थे, प्रशंसा के विषय बन गए। ऐसे ही जो प्रेम के विषय थे, घृणा के विषय बन गए। राजा और ब्राह्मण दुराचारी, दुश्चरित्र होने पर भी समादृत थे। किन्तु आज हमारी भावनाएँ उनके प्रति कटु से कटुतर हैं। कहना यह है कि भावनाएँ मानसिक व्यापार की ऐसी संघटनाएँ हैं जो परिवेश में संघटित होने वाली घटनाओं पर निर्भर करती हैं। वस्तुगत यथार्थ के प्रति हमारी जैसी अवधारणा बनती है उसी के अनुसार हमारा भावजगत् भी बदलता रहता है। भावनाएँ अवधारणा के साथ नत्थी रहती हैं। उनकी निरपेक्षता की कल्पना निराधार है। इतिहास पुरुष के जीवन में उसकी प्रेम, घृणा, निन्दा, तिरस्कार, प्रशंसा, आदर' सौन्दर्यबोध, उदात्तता एवं नैतिक विवेक जैसी भावनाओं ने यह काम किया कि ऐतिहासिक विकास अथवा जीविकोपार्जन की उत्तरोत्तर प्रगति में आदमी आदमी

के संबंधों में जो अंतराल आया और उत्पीड़न की मात्रा बढ़ी उसके प्रतिरोध में अपनी सत्ता को बनाए रखने और बेहतर होने की कोशिश में वह यथार्थ के साथ संवेदानुराग से जुड़ता हुआ विसंगतिपूर्ण जीवन जीने में सक्षम हुआ। जीवनयापन के मध्य कारण की अनभिज्ञता में उत्पादन संघटना और आंतरिक संघटना का यह रिश्ता सदा बना रहा। समाज के आर्थिक ढाँचे की शर्तें किसी न किसी रूप में प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष उसके भावजगत् को अनुकूलित करती रहीं। उसके उपार्जित संस्कार उक्त ढाँचे की संगतता में ही विकसित हुए। उसकी सदा यह कोशिश रही कि जीवन की विभीषिका किसी तरह दूर हो। उत्पीड़न कम हो। कितना कम हुआ इतिहास इसका साक्षी है। और सबसे बड़ा साक्ष्य यह है कि वह आज भी उत्पीड़न के आमने-सामने खड़ा है।

इतिहास-पुरुष का अंग होने से स्त्री जाति को भी कुछ कम नहीं सहना पड़ा है। पशुचारी युग की नारी बृहत् समाज-संरचना में जाकर कहीं ज्यादा गौण हो गई। पुरुष के सम्पत्ति अधिकार ने उसकी एक-निष्ठता को चार दीवारों में बन्द कर दिया। उत्तराधिकार ने उसे पुरुष का दास बना दिया। उसकी हालत पशु से बदतर हो गई। गौतम, परशुराम, सुदर्शन, और ययाति की कथाएँ इसकी पुष्टि करती दिखाई देती हैं। ययाति ने अपनी पुत्री माधवी को ऋषि गालव को उधार दे दिया था। उसने तीन राजाओं से हुई संतानों के बदले दो-दो सौ घोड़े लेकर और माधवी सहित विश्वामित्र को गुरुदक्षिणा के रूप में दे दिया था। विश्वामित्र ने फिर एक संत-संतान पैदा करके माधवी को लौटा दिया था। अन्त में उसके पिता ने उसे स्वयंवर में वर चुनने के लिए कहा था। किन्तु वह अपने जीवन से तंग आकर वन में तप करने के लिए चली गई थी। इन्द्र से सम्भोग करने के कारण गौतम ने अपने पुत्र चीरकरी को माता का सिर काटने के लिए कहा था। बाद में उनका क्रोध शांत हो गया था। परशुराम तो माता का सिर काट ही देते हैं। ऐसे ही सुदर्शन को शंका हुई कि कहीं ओघवती अतिथि को सम्भोग सुख देकर सत्कार न करे। स्नान से लौटने पर मालूम हुआ कि पत्नि ने ब्राह्मण अतिथि का पूर्ण सत्कार किया है तो प्रसन्न हुए। कहने का आशय यह है कि आर्थिक दबावों के कारण प्रत्येक युग में नैतिकता के मानदण्ड बदलते रहे हैं। ओघवती के पास पुराने मूल्य हैं तो सुदर्शन नये मूल्यों के प्रति शंकालु हैं। किन्तु जमदग्नि और गौतम के काल में पितृसत्ता पूरी तरह स्थापित हो गई थी। स्त्री का अपना कोई विकल्प नहीं रह गया था। माधवी ने अवश्य किराये पर उठा दिए जाने से तंग आकर स्वयंवर के ढकोसले का प्रतिरोध किया। ऐसा करके भले ही उसने व्यक्ति-

गत रूप से लोकाचार का विरोध किया हो, किन्तु आर्थिक ढाँचे के दबाव से वह भी अन्य स्त्रियों की तरह ही अनभिज्ञ थी। दरअसल जीविकोपार्जन विधि की अपनी शर्तों के वशीभूत पहले काम की जो प्रथा चल निकलती है, कोई कितना ही नाक-भौं सिकोड़े अन्ततः व्यक्ति के आत्मगौरव को लोकाचार से तदाकार होना ही पड़ता है। जीवन जिस प्रकार आर्थिक विकास के सहारे आगे बढ़ा है उसके अन्तर्गत श्रम-विभाजन, विनिमय, पुरुष-सत्ता, सम्पत्ति-संचय तद्गत उत्तराधिकार से स्त्री-पुरुष के संबंधों में जो एक-निष्ठता आई उसने स्त्री को पुरुष की प्रभुता में पूरी तरह धकेल दिया। उसको बनाए रखने में स्त्री कितनी भी आहत हुई हो, किन्तु उसने उफ न की। उसकी आह विरल है। वह अपने उत्पीड़न के कारण से सदा विरत रही। वह मातृत्व की गरिमा को ढोते हुए लोकाचार से तादाम्य स्थापित कर आत्मगौरव की भावना द्वारा सत्तावान् होती रही। वह नहीं हुआ तो वस्तुगत यथार्थ के प्रति निन्दा-तिरस्कार की भावना से जीवनयापन करती रही। जहाँ उसने विरोध का बीड़ा उठाया और तलवार हाथ में ली समाज शक्तियों ने, जो अर्थ-शक्तियों का ही पतिरूप थीं, उसे मानवी से दैवी रूप खड्गधारिणी मान लिया। वह भी एक दिन लोकाचार का अंग बन गया। मातृत्व का देवीकरण हो गया। नारी ने मातृत्व की उस गरिमा को भी ऊपर से ओढ़ लिया। उसकी प्रशंसा भावना के लोकाचार से भी वह तदाकार हुई। लेकिन भौतिक धरातल पर वह पूरी तरह घर की चार दिवारी में घिरी रही और पति को परमेश्वर मानने पर विवश हुई। व्यक्ती स्तर पर (समाज स्तर पर तो कुछ ही नहीं) उससे इतना हुआ कि तिरस्कार निन्दा की भावना में अपने आक्रोश को रूपान्तरित करती रही और दासी का जीवन व्यतीत करने लगी। श्रद्धा के भीतर जो नारी बैठी हुई है वह यही इतिहास नारी है जिसके साथ उसने तादाम्य स्थापित किया हुआ है। वह मनु के पशु को पूरी तरह समर्पित है और उसको आदमी बनने को प्रेरित करती रहती है। मनु की अतिचारिता को छोड़ जाने का उसके पास कोई विकल्प नहीं है। स्वयं प्रसाद भी "आँसू के भीगे अँचल में मन का सब कुछ रखना होगा" कह कर नारी की दयनीय दशा का उल्लेख किए बिना नहीं रह सके। फिर भी वे इस नारी मूर्ति को एक आदर्श के रूप में स्थापित करना चाहते हैं। जबकि वह सामंत काल की नारी की अवधारणा से भिन्न नहीं है। आधुनिक पूंजीवादी युग में जिस पुरुष सत्ता और उसके सम्पत्ति अधिकार ने वर्ग-समाज का पोषण किया उसी ने चेरी और सर्वहारा की सृष्टि की। आदर्श उसका भी एकनिष्ठता का ही रहा, जो सामंत काल में आकर पाँव की जूती के चरम आदर्श के रूप में स्थापित

हो गया था। समस्त सूत्र और स्मृति साहित्य ने इसी आदर्श को प्रतिष्ठित किया। क्यों कि पुरुष के सम्पत्ति-अधिकार को किसी ने चुनौती नहीं दी थी। वह पवित्र और बेदाग बना रहा। किन्तु प्रसाद की दृष्टि इस तरफ नहीं गई। उनका लक्ष्य भावनाओं की निरपेक्षता को श्रद्धा में रूपाकार करना था। वे चरित्र की काल-सापेक्ष स्थूल विषमता में नहीं गए। उनकी आदर्शवादी तत्त्वचिन्तक-दृष्टि ने मन के अर्जित ढाँचे को आध्यात्मिक तत्त्व के रूप में देखा, उसकी प्रक्रिया में नहीं गए।

भावनाओं के उपर्युक्त ऐतिहासिक संदर्भ से यही निष्कर्ष निकलता है कि वे हमारे मन की संघटना मात्र हैं और जीवन के आर्थिक मूलाधार की संघटनाओं से सदा अनुकूलित रहती हैं। वे व्यक्ति को ऐसे संस्कारों से भर देती हैं कि वह सामाजिक जीवन में तालमेल बैठाता हुआ जीवनयापन को पार कर जाता है। दूसरे शब्दों में, हमारी भावनाएँ बेहतर होने के ऐसे संस्कार हैं जिनके माध्यम से हम लटरम् पटरम् अपने जीये जीने की तसल्ली में खोये रहते हैं। इतने खोये रहते हैं कि हम बस हैं, जैसे भी हैं, हैं तो सही। लेकिन जीवन तो भावना या अध्यात्म नहीं है। वह भौतिक भी होता है। अर्थ-नियमन में जब व्यक्ति, व्यक्ति से पिछड़ जाता है तो एक मरता जाता है और भावनाओं की उदात्तता में डूबा रहता है और दूसरा मौज करता है। यदि उसकी उदात्तता में अर्थ का योग भी हो जाता है तभी वह उत्पीड़न मुक्त हो सकता है। परन्तु इतिहास में तो वैसा हुआ नहीं। भावना ने बस यह किया कि पुरुष दासता को झेल लिया। और आज भी झेल रही है। श्रद्धा के कष्ट कुछ कम तो नहीं हैं। वह कुछ न कहती हो, बात अलग है। वैसे प्रकृति ने ही मनुष्य को यह क्षमता दी है कि वह भावनाओं के मार्ग से प्रकृति परिवेश के दबावों से बच निकल कर बेहतर जीवन अनुभव कर सकता है। इससे यदि जीवन कुछ लम्बा हुआ तो दुख भी उतना ज्यादा सहना पड़ा। इसमें कारण प्रकृति उतनी नहीं जितनी उसके ज्ञान की दोहरी सीमाएँ थीं। एक सीमा तो यह रही कि वह बहुत समय तक यह नहीं जान सका कि उसके जीवनयापन को अनुकूलित करने वाला आर्थिक नियमन था। दूसरी सीमा यह रही कि वस्तु जगत् की जो भी अवधारणा वह बनाता चलता, वह बहुत दिनों तक साथ न देती थी। परिवेश बदल जाता तो समस्या और की और हो जाती थी। बहुत समय तक ऐसा होता रहा कि मूल कारण ज्ञात न होने के पर उसकी अवधारणाएँ, मान्यताएँ, विश्वास एवं मूल्य भी दोषपूर्ण सिद्ध हुए। अवधारणा-दोष से भावना-दोष भी आया। निन्दा कहाँ जुड़े, प्रशंसा किसकी हो, कोई पता नहीं रहा। राजतन्त्र की प्रशंसा-प्रशस्ति में क्या नहीं कहा गया। शूद्र और स्त्री की निन्दा में कोई कसर नहीं रखी

गई। यह भावना-दोष आजतक भी गया नहीं है। संवेगों की छीलन से बचने के लिए यही मार्ग उसके पास था। वही उसने किया। क्यों कि संवेगों का उद्रेक तो अकर्मण्यता की संज्ञा थीं; आत्मघात भी। वह यह नहीं सह सकता था। सत्तावान् और बेहतर होने के लिए उन्नयन-उदात्तीकरण का रास्ता ही उसके पास रह गया था। (यद्यपि यह उसके बाद में भी काम आया।)

लेकिन यह सब एक अवस्था तक ही रहा। जब यह पता लगा कि अवधारणा दोष से भावना-दोष आया है, असली चीज तो आर्थिक नियमन था जो व्यक्ति और समाज दोनों को अप्रच्छन्न रूप से अनुकूलित कर रहा था। यह भी पता लगा कि वे नियम समाज को ऐसी अवस्था तक ले जाते हैं जहाँ जीविका-कर्म की मूल क्षमता वाले इतने व्यस्क और समझदार नहीं हो जाते हैं कि उन्हें लगने लगता है कि समाज में लोगों के बीच आए अंतराल को दूर करने में शासक वर्ग सबसे बड़ी बाधा सिद्ध हो रहा है तो समाज का नया प्रबुद्ध वर्ग बलपूर्वक बाधा को हटा कर नई समाज-व्यवस्था स्थापित कर लेता है। क्रान्ति सम्पन्न हो जाती है। कामायनी में प्रसाद भी सामाजिक विकास की उस अनिवार्यता को प्रस्तुत किए बिना नहीं रह सके। "अतिचारी प्रजापति" और सामूहिक बलि का पंथ निराला कर उत्पन्न घटना का उल्लेख करके कवि ने स्पष्ट समझा दिया है कि अभी तक व्यक्ति और समाज के बेहतर होने की जो प्रक्रियाएँ स्वतःस्फूर्त, अचेतन, और इच्छा विमुक्त होकर कार्यक्षम होती रहीं थीं उनकी जगह सचेतन कर्म ने ले लीं है—अर्थात् शांतिपूर्ण प्रगति की जगह हिंसात्मक उथल-पुथल ने ली है। विकास ने क्रांति को जगह दी।

यहाँ एक महत्त्वपूर्ण सवाल यह उठ खड़ा होता है कि समाज की उस अवस्था में पहुँचने पर श्रद्धा में मूर्तिवान् भावनाओं की क्या स्थिति रह जाती है? भावजगत् की निरपेक्षता तो कब की निस्सार हो गई। जब क्रोध, भय, लड़ाकूपन को अपनी छटा दिखाने का अवसर मिल जाता है तो भावनाओं को कौन पूछता है? शौर्य पराक्रम की गिनती होने लगती है। मनु में क्रूरता, नृशंसता आई, यह नहीं कि भावमयता गई।

इस संबंध में हमारा निवेदन है कि यह पता लग जाने पर कि शोषक-शोषित संबंधों के मूल में समाज का आर्थिक ढाँचा ही है, वह हमारे सामने तब भी अदृश्य और अप्रस्तुत ही रहता है, जैसे पहले रहता था। कारण व्यक्ति नहीं, व्यवस्था होती है। वह जातिवाचक या समूहवाचक अथवा व्यक्तिवाचक न हो कर भाववाचक संज्ञा ही है। ऐसे में हमारे संवेगों का गुस्सा, निंदा, तिरस्कार, उपहास

आदि संवेदों में रूपान्तरण हो कर व्यवस्था (अप्रस्तुत) की धारणा से ही जुड़ता है। और कर्मण्यावेश में सामाजिक ढांचे के प्रति नियुक्त (सरोगेट) पर ही हमारे क्रोधादि संवेगों का शमन होकर रह जाता है। प्रशासन अधिकारी, एवं प्रभुओं की हत्या से व्यवस्था की हत्या नहीं हो जाती है। वह बदलती नहीं है। व्यक्ति तो संरक्षक या सैनिक मात्र होता है। व्यवस्था तो अमुक व्यक्ति, अमुक संस्था या अमुक वस्तु नहीं हैं। वे सब व्यवस्था के प्रतिनियुक्त होते हैं। इसीलिए सम्पूर्ण व्यवस्था को बदलने का नाम क्रांति है। स्तुत्य है।

अतः संबंधों के अंतराल का मूल कारण ज्ञात हो जाने पर भी वह हमारे प्रत्यक्षण का विषय न रहने से अप्रस्तुत ही रहता है। यदि भावनाओं का नकार उससे जुड़ता है तो उन्हीं की समक्षणिकता में नई राजनीतिक शक्ति के निकाय एवं संसाधन तथा नव समाज से रचना-संबंधी विचारों का स्वीकार भी नव-व्यवस्था की धारणा से संपृक्त होता है। कहने का अभिप्राय यह है कि हमारी-भावनाओं का आधार हमारी अवधारणाएं ही होती हैं, जो छोटी-छोटी धारणाओं से मिल कर बनती हैं और निरपेक्ष सी लगने लगती है। महत्त्वपूर्ण वस्तु-संबंधों का अर्थापन ही होता है जो अवधारणा में निहित रहता है। और भावनाओं से परिपुष्ट होता है। इसी से यह बात निकलती है कि हमारी भावनाएँ किस अर्थ की प्रशंसा के गीत गाती हैं और किसके निन्दा गीत। वस्तु संबंधों का अर्थापन क्या है ?

यही वह स्थल है जहां से प्रसाद बुनियादी तौर पर अलग होते दिखाई देते है। कामायनी का सारा ढांचा भावों की निरपेक्ष सत्ता तथा श्रद्धा में उनका मूर्तिकरण, सब इस बात के गिर्द घूमते हैं कि प्रसाद की जीवन-जगत् संबंधी धारणा क्या है ? इड़ा के शब्दों में--

" वह अनंत चेतन नचता है उन्माद गति से, तुम भी नाचो अपनी द्वयता में—विस्मृति में। क्षितिज पटी को उठा बढ़ो ब्रह्माण्ड विवर में, गुंजरित घनवाद सुनो इस विश्व कुहर में / ताल ताल पर चलो, नहीं लय छूटे जिसमें, / तुम न विवादी स्वर छेड़ो अनजाने इसमें।" (वहीं—संघर्ष सर्ग पृ. ८९)

स्पष्ट है कि अखिल सृष्टि में एक निरपेक्ष सत्ता निवास करती है जो गतिशील है। उसकी गति में लय है। मनुष्य ने उसी की लय में लय मिला कर चलना है।

श्रद्धा ने भी यही बात कही है कि– " चेतना का सुन्दर इतिहास – अखिल मानव भावों का सत्य, / विश्व के हृदय पटल पर दिव्य अक्षरों से अंकित हो नित्य।

विधाता की कल्याणी सृष्टि, सफल हो इस भूतल पर पूर्ण, / पट सागर, बिखरे गृह पुज और ज्वालामुखी हो चूर्ण / आज से मानव की कीर्ति अनिल भू, जल, में रहे न बन्द।" (वही : श्रद्धासर्ग पृ. २६)

अर्थात् सृष्टि में जो कल्याणकारी नियमन है, मनुष्य भी उसी नियमन को भावनाओं के माध्यम से चतुर्दिक् अंकित कर सकता है। एक बाधा यह है कि— "चिति केन्द्रों में जो संवर्ष चला करता है, द्वयता का जो भाव सदा मन में भरता है।" / (वही : संघर्ष सर्ग पृ. ८८)

उसमें अपने सुख की आराधना ही उसका श्रेय बन जाता है।

इसके लिए प्रसाद का संदेश ताल ताल पर चलने का है। और "स्पर्धा में जो उत्तम ठहरे" उन्हें चाहिए कि "लोक सुखी हो आश्रय ले उस छाया में।"

इसी को श्रद्धा यह कह कर स्पष्ट करती है कि—

"कर रही लीलामय आनंद इसी में सब होते अनुरक्त / काम-मंगल से मंडित श्रेय-सर्ग इच्छा है परिणाम / तिरस्कृत कर उस को तुम भूल बनाते हो असफल भावधाम / नित्य समरसता का अधिकार उमड़ता, कारण जलधि समान / व्यथा से नीली लहरों बीच बिखरते सुख मणिमय द्युतिमान।" (वही; व्यथा सर्ग : पृ. २४)

अर्थात् जो कारण है वही कार्य है। यह प्रसाद की सार्वभौमिक सत्ता की निरपेक्ष धारणा है। व्यथा के स्फुलिंग में चेतना निवास करती है। उसका स्पंदन समरस होने के लिए है। यह बात मनु ने समझनी है और अपने अन्दर के समरसंक को पहचानना है। और यह पहचान भावनामय होने से हो जाती है। इस प्रकार इस समस्त के चिन्तन का सार यही है कि जो कुछ है वह चेतन सत्ता ही है। वही प्रधान है। भौतिक जगत् को उस चेतन ने ही अपनी लय में ढालना है।

प्रसाद की दृष्टि इस तरफ नहीं गई कि वस्तु जगत् की अपनी अलग सत्ता है, जो चेतना से स्वतन्त्र है और उसके नियमन के अनेकानेक विधान हैं, जो परस्पर सबंधित और निर्भर होते हैं। **वही हमारे बोध, और संवेग एवं आवेग का कारण है और अपने नियमन से हमारी आंतरिक संघटना को निर्मित एवं अनुकूलित करता है। यहाँ तक कि हमारी चेतना भी उससे ही प्रकाशित होती है। अनात्म से ही आत्म की सिद्धी है।** किन्तु आदर्शवादी चिन्तन-बुद्धि सदा व्यक्ति को ही प्रधान मानती है। उसे अशक्त और दुर्बल देख कर भी सारी आशाएँ उसी से करने लगती है। वह

इस बात को मानने से इन्कार करता है कि व्यक्ति तो पंगु है। उसको अपनी कोई सत्ता नहीं है। वह तो अपने सहयोगी-सहकर्मियों को लेकर ही जब आजीविका कर्म में प्रवृत्त होते ही वह कुछ होता है। अन्यथा तो वह कुछ है नहीं। जब वह जीविकोपार्जन में नहीं लगा होता, तब भी वह अपने परिवेश से कहीं न कहीं बंधा होता है। वही तो भावनाओं का आदिस्रोत होता है। किन्तु व्यक्तिवादी जीवन दर्शन इस बात की उपेक्षा करता है कि मनुष्य आजीविका कर्म के माध्यम से ही समाज में प्रवेश करता है और परस्पर ऐसे संबंधों में जुड़ जाता है जो अनुल्लंघनीय होते हैं तथा भौतिक उत्पादन की एक निश्चित अवस्था की संगतता में होते हैं। इसी में उसकी भाअनाओं की सापेक्षता निहित है।

व्यक्ति की इन सीमाओं से भी प्रसाद कदाचित् परिचित हैं। उसकी चेतना रागपूर्ण होने पर ही अनुराग में तनी है। लोभ-लालच में वह डूबा रहता है। अपने सुख की साधना ही उसके लिए श्रेयस्कर है। फिर भी उसे चाहिए कि अपनी छत्र छाया में लोक को भी सुखी रखे। इच्छाओं के स्थान में ही मानवता निवास करती है। कवि की लक्ष्य-भेद-दृष्टि यहाँ तक जाती है कि व्यक्ति के श्रेय-सुख की छाया में यदि लोक भी सुखी हो सकें तो सर्वोत्तम है, अन्यथा जनबल उसे अपदस्थ कर देगा। विनोबा जी भी ऐसा ही कहा करते थे। इसीलिए व्यक्ति को श्रद्धामय होना है। प्रेम, दया, सहानुभूति, उदारता, वत्सलता आदि भावनाओं से अपने व्यक्तित्व को भर लेना है। यह अनुभूति का क्षणजीवी दर्शन है। बड़ा ही रोमांचक है, किन्तु इसकी मार ज्यादा कारगर साबित नहीं हुई है। बहुत जमाने से इसका ढोल पीट रहा है, किन्तु कभी किसी का हृदय परिवर्तन हुआ हो, विरल और ऐकांतिक ही है।

इस समस्त चिन्तन की नींव इस बात पर टिकी है कि व्यक्ति के अच्छे होने से समाज अच्छा हो जाता है। इस संबंध में इस तथ्य पर भी विचार कर लेना समीचीन होगा कि मानव मन बेहतर होने की संघटना है, तत्त्व नहीं है। उसके क्रोध, भय, अहंकार, रति, अधोनता आदि मूल प्रवृत्तियों का जीवनयापन के मध्य ही संवेदों के अनुभव में रूपान्तरण होता रहता है। हमारे घृणा, प्रेम, प्रशंसा तिरस्कारादि संवेद दुख सुख के अनुभव से सम्पृक्त होकर ही संवेदनाओं की संघटना को उत्सर्जित करते रहते हैं। इस दौरान हमारी संवेदना में कभी-कभी अनुभूति की मात्रा इतनी प्रगाढ़ एवं तीव्र हो जाती है कि उनको वस्तुगत यथार्थ के परावर्तित बिम्बों की अवधारणा में बोध की सक्रियता अत्यन्त क्षीण हो रहती है तो अनुभूति (आवेग) को हम निरपेक्ष अभिज्ञा के रूप में मान लेते हैं। किन्तु

प्रेमानुभूति हो या घृणानुभूति, उसमें से बोध बहुत दूर छिटक कर नहीं जा पड़ता है। और वह बोध उस वस्तुगत यथार्थ का ही होता है जिसका हम जीवनयापन के मध्य ही साक्षात्कार करते हैं। तब हमारे संवेगों का विषय नेपथ्य में ही रहता है। इसीलिए वे संवेदों में रूपान्तरित होकर हमें कार्यक्षम करते हैं। जब कार्य की बेला नहीं होती तब भी मन इसी प्रकार संघटित होता रहता है। यही हमारी अवेयरनेस (अभिज्ञा) है। इस समस्त संघटना के दौरान वस्तुगत यथार्थ की अन्तःसलिला (अर्थ-संघटना) फोकस में नहीं होती है। हम प्रस्तुत के साक्षात्कार की धारणा लेकर ही कर्म में प्रवृत्त होते हैं। और दुख-सुख, प्रेम-घृणा आदि में उससे जुड़ते हैं। उस समय यह बात तो और भी दूर चली जाती है कि हमारी भावनाओं को अनुकूलित करनेवाली अन्तःसलिला तो कुछ और है। तब हम प्रेमानुभूति या घृणानुभूति के क्षण में उनके कारणों को परे छिटका कर अनुभूति को ही मानव कल्याण का मूल मान लें तो भ्रान्ति में ही जीना होगा। अनुभूति के नशे में ही भूले रहना है। जीवन की वास्तविकता का नकार उस वास्तविकता का है जो स्वयं ऐसी संघटना है जिसको हम प्रभावित नहीं करते, बल्कि वही हमें प्रभावित करती रहती है। प्रेमानुभूतिमय होकर उसको बदलने का भ्रम मात्र आदमी पालता रहता है। उस समय वह यह नहीं जान पाता कि सामाजिक के साथ संबंधों का जो अंतराल या दरार है उसका कारण तो कुछ और है। शार्ट कट के बतौर ही सार्थ सुख के लिए हम अनुभूति में खो जाते हैं, जब कि उससे बनता कुछ नहीं है। फिर घृणानुभूति का क्या करेगा ? वह भी तो व्यक्ति के बेहतर होने की प्रक्रिया का अंग है। दोनों ही उसकी सामाजिकता के पर्याय हैं। जीवनयापन में सामाजिक होने से ही याने मिलकर काम करने से ही वे पैदा हुए हैं। कारण से अनभिज्ञ रहने से ही स्वीकार-अस्वीकार की जोड़ी साथ रहती है। इनमें से कोई भी समाज को प्रवाहित प्रभावित नहीं करता, वरन् स्वयं प्रभावित होता है। यथार्थ तो विपरीत रहता है। उसकी सामाजिक वृत्ति ही अपने सहयोगी-सहकर्मी से एकाकार होने के सुख को ही सुख मान लेती है। वह मन की क्षणजीवी दशाएं हैं। और जीवनयापन के मध्य ही वह संघटित होती हैं। उस छोटे से भ्रम के सामने बृहत् जीवनयापन की अपेक्षा करने से कुछ हाथ नहीं आता है। हाथ कुछ तभी आता है, जब समस्त जीवन की स्थूल जीवन्तता के मध्य उसकी समस्त प्रक्रिया में प्रवेश करने का प्रयास करें, अन्यथा बेहतर होने के पलायन में मरते रहें। कामायनी में जीवन का वह जीवन्त चित्रण नहीं मिलता। वह क्षण को ही लम्बी आयु देना चाहती है। वह भी सम्पूर्ण बोध से अनुभूति के क्षण को परे छिटका कर देखना व्यक्ति की भूल ही माना जायेगा। यह भूल प्रेमानुभूति की नहीं, घृणानुभूति की भी है, जो वस्तुगत यथार्थ की संघटना के संवेदन परिबोध का फल होता

है। उससे कटना जीवन की जीवन्तता से कटना है। कामायनी के मूल कथ्य की यही प्रकृति है।

इस पर भी कामायनी का अनुभूति जगत् इतना प्रगाढ़ एवं चमत्कारिक है कि इसके कथ्य की अवधारणा दोषपूर्ण और संदिग्ध होने पर भी वह पाठक को सहज में ही दूर दूर तक प्रभावित किए बिना नहीं रहती है। इसका कारण प्रसाद की वह सर्जनात्मक क्षमता है जो यादृच्छिक वस्तु-बिम्बों की संरचना में अपनी विषयीगतता से इस प्रकार संपृक्त है कि उसका कथ्य सर्वोत्तम के रूप में साकार होता दिखाई देता है : प्रसाद का यह कला-सौष्ठव अलग से चर्चा की माँग करता है।

११८/२, बलदेव पार्क,
कृष्ण नगर, दिल्ली– ५१.

– गोविन्द प्रसाद

टिप्पणियाँ

१. "रसवाद की रूढ़ि-धर्मता, अर्थ-सम्प्रेषण की समस्या और समाधान : एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य" परामर्श (हिन्दी), खण्ड ६, अंक ४, पृ. ३०६–३४०

२. जयशंकर प्रसाद, कामायनी, छात्र संस्करण, १९८५

सत्तामूलक तर्क और चार्वाक दर्शन

ईश्वरशास्त्र के इतिहास में सत्तामूलक तर्क का उल्लेखनीय महत्त्व है।

ईश्वरशास्त्र की आधारभूत समस्या ईश्वर-अस्तित्व और ईश्वर-नास्तित्व है। विभिन्न दार्शनिकों ने इस समस्या का समाधान विभिन्न तर्कों के द्वारा करने का प्रयास किया है, और अभी भी प्रयास जारी है। उन विभिन्न तर्कों में सत्तामूलक तर्क भी एक है।

सत्तामूलक तर्क का प्रतिपादक मध्ययुगीन दार्शनिक एन्सेलम माना जाता है। एन्सेलम ने अपनी पुस्तक **प्रोस्लोजियम** में ईश्वरास्तित्व को सिद्ध करने के लिए सत्तामूलक तर्क का व्यवहार किया है। उसकी मान्यता है कि प्रत्यय (idea) अस्तित्व को सिद्ध करता है। हमारे मन में अनेक प्रत्यय हैं। उन प्रत्ययों में एक ऐसा प्रत्यय है जिससे अधिक पूर्ण प्रत्यय की कल्पना नहीं की जा सकती; अर्थात् वह प्रत्यय पूर्ण एवं सर्वोच्च है। पूर्ण एव सर्वोच्च प्रत्यय वही हो सकता है जो केवल विचार में सत्य नहीं हो, प्रत्युत विचार और वास्तविकता दोनों में सत्य हो। ईश्वर का प्रत्यय पूर्ण एवं सर्वोच्च है। इसलिए ईश्वर का प्रत्यय विचार और वास्तविकता दोनों में सत्य है। अतः ईश्वर का अस्तित्व है। एन्सेलम के तर्क का न्याय-रूप है–

पूर्ण एवं सर्वोच्च प्रत्यय अस्तित्ववान् है– ए बृहत् आधार वाक्य
ईश्वर का प्रत्यय पूर्ण एवं सर्वोच्च है– ए लघु आधार वाक्य
∴ ईश्वर का प्रत्यय अस्तित्ववान् है– ए निष्कर्ष
(अर्थात् ईश्वर का अस्तित्व है।)

यह न्याय प्रथम आकार में है, और इसका योग 'बारबरा' है। बारबरा वैध योग है। अतः न्यायशास्त्र (आकारिक तर्कशास्त्र) की दृष्टि से एन्सेलम का सत्तामूलक तर्क संगत है।

किन्तु आगमन तर्कशास्त्र की दृष्टि से यह तर्क प्रामाणिक नहीं प्रतीत होता। आगमन तर्कशास्त्र का प्रस्थान-बिन्दु अनुभव है, न कि बुद्धि। आकारिक

परामर्श (हिन्दी), वर्ष ९, अंक १, दिसम्बर, १९८७

तर्कशास्त्र विश्लेषणात्मक प्रक्रिया को अपनाता है। इसलिए आकारिक तर्कशास्त्र का निष्कर्ष आधारवाक्य में ही अन्तर्भावित होता है। आगमन तर्कशास्त्र संश्लेषणात्मक प्रक्रिया को अपनाता है। अतः आगमन तर्कशास्त्र का निष्कर्ष आधारवाक्य से अधिक व्यापक होता हैं।

उपरोक्त न्याय में 'पूर्ण एवं सर्वोच्च प्रत्यय' अर्थात् 'ईश्वर का प्रत्यय' में ही 'ईश्वर का अस्तित्व' विद्यमान है। दूसरे शब्दों में, ईश्वर का अस्तित्व ईश्वर के प्रत्यय से स्वतः निसृत है। यही कारण है कि देकार्त ने प्रत्यय और अस्तित्व में अवियोज्य संबंध माना है।

देकार्त ने भी सत्तामूलक तर्क का प्रयोग कर ईश्वरास्तित्व को सिद्ध किया है। उसके अनुसार हमारे मन में पूर्ण सत्ता का प्रत्यय है। यह प्रत्यय जन्मजात है, अर्थात् अनुभव से प्राप्त नहीं है : पूर्णसत्ता का प्रत्यय दो प्रकार का होता है–

क) पूर्णसत्ता का वह प्रत्यय जिसके अनुरूप कोई पूर्णसत्ता वास्तव में है।

ख) पूर्णसत्ता का वह प्रत्यय जिसके अनुरूप कोई पूर्णसत्ता वास्तव में नहीं है।

इनमें वास्तविक या सही अर्थ में प्रथम प्रकार की पूर्णसत्ता का प्रत्यय है। दूसरे प्रकार की पूर्णसत्ता का प्रत्यय अपूर्ण और अवास्तविक है। जो प्रत्यय मात्र प्रत्यय तक सीमित होता है, वह वास्तविक नहीं हो सकता। इसलिए देकार्त प्रथम प्रकार की पूर्णसत्ता का प्रत्यय स्वीकारता है। पूर्णसत्ता निरपेक्ष द्रव्य है। देकार्त की दृष्टि में निरपेक्ष द्रव्य ईश्वर है। अतएव 'पूर्णसत्ता का प्रत्यय' का तात्पर्य 'ईश्वर का प्रत्यय' है।

ईश्वर का प्रत्यय हमारे मन में जन्मजात (innate) है। वह पूर्ण प्रत्यय है। इसलिए हम जो ससीम एवं अपूर्ण सत्ता हैं, ईश्वर-प्रत्यय को उत्पन्न नहीं कर सकते। निश्चय ही उस प्रत्यय का स्रोत कोई पूर्णसत्ता ही होगा। पूर्णसत्ता ईश्वर है। अतः ईश्वर का अस्तित्व है। इसलिए हमारे मन में ईश्वर-प्रत्यय जन्मजात (inborn) है। अन्य शब्दों में, ससीम मानव मन में ईश्वर का प्रत्यय विद्यमान है, और वह प्रत्यय ईश्वरास्तित्व के बिना असंभव है। इसलिए ईश्वर का अस्तित्व है।

देकार्त ने अस्तित्व को ईश्वर का सामान्य और सारगुण माना है। जिस प्रकार त्रिभुज का प्रत्यय मस्तिष्क में आते ही उसके 'तीनों कोणों का योगफल दो समकोण के बराबर' का प्रत्यय आता है, उसी प्रकार मस्तिष्क में ईश्वर का

प्रत्यय आते ही ईश्वरास्तित्व का प्रत्यय भी आता है। अतः ईश्वर का अस्तित्व है। देकार्त के तर्क का न्याय-रूप है–

यदि किसी सत्ता का प्रत्यय हमारे मन में है, तो वह अस्तित्ववान् है- बृहत् आधारवाक्य

ईश्वर का प्रत्यय हमारे मन में है– लघु आधारवाक्य
ईश्वर अस्तित्ववान् है– निष्कर्ष

यह हेत्वाश्रित निरपेक्ष न्याय का रूप है, और नियमतः वैध है। हेत्वाश्रित निरपेक्ष न्याय आकारिक तर्कशास्त्र का विषय है। अतः देकार्त का सत्तामूलक तर्क भी आकारिक तर्कशास्त्र की दृष्टि से संगत है।

एन्सेलम के सत्तामूलक तर्क के निष्कर्ष की व्यापकता आधारवाक्य की व्यापकता के समान है। पर देकार्त के सत्तामूलक तर्क का निष्कर्ष आधारवाक्य की अपेक्षा कम व्यापक है। एन्सेलम के तर्क का निष्कर्ष और देकार्त के तर्क का निष्कर्ष दोनों ही अपने-अपने आधारवाक्यों में ही अन्तर्भूत हैं। अतः सत्तामूलक तर्क, चाहे एन्सेलम का हो या देकार्त का, विश्लेषणात्मक प्रक्रिया का उत्कृष्ट नमूना है।

विश्लेषणात्मक प्रक्रिया द्वारा प्राप्त निष्कर्ष निश्चय ही प्रागनुभविक होता है। प्रागनुभविक निष्कर्ष में अनिवार्यता और सार्वभौमता पायी जाती है, लेकिन नवीनता नहीं। सत्तामूलक तर्क का निष्कर्ष– ईश्वर अस्तित्ववान् है– न ही अनिवार्य और सार्वभौम है और न ही नवीन।

अनिवार्य वह है जिसका खंडन संभव नहीं है। सार्वभौम वह है जो हर देश और हर काल में सत्य हो। नवीनता का अर्थ है विधेय द्वारा उद्देश्य के संबंध में नया ज्ञान। नया ज्ञान का तात्पर्य है कि उद्देश्य की गुणवाचकता (सामान्य और सारगुण) के परे का ज्ञान। 'सभी मनुष्य मरणशील हैं'– इस कथन में 'मरणशीलता' मनुष्य की गुणवाचकता के परे का ज्ञान है। 'सभी मनुष्य विवेकशील पशु हैं'– इस कथन में 'विवेकशील पशु' मनुष्य की मात्र गुणवाचकता का ज्ञान देता है। प्रथम कथन इन्द्रियानुभविक है, और द्वितीय कथन प्रागनुभविक है।

ईश्वर अस्तित्ववान् है– यह कथन हर देश और हर काल में खंडित होता रहा है। ('सभी मनुष्य विवेकशील पशु हैं'– इसका खंडन न किसी देश न किसी काल में हुआ है और न होगा।) 'अस्तित्ववान्' (विधेय) 'ईश्वर'

(उद्देश्य) के संबंध में कोई नया ज्ञान नहीं देता; क्योंकि स्वयं देकार्त ने 'अस्तित्व' को ईश्वर का सारगुण कहा है। इसलिए सत्तामूलक तर्क द्वारा प्रतिपादित निष्कर्ष 'ईश्वर का अस्तित्व है' प्रागनुभविक तथा इन्द्रियानुभविक (apriori and aposteriori) दोनों दृष्टिकोणों से तर्कविरुद्ध प्रतीत होता है। इसलिए गौनिलो (Gaunilo) ने एन्सेल्म के सत्तामूलक तर्क तथा काण्ट (Kant) ने देकार्त के सत्तामूलक तर्क का खंडन किया है।

गौनिलो का कहना है कि "ईश्वर के प्रत्यय द्वारा ईश्वर का अस्तित्व प्रमाणित करने का तात्पर्य है कि ईश्वर का अस्तित्व हमारे मन में है। यह कथन वैसा ही है जैसा कि 'हमारे मन में किसी अन्य वस्तु का अस्तित्व है' कहना। अर्थात् यह कथन मात्र एक विचार है।" इसलिए ईश्वर-प्रत्यय ईश्वरास्तित्व को सिद्ध नहीं कर सकता है। गौनिलो का यह तर्क उसकी पुस्तक अगेन्स्ट द रीजनिंग इन एन्सेल्मस् प्रोस्लोजियम में उल्लिखित है।

काण्ट ने कहा है कि यदि ईश्वर-प्रत्यय से ईश्वरास्तित्व सिद्ध होता है, तो मैं विचार कर लूं कि मेरी जेब में सौ डॉलर हैं और क्या मेरी जेब में सौ डॉलर का अस्तित्व हो जायेगा ? सौ डॉलर का प्रत्यय वास्तविक सौ डॉलर को प्रमाणित नहीं कर सकता। कोई भिखारी कल्पना करे कि वह हवाई जहाज में उड़ रहा है, तो क्या वह सचमुच हवाई जहाज में उड़ रहा होता है ? हवाई जहाज में उड़ने का प्रत्यय भिखारी को वास्तव में हवाई जहाज में नहीं चढ़ा देता है। तात्पर्य है कि ईश्वर-प्रत्यय मात्र एक प्रत्यय या विचार है, अस्तित्व नहीं।

काण्ट की मान्यता है कि अस्तित्व ईश्वर का सारगुण नहीं है। वह मात्र गुण हो सकता है, सारगुण नहीं। कलम भूरी और हल्की है– इस वाक्य में कलम का गुण भूरापन और हल्कापन है। भूरापन और हल्कापन कलम का सारगुण नहीं है। इसलिए यह कथन वास्तविक और अवास्तविक दोनों हो सकता है। यदि कहा जाय कि कलम लाल और भारी है, तो लालपन और भारीपन उसका सारगुण नहीं वरन् गुण है। यह कथन भी वास्तविक और अवास्तविक दोनों हो सकता है। फिर भी कलम का प्रत्यय मस्तिष्क में बना रहता है। कलम भूरी / लाल / हल्की / भारी हो या नहीं, कलम का प्रत्यय हमारे मन में आ सकता है। इसी तरह ईश्वर का अस्तित्व हो या नहीं, ईश्वर का प्रत्यय मन में लाया जा सकता है। कहने का अर्थ है कि ईश्वर-प्रत्यय और ईश्वरास्तित्व में कोई अवियोज्य संबंध नहीं है। प्रत्यय और अस्तित्व दोनों का स्वरूप इतना भिन्न है कि वे एक दूसरे से तादात्म्य नहीं हो सकते। अर्थात् प्रत्यय अस्तित्व को सिद्ध नहीं कर सकता।

'ईश्वरास्तित्व' विश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्ति का विधेय होने से 'ईश्वर-प्रत्यय' उद्देश्य से निःसृत है। इसलिए ईश्वरास्तित्व प्रत्यय मात्र है, वास्तविक अस्तित्व नहीं। यदि 'ईश्वरास्तित्व' को संश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्ति का विधेय माना जाय, तो इस विधेय का निषेध आसानी से किया जा सकता है। संश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्ति की प्राप्ति इन्द्रियानुभव से होती है। मानव-इन्द्रियों का क्षेत्र इतना संकुचित है कि वह ईश्वर के अस्तित्व का अनुभव नहीं कर सकता। अतः ईश्वरास्तित्व का अनुभव नहीं होने से 'ईश्वर-प्रत्यय' द्वारा उसका अस्तित्व सिद्ध नहीं हो पाता है।

गौनिलो और काण्ट की उपर्युक्त आलोचना से स्पष्ट है कि ईश्वर का अस्तित्व न ही प्रागनुभविक तरीके से और न ही इन्द्रियानुभविक तरीके से सिद्ध हो सकता है। अतः सत्तामूलक तर्क ईश्वरास्तित्व को सिद्ध करने में असमर्थ है।

फिर भी, सत्तामूलक तर्क की अपनी विशेषताएँ हैं जो उपर्युक्त विश्लेषण से प्रतिपादित होती हैं। वे विशेषताएँ निम्नलिखित हैं--

क) सत्तामूलक तर्क आकारिक तर्कशास्त्र का विषय है।

ख) सत्तामूलक तर्क प्रागनुभविक है।

ग) सत्तामूलक तर्क विश्लेषणात्मक है।

घ) सत्तामूलक तर्क का निष्कर्ष न अनिवार्य, न सार्वभौम और न ही नवीन होता है।

(अर्थात् इसे न प्रागनुभविक और इद्रियानुभविक तरीकों से सिद्ध किया जा सकता है।)

ङ) सत्तामूलक तर्क प्रत्यय और अस्तित्व में अवियोज्य संबंध मानता है। (अर्थात् प्रत्यय अस्तित्व को सिद्ध करता है।)

किन्तु सत्तामूलक तर्क के प्रतिपक्षियों के अनुसार प्रत्यय अस्तित्व को सिद्ध नहीं करता है।

० ० ०

भारतीय दर्शन की नास्तिक परम्परा में आनेवाला चार्वाक दर्शन सत्तामूलक तर्क के प्रतिपक्षियों का समर्थन करता है।

चार्वाक दर्शन की मान्यता है कि अस्तित्व प्रत्यय से नहीं वरन् प्रत्यक्ष से सिद्ध होता है। प्रत्यक्ष का तात्पर्य है इन्द्रियानुभव। इन्द्रियों द्वारा हमें ईश्वरास्तित्व का प्रत्यक्ष नहीं होता। इसलिए ईश्वर का अस्तित्व नहीं है: चार्वाक के इस तर्क का न्याय-रूप होगा-

I. प्रत्यक्षवान् वस्तु का अस्तित्व है– ए बृहत् आधारवाक्य
ईश्वर प्रत्यक्षवान् नहीं है– ई लघु आधारवाक्य
∴ ईश्वर का अस्तित्व नहीं है– ई निष्कर्ष

यह प्रथम आकार का न्याय है। लेकिन इसका योग वैध नहीं है। अतः आकारिक दृष्टि से इस न्याय का निष्कर्ष गलत है। आकारिक तर्कशास्त्र की दृष्टि से चार्वाक द्वारा सत्तामूलक तर्क का खंडन अवैध है। वस्तुतः चार्वाक का तर्कशास्त्र आकारिक नहीं है, जबकि सत्तामूलक तर्क आकारिक तर्कशास्त्र का विषय है।

यदि अस्तित्व का मापदंड केवल प्रत्यक्ष हो, तो चार्वाक एक पूर्ण और सर्वोच्च सत्ता के रूप में 'राजा' का अस्तित्व स्वीकारता है। राजा वह है जो व्यक्तित्ववान्, दृश्य एवं लोकहितैषी हो। लोकहित करनेवाला राजा ही ईश्वर है– लोक सिद्धः राजा परमेश्वरः।

ईश्वरवादी दार्शनिकों ने ईश्वर को सर्वोच्च, पूर्ण व्यक्तिवान् और लोककल्याणकारी माना है। चार्वाक ईश्वर के इन गुणों को राजा में समाहित पाता है। अतः वह राजा और ईश्वर को अभिन्न और एक मानता है। दूसरे शब्दों में, राजा के रूप में ईश्वर का अस्तित्व चार्वाक को मान्य है। इस तर्क का न्यायरूप है –

II. लोककल्याणकारी सत्ता ईश्वर है– ए बृहद् आधार वाक्य
राजा लोककल्याणकारी है– ए लघु आधार वाक्य
∴ राजा ईश्वर है– ए निष्कर्ष

यह न्याय प्रथम आकार के 'बारबरा' योग में है। अतः वैध है। इसलिए चार्वाक का निष्कर्ष 'राजा ईश्वर है' आकारिक दृष्टि से सत्य है। यहाँ राजा प्रत्यक्षवान् सत्ता है, परन्तु ईश्वर प्रत्यक्षवान् नहीं है। ईश्वर प्रत्यय मात्र ही है। राजा का अस्तित्व है, और ईश्वर का प्रत्यय है। अतः कहा जा सकता है कि चार्वाक अस्तित्व से प्रत्यय को सिद्ध करता है। राजा (ईश्वर) का अस्तित्व है, इसलिए हमारे मन में उसका प्रत्यय है।

यदि ईश्वर का अस्तित्व बिल्कुल ही नहीं होता, तो उसका प्रत्यय भी हमारे मन में कदापि नहीं आता। जिस वस्तु की सत्ता बिल्कुल नहीं है, मन में उसका प्रत्यय भी असंभव है। प्रत्यय का स्रोत वस्तु (अस्तित्व) ही है।

अतः चार्वाक का तर्कशास्त्र सत्तामूलक तर्क को एक नये रूप में अपनाता है। चार्वाक दर्शन में सत्तामूलक तर्क आगमन तर्कशास्त्र का विषय है। फिर भी चार्वाक आकारिक तर्कशास्त्र की उपेक्षा नहीं करता। चार्वाक का न्याय (I) आकारिक तर्कशास्त्र की सहायता से 'ईश्वर-नास्तित्व' को सिद्ध करता है। यह चार्वाक का न्याय (II) आकारिक और आगमन दोनों तर्कशास्त्र की सहायता से 'ईश्वरास्तित्व' को सिद्ध करता है। यह चार्वाक का भावात्मक तर्क है।

राजा (ईश्वर) का प्रत्यक्ष होता है, और आगमनात्मक प्रक्रिया निरीक्षण या प्रत्यक्ष से शुरू होती है। राजा लोकहित में कार्य करता है या नहीं— इसका निरीक्षण संभव है। लेकिन ईश्वरवादी दार्शनिकों के ईश्वर का लोकहित-कार्य निरीक्षण की सीमा के बिल्कुल परे है, अर्थात् उसका निरीक्षण असंभव है।

चूंकि चार्वाक का सत्तामूलक तर्क इन्द्रियानुभव से प्रारम्भ होता है, इसलिए उसका स्वरूप इन्द्रियानुभविक तथा संश्लेषणात्मक होता है। राजा के प्रत्येक कार्य का निरीक्षण किया जाता है, और उन सभी कार्यों के आधार पर निष्कर्ष निकाला जाता है कि राजा लोककल्याणकारी है अथवा नहीं। (यहाँ राजा कोई विशेष पद नहीं, बल्कि सामान्य पद है।) संश्लेषणात्मक निष्कर्ष अनिवार्य और सार्वभौम नहीं होता, लेकिन नवीन होता है। 'राजा ईश्वर है' इस प्रतिज्ञप्ति में विधेय 'ईश्वर' 'राजा' के संबध में एक नया ज्ञान देता है। ईश्वरत्व राजा का सार-गुण नहीं है। (फिर भी ईश्वर का प्रत्यय चार्वाक के मन में सदैव रहा है, इसलिए वह राजा के रूप में ईश्वर को देखता है अर्थात् राजा में ही ईश्वरत्व को समाहित करता है।) यही कारण है कि चार्वाक ने प्रत्यय और अस्तित्व को अवियोज्य नहीं माना है।)

निष्कर्षतः चार्वाक दर्शन सत्तामूलक तर्क के अवान्तर रूप का प्रयोग कर सिद्ध करता है कि ईश्वरास्तित्व को बिल्कुल झुठलाया नहीं जा सकता।

– नरेश प्रसाद तिवारी

दर्शनशास्त्र विभाग,
एस. यू. कॉलेज, हिलसा
(बिहार)

रीत्यर्थक कारक एवं सम्भाव्य जगत्

प्रस्तुत निबन्ध का उद्देश्य " रीत्यर्थक कारक (Modal Operator) का तार्किक आधार सम्भाव्य जगत् (Possible World) के सम्प्रत्यय में किसी न किसी प्रकार अन्तर्निविष्ट होता है " इस सिध्दान्त का एक तार्किक विश्लेषण प्रस्तुत करना है और अन्ततः यह दिखाना है कि रीत्यर्थक कारक का सम्प्रत्यय सम्भाव्य जगत् के सम्प्रत्यय में समाविष्ट या अन्तर्निहित नहीं है। सम्भाव्य जगत् की पूर्वमान्यता (Presupposition) के बिना भी रीत्यर्थक सम्प्रत्ययों का उपयोग स्वीकारार्ह है।

रीत्यर्थक तर्कशास्त्रियों के अनुसार रीत्यर्थक कारकों का यह एक आकारिक लक्षण है कि जब इनका व्यवहार सार्थक ढ़ंग से किया जाता है तो वे सदैव पूर्ण कथन अथवा तर्कवाक्य के सम्बन्ध में ही व्यवहृत होते हैं। इसका अभिप्राय यह होता है कि अपूर्ण कथन अथवा तर्कवाक्य के सम्बन्ध में उनकी व्यावहारिकता असम्भव एवं अस्वीकार्य है। इसके बावजूद भी यदि कोई व्यक्ति इनका इस तरह का उपयोग करता है तो रीत्यर्थक तर्कशास्त्रियों के अनुसार यह समझना चाहिये कि या तो वह व्यक्ति रीत्यर्थक कारकों के स्वरूप से अपरिचित है या उनका प्रयोग अनुचित ढ़ंग से करता है। इन दोनों अवस्थाओं में उसका रीत्यर्थक कारकों का प्रयोग तर्क-दोष से ग्रस्त होता है। यहाँ पर हमें और एक बात का ध्यान रखना होगा। वह यह है कि "पूर्ण कथन के सम्बन्ध में ही व्यवहृत होना" यह रीत्यर्थक कारकों की अपनी कोई ऐसी खासियत नहीं है जो उनके बारे में ही सार्थक हो। क्योंकि यह लक्षण सत्यता-फलन-कारकों (Truth-functional Operators) के बारे में भी उसी तरह सार्थक है। रीत्यर्थक कारकों की भाँति सत्यता-फलन-कारक भी पूर्ण कथन के सम्बन्ध में ही उपयुक्त होते हैं। यही नहीं, जिस प्रकार रीत्यर्थक कारक किसी कथन के सम्बन्ध में प्रयुक्त होकर सदैव एक अन्य, नवीन कथन का सृजन करते हैं ठीक उसी प्रकार सत्यता-फलन-कारक भी

जब किसी कथन के साथ प्रयुक्त होते हैं तो वे भी सदैव किसी अन्य, नवीन कथन का सृजन करते हैं। इसीलिये दोनों प्रकार के तार्किक कारकों को प्रकथन अथवा तर्कवाक्य-निर्माणक कारक (Statement or Proposition forming operators) कहा जाता है।

यद्यपि यह निःसन्देह सत्य है कि रीत्यर्थक और सत्यता-फलनात्मक दोनों ही प्रकार के कारकों की यह एक आकारिक खासियत है कि जब कभी भी इनका इस्तेमाल सार्थक ढ़ंग से किया जाता है तो वे सदैव अन्य नवीन कथन का प्रादुर्भाव करते हैं, जिसका स्वरूप सदैव व्यवहृत कथन के स्वरूप से भिन्न होता है, तथापि इससे हमें यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिये कि उनमें कोई आकारिक भिन्नता नहीं है। रीत्यर्थक तथा सत्यता-फलनात्मक कारकों में, रीत्यर्थक तर्कशास्त्रियों के अनुसार तार्किक भिन्नता है। दोनों का व्यवहार एक जैसा नहीं है। एक को न तो दूसरे से परिभाषित किया जा सकता है, और न ही उनमें आकृत्यंतरण (Reduction) स्वीकार्य है। ऐसा इसलिये है क्योंकि उनके तार्किक आधार भिन्न हैं। रीत्यर्थक कारकों का तार्किक आधार सत्यता-फलनात्मक कारकों के आधार से इस अर्थ में भिन्न है कि जिन नवीन कथनों की वे सृष्टि करते हैं उन कथन के सत्यता-मूल्यों का निर्धारण न तो व्यवहृत कथनों के सत्यता-मूल्यों से होता है और न ही उनके द्वारा उनके औचित्य का प्रदर्शन होता है, क्योंकि निर्मित कथनों का सत्यता-मूल्य व्यवहृत कथनों के सत्यता-मूल्यों से अनिवार्यतः फलित नहीं होता है, जैसा कि सत्यता-फलात्मक कारकों से उत्पन्न कथनों के सन्दर्भ में देखा जाता है। सत्यता-फलनात्मक कारकों की यह अपनी एक विशिष्टता है कि जिन नवीन कथनों का वे निर्माण करते हैं उन कथनों का सत्यता-मूल्य व्यवहृत कथनों के सत्यता मूल्यों से अनिवार्यतः आपादित होता है। इसी कारण इनको सत्यता-फलनात्मक कारक सार्थकतया कहा जाता और उनसे उत्पन्न कथनों को सत्यता-फलनात्मक प्रकथन; यह बात रीत्यर्थक कारकों एवं प्रकथनों के बारे में चरितार्थ नहीं होती हैं।

उदाहरणार्थ, 'अनिवार्यता' (Necessity) के रीत्यर्थक कारक को लीजिए। अनिवार्यता-कारक ठीक उसी अर्थ में एक एकसंयुज (Monadic) कारक है जिस अर्थ में 'निषेध' कारक याने कर्ल (Curl) भी एक एकसंयुज सत्यता-फलनात्मक कारक है। एकसंयुज कारक होने के कारण अनिवार्यता कारक प्रयुक्त होने के लिये मात्र किसी एक प्रकथन की आवश्यकता होती

है। यह बात किसी भी द्विसंयुज (binary) कारक (जैसे निगमितता entailment) के बारे में लागू नहीं होती है। पुनश्च, मान लीजिये कि 'क' ('क' यहाँ पर एक प्रकथनाकार है, जिसका मूल्य कोई भी प्रकथन हो सकता है) के सम्बन्ध में आनिवार्यता का प्रतीक □ व्यवहृत किया गया है। जब अनिवार्यता का प्रतीक / कारक □ 'क' के सम्बन्ध में प्रयुक्त होता है तो उससे '□क' का निर्माण होता है जिसका आकारिक स्वरूप, रीत्यर्थक तर्कशास्त्रियों के अनुसार, 'क' से भिन्न होता है। अब यहाँ सवाल यह उठता है कि 'क' और '□क' के सत्यता-मूल्यों में पारस्परिक सम्बन्ध क्या है? क्या 'क' की सत्यता से '□क' की सत्यता का आपादन एवं स्थापना हो सकती है? इसके उत्तर में रीत्यर्थक तर्कशास्त्रियों का कहना है—नहीं। क्योंकि 'क' सत्य होने के बावजूद भी '□क' का असत्य होना अबोधगम्य नहीं है। 'क' के सत्य होते हुए भी '□क' का असत्य होना अबोधगम्य इसलिये नहीं है क्योंकि '□क' की सत्यता 'क' की सत्यता से अनिवार्यत: फलित नहीं होती है। '□क' की सत्यता 'क' की सत्यता से अनिवार्यत: फलित न होने के कारण 'क' के सत्य होने पर भी '□क' के असत्य होने की सम्भावना बराबर बनी रहती है, जबकि इसका विलोम (Converse) सत्य नहीं है। 'क' की असत्यता में '□क' की असत्यता असन्दिग्ध रूप से निहित होती है। याने '□क' की सत्यता 'क' के असत्य होने पर अबोधगम्य है।

उपरोक्त चर्चा के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यद्यपि 'क' की सत्यता से '□क' की सत्यता का फलन अनिवार्यत: नहीं होता है, तथापि उसकी असत्यता से '□क' की असत्यता का फलन असन्दिग्ध रूप से होता है। यह इस तथ्य का प्रमाण है कि 'क' और '□क' में उनकी सत्यता के बारे में कोई अनिवार्य सम्बन्ध न होते हुए भी उनकी असत्यताओं में एक प्रकार का अनिवार्य सम्बन्ध है। यही नहीं, जिस प्रकार 'क' की सत्यता से '□क' की सत्यता का आपादन नहीं होता है, ठीक उसी प्रकार '□क' की असत्यता से 'क' की असत्यता का आपादन नहीं होता है। कहने का अभिप्राय यह है कि '□क' की असत्यता तथा 'क' की सत्यता एक साथ स्वीकार्य होने की वजह से वे एक दूसरे की विरोधी नहीं हैं। '□क' के असत्य होते हुए भी 'क' की सत्यता बोधगम्य है, जबकि इसका विलोम सत्य नहीं है। '□क' की सत्यता से 'क' की सत्यता की स्थापना असन्दिग्ध रूप से होती है, क्योंकि '□क' 'क' के असत्य होने पर कभी भी सत्य नहीं हो सकता। इससे यह सिद्ध होता है कि 'क' की असत्यता और '□क' की सत्यता एकसाथ स्वीकार्य नहीं हो सकती।

इतना ही नहीं तो जिस प्रकार '□क' की सत्यता से 'क' की सत्यता निरपवादतया निष्पन्न होती है, उसी तरह 'क' की असत्यता से '□क' की असत्यता भी निरपवादतया निष्पन्न होती है। तथापि '□क' की सत्यता से 'क' की असत्यता को, या 'क' की सत्यता से '□क' की सत्यता को निरपवादतया निष्पन्न नहीं किया जा सकता। उक्त बातों को संक्षेप में सत्यता सारिणी के माध्यम से निम्नप्रकार अभिव्यक्त किया जा सकता है,

(च)

क	□क
सत्य	?
असत्य	असत्य

(छ)

□क	क
सत्य	सत्य
असत्य	?

सत्यता-सारिणी (च) से यह बिल्कुल स्पष्ट है कि 'क' की सत्यता से '□क' की सत्यता असन्दिग्ध रूप से फलित नहीं होती है। 'क' के सत्य होने पर भी '□क' की सत्यता सन्दिग्ध है जिसको प्रश्नसूचक संकेत से दर्शाया गया है, जब कि इसका विलोम सत्य नहीं है। 'क' की असत्यता में '□क' की असत्यता पूर्ण रूपेण निहित होती है। इसी प्रकार सत्यता-सारिणी (छ) से यह स्पष्ट है कि '□क' की सत्यता से 'क' की सत्यता असन्दिग्ध रूप से फलित होती है। किन्तु इसका विलोम सत्य नहीं है। '□क' की असत्यता से 'क' की असत्यता फलित नहीं होती है। '□क' के असत्य होने पर भी 'क' की असत्यता सन्दिग्ध है। (च) और (छ) सत्यता-सारिणियों में कोई आत्मव्याघात नहीं है। क्योंकि यदि 'क' की असत्यता से '□क' की असत्यता असन्दिग्ध-रूप से फलित होती है तो निषेधक हेतुफलन (Modus Tollens) नियम के अनुसार '□क' की सत्यता से 'क' की सत्यता असन्दिग्ध रूप से फलित होती है। इन बातों को युक्ति-आकार के रूप में इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं :–

वैध युक्ति-आकार

(ट)

'क' असत्य
∴ '□क' असत्य

(ठ)

'□क' सत्य
∴ 'क' सत्य

अवैध युक्ति-आकार

(ङ)	(ढ़)
'□ क' असत्य	'क' सत्य
∴ 'क' असत्य	∴ '□ क' सत्य

अब सवाल यह उठता है किस अवस्था / अवस्थाओं में 'क' की सत्यता से '□ क' की सत्यता की स्थापना नहीं हो सकती है? यह बात तो साफ है कि हम ऐसा नहीं कह सकते कि किसी भी अवस्था में 'क' की सत्यता से '□ क' की सत्यता की स्थापना हो ही नहीं सकती, क्योंकि ऐसा कहने से '□ क' में प्रस्तुत 'क' घटक का मूल्यांकन सत्यता-मूल्य की दृष्टि से '□ क' के सन्दर्भ में निरर्थक हो जाता है, जिसके परिणाम स्वरूप सत्यता-सारिणी की प्रणाली ही अप्रयोज्य हो जाती है, जो कि मेरे विचार से ठीक नहीं है। 'क', '□ क' का एक घटक होने के कारण '□ क' क सत्यता-मूल्य के निर्धारण में 'क' के सत्यता-मूल्य का प्रभाव पड़ता है। जैसे, 'क' के असत्य होने पर '□ क' की सत्यता अबोधगम्य है। '□ क' सत्य तभी हो सकता है जब इसमें घटित सारे 'क' सत्य हों, अन्यथा '□ क' की सत्यता असम्भव है। वास्तव में सत्यता-मूल्य की दृष्टि से 'अनिवार्यता'-कारक 'क' का संघटक नहीं है। इसलिये वैचारिक दृष्टि से 'क' के सत्यता-मूल्य में 'अनिवार्यता' का विचार सन्निहित नहीं होता है। क्यों कि यह हो सकता है कि 'क' का आकारिक स्वरूप पुनर्कथनात्मक (Tautologous) न हो। इसी कारण से 'क' की सत्यता से '□ क' की सत्यता का आपादन होता है या नहीं यह पूर्णतः '□ क' में घटित 'क' के स्वरूप पर निर्भर करता है। जहां तक 'क' के आकारिक स्वरूप का प्रश्न है वह अधोलिखित में से कोई भी एक हो सकता है:—

१. पुनर्कथनात्मक (tautologous)

२. व्याघाती (cotradictory)

३. संयोगिक (contingent)

यदि 'क' का आकार पुनर्कथनात्मक है तो 'क' की सत्यता पारिभाषिक दृष्टि से एक आकारिक सत्यता होगी, जिसकी स्थापना एवं मूल्यांकन मात्र आकारिक या तार्किक नियमों के द्वारा किया जा सकता है जिसके लिये किसी 'सम्भाव्य जगत्' के सम्प्रत्यय को एक पूर्वमान्यता के रूप में स्वीकार करना सत्यता-मूल्य

की दृष्टि से आवश्यक नहीं है। आकारिक सत्यता का सम्प्रत्यय परिभाषा की दृष्टि से अपने अन्दर 'सम्भाव्य जगत्' के सम्प्रत्यय को समाविष्ट नहीं करता है, क्योंकि यदि 'क' की सत्यता एक आकारिक अथवा तार्किक सत्यता है तो उसका निषेध व्याघाती प्रकथनाकार प्रकथन होगा जिसका सम्प्रत्यय किसी 'सम्भाव्य जगत्' का सम्प्रत्यय अपने में समाविष्ट नहीं कर सकता। चूँकि 'व्याघात' का सम्प्रत्यय अपने अन्दर 'सम्भाव्य जगत्' के सम्प्रत्यय को अन्तर्निविष्ट नहीं करता है इसलिये जिस प्रकथन का आकार पुनर्कथनात्मक होगा उस प्रकथन के सत्यता-मूल्य की स्थापना बिना किसी सम्भाव्य जगत् की सत्ता की पूर्वमान्यता के उसके व्याघाती प्रकथनाकार प्रकथन का निषेध कर के तार्किक नियमों के द्वारा स्पष्ट एवं परिभाषित की जा सकती है। इस प्रकार यदि 'क' की सत्यता एक आकारिक सत्यता है तो उसकी सत्यता वस्तुजगत् के स्वरूप (चाहे वह वास्तविक हो या काल्पनिक) पर निर्भर नहीं करती है, याने उसकी सत्यता वस्तु-जगत् के निरपेक्ष होती है। किसी भी देश-काल में वह असत्य नहीं हो सकती है। पुनर्कथनों की असत्यता अबोधगम्य है और वह पुनर्कथनों की परिभाषा से ही सिद्ध है। अतः '$\square$ क' में घटित 'क' घटक का स्वरूप यदि पुनर्कथनात्मक है तो 'क' की सत्यता से '$\square$ क' की सत्यता का आपादन वैधतः होता है जिसके कारण पहले के आधार पर दूसरे का औचित्य-प्रदर्शन बिना तर्क-दोष के भलीभाँति किया जा सकता है, क्योंकि '$\square$ क' में घटित 'क' घटक की सत्यता स्वय एक अनिवार्य तार्किक सत्यता होती है और '$\square$ क' तभी सत्य हो सकता है जब इसमें घटित 'क' घटक की सत्यता स्वयं एक अनिवार्य सत्यता हो, अन्यथा '$\square$ क' का सत्य होना परिभाषातः असम्भव है। जैसे मान लीजिये कि 'क' 'प $\vee$ $\sim$ प' है। चूंकि 'प $\vee$ $\sim$ प' सूत्र का आकार पुनर्कथनात्मक है इसलिये इसकी सत्यता अनुभव एवं वस्तु-निरपेक्ष है। 'प' के वास्तविक सत्यता-मूल्य को जाने बिना 'प $\vee$ $\sim$ प' सूत्र की सत्यता की स्थापना असन्दिग्ध रूप से की जा सकती है, बशर्ते कि तार्किक कारकों के नियमों का हमें बोध हो। चूंकि पुनर्कथनात्मक प्रकथन सदैव आकारतः सत्य होते हैं और 'प $\vee$ $\sim$ प' सूत्र का आकार पुनर्कथनात्मक है इसलिये 'प $\vee$ $\sim$ प' से वैधतः हम $\square$ (प $\vee$ $\sim$ प) पर पहुँच सकते हैं और उसके आधार पर '$\square$ (प $\vee$ $\sim$ प)' सूत्र की सत्यता की स्थापना एवं मूल्यांकन कर सकते हैं। दोनों प्रकार के प्रकथनों में सत्यता-मूल्य की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है। उनमें जो अन्तर है वह मात्र कारकों की दृष्टि से होता है।

जहाँ तक आकार (ii) का प्रश्न है वह '□क' में घटित 'क' का आकार नहीं हो सकता, क्योंकि अनिवार्यता कारक की धारणा व्याघाती आकार वाले प्रकथन की धारणा से मेल नहीं खाती। जिस प्रकथन का आकार व्याघाती होता है उस प्रकथन की सत्यता आकारतः असम्भव हो जाती है, जो 'अनिवार्यता की धारणा से संगत-पूर्ण नहीं है, क्योंकि जिस प्रथकन के सम्बन्ध में अनिवार्यता का कारक व्यवहृत होता है उस प्रकथन की सत्यता सम्भव (Possible) होनी चाहिये, जो व्याघाती प्रकथनाकार प्रकथनों के विषय में सत्य नहीं है। व्याघाती प्रकथनाकार उक्त प्रकार के प्रकथनों की सत्यता आकारतः किसी भी देश-काल में अबोधगम्य एवं असम्भव है। इस तरह '□क' में घटित 'क' का आकार व्याघाती नहीं हो सकता, क्योंकि अनिवार्यता–कारक का इस्तेमाल व्याघाती आकार के साथ अग्राह्य है।

अब जहाँ तक आकार (iii) का सवाल है उसका विचार अनिवार्यता कारक के विचार के साथ अग्राह्य नहीं है, क्योंकि संयोगिक आकार वाले प्रकथनों की सत्यता सम्भव होती है जो कि दूसरे आकार वाले प्रकथनों के विषय में चारितार्थ नहीं है, जिसे अधोलिखित तालिका से स्पष्ट किया जा सकता है:

इस प्रकार '□क' में घटित 'क' का स्वरूप यदि संयोगिक है तो उसकी सत्यता आकारतः संभव है, किन्तु इसकी स्थापना न तो मात्र पुनर्कथनात्मक प्रकथनाकारों का निषेध कर के की जा सकती है और न ही व्याघाती प्रकथनाकारों का निषेध करके। क्योंकि संयोगिक प्रकथनाकार प्रकथनों का निषेध न तो मात्र पुनर्कथनात्मक है और न ही व्याघाती अपितु वह सदैव संयोगिक ही होता है। परन्तु इससे यह अर्थ नहीं निकालना चाहिये कि संयोगिक प्रकथनाकार प्रकथनों का आकारिक सत्यता-मूल्य सम्भाव्य जगत् के सम्प्रत्यय

में अन्तर्भूत होता है जिसकी पूर्वमान्यता के बिना संयोगिक प्रकथनाकार के आकारिक सत्यता-मूल्य को पारिभाषित ही नहीं किया जा सकता। संयोगिक प्रकथनाकार का विचार अपने भीतर अनिवार्यतः सम्भाव्य जगत् के सम्प्रत्यय को समाहित नहीं करता है, क्योंकि इसकी व्याख्या सम्भाव्य जगत् की धारणा के बिना पुनर्कथनात्मक एवं व्याघाती इन दोनों प्रकथनाकारों का निषेध करके की जा सकती है, जिसका आकार सदैव संयोगिक होता है। इस प्रकार यदि '□क' में घटित 'क' घटक प्रकथन का आकार संयोगिक है तो उसके सत्यता-मूल्य सत्यता के आधार पर '□क' के सत्यता-मूल्य सत्यता का निर्धारण निश्चित रूप से नहीं किया जा सकता, क्योंकि 'क' और '□क' की सत्यताओं में कोई आपादन सम्बन्ध नहीं होता है जिसके कारण 'क' के सत्य होने पर भी '□क' के असत्य होने की सम्भावना बनी रहती है। यही नहीं, चूंकि संयोगिक प्रकथनाकार प्रकथनों का निषेध सदैव संयोगिक होता है इसलिये इस प्रकार के प्रकथनों का वास्तविक सत्यता-मूल्य एवं ज्ञान मात्र तार्किक नियमों के आधार पर नहीं प्राप्त किया जा सकता। इसके लिये सदैव हमें अनुभव एवं तथ्य-सापेक्ष होना पड़ता है, क्योंकि उन्हीं के ऊपर संयोगिक प्रकथनाकार प्रकथनों का सत्यता-मूल्य एवं ज्ञान अन्ततः निर्भर करता है। किन्तु जहाँ तक आकारिक तर्कशास्त्र का सवाल है उसके लिये संयोगिक प्रकथनाकार प्रकथन कोई कठिनाई नहीं पैदा करते। क्योंकि इस प्रकार के प्रकथनों के सम्भावित-सत्यता मूल्यों का निर्धारण सम्भाव्य जगत् की सत्ता को स्वीकार किये बिना पुनर्कथनात्मक और व्याघाती इन दोनों प्रकार के प्रकथनाकारों का निषेध करके किया जा सकता है। सम्भाव्य जगत् की सत्ता का विचार इस प्रकार के विचार में तभी अन्तर्भूत होता है जब हम (i), (ii) और (iii) प्रकथनाकारों की व्याख्या एवं उनके सत्यता-मूल्य का निर्धारण स्थानापन्नक उदाहरणों (Substitution instances) के द्वारा करते हैं। तथापि यह संकल्पना वैचारिक दृष्टि से उत्तरवर्ती है, न कि पूर्ववर्ती। इसलिये (i), (ii) और (iii) प्रकथनाकार प्रकथनों के सत्यता मूल्यों का निर्धारण सम्भाव्य जगत् की सत्ता को पूर्व-स्वीकार किये बिना शुद्ध आकारिक दृष्टि से पूर्णतः ग्राह्य है।

अब तक जितनी चर्चा की गयी उससे यह बिलकुल स्पष्ट है कि किस अवस्था में 'क' की सत्यता से '□क' की सत्यता की स्थापना निःसन्देह होती

है और किस अवस्था में 'क' की सत्यता से '□क' की सत्यता की स्थापना निःसन्देह नहीं होती है। यदि 'क' की सत्यता एक आकारिक सत्यता है तो इसकी सत्यता से '□क' की सत्यता की स्थापना असन्दिग्ध ढंग से होती है क्योंकि आकारिक सत्यता एक अनिवार्य, देश-काल एवं तथ्य निरपेक्ष, सत्यता होती है, जिसका खण्डन किसी भी सन्दर्भ में नहीं होता है। उसी प्रकार यदि 'क' का आकार व्याघाती है तो 'क' की आकारिक असत्यता से निःसन्देह '~□क' (जो '□क' का एक व्याघाती आकार है) की आकारिक सत्यता की स्थापना होती है, क्योंकि व्याघाती प्रकथनाकार प्रकथन की सत्यता किसी भी देश-काल में असम्भव एवं अबोधगम्य रहती है। इस तरह आकारगत सत्यता एवं असत्यता की स्थापना मात्र तार्किक नियमों के द्वारा सम्भव है। इनकी स्थापना के हेतु किसी सम्भाव्य जगत् की सत्ता को स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नही है। इसलिये यह कहा जा सकता है कि तर्कशास्त्र का सम्बन्ध मात्र आकार से होता है न कि विषय-वस्तु (Content) से। 'आकार' का विचार अनिवार्यतः अपने अन्दर विषय-वस्तु या अन्तर्वस्तु के विचार को सन्निहित नहीं करता है, क्योंकि आकार रिक्त (empty) भी हो सकता है। परन्तु यदि 'क' का आकार संयोगिक है तो वह अपने स्वरूप के कारण या तो सत्य होगा या असत्य, पर दोनों नहीं, जिसके वास्तविक सत्यता-मूल्य या निर्धारण मात्र तार्किक नियमों के द्वारा नहीं किया जा सकता। आकारिक दृष्टि से केवल उन सूत्रों के सत्यता-मूल्यों की सम्भावनाओं को असन्दिग्ध रूप से व्यक्त किया जा सकता है जिसके लिये सम्भाव्य जगत् की सत्ता को माने बिना मात्र तार्किक कारकों को नियन्त्रित करने वाले नियमों के द्वारा उन्हें व्यक्त किया जा सकता है। सम्भाव्य जगत् की सत्ता का विचार संयोगिक कथनों के सत्यता-मूल्यों के सन्दर्भ में तभी अन्तर्भूत होता है जब हम उनके वास्तविक सत्यता-मूल्यों की स्थापना की चेष्टा निःसन्देह रीति से करना चाहते हैं। चूंकि जैसा ऊपर कहा गया है, 'आकार' का विचार न केवल अन्तर्वस्तु के विचार से भिन्न है अपितु वैचारिक दृष्टि से उसमें अनिवार्यतः अन्तर्भूत नहीं होता है, इसलिये सम्भाव्य जगत् की सत्ता को पूर्व-स्वीकार किये बिना तर्कशास्त्र का विवेचन सार्थकतः सम्भव है।

यद्यपि इसमें कोई सन्देह नहीं है कि 'तार्किक अनिवार्यता' और 'सारे सम्भाव्य जगत्' का विचार एक दूसरे से सह-विस्तृत (co-extensive) विचार

हैं, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि तार्किक अनिवार्यता का विचार सम्भाव्य जगत् के विचार में (अनिवार्यतया) अन्तर्निहित होता है, तथा सम्भाव्य जगत् की संकल्पना को पूर्वगृहीत के रूप में स्वीकार किये बिना तार्किक अनिवार्यता की संकल्पना स्पष्ट ही नहीं की जा सकती। तार्किक अनिवार्यता-कारक का सम्प्रत्यय सम्भाव्य जगत् के सम्प्रत्यय से पूर्णतः स्वतन्त्र है । परन्तु चूँकि दोनों संकल्पनाएँ सह-विस्तृत हैं इसलिये सम्भाव्य जगत् की संकल्पना को तार्किक अनिवार्यता-रूप प्रकथनों के सत्यता-मूल्य-निर्धारण या स्थापना की एक कसौटी माना जा सकता है और कहा जा सकता है कि '□क' सत्य तभी हो सकता है जब 'क' सभी (प्रकार के) सम्भाव्य जगत् में सत्य हो, अन्यथा '□क' का सत्यता-मूल्य असत्य होता है। (सम्भाव्य जगत् की सीमा का निर्धारण अनिवार्यता कारक के सप्रत्यय के प्रयोग से ही किया जाता है।) परन्तु इससे हमे यह अर्थ नहीं निकालना चाहिये कि अनिवार्यता कारक का सम्प्रत्यय वैचारिक दृष्टि से सम्भाव्य जगत् के सम्प्रत्यय में अन्तर्भूत होता है। यदि कोई ऐसा स्वीकार करता है तो उसकी धारणा को तर्क-दोष-मुक्त नहीं कहा जा सकता। पुनश्च, चूँकि 'अनिवार्यता' और 'सभी सम्भाव्य जगत्' का विचार सह-विस्तृत विचार है इसलिये किसी सूत्र का मूल्यांकन उसकी आकारिक प्रणाली (Formal System) (जिसके अन्दर वह आता है) के बाहर जा कर सम्भाव्य जगत् की सत्ता को स्वीकार कर के किया जा सकता है। इस प्रकार के मूल्यांकन को तर्कशात्र की भाषा में अर्थवैज्ञानिक (semantic) मूल्यांकन कहा जाता है। तथापि यहाँ यह ध्यान देना होगा कि जब हम किसी सूत्र का अर्थवैज्ञानिक मूल्यांकन करते हैं और उसके आधार पर सूत्र की वैधता या अवैधता की जाँच करते हैं तो वह सदैव उक्त सूत्र की आकारिक प्रणाली के बाहर होता है। अर्थवैज्ञानिक मूल्यांकन उक्त सूत्र के घटकों के अर्थ-निर्धारण (meaning assignment) पर निर्भर करता है जिसका यह अर्थ कदापि नहीं होता है कि तर्कशास्त्र की नींव सम्भाव्य जगत् के सारतत्त्व की पूर्वमान्यता पर निर्भर है। तर्कशास्त्र की नींव सम्भाव्य जगत् के सारतत्त्व में अन्तर्निहित नहीं है। उसके लिये मात्र संकेत, स्वयं-सिद्धियाँ, एव तार्किक नियम काफी है। चूँकि सकेत अपने आप में रिक्त होते हैं और उनकी कोई अन्तर्वस्तु नहीं होती है जबतक उनका अर्थनिर्धारण न किया जाय, इसलिये रीत्यर्थक कारकों का उपयोग संकेतों के सन्दर्भ में बिना किसी सम्भाव्य जगत् की सत्ता को स्वीकार किये सार्थकतः ग्राह्य है। दूसरे शब्दों में, जब तर्कशास्त्र के लिये मात्र रिक्त संकेत, स्वय-सिद्धियाँ एव तार्किक नियम ही पर्याप्त हैं तो फिर यह कहना कि 'बिना सम्भाव्य जगत् की सत्ता को स्वीकार किये तर्कशास्त्र असम्भव है, एक निरर्थक एवं आधारहीन दावा है। तथापि जब हम यह कहते

हैं कि तर्कशास्त्र के सम्प्रत्यय की नींव सम्भाव्य जगत् के सम्प्रत्यय में अन्तर्निहित नहीं है तो इसका अभिप्राय यह नहीं है कि इनमें कोई सम्बन्ध ही नहीं है। रीत्यर्थक कारकों का सम्बन्ध सम्भाव्य जगत् के सम्प्रत्यय से होते हुए भी उनके सम्प्रत्यय उसमें अन्तर्निहित नहीं हैं और यह स्पष्ट हो जाने के साथ यह भी बात उसी तरह स्पष्ट हो जाती है कि रीत्यर्थक कारकों का स्पष्टीकरण किया जाने के लिये सम्भाव्य जगत् के सम्प्रत्यय का एक पूर्वमान्यता के रूप में स्वीकार करने की कोई अनिवार्यता नहीं है।

– जगत् पाल

दर्शन विभाग
उत्तर-पूर्वीय पर्वतीय विश्वविद्यालय
शिलांग– ७९३०१४
(मेघालय)

उन्मीलन

मानसिक हिन्द-स्वराज का वैतालिक
दार्शनिक षाण्मासिक

संपादक :
यशदेव शल्य

सहयोगी
गोविन्दचंद्र पांडे, दयाकृष्ण, राजेन्द्रप्रसाद पांडेय

जनवरी--जुलाई अंक

विषय-सूची

वार्षिक शुल्क : व्यक्ति : रु. २०/—
संस्थाएँ : ५०/—

संपर्क करें :—
दर्शन प्रतिष्ठान, पी ५१, मधुवन, टोंक रोड, जयपुर—१५

विज्ञानवाद तथा अद्वैत वेदान्त : कुछ प्रमुख समानता तथा विभिन्नताएँ

भारतीय दर्शन में विज्ञप्तिमात्रता का सिद्धान्त सर्वप्रथम बौद्ध दर्शन के विज्ञानवाद सम्प्रदाय में स्पष्ट रूप से स्थिर हुआ। वैसे इससे पूर्व उपनिषदों में भी इसकी छाया दृष्टिगोचर होती है। वहाँ उन बहुत से वचनों को, जिनमें विज्ञान को ही एकमात्र सत् बताया है, विद्वानों ने विज्ञप्तिमात्रता का संकेतक बताया है।[1] परन्तु इस सिद्धान्त का स्पष्ट, क्रमबद्ध तथा स्थिर विवेचन सर्वप्रथम बौद्धों के विज्ञानवाद सम्प्रदाय में ही प्राप्त होता है। वहाँ पर अनेक तर्कों के आविष्कार के द्वारा इसकी गम्भीरता पूर्वक स्थापना हुई है। इस सिद्धान्त से विज्ञान को ही एकमात्र सत् मानने तथा बाह्य पदार्थों को अलीक मानने में सहायता मिलती है।

भगवान् शंकराचार्य ने भी अद्वैत वेदान्त में विज्ञप्तिमात्रता की स्थापना की ऐसा एक मत है। वास्तव में इस प्रकार के प्रयत्न का प्रारम्भ इनके परात्पर गुरु गौडपाद के द्वारा रचित माण्डूक्यकारिका से होता है ऐसा भी माना जाता है। इस ग्रन्थ में आचार्य गौडपाद ने जिस तत्त्व की स्थापना की वह कहीं तो शून्यवाद के सन्निकट है, कहीं विज्ञानवाद के ऐसा कुछ लोग मानते हैं। उनके पश्चात् आद्य शंकराचार्य ने एकमात्र विज्ञानस्वरूप ब्रह्म की स्थापना करते हुए अध्यस्त बाह्य पदार्थों का खण्डन भी किया। इसलिये उनके सिद्धान्त को भी सामान्यतया विज्ञप्तिमात्रता का सिद्धान्त कहा जा सकता है, यद्यपि वह बौद्धसम्मत विज्ञानवाद से बहुत दूर है। पुनरपि कुछ लोगों ने इसे ब्रह्मवाद की आड़ में विज्ञानवाद का समर्थन माना तथा इसे प्रच्छन्न बौद्धमत बता कर इससे दूर रहने की सलाह दी।[2]

तथापि वस्तुतः बौद्धसम्मत विज्ञानवाद तथा वेदान्त के चित्स्वरूप ब्रह्मवाद में कई मौलिक भिन्नताएँ हैं। दोनों वादों के स्वरूप में पर्याप्त अन्तर है। शंकराचार्य ने विरोध को परिपुष्ट करने के लिये प्रकटतः सर्वत्र विज्ञानवाद का खण्डन

किया है। यह खण्डन कहीं कहीं बहुत प्रबल हो गया है। उन्होंने इस प्रकार के विज्ञानवाद को वैनाशिक बताया है। [३] इस प्रकार उन्होंने विज्ञानवाद से अपनी अलग पहचान बनाने का भरसक प्रयत्न किया है।

इस रूप में बौद्ध-सम्मत विज्ञानवाद के प्रबल विरोधी होने पर भी कुछ लोग अद्वैत वेदान्त को प्रच्छन्न बौद्धमत समझते रहे। इस दशा से यह विवेचन करना आवश्यक है कि दोनों सिद्धान्तों में प्रमुख समानताएँ तथा भिन्नताएँ कौनसी हैं। प्रस्तुत लेख का यही उद्देश्य है।

विज्ञानवाद तथा अद्वैत वेदान्त इन दोनों के विरोधी कुछ अन्य सम्प्रदाय भारतीय दर्शन में प्रचलित हैं। वे हैं – सर्वयथार्थवाद तथा सर्वशून्यवाद। ये दोनों विज्ञानवाद तथा अद्वैत वेदान्त के समान रूप से विरोधी हैं। अतः विज्ञानवाद तथा अद्वैत वेदान्त ये दोनों भी इनका प्रबलता से खण्डन करते हैं। विज्ञानवाद तथा अद्वैत वेदान्त दोनों उक्त सम्प्रदायों का खण्डन करने के लिये आपस में समानता स्थापित करते हैं। इसके लिये ये दोनों समान प्रकार के तर्क, प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। पर ये दोनों स्वयं आपस में विरोधी भी होने से एक दूसरे का खण्डन भी करते हैं। जैसे महाभारत में कहा है कि किसी अन्य शत्रु से लड़ने के लिये कौरव और पाण्डव एक हैं, पर वे दोनों स्वयं आपस में भी लड़ते हैं। इसी प्रकार सर्व-यथार्थवाद तथा सर्वशून्यवाद से लड़ने के लिये विज्ञानवाद तथा अद्वैत वेदान्त एक हैं, पर वे स्वयं आपस में भी तीव्र मतभेद रखते हैं। इन स्थितियों पर क्रम से विचार किया जायगा।

सर्वयथार्थवाद के खण्डन में दोनों की समानता

विज्ञानवाद सम्प्रदाय के साथ अद्वैत वेदान्त की तुलना करने पर स्पष्ट विदित होता है कि आद्य शंकराचार्य ने सर्वयथार्थवाद के खण्डन के लिये विज्ञान-वादियों ने जिस प्रकार की युक्तियों का स्वीकार किया है लगभग उसी प्रकार की युक्तियों को अपनाया है। उनकी कुछ समान युक्तियाँ इस प्रकार की हैं :–

१. बाह्य पदार्थ दो ही प्रकार के हो सकते हैं– या तो अवयवी रूप हों या परमाणुरूप। इनमें से दोनों रूपों का खण्डन दोनों ही सम्प्रदायों में किया गया है। पदार्थों की अवयवीरूपता का खण्डन विज्ञानवाद के तत्त्वसंग्रह में किया है। वहाँ कहा है कि अवयवी जिस अवयव में रहता है उसी समय वह एक अवयवी दूसरे अवयव में कैसे रह सकता है? यदि वह अन्य अवयव में भी रहे तो सभी अवयवों में समान रूप से एक अवयवी के रहने का सिद्धान्त ठीक नहीं बन सकेगा, क्योंकि तब तो अनेक अवयवों में अनेक अवयवी मानने पड़ेंगे। [४]

भगवान् शंकराचार्य ने भी लगभग इसी प्रकार की युक्ति से अवयवीरूप बाह्य पदार्थ का खण्डन करते हुए कहा है [५] है कि यदि बहुत से अवयवों में अलग-अलग अवयवी रहें तब तो अवयवी भी अनेक हो जायेंगे। उस दशा में अवयवी में भी किसी एक को रखना होगा, और इस तरीके को अपनाने के बावजूद अनवस्था दोष को स्वीकार करना पड़ेगा। यदि बहुत से अवयवों में एक ही अवयवी मानें तो उसका कभी प्रत्यक्ष न हो सकेगा। क्योंकि चक्षु आदि का समूचे अवयवी के साथ एक साथ सन्निकर्ष कभी नहीं हो सकता। यह असम्भव है कि हम घड़े को अन्दर तथा बाहर एक साथ देख सकें।

२. पदार्थों की परमाणुरूपता का खण्डन भी विज्ञानवाद सम्प्रदाय में किया गया है। उसका कहना है कि परमाणु का अन्य परमाणु के साथ संयोग अवश्य ही छहों दिशाओं में होगा। इस स्थिति में वह अविभाज्य नित्य तथा एक नहीं रह पायेगा। तथापि परमाणु की कल्पना उसकी नित्यता तथा एकता पर निर्भर है। षडंशतापत्ति होने के कारण यह सम्भव नहीं है। **पञ्जिका टीका** में स्पष्ट कहा गया है कि जिसमें दिग्भाग-भेद हो वह एक या नित्य परमाणु नहीं हो सकता।[६]

भगवान् शंकराचार्य ने भी इसी प्रकार की युक्ति को प्रस्तुत करते हुए कहा है कि परमाणु के साथ न ही सर्वात्मना संयोग संभव है, न ही उसके एकदेश के साथ। क्योंकि सर्वात्मना संयोग होने पर उस अणु में वृद्धि न हो सकेगी। यदि उसके एक देश में संयोग हो तो वह सावयव हो जायेगा। इस प्रकार वह अविभाज्य परमाणु नहीं रह सकेगा।[७] उन्होंने इस रीति से सिद्ध किया है कि जगत् का कारण परमाणु नहीं हो सकता।

३. उसी प्रकार जगत् को असत् सिद्ध करने के लिये विज्ञानवाद में स्वप्न का उदाहरण विस्तार से दिया जाता है। आचार्य वसुबन्धु ने **विंशिका** में स्वप्न का उदाहरण दे कर विस्तार से जगत् की बाह्यता की असत्यता सिद्ध की है।[८]

शंकराचार्य ने भी अध्यस्त जगत् की असत्ता स्थापित करने के लिये इस प्रकार के उदाहरण का उपयोग किया है। उनका कहना है कि जिस प्रकार स्वप्न में भी सभी पदार्थ मिथ्या होकर भी सत् प्रतीत होते हैं, क्योंकि उनका बाध जाग्रत् दशा के प्रत्यय से होता है, ठीक उसी प्रकार जाग्रत् के अध्यस्त पदार्थ भी मिथ्या हैं क्योंकि उनका बाध ब्रह्मबोध होने पर होता है। इस प्रकार उन्होंने अध्यस्त जाग्रत् पदार्थों को भी स्वप्न के पदार्थों के समान मृषा बताया है।[९]

सर्वशून्यवाद के खण्डन में दोनों की समानता

सर्वशून्यवाद के सिद्धान्त में बाह्य पदार्थों के साथ-साथ विज्ञान या चित्स्वरूपता का भी खण्डन किया जाता है। इस प्रकार के शून्यवाद के खण्डन के लिये विज्ञानवाद तथा अद्वैत वेदान्त एकमत हैं। इसके खण्डन के लिये दोनों समान प्रकार की युक्तियाँ प्रस्तुत करते हैं।

विज्ञानवाद तथा अद्वैत वेदान्त में सर्वशून्यवाद के सिद्धान्त के विरुद्ध प्रस्तुत की गयी कुछ समान प्रकार की युक्तियाँ इस प्रकार हैं :

१. विज्ञानवाद में विज्ञान की शून्यता का विरोध करते हुए विज्ञप्तिमात्रता के समर्थन में प्रथम युक्ति यह है कि सभी पदार्थों के साथ ज्ञान को भी यदि शून्य अर्थात् निःस्वभाव मानें तो इसे इस रूप में जाननेवाला भी कौन होगा ?[१०] इस दशा में बाह्य पदार्थों के खण्डन का प्रत्येता भी कोई न रह जायगा। फिर यह मान्यता कि 'सभी पदार्थ नहीं हैं' इसकी सिद्धि न हो सकेगी। अतः सभी पदार्थों को निःस्वभाव मानने पर भी उनके ज्ञाता के रूप में विज्ञानमात्र को तो सत् मानना ही चाहिये।

भगवान् शंकराचार्य ने भी इसकी सिद्धि के लिये लगभग इसी प्रकार की युक्ति तथा भाषा का प्रयोग किया है। उनका कहना है कि ज्ञान सर्वाधिक प्रकाशमय है। उसकी सत्ता का कोई अपलाप नहीं कर सकता। सब पदार्थों के लीन होने पर भी वह बच जाता है। जो व्यक्ति इसका निषेध करता है वह भी इसे सिद्ध करता है। क्योंकि जो निराकरण करनेवाला है वही आत्मा अर्थात् ज्ञान है। इस प्रकार इसका निराकरण भी इस विज्ञान की सिद्धि में प्रमाण बन जाता है।[११]

२. विज्ञानवाद में विज्ञप्तिमात्रता के समर्थन में दूसरी युक्ति यह है कि कोई भी भ्रम बिना अधिष्ठान के नहीं हो सकता है। शून्य में या अभाव में किसी भ्रम का आधार ही क्या होगा ? विज्ञानवाद में विभिन्न प्रकार के धर्मों की कल्पना नितान्त भ्रम है। इन भ्रमों का आश्रय यदि कोई विज्ञान न हो तो भ्रम का होना ही असम्भव हो जायगा। अतः इन भ्रमों के आधार के रूप में विज्ञान की सिद्धि होती है।[१२] स्पष्ट है कि पदार्थों की बाह्यता तो भ्रम है, पर इसका प्रत्यायक विज्ञान सत् ही है।

अद्वैत वेदान्त में भी विज्ञान के समर्थन में इस प्रकार की युक्ति का प्रयोग किया गया है। अद्वैत वेदान्तियों का कहना है कि अध्यस्त जगत् मिथ्या है। पुनरपि भ्रान्तिवश उसके अस्तित्व की प्रतीति होती है। प्रत्येक भ्रम के लिये यह

आवश्यक है कि वह किसी आधार में हो। 'अयं सर्पः' इस प्रकार का भ्रम रज्जुरूप अधिष्ठान में होता है। यदि वहाँ रज्जु ही न होती तो इस प्रकार का भ्रम असम्भव था। अतः सिद्ध है कि निरधिष्ठान भ्रम कभी नहीं होता।[13] अतः इस प्रकार के अधिष्ठान के रूप में विज्ञान को स्वीकार करना अतीव आवश्यक है।

विज्ञानमात्रता के स्वरूप के बारे में विज्ञानवाद और अद्वैत वेदान्त की आपस में भिन्नता

इस प्रकार विज्ञानवाद तथा अद्वैत वेदान्त ऊपर कही कुछ परिस्थितियों में समानता रखते हुए भी आपस में पर्याप्त विभिन्नता रखते हैं। विज्ञानमात्रता के स्वरूप के सम्बन्ध में इन दोनों में पर्याप्त मतभेद हैं। यहाँ पर संक्षेप में दोनों सम्प्रदायों के सिद्धान्तों का विभेद प्रस्तुत है—

१. प्रथम मुख्य भिन्नता यह है कि बौद्ध-सम्मत विज्ञानवाद के द्वारा प्रस्तुत विज्ञान किसी परमार्थ दशा का नहीं, अपितु सामान्य लौकिक व्यवहारों के समय प्राणिमात्र का व्यवहार ही ज्ञान है। पर अद्वैत वेदान्त का विज्ञान ज्ञानस्वरूप है। इसमें अध्यस्त पदार्थ या अविद्या का यत्किंचित् भी सम्पर्क नहीं होता। इनके मत में लौकिक पदार्थों का ज्ञान तो अविद्या से अध्यस्त है, और इसलिये उसे परमार्थ तत्त्व का ज्ञान नहीं कहा जा सकता।

बौद्ध-सम्मत विज्ञानवाद के अनुसार प्राणी को होनेवाले प्रत्येक प्रकार के ज्ञान के साथ ज्ञेय का अभेद होता है। इस प्रकार ज्ञेय को ज्ञान से बाह्य अथवा भिन्न समझना भ्रम है। पर ये दोनों अभिन्न रूप से अर्थात् ज्ञानज्ञेयाभेद रूप से तो वर्तमान हैं ही। इस प्रकार ज्ञेय पदार्थ भ्रम नहीं है। अपितु उसकी केवल बाह्यता भ्रम है।

पर अद्वैत वेदान्त का कहना है कि ज्ञान के साथ ज्ञेय का अणुमात्र भी सम्पर्क नहीं होता। अतः इन दोनों के अभेद का प्रश्न ही नहीं होता। व्यवहार दशा में भी इस ज्ञान और ज्ञेय का अभेद नहीं होता। वह ज्ञान से पूर्णतः भिन्न रहकर भी भ्रमवश एकाकार प्रतीत होता है। इस प्रकार विज्ञानवाद में ज्ञान से ज्ञेय की बाह्यता भ्रम है। पर अद्वैत वेदान्त में ज्ञान और ज्ञेय की एकता या अभिन्नता ही भ्रम है। इस सिद्धान्त में व्यवहार दशा का जगत् तो पूर्ण रूपेण ज्ञान-निरपेक्ष एवं स्वतंत्र है। अर्थात् वृत्तिरूप ज्ञान के द्वारा जगत् का कोई पदार्थ बनने, बिगड़ने या परिवर्तित होनेवाला नहीं है।[14] पर विज्ञानवाद में जगत् का समस्त व्यवहार इसी लौकिक ज्ञान से परिचालित होता है। क्योंकि इस मत में ज्ञान से अभिन्नता

ही ज्ञेय है। अतः समस्त ज्ञेय पदार्थ ज्ञान के रहने तक ही अस्तित्व में रहते हैं, अन्यथा नहीं। [१५]

विज्ञानवाद तथा अद्वैत वेदान्त की विज्ञप्तिमात्रता के बारे में होनेवाली भूमिकाओं में इस प्रकार का यह अन्तर अतीव प्रमुख है। यह एक सबल विरोध-रेखा है जो बौद्धों के विज्ञानवाद को अद्वैत की चित्स्वरूपता से अलग करती है। भगवान् शंकराचार्य ने सबल शब्दों में बौद्धों की इस विज्ञप्तिमात्रता का विरोध किया है। उनका कहना है कि ज्ञान और ज्ञेय पदार्थ को एकाकार कहना उनके तुण्ड के निरंकुश होने के कारण है। पर वह युक्तियुक्त नहीं है। [१६] क्योंकि सामान्य व्यक्ति को 'स्तम्भ और कुड्य ही ज्ञान हैं' ऐसा प्रतीत नहीं होता। अपितु स्तम्भ का ज्ञान होता है। यहाँ भेदनिबन्धन षष्ठी का प्रयोग स्पष्ट ही इन दोनों की भिन्नता को प्रकट करता है। इस प्रकार इनके मत में केवल शुद्ध ज्ञानमात्र ज्ञेय से नितान्त असम्पृक्त ब्रह्म है। व्यवहार दशा में सत्, असत् तथा भेद-अभेद रूप से अनिर्वचनीय अध्यस्त बाह्य जगत् वर्तमान है। स्पष्ट है कि विज्ञानवाद का विज्ञान ज्ञानज्ञेयाभेद रूप है। पर अद्वैत वेदान्त का विज्ञान शुद्ध तथा केवल है।

२. विज्ञानवाद तथा अद्वैत वेदान्त में समान युक्तियों को प्रस्तुत करते हुए जो निष्कर्ष निकाले गये हैं वे भी भिन्न प्रकार के हैं। जैसे ऊपर कहा गया कि दोनों ने स्वप्न का उदाहरण प्रस्तुत किया है। पर विज्ञानवाद का इससे निष्कर्ष यह है कि पदार्थों की ज्ञान-बाह्यता मिथ्या है। इसमें उनका अनुमान यह है कि पदार्थ बाह्यतः अयथार्थ हैं, ज्ञान से सम्पृक्त होने के कारण, स्वप्न के समान। जिस प्रकार स्वप्न में पदार्थ बाह्यतया अयथार्थ हैं, उन्हें बाह्यरूपतया समझना भ्रम है, उसी प्रकार जगत् में भी वे अयथार्थ हैं।

पर अद्वैत में स्वप्न के उदाहरण से जाग्रत् दशा में पदार्थों की ज्ञान-बाह्यता को मिथ्या सिद्ध नहीं किया जा सकता। अपितु परमार्थ दशा की दृष्टि से अध्यस्त पदार्थों के ही मिथ्यात्व को सिद्ध किया जाता है। उनका कहना है कि जिस प्रकार स्वप्न में सभी पदार्थ मिथ्या होकर भी सत् प्रतीत होते हैं, उनका बाध जाग्रत् दशा के प्रत्यय से होता है, उसी प्रकार जाग्रत् के अध्यस्त पदार्थ भी मिथ्या हैं। उनका बाध ब्रह्मबोध होने पर होता है। जो जो पदार्थ कतिपय काल के लिये प्रतीत होकर बाद में अप्रतीत हों वे सभी भ्रमात्मक होते हैं। स्वप्नगत पदार्थ भी इसी प्रकार होने से भ्रम हैं।

स्वप्न से सम्बन्धित इस प्रकार की युक्ति अद्वैत वेदान्त तथा विज्ञानवाद में समान होने पर भी इसके निष्कर्ष के बारे में विरोध होने के कारण ही भगवान्

शंकराचार्य ने विज्ञानवाद के स्वप्न के उदाहरण को दूषित ठहराया है। उनका कहना है कि स्वप्न का मिथ्यात्व जाग्रत् में स्पष्ट है। क्योंकि सभी लोगों को जाग्रत् में यह अनुभव होता है कि स्वप्न में मूढतावश मैंने यह गलत बात देखी।[१९] जाग्रत् स्वप्न से उच्चतर स्थिति है। अतः जिस प्रकार जाग्रत् में स्वप्न का बाध होता है उसी प्रकार परमार्थ में अध्यस्त जाग्रत् का बाध हो सकता है। पर स्वप्नगत निम्न अवस्था के उदाहरण से जाग्रत् में ही जाग्रत् की बाह्यता का बाध नहीं हो सकता। अतः विज्ञानवाद में जाग्रत् में बाह्यता का निषेध करना ठीक नहीं है।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि इन दोनों सम्प्रदायों की विज्ञप्तिमात्रता के सम्बन्धी की भूमिका में एवं उसके अर्थ में पर्याप्त अन्तर है। संक्षेप में विज्ञानवाद का विज्ञान ज्ञान-ज्ञेयाभिन्न है जिसमें बाह्यता की प्रतीति स्वप्न के समान भ्रान्त है। पर अद्वैत वेदान्त का विज्ञान केवल मात्र शुद्ध ज्ञान है। व्यवहार दशा में ज्ञेयवृत्ति-रूप ज्ञान से पूर्ण निरपेक्ष है। परमार्थ दशा में स्वप्न के समान अध्यस्त जाग्रत् पदार्थ भी अलीक सिद्ध होते हैं।

— सुद्युम्नाचार्य

संस्कृत विभाग
मु. म. टाउन पोस्ट ग्रैज्युएट कॉलेज
बलिया– २७७००१
(उ, प्र.)

टिप्पणियाँ

१. विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्। विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, विज्ञानेन जातानि जीवन्ति, विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति– तैत्तिरीयोपनिषद् ३/५/१

२. मायावादं असच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमेव तु।
शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त को मायावादी नहीं का जा सकता।
कार्यकारी सम्पादक

३. ब्रह्मसूत्र २/२/१८ पर शांकरभाष्य.

४. तेनैवावयवेन तस्य क्रोडीकृतत्वात् कुतोऽवयवान्तरे वर्तितुमस्यावसरस्तदानीमेव स्यात्। अन्यथा हि यद्यन्यत्रापि वर्तेत; तदात्रभिमते द्रव्ये तस्य

वृत्ति: सर्वात्मना न भवेत्।
तत्त्वसंग्रह श्लोक १०७ पर पञ्जिका

५. तुलनीय—यथावयवश: समस्तेषु वर्तेत, तदाप्यारम्भकावयवव्यतिरेकेणाव-यविनोऽवयवा: कल्प्येरन्, अनवस्था चैवं प्रसज्येत, तेषु तेष्ववयवेषु वर्तयितुमन्येषामवयवानां कल्पनीयत्वात्।
ब्रह्मसूत्र २/१/१८ शांकरभाष्य

६. येनैकरूपेणैकाण्वभिमुखो मध्यवर्ती परमाणुस्तेनैवापरपरमाण्वभिमुखो यदि स्यात्, तदा परिवारकारणानामणूनामेकदेशत्वप्रसंगात् प्रचयो न स्यात्। अथान्येन रूपेणाभिमुख:, तदा दिग्भागभेदस्य विद्यमानत्वात् घटिकाव-देकत्वं न प्राप्नोति।

तत्त्वसंग्रह श्लोक १९९१ पर पञ्जिका

७. तुलनीय— सर्वात्मना चेद्दुमचयानुपपत्तेरणुमात्रत्वप्रसंगो दृष्टविपर्यय-प्रसंगश्च; प्रदेशवतो द्रव्यस्य प्रदेशवता द्रव्यान्तरेण संयोगस्य दृष्टत्वात्। एकदेशेन चेत् सावयवत्वप्रसंग:।

ब्रह्मसूत्र २/१/१२ पर शांकरभाष्य

८. स्वप्ने दृग्विषयाभावं नाप्रबुद्धोऽवगच्छति। विंशिका, १७.

९. यदि सत्यं भवेद्विश्वं सुषुप्तावुपलभ्यताम्।
यन्नोपलभ्यते किञ्चिदतोऽसत् स्वप्नवन्मृषा।। विवेकचूडामणी २३६.

१०. अप्रत्यक्षोपलम्भस्य नार्थदृष्टि: प्रसिद्ध्यति। धर्मकीर्ति

११. आगन्तुकं हि वस्तु निराक्रियते, न स्वरूपम्। य एव हि निराकर्ता तदेव तस्य स्वरूपम्। नहि अग्नेरौष्ण्यम् अग्निना निराक्रियते। ब्रह्मसूत्र २/३/७ पर शांकरभाष्य

१२. उपचारस्य च निराधारस्यासम्भवात् अवश्यं विज्ञानपरिणामो वस्तुतोऽस्तीत्यभ्युपगन्तव्यो यत्र आत्मधर्मोपचार: प्रवर्तते।
त्रिंशिका श्लोक १ पर स्थिरमति की टीका

१३. तुलनीय— सतोऽपि नामरूपे द्वे कल्पिता चेत्तदा वद।
कुत्रेति निरधिष्ठानो न भ्रम: क्वचिदिश्यते।।
पंचदशी, २ ३५
असतो निरात्मकस्य चाधिष्ठानायोगात्।

उपरिलिखित श्लोक पर रामकृष्णकृत व्याख्या

१४. न वस्तुयाथात्म्यज्ञानं पुरुषबुद्ध्यपेक्षम्। किं तर्हि? वस्तुतन्त्रमेव तत्।
ब्रह्मसूत्र १/१/२ पर शांकरभाष्य

१५. यथानुदर्शनं चेयं मेयमानफलस्थितिः ।
क्रियतेऽविद्यमानापि ग्राह्यग्राहकसंविदाम् ॥

धर्मकीर्ति– प्रमाणवार्तिक, २/३५७

तस्माद् ग्राह्यग्राहकसंविदां परमार्थतोऽविद्यमानोपि मेयमानफलस्थितिर्यथादर्शनं क्रियते ।

उक्त श्लोक पर मनोरथनन्दी वृत्ति

१६. बाढ़मेवं ब्रवीषि, निरंकुशत्वात्ते तुण्डस्य, न तु युक्त्युपेतं ब्रवीषि । ब्रह्मसूत्र २/२/२८ पर शांकरभाष्य

१७ यो यः प्रत्ययः स सर्वो बाह्यानालम्बनः, यथा स्वप्नमायादि प्रत्ययः । ब्रह्मसूत्र २/२/२८ शांकरभाष्य पर भामती

१८ आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा ।
वितथैः सदृशाः सन्तोऽवितथा इव लक्षिताः ॥

माण्डूक्यकारिका २/४

१९ न स्वप्नादि प्रत्ययवज्जाग्रत्प्रत्यया भवितुमर्हति, कस्मात् ?
वैधर्म्यात् । ब्रह्मसूत्र २/२/२९ पर शांकरभाष्य

विवेकानन्द का शिक्षा-दर्शन

प्रस्तुत लेख में विवेकानन्द के शिक्षा-दर्शन के बारे में कुछ पहलू पाठकों के सामने प्रस्तुत किये हैं।

शिक्षा सम्बन्धी अपने मौलिक एवं क्रान्तिकारी विचारों के लिए स्वामी विवेकानन्द सदैव सम्मान के साथ याद किये जाते रहेंगे। स्वामीजी के अनुसार साक्षरता को शिक्षा नहीं कहा जा सकता। शिक्षा का अर्थ है चरित्र निर्माण, मस्तिष्क का विकास, दूसरों की सेवा के लिए तत्पर एवं बौद्धिक विकास, जिससे शिक्षार्थी अपने पांवों पर खड़ा हो सके।[1] स्वामी जी वेद पर आधारित लोक-जीवन पर आग्रह करते थे। उन्होंने पाश्चात्य संस्कृति-विचार धारा तथा विज्ञान में सामंजस्य बिठाने का प्रयास किया। स्वामी जी सार्वजनिक शिक्षा, महिला शिक्षा, मातृभाषा के द्वारा शिक्षा तथा देववाणी संस्कृत के ज्ञान के प्रबल समर्थक थे।[2] स्वामी जी के अनुसार प्रकृतिदत्त क्षमताओं एवं शक्तियों के साथ बालक जन्म लेता है, प्रत्येक प्राणी में दैहिक सम्भावनाएँ बौद्धिक शक्ति विद्यमान रहती है। इन क्षमताओं एवं शक्तियों की अभिव्यक्ति ही शिक्षा है। शिक्षक कुछ नहीं करता है—बालक में क्षमताएँ एवं शक्तियाँ निहित हैं, उनको विकसित करने में वह बालक की सहायता करता है। सूचनाएँ प्राप्त करना या देना शिक्षा नहीं है। शिक्षा तो वह साधन है जिससे बालक अपनी पाशविक शक्तियों पर नियन्त्रण करना सीखता है। उसके सोचने विचारने का क्षेत्र विस्तृत होता है, वह बड़े स्वार्थ के लिये छोटे स्वार्थ का त्याग करना सीखता है। शिक्षा का आधार उन्होंने बताया—जन्म से ही मातृभूमि के लिये समर्पित होना। ऐसी शिक्षा से ही समाज सम्मत लक्षणों एवं गुणों का बालक में विकास किया जाना चाहिए। ऐसी ही शिक्षा बालक को विश्वनागरिकता के लिये तैयार करती है। आज चारों ओर यह आवाज ज़ोर पकड़ रही है कि शिक्षा को रोजगार से जोड़ा जाय। स्वामी विवेकानन्द भी इसी प्रकार की शिक्षा में विश्वास करते थे। भारतवासियों के लिये वे ऐसी शिक्षा के प्रबल समर्थक थे जो उनकी उदरपूर्ति का साधन सुलभ कर

सके। इसके लिये वे प्राविधिक शिक्षा के पक्षधर थे। [3] उन्होंने दृढता से कहा कि ऐसी शिक्षा जो सामयिक आवश्यकताओं की पूर्ति में मदद नहीं करती, किसी भी रूप में नहीं दी जानी चाहिए।

आज चारों ओर अव्यवस्था फैली हुई है, जनजीवन सुरक्षित नहीं हैं, रेल में यात्रा करते डर लगता है, महानगरों में निर्जन स्थानों पर हत्यायें की जाती हैं, कार्यालयों में कार्य समय पर नहीं निपटाए जाते, विद्यार्थियों की माँगें समय पर नहीं मानी जाती, प्रवेश में अनियमितताएँ होती हैं। इन स्थितियों में युवावर्ग की महत्त्वपूर्ण भूमिका हो सकती है। छुआछूत के कारण कक्षा की रचना-संगुथन या संसक्ति (cohesion) उत्साहवर्द्धक नहीं कहा जा सकता जिससे उपयुक्त स्तर का अधिगम नहीं होता। ऐसे में सभी भारतवासी भाई भाई हैं–चाहे वह ब्राह्मण हो या क्षत्रिय, विवेकानन्द के इस कथन का कितना अधिक महत्त्व बढ़ जाता है? नीच, मूर्ख, दरिद्र, अज्ञ, चमार, भंगी आदि सब में भाई के दर्शन करना, साहस एवं गर्व से कहना कि मैं भारतवासी हूँ, प्रत्येक भारतीय मेरा है, मेरे प्राण है दरिद्र भारतवासी, ब्राह्मण भारतवासी, चाण्डाल भारतवासी। भारत भूमि मेरा स्वर्ग है, भारत का कल्याण मेरा कल्याण है। हे प्रभू! मुझे सच्चा मनुष्य बनाओ। जो शिक्षा विद्यार्थी में आत्मविश्वास पैदा नहीं करती, उसके मौलिक विचारों को प्रेरित नहीं करती, उसमें राष्ट्रीय भावात्मक एकता के बीज प्रस्फुटित नहीं करती, वह सही अर्थों में शिक्षा ही नहीं है।

शिक्षा और धर्म

स्वामी जी के अनुसार धर्म शिक्षा की रीढ़ की हड्डी है अर्थात् धर्म को शिक्षा की आत्मा कहा जा सकता सकता है। उनके अनुसार शिक्षित व्यक्ति ही धर्म-सम्मत आचरण करता है, यही आत्म-साक्षात्कार का सर्वश्रेष्ठ साधन है। इस रूप में धर्म रूढ़ अर्थ में न होकर विस्तृत अर्थ में लिया गया है। [४] वहाँ 'धर्मो धारयति' से आशय है। ग्यारह सितम्बर १८९३ को उन्होंने सर्वधर्म समन्वय सभा के अवसर पर शिकागो में स्पष्ट किया था कि सभी धर्मों का उद्गम एक ही है। धर्म का स्थान बताते हुए उन्होंने स्पष्ट कहा है कि विश्व की महान् विभूतियों के प्रति श्रद्धा तथा आदर विकसित करना धर्म के अन्तर्गत माना जा सकता है। ऐसी महान् विभूतियों में सम्मिलित किये जाने चाहिए–राम, कृष्ण, हनुमान, महात्मा ईसा, महावीर, जरथुष्ट आदि। इन महापुरुषों के त्याग, बलिदान, वीरता, आत्म-विश्वास के उद्धरण बालकों में नवजीवन का संचार कर सकते हैं तथा दुर्बलता व निराशा से पीछ छुड़ा सकते हैं। शान्ति ही जीवन है तथा दुर्बलता ही मृत्यु। इसी

भांति प्रेम ही जीवन है तथा घृणा ही मृत्यु। मूलत: आग्रह यह है कि पवित्र बनो तथा दिव्य आनन्द का उपयोग करो। उपनिषदों को उन्होंने शक्ति का स्रोत माना है। उनके अनुसार उपनिषदों पर गम्भीर बौद्धिक चिन्तन विश्व के समस्त सम्प्रदायों, दुर्बलों, दीनों, पददलितों, तथा दु:खियों का कल्याण कर सकता है।[५] शिक्षा को धर्म पर आधारित करने का आशय है– आत्मविश्वास, श्रद्धा, विश्वबन्धुत्व, सहिष्णुता, अपने सुख में दूसरों को सम्भागी बनाने की प्रवृत्ति का विकास करना।

चरित्र निर्माण के लिए शिक्षा

समस्त शिक्षा का लक्ष्य ही पूर्ण मानव का निर्माण करना है। मानव जीवन में चरित्र इतना अधिक महत्त्वपूर्ण पहलू है कि स्वामी जी ने शिक्षा के कई उद्देश्यों में से एक उद्देश्य चरित्र निर्माण भी माना है। चरित्र का गुणवत्तात्मक सुधार ही शिक्षा है। मानव चरित्र न केवल एक व्यक्ति के लिये महत्त्वपूर्ण है बल्कि वह सम्पर्क में आने वाले साथियों को प्रभावित करने की दृष्टी से भी महत्त्वपूर्ण है। यही कारण है कि शिक्षा में चरित्र का महत्त्वपूर्ण स्थान है। मनुष्य का चरित्र उसके स्वयं की विचार धारा तथा वातावरण (जिसमें वह रहता है) से प्रभावित होता है। अत: किसी भी प्रकार का विचार ग्रहण करने के पूर्व उसके पक्ष-विपक्ष, अच्छे बुरे फलितार्थ पर विचार कर लेना चाहिए। इस प्रकार किसी के चरित्र को समझने के लिए उसकी विचार-धारा, चिन्तन प्रणाली तथा उसके वातावरण को समझना जरूरी है।[६] शिक्षा बालकों को कठिन परिस्थितियों में, संघर्षों में न घबरानेवाला बनाये। वह सत्पथ पर चलता रहे। क्योंकि स्वामी जी का मानना है कि संघर्ष न झेल कर आनन्द मनाने वाले व्यक्ति की अपेक्षा आपत्तियों, कठिनाइयों, समस्याओं, प्रतिकूल विचारों से गुजरने वाले व्यक्ति का चरित्र कहीं अधिक उज्वल होता है।[७]

शिक्षा का सार्वजनिनीकरण

आज चारों ओर अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा की बात की जा रही है। काम्प्रीहेन्सिव एक्सेस टु प्राइमरी एज्युकेशन (CAPE) इसी दिशा में एक कदम है। जनसाधारण साक्षर हो, स्वामी जी ने इस बात की आवश्यकता बहुत पहले ही अनुभव कर ली थी। स्वामी जी को देश के विशाल जनसमूह को निरक्षर देख कर बड़ी पीड़ा हुई थी। उनका विश्वास था कि देश की अधिकांश जनता की उपेक्षा करके देश प्रगति के मार्ग पर नहीं चल सकता। वे महात्मा बुद्ध के उपदेश

दोहराया करते थे कि जन साधारण के साथ दया, प्रेम सहानुभूति का व्यवहार करो तथा उनमें ज्ञान का प्रकाश फैलाओ। वे सभी धर्मों का सार यह मानते थे कि मानवता का आदर करो, गिरे हुए लोगों को आगे बढ़ने का अवसर दो, उनमें शिक्षा रूपी प्रकाश फैलाओ।

जन-साधारण में जागृति लाने के लिये उनके जीवन स्तर को ऊँचा उठाने वाले दैनिक व्यवहार, विज्ञान, तथा समाज विज्ञानों का ज्ञान बार-बार उन्हें दिया जाना चाहिए। अधिक शिक्षित लोग देश की प्रगतिशीलता का सूचक है। जन साधारण को शिक्षित करने की बात उनकी अपनी जबानी में करनी चाहिए जिससे वे सरलता से समझ सकें। उनके सामने विचारों को रक्खो, वे जानकारी प्राप्त कर लेंगे–परन्तु कुछ और भी जरूरी है। उन्हें संस्कृति दो, अन्यथा उनकी उन्नत दशा स्थायित्व प्राप्त नहीं कर पायेगी। अन्य भाषाओं की अपनी सीमाएँ हैं। वे तुलनात्मक रूप से कम लाभ पहुँचाएँगी। उनके अनुसार गिरे हुए पतित लोगों की शिक्षा किसी भी शिक्षा योजना में प्राथमिकता के रूप में स्थान पानी चाहिए। वे भारत के जन जन में, फिर चाहे वह ब्राह्मण हो या शूद्र, भारत के दर्शन करते थे। शिक्षा के प्रति स्वामी जी की पीड़ा देखिये–" जब तक करोड़ों भारतवासी अशिक्षा के अंधकार में जीवन बिता रहे हैं तब तक मैं उस प्रत्येक नागरिक को देशद्रोही मानता हूँ जो उनके द्वारा चुकाये कर रूपी धन से शिक्षित हुआ है तथा अब उनकी ओर लापरवाह हो गया है। निम्न वर्ग के लोगों में उनके खोये हुए–पतित व्यक्तित्त्व के विकास हेतु शिक्षा देना ही मानवता की सच्ची सेवा है।"[८] जन जन तक शिक्षा पहुचाने के लिए वे कितने अधीर एव उत्सुक थे ? इस महान् यज्ञ में उन्होंने साधु महात्माओं को भी आवाहन किया था। देखिए– "यदि दरिद्र बालक शिक्षा लेने नहीं आ सकता तो शिक्षा को ही उसके पास पहुँचना चाहिए। हमारे देश में सहस्त्रों निष्ठावान् निःस्वार्थी संन्यासी हैं जो एक गाँव से दूसरे गाँव में धर्मोपदेश करते फिरते हैं। यदि उनमें से कुछ को मौलिक या भौतिक विषयों के शिक्षक के रूप में भी संगठित किया जा सके तो वे एक स्थान से दूसरे स्थान को, एक द्वार से दूसरे द्वार को, न केवल धर्मोपदेश करते हुए, अपितु शिक्षा का कार्य भी करते हुए जायेंगे। मानलो, इनमें से दो मनुष्य संध्या के समय किसी गाँव में अपने साथ मॅजिक लैटर्न, दुनिया का ग्लोब तथा कुछ नक्शे आदि लेकर गये, तो वे अनजाने में भी मनुष्यों को बहुत कुछ ज्योतिष तथा भूगोल सिखा सकते हैं। भिन्न-भिन्न देशों की कहानियाँ बताकर वे उन दरिद्रों को कानों के द्वारा उससे कहीं सौ गुनी अधिक जानकारी करा सकते हैं जो जन्म भर में पुस्तकों के द्वारा भी कठिनाई से प्राप्त होती है।"[९]

पाठ्यक्रम

शिक्षा समाप्ति पर बालक को समाज में समज्जन करना है। अत: सामाजिक समंजन में सहायता वाले प्रत्येक पहलू को स्वामी जी पाठचक्रम में जुड़वाना चाहते हैं। पाठचक्रम में, स्वामी जी, बिना किसी तर्क के ब्रह्मचर्य का अभ्यास भी जुड़वाना चाहते हैं। ब्रह्मचर्य से सभी प्रकार का ज्ञान कम प्रयत्नों से कम समय में प्राप्त किया जा सकता है। ऐसा ज्ञान स्थायी होता है तथा अधिक समय तक भूला भी नहीं जाता है। यहाँ स्पष्ट रूप से समझ लिया जाना चाहिए कि ब्रह्मचर्य का बड़ा व्यापक अर्थ है तथा भौतिक सुखों का त्याग ही ब्रह्मचर्य नहीं है। ब्रह्मचर्य हेतु उत्तेजक पदार्थ, विचार एवं संगीत आदि से बचना चाहिए।[१०] उनका कहना है कि ब्रह्मचर्य के प्रताप से ही हनुमान पर्वत को उठा सके, लक्ष्मण ने मेघनाद का वध किया, भीष्म पितामह ने मृत्यु को जीता। पूर्ण ब्रह्मचर्य के अभ्यास से ही श्रद्धा तथा विश्वास का जन्म होता है जो शिक्षार्थियों को आत्म साक्षात्कार जैसे उद्देश्य की प्राप्ति की ओर अग्रसर करता है। इस दृष्टिकोण से शिक्षित बालक अपनी, अपने समाज की तथा राष्ट्र की ही नहीं वरन् समस्त विश्व की उन्नति के लिए उद्यत होंगे। प्राचीन समय में शिक्षार्थी के लिए व्यक्तिगत शुद्धता तथा मानसिक संतुलन अपरिहार्य थे जो मन की एकाग्रता में उसको सहायता देते थे। कोई आश्चर्य नहीं कि यदि उस वक्त पवित्रता के साथ ही आध्यात्मिक शक्ति के विचार का बोलबाला रहा हो। प्रगतिशील वैज्ञानिक युग में वे विज्ञान तथा विदेशी भाषाओं की शिक्षा के प्रबल समर्थक थे।[११] शिक्षित बेरोजगारी की समस्या से मुक्ति पाने के लिए उन्होंने तकनीकी शिक्षा पर जोर दिया। स्वामी जी शिक्षा के उस पहलू से अत्यधिक प्रभावित थे जो बालक को कुछ सृजनात्मकता की ओर मोड़े, स्वावलम्बी बनाए तथा दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए दूसरों की सहायता की प्रतीक्षा न करे।[१२] इस प्रकार शिक्षा के पाठ्यक्रम में स्वामी जी ने गृह उद्योगों को भी स्थान दिया और स्पष्ट है कि स्वामी जी के विचार पाठचक्रम के सम्बन्ध में अत्यन्त व्यावहारिक थे।

अध्यापन पद्धति

अध्यापन पद्धति पर विचार करते समय लगता है, स्वामी जी ने सर्वाधिक ध्यान एकाग्रता पर दिया है। उच्चतम एकाग्रता का अभ्यासी मनुष्य ही विश्व के गहनतम रहस्य को खोज सकता है। दैनन्दिन जीवनकार्य व्यवहार में भूलें करने का एकमात्र कारण ही, स्वामी जी के अनुसार, मानव मन का एकाग्र न होना है।

ध्यान की एकाग्रता ही ज्ञान प्राप्ति का सर्वोत्तम साधन है। ऐसा होने पर ही भयंकर भूलों से बचा जा सकता है। इसके प्रमाण स्वरूप वे कहते हैं कि हिन्दुओं ने अन्तर्जगत् पर, आत्मा की अदृश्य प्रकृति पर अपने चित्त को एकाग्र करके योग-शास्त्र की उन्नति की।[१३]

एकाग्रता के वे दो भेद बताते हैं। प्रथम के अनुसार एकाग्रता का अभ्यासी व्यक्ति किसी समस्या का जब तक निराकरण नहीं ढूंढ लेता तब तक वह अन्य समस्या पर विचार ही नहीं करता है। ऐसे व्यक्ति अपने सभी प्रयत्न इच्छित लक्ष्य पर ही केन्द्रित करते हैं, उन्हें किसी अन्य प्रकार की चिन्ता नहीं होती। रात दिन उसी का हल सोचने में लगे रहते हैं। इस वर्ग में विश्व के ख्याति प्राप्त दार्शनिक व वैज्ञानिक आते हैं। दूसरे प्रकार की एकाग्रता के अनुसार मनुष्य अपने छोटे एवं निजी स्वार्थों से ऊपर उठकर सार्वजनिक कल्याण की ओर एकाग्रता से अग्रसर होते हैं। महात्मा बुद्ध, शंकराचार्य आदि को इसी श्रेणी में रखा जा सकता है।

एक ही विषय पर मानव मन को एकाग्र करना कठिन है। पर स्वामीजी ने इसका भी मार्ग बताया है। उनके अनुसार किसी एक विषय पर मन को स्थिर करने के साथ ही मन को अन्य बातों से अलग निर्लिप्त रखने का यत्न करना सिखाना चाहिए। इस दृष्टि से आज की शिक्षा में कितना कुछ किया जा सकता है?

स्वामी जी के अनुसार विद्याप्राप्ति का अर्थ है गुरुगृह निवास।[१४] प्रारम्भ से ही शिष्य को चारित्र्यवान् गुरु के साथ रहना चाहिए जिससे छात्र का आचार व्यवहार गुरु के प्रज्वलित चरित्र से निर्देशित हो। गुरु को पात्र विद्यार्थियों को खुले हाथ वे ज्ञान एवं विद्यादान करना चाहिए।

अध्यापक-विद्यार्थी सम्बन्ध

स्वामी जी ने अपने प्रवचनों में शिक्षा की गुरुकुल पद्धति पर आग्रह किया है। इस पद्धति में विद्यार्थी को गुरु से निकट सम्पर्क का लाभ मिलता है अध्यापक का सान्निध्य मिलता है। निकट सम्बन्धों से कोई संकटों एवं अप्रिम घट-नाओं से स्वतः ही मुक्ति मिल जाती है। विद्यार्थियों के कोमल दिमाग पर उनके अध्यापक के स्वभाव, रहन-सहन, व्यवहार एवं सोचने विचारने का प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। प्राचीन काल में शिक्षा प्राप्ति के लिए किसी प्रकार का शुल्क नहीं देना पड़ता था—उनका विश्वास था कि ज्ञान इतनी पवित्र तथा बहुमूल्य वस्तु है कि उसकी कीमत आंकी ही नहीं जा सकती। स्वामी जी का कहना है

कि जब तक शिक्षार्थी में आशा, विश्वास, विनम्रता, श्रद्धा, आदर का विकास नहीं हो जाता, गुरु उसको सही अर्थों में शिक्षा नहीं दे सकता।[१५] शिक्षक को विद्यार्थियों के मानसिक स्तर पर उतर कर शिक्षा देनी चाहिए। उन्होंने विद्यार्थियों में एकाग्रता, ज्ञान प्राप्ति की ललक, जिज्ञासा, निरन्तर संघर्ष करने की क्षमता तथा परिश्रमी बनने की आवश्यकता प्रतिपादित की। विद्यार्थियों की क्षमताओं के अनुरूप ही अध्यापक को शिक्षा देनी चाहिए जिससे बालक की प्रकृतिदत्त क्षमताओं को अधिकतम प्रकाश में लाया जा सके, अभिव्यक्ति दी जा सके।[१६] अधिगम के मार्ग में आने वाली विद्यार्थी या बालक की बाधओं को दूर करना ही अध्यापक का प्रथम कर्तव्य है। स्वामी जी का आग्रह है कि मानव सेवा ही प्रभु सेवा है एवं कर्तव्य परायणता ईश्वर की पूजा स्तुति एवं आराधना है। बालक में वह आत्मविश्वास का विकास करे तथा शिक्षार्थी को स्वावलम्बन की ओर बढ़ाये। शास्त्रों का मर्मज्ञ अध्यापक ही बालकों को वास्तविक ज्ञान दे सकता है। उसे अपने विद्यार्थियों के यति प्रगाढ़ एवं असीभित प्रेम प्रदर्शित करना चाहिए। मानव प्रेम की भावना से ओत-प्रोत अध्यापक ही अपने विद्यर्थियों के प्रति सहिष्णु बन सकता है, सहानुभूति का संचार कर सकता है। छात्रों पर उनके प्रेमसे बढ़कर आध्यात्मिक प्रभाव डालने वाला अन्य कोई तत्त्व नहीं है। अध्यापकों को मन, वचन एवं कर्म से शुद्ध रह कर सत्य का अनुगामी बनाना चाहिए, उनमें ज्ञान प्राप्ति की-सीखते रहने की—निरन्तर लगन होनी चाहिए। जिस प्रकार माली अपने बगीचे के पौधों की प्रगति में सहायक मात्र होता है ठीक उसी रूप में अध्यापक एवं माता पिता केवल उचित आवश्यक वातावरण का आयोजन कर उसकी प्रगति में मार्गदर्शन, निरीक्षण एवं निर्देशन कर सहायता करते हैं। बालक को अपनी अपरिमित प्रवृत्तियों की सन्तुष्टि के अवसर मिलना चाहिए, बालकों की क्या मनोवैज्ञानिक आवश्यकताएं हैं, उसकी पूर्ति होती रहनी चाहिए। शिक्षक या माता पिता अपनी भावनायें विद्यार्थियों पर न थोपे, इससे लाभ के स्थान पर हानि ही होने की सम्भावना रहती है। यहाँ विवेकानन्द गीता के शिक्षादर्शन के बहुत निकट पहुंच जाते हैं जब वे प्रतिपादित करते हैं कि विद्यार्थी के जिज्ञासु बनने पर ही, उसमें सीखने की गाढी ललक उत्पन्न होने पर ही, अध्यापक उसे शिक्षा दे।[१७] बालक भगवान की प्रतिरूप है अतः माता पिता, संरक्षकों, अभिभावकों एवं शिक्षकों को बालक का मागदर्शन कर उसे ईश्वर सेवा का रूप मान कर प्रसन्नता अनुभव करनी चाहिए।[१८]

महिला शिक्षा

जहाँ तक महिला शिक्षा का सम्बन्ध है स्वामी जी ने इस संबंध में मनु के विचार को आदर्श माना है। मनु के अनुसार–

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता:।

अर्थात् जहाँ महिलाओं का सम्मान होता है, देवता भी वहीं निवास करते हैं। अन्यथा स्थिति में सारे प्रयत्न तथा कार्य व्यर्थ होते हैं। स्वामी जी एक कदम और आगे बढ़ कर कहते हैं कि उस परिवार या देश का उत्थान नहीं हो सकता, जहाँ महिलायें दुःखी रहती हैं।[१९] उनका मानना था कि प्रत्येक जीव में आत्मा निवास करती है, अतः स्त्रियों को भी हेय दृष्टि से कदापि नहीं देखा जाना चाहिए।[२०] स्त्री-पुरुष में शारीरिक भेद होते हुए भी कई समानताएँ हैं। संयम तथा पवित्रता महिलाओं के आचरण का भूषण है। एक विदुषी महिला से आने वाली कई पीढ़ियाँ प्रेरणा लेती रहेंगी, उनकी सन्तानें उनसे प्रेरणा लेकर देश को प्रगति के मार्ग पर अग्रसर करेंगी। महिला शिक्षा के पाठ्यक्रम में विज्ञान, गृह सज्जा एवं गृह कला, स्वास्थ-रक्षा, शिशु पालन, बाल मनोविज्ञान एवं धर्म-शास्त्र आदि को प्रमुखता से स्थान दिया जाना चाहिए। इसके साथ ही उन्हें जपतप, पूजापाठ, स्तुति, आराधना, विनय, सहकार, स्वावलंबन, सहिष्णुता की भी शिक्षा देनी चाहिए। उन्हें बताया जाना चाहिए कि पुत्र तथा पुत्री के लालन पालन एवं शिक्षा-दीक्षा में भेदभाव निरर्थक है।

महिलायें भयंकर परिस्थितियों में भी या असमंजस की स्थितियों में भी अपने कर्तव्य पथ से विचलित न हों-उनकी शिक्षा में इस बात की पूरी व्यवस्था होनी चाहिए। वे इतनी दृढ़ विचारों वाली हों कि अपना मार्ग छोड़ देने की अपेक्षा वे मृत्यु को स्वीकार कर लें। प्रयत्न यह हो कि वे पुरुषों पर आश्रित न रहें।[२१] स्वामी जी का आग्रह था कि महिलाओं का एक ऐसा दल तयार हो जो विदेशों में जाकर वेद, गीता, रामायण, उपनिषद् एवं पुराण आदि का प्रचार करे तथा संदेश दे।

स्वामी विवेकानन्द के शैक्षिक विचारों की समालोचना

स्वामी जी के शिक्षा संबंधी विचार आज के सन्दर्भ में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं। कक्षा-कक्ष में दी जाने वाली सूचनाएँ शिक्षा नहीं है, शिक्षा तो चरित्र निर्माण की एक कुंजी है। उनके शिक्षा-दर्शन में अध्यापन प्रक्रिया के निहितार्थ भी ढूंढ़े जा सकते हैं। शिक्षा ही एक मात्र वह साधन है जिससे बालक में उपलब्ध

शक्तियाँ एवं क्षमताएं प्रस्फुटित होती हैं। उनका सर्वाधिक आग्रह मन की एकाग्रता पर है। उन्होंने विदेशी भाषाओं का अध्ययन वांछनीय तो बताया पर इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि भारतीय साहित्य गौण है। उन्होंने पात्र विद्यार्थी को सीखने के लिए जिज्ञासु होने पर ही शिक्षा देने का संकेत किया है। अध्यापक के प्रति विनय, श्रद्धा, आदर, विश्वास आदि का शिष्य में होना जैसा आवश्यक है उसी तरह अध्यापक के लिये शिष्य का विकास सर्वोपरि लक्ष्य है। शिक्षा के सार्वभौमीकरण के लिये भी उन्होंने मौलिक विचार प्रस्तुत किये हैं जिनसे पर्याप्त लाभ उठाया जा सकता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि स्वामी जी ने मानव कल्याण के लिए गम्भीर विवेचना की है। भारत के सम्मान तथा जन कल्याण के लिये स्वामी जी ने जो भी योगदान दिया है उस पर न केवल भारत को ही वरन् विश्व को गौरव है। विश्व के भिन्न भिन्न भागों में बसे लोग विवेकानन्द के विचारों को पढ़ते हैं, अनुशीलन करते हैं तथा मानसिक शांति पाते हैं। सच तो यह है कि स्वामी विवेकानन्द विश्व में भारत के आध्यात्मिक राजदूत थे।

राजकीय टीचर्स ट्रेनिंग कॉलेज, — जमनालाल बायती
बीकानेर (राज.) ३३४००१

टिप्पणियाँ

1. *The Complete Works of Swami Vivekanand*, Calcutta, Advaita Ashrama, 4 Wellington Road 1963. Vol. V, p. 257.
2. *Ibid*, Vol. III, p. 190
3. *Ibid*, Vol V, p. 282.
4. *Ibid*, Vol. VII, p. 115.
5. *Ibid*, Vol. VII, p. 239
6. *Ibid*, Vol. I, p. 207.
7. *Ibid*, Vol. IV, p. 490.
8. *Ibid*, Vol. V, p. 152.
9. *Ibid*, Vol. III, p. 309,
10. *Ibid*, Vol. V, p. 225.

11. T. S. Avinash Lingham; (Ed.) *Education*, Calcutta : Advaita Ashram, 4 Wellington Road 1963 p. 7
12. *Op cit, Complete Works*, Vol VII, p. 146
13. *Ibid*, Vol. V, p. 153
14. *Ibid*, Vol. V, p. 153
15. *Ibid*, Vol. III, p. 48
16. *Ibid*, Vol. VII, p. 96
17. Jamnalal Bayti (Dr.) "The Indian Concept of a Teacher," *The Educational Review*, Vol. 83 No. 6, Juue 1977, p. 103
18. *Op Cit, Complete Works*, Vol. V, p. 282
19. *Ibid*, Vol. VII, p. 213
20. *Ibid*, p. 212
21. Swami Vivekanand, *Our Women*, Calcutta : Advaita Ashrama, 4, Wellington Road, 1963, p. 42

तन्त्रदर्शन– एक सामान्य परिचय

भारतीय धर्म एवं दर्शन में यदि किसी विचार-धारा के प्रति सबसे अधिक भ्रान्ति उत्पन्न हुई है तो वह तन्त्र सम्प्रदाय है, जिसका नाम सुनकर प्रायः मनुष्य नाक भौंह सिकोड़ने लगते हैं। इसका मुख्य कारण तन्त्र की आचार पद्धति है जिसके द्वारा वह खुले रूप में मदिरा, मास आदि का प्रयोग करते हैं। लेकिन यह घृणा तन्त्र के रहस्य को न जानने कारण है। प्रस्तुत लेख में तन्त्र-दर्शन, विशेषतः शाक्त सम्प्रदाय, के उद्भव एवं आचार पद्धति पर संक्षिप्त प्रकाश डालते हुये उसकी महत्ता को समझने का प्रयास किया गया है।

तन्त्र शब्द की व्युत्पति 'तन्' धातू से औणादिक ष्टन् के योग से हुई है। अतः तन्त्र का अर्थ वह शास्त्र है जिसके द्वारा ज्ञान का विस्तार किया जाता है और जो साधकों का त्राण करता है। 'तन्यते विस्तार्यते ज्ञानेन इति तन्त्रम्'।[1] तन्त्र का व्यापक अर्थशास्त्र, सिद्धान्त, अनुष्ठान, विज्ञान विषयक आदि ग्रन्थ हैं। शंकराचार्य ने सांख्य को 'तन्त्र' के नाम से अभिहित किया,[2] तथा महाभारत में न्याय, धर्मशास्त्र, योगशास्त्र आदि के लिये 'तन्त्र' शब्द का प्रयोग हुआ है। परंतु यहाँ पर तन्त्र का अर्थ उन धार्मिक ग्रन्थों से है जो तन्त्र मन्त्रादि से युक्त विशेष साधन मार्ग का उपदेश देते हैं। तन्त्र का दूसरा नाम आगम है। जिसके द्वारा भोग और मोक्ष के उपाय बुद्धि में आते हैं। कर्म, उपासना और ज्ञान के स्वरूप को निगम कहा जाता है तथा इनके साधन-भूत उपायों को आगम या तन्त्र कहते हैं।

तन्त्र की विशेषता क्रिया है। वैदिक ग्रन्थों में वर्णित 'ज्ञान' का क्रियात्मक रूप तन्त्र का मुख्य विषय है। शुद्धि और अशुद्धि के विचार से ही मानवों के कल्याण के लिये भगवान् शंकर ने पार्वती को तन्त्र का उपदेश दिया था। इस प्रकार शंकर के पांच मुखों से २८ तन्त्रों का प्रादुर्भाव हुआ। सद्योजात नामक मुख से कामिज, योगज, चित्य, कारण और अजित; वामदेव मुख से दीप्ति, सूक्ष्म,

सहस्त्र, अंशमान्, सुप्रभेद; अघोर मुख से विजय, निश्वास, स्वाम्भुव, अनल, वीर; तत्पुरुष मुख से रौरव व मुकुट, विमल, चन्द्र, ज्ञान और बिम्ब; ईशान मुख से प्रादगीत, ललित, सिद्ध, सन्तान, सर्वोत्तर, परमेश्वर किरण और वातुल तन्त्र निःसृत हुये।[3] इन तन्त्रों के अनुसार पूजा विधान से मानवों को सिद्धि प्राप्त होती है।[4]

बाराही तन्त्र के अनुसार, सृष्टि प्रलय देवता अर्चना साधन, पुरश्चरण; शान्ति वशीकरण, स्तम्भन, विद्वेषण, उच्चारण तथा मारण आदि कर्मों से युक्त ग्रन्थों को तन्त्र कहा जाता है। तन्त्रों के मुख्यतः तीन भाग हैं:–

ब्राह्मण तन्त्र, बौद्ध तन्त्र और जैन तन्त्र।

ब्राह्मण तन्त्र भी उपास्य देवता की भिन्नता के कारण तीन प्रकार के होते हैं: वैष्णव तन्त्र, शैव तन्त्र और शाक्त तन्त्र। इनमें क्रमशः विष्णु, शिव तथा शक्ति की परादेवता के रूप में उपासना निहित है। दार्शनिक सिद्धान्त के विभेद से तन्त्र भी द्वैत, अद्वैत और द्वैताद्वैत भेद से युक्त हैं। वैष्णव तन्त्र में परब्रह्म अद्वितीय, दुःख रहित, निस्सीम सुखानुभव रूप अनादि अनुभव है। वह देश काल से अनवच्छिन्न, नित्य तथा व्यापक है। षाड्गुण्य ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य, बल, वीर्य और तेज के योग से वह भगवान् तथा समस्त आत्माओं से श्रेष्ठ होने से परमात्मा है। यह जगत् भगवान् की लीला का विलास है। जीव स्वभावतः सर्व-शक्तिशाली, व्यापक तथा सर्वज्ञ तो है, परन्तु सृष्टि काल में भगवान् की तिरोधान शक्ति जीव के विभुत्व, सर्वशक्तित्व और सर्वज्ञत्व का तिरोधान कर देती है, जिससे जीव विभिन्न योनियों में जन्म लेता है। जीव का मुख्य लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति है जिसके लिये वह भगवान् की भक्ति करता है। वैष्णव तन्त्र में मोक्ष का एक मात्र साधन भक्ति है। इस प्रकार वैष्णव तन्त्र पूर्णतः द्वैतवादी है।

शैव तन्त्र में शिव सच्चिदानन्द रूप, सत्य, नित्य एवं परम तत्त्व है। पर शिव में अविनाभाव सम्बन्ध से विद्यमान विमर्श शक्ति का स्फुरण ही तत्त्व रूप से परिणत होता है। ये तत्त्व ३६ प्रकार के हैं। जब पर शिव ज्ञान शक्ति से एकाकार होता है तब उसे शिव तत्त्व और जब क्रिया शक्ति से युक्त होता है तो उसे शक्ति कहते हैं। शैव सिद्धान्त दार्शनिक दृष्टि से भेद प्रधान है। इसके अनुसार शिव, शक्ति और बिन्दु यह तीन रत्न हैं। यही रत्न समस्त तत्त्वों के अधिष्ठाता हैं और उपादान रूप हैं। जगत् के कर्ता शिव, करण शक्ति तथा बिन्दु महामाया है। शक्ति रूप महामाया का सम्बन्ध पर शिव से तादात्म्य रूप है। शक्ति शिव की स्वरूप शक्ति है। यही शक्ति, जिसके शब्द ब्रह्म, कुण्डलिनी, विद्याशक्ति और व्योम आदि नाम हैं, क्षोभ रूप में परिणत होकर जगत् की सृष्टि करती है। इस

रत्नत्रय को प्रतीक या पारिभाषिक रूप में, पशु, पति और पाश कहा जाता है। पति स्वतन्त्र, सर्वज्ञ, नित्य, व्यापक पर शिव है, अणु परिच्छिन्न रूप तथा सीमित शक्ति से समन्वित क्षेत्रज्ञ जीव पशु है। और पाश बन्धन है, जिसके द्वारा शिवांश होने पर भी जीवों को पशुत्व की प्राप्ति होती है। पाश से मुक्ति का तान्त्रिक साधन एकमात्र क्रिया है जिसे तान्त्रिक भाषा में शक्तिपात कहते हैं। शक्ति पात पर शिव की अनुग्रह शक्ति है। शैव मत में साधन मार्ग एवं रूपों को लेकर मतभेद हैं, जिससे इस सम्प्रदाय में द्वैत, अद्वैत और द्वैताद्वैत तीनों मत मिलते हैं। शैव तन्त्र द्वैतपरक, रुद्रतन्त्र द्वैताद्वैत और भैरव तन्त्र अद्वैतपरक है।

शाक्त तन्त्र दार्शनिक दृष्टि से पूर्णतः अद्वैतवादी है। शाक्त तन्त्र के अनुसार, परम तत्त्व शक्ति है जिसमें शिव सदैव सम्मिलित रहते हैं। शक्ति ही अन्तर्मुख होने पर शिव और बहिर्मुख होने पर शक्ति है। अन्तर्मुख और बहिर्मुख दोनों भाव सनातन हैं।[५]

शिव और शक्ति के इस सामरस्य रूप को त्रिपुरा मत में त्रिपुर सुन्दरी कहा गया है। त्रिपुरा ही सकल अधिष्ठान रूप सत्‌रूप है, सामानाधिक वर्जिता, सच्चिदानन्दा, समरसा श्री ललिताम्बिका है। इस प्रकार सौन्दर्य मूर्ति की मातृ रूप में कल्पना करना साधना का एक गूढतत्त्व है। इसकी उपासना चन्द्र रूप में की गई है। शंकराचार्य ने भी सौन्दर्य लहरी में इसी रूप का वर्णन किया है। चन्द्रमा की सोलह कलायें होती हैं। और सभी कलायें नित्य हैं। इसीलिए सामूहिक रूप से इन्हें षोडशी कहा जाता है, जो आनन्द और सौन्दर्य की परमधाम है। इसी ललिता या विद्या की अद्वैत भावना से उपासना करना भी श्री विद्या के उपासकों का परम लक्ष्य है। शैव और शाक्त तन्त्र दार्शनिक दृष्टि से समान प्रतीत होते हैं। शिव तत्त्व में शक्ति-भाव गौण और शिव-भाव प्रधान है, शक्ति-तत्त्व में शिव गौण और शक्ति-भाव प्रधान होते हैं। तत्त्वातीत दशा में न शिव की प्रधानता है और न ही शक्ति की, अपितु दोनों की सामरस्य अवस्था है। शाक्त मत में शिव पराशक्ति से उत्पन्न होकर जगत् की सृष्टि करते हैं।

शाक्त तन्त्रों की संख्या अधिक है। लेकिन शक्ति-पूजा पद्धति के नितांत गोपनीय तथा गुरु-मुखैकगम्य होने के कारण तथा शाक्त तन्त्रों के प्रकाशित होने से अनर्थ की सम्भावना के कारण, शाक्त तन्त्रों का प्रकाशन बहुत ही कम हुआ है। फिर भी उपलब्ध साहित्य से तन्त्र सिद्धान्तों का परिचय भली-भांति मिलता है। देश, काल, और गुण की दृष्टि से सम्पूर्ण तन्त्र साहित्य को तीन भागों में विभाजित किया गया है– विष्णुक्रान्ता, रथक्रान्ता और अश्वक्रान्ता। इन तीनों क्रान्ताओं में तन्त्रों की कुल संख्या ६४ है।[६]

सम्पूर्ण भारत में शक्ति पूजा के मुख्य केन्द्र तीन हैं–कश्मीर, कान्ची और कामाख्या। इस त्रिकोण का मध्य बिन्दु काशी है। जिसमें इन तीनों का सुन्दर समन्वय है। शाक्त तन्त्र के प्रमुख तीन आचार्यों की रचनायें उपलब्ध होती हैं। श्री दत्तात्रेय की दत्त संहिता, श्रीदुर्वासा का शक्ति-महिम्नस्तोत तथा गौड़पाद का सुभगोदय और श्री विद्यारत्नसूत्र विशेष उल्लेखनीय हैं। इसके साथ ही पुण्यानन्दनाथ, उमानाथ, रामेश्वर सूरि, सदानन्द आदि आचार्य हुए जिन्होंने महत्त्वपूर्ण तन्त्र सूत्रों का भाष्य किया। इसके अतिरिक्त दार्शनिक भास्कर राय का नाम शक्ति सम्प्रदाय के इतिहास में महत्त्वपूर्ण है।

शाक्त मत में तीन भाव या मानसिक अवस्थाएं स्वीकृत हैं।

पशुभाव–जिन जीवों में अविद्या का आवरण न हटने से अद्वैत ज्ञान का उदय नहीं हुआ है उनकी मानसिक अवस्था पशुभाव कहलाती है। पशु के समान ये अज्ञान–रज्जु के द्वारा संसार से बंधे रहते हैं। वीरभाव– जो मनुष्य अद्वैत ज्ञान रूपी अमृत हृदय की कणिका मात्र का भी आस्वाद कर अज्ञान-रज्जु काटने में यदि कुछ मात्रा में भी कृत-कार्य होते हैं, वे वीर कहलाते हैं। दिव्यभाव–जो साधक वीरभाव की पुष्टि से द्वैत को पूर्णतः समाप्त करने में समर्थ होते हैं, तथा उपास्य देवता की सत्ता में अपनी सत्ता को डुबो कर अद्वैतानन्द का आस्वादन करते हैं वे दिव्य हैं। [७]

पूजाविधान तथा आचरण के आधार पर शाक्त तन्त्र को मुख्यतः दो भागों में विभाजित किया जाता है। समयाचार और कौलाचार। समयाचार के मूलाधार में सुप्त कुण्डलिनी को जाग्रत करके स्वाधिष्ठानादि चक्रों से होकर सहस्रार चक्र में विराजमान सदाशिव के साथ संयोग कर देना ही मुख्य लक्ष्य या प्रधान आचार है। समय का अर्थ है–हृदयाकाश में चक्र की भावना पूजा विधान करना। अथवा शक्ति के साथ अधिष्ठान, अनुष्ठान, अवस्थान, नाम तथा रूप भेद से पञ्च प्रकार के साम्य को धारण करने वाले शिव शक्ति की आराधना करना। [८]

कौलाचार–कुल शब्द का अर्थ मूलाधार चक्र या योनि है। [९]

चक्र या योनि की प्रत्यक्ष पूजा करने वाले तान्त्रिक कौल तथा उसकी भावना करने वाले समयामार्गी हैं। कौल तान्त्रिकों की पूजा में पञ्चतत्त्व साधन एक महत्त्वपूर्ण विषय है, जिसके अन्तर्गत पञ्चमकारों– मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन– की गणना है। समयाचार में इन पांचों का प्रत्यक्ष प्रयोग करके इनके स्थान पर तत्प्रतिनिधि रूप अन्य वस्तुओं का प्रयोग किया जाता है। परन्तु कौलाचार में पञ्चमकारों की प्रत्यक्ष पूजा होती है। लक्ष्मीधर ने कौलों के दो भेद किये हैं: पूर्वकौल–श्रीचक्र के भीतर स्थित योनि की पूजा करनेवाले और उत्तरी

कौल– सुन्दरी तरुणी की योनी की प्रत्यक्ष पूजा करने वाले तथा अन्यमकारों का भी प्रत्यक्ष प्रयोग करने वाले हैं। [१०]

इन्हीं उत्तरी कौलों के आचरण एवं पूजा विधान के कारण ही तन्त्र दर्शन की उपेक्षा हुई है, तथा इसे घृणा की दृष्टि से देखा जाता है। लेकिन उत्तरी कौल मूल तन्त्र साधनों से हटकर तिब्बती तन्त्र के प्रभाव में पञ्चमकारों का प्रयोग करते हैं। क्योंकि कौलों के मुख्य ग्रन्थ कुलार्णव में मद्य मांसादि के प्रत्यक्ष प्रयोग की कड़ी निन्दा की गई है। कुलार्णवतन्त्र के अनुसार, पञ्चमकार का रहस्य गूढ है। ये पञ्चमकार प्रत्यक्ष न होकर तन्त्र भाषा में आभ्यन्तर अनुष्ठान के प्रतीक रूप हैं। मद्य का अर्थ बाह्य शराब न होकर ब्रह्मरन्ध्र में स्थित सहस्त्रदल कमल से क्षरित हुआ है। मांस पुण्य और पाप सभी रूपी पशुओं का मांस है और मत्स्य शरीरस्थ ईडा और पिंगला नाड़ियों रूपी गंगा जमुना में प्रवाहित श्वास और प्रश्वास रूपी दो मत्स्य हैं जो साधक प्राणायाम के द्वारा श्वास प्रश्वास बन्द कर कुम्भक के द्वारा प्राणवायु को सुषुम्ना में संचालित करना, मत्स्य सेवन है। सत्संग के प्रभाव से मुक्ति मिलती है और असत्संग से बन्धन। असत्संग का त्याग मुद्रा है और सहस्रार में स्थित शिव कुण्डलिनी का संयोग मैथुन है। [११]

गान्धर्वतन्त्र के अनुसार पञ्चमकार से युक्त विशिष्टपूजा का प्रचार वसिष्ठ के द्वारा किया गया है। [१२]

कुछ विद्वानों के अनुसार, शाक्तमार्ग इन पञ्चमकार के लिए वैदिक अनुष्ठानों का ऋणी है, क्योंकि वामदेवादि अनेक विधानों में परयोषा आदि का प्रयोग मान्य था। लेखक के मतानुसार यह कथन सही है कि उत्तरी कौलों का पञ्चमकारों का प्रत्यक्ष आचरण करना तिब्बती प्रभाव है क्योंकि कौलों का मुख्य केन्द्र पूर्व में स्थित आसाम में कामाख्या है, जहाँ पर तिब्बती तान्त्रिकों का सम्बन्ध होना सरल है। अतः उत्तरी कौल प्राचीन भारतीय तन्त्र साधनों से पृथक् हो गये। इसके विपरीत शुद्ध तथा वास्तविक कौल साधक वह है जिसकी अद्वैत भावना पूर्ण और विशुद्ध है। इसी कारण कौल को कर्दम और चन्दन में, शत्रु तथा मित्र में, स्मशान एवं भवन में, काञ्चन और तृण में, तनिक भी भेद नहीं दीखता है। [१३]

इस दुष्कर साधनों के रहस्य को न जानने के कारण अनेक भ्रान्तियाँ फैली हुई हैं। कौल कभी अपने स्वरूप को प्रगट नहीं होने देता है। कौल वह साधक है जो अद्वैत निष्ठा में पूर्ण स्थित हो चुका है और उसी के अनुसार अपना आचरण करता है लेकिन अपने को लोगों से बचाये रखता है। कौलों के विषय में यह प्रसिद्ध है कि वे हृदय से तो शक्ति के उपासक हैं और बाहर शैव तथा सभा में वैष्णव जान पड़ते हैं। इस प्रकार वे नाना रूप में विचरण करते हैं। अतः कौल रहस्य पूर्ण दिव्य रूप है जिसमें दत्तात्रेय, गोरखनाथ, रामकृष्ण आदि

हैं, जो निन्दा के नहीं स्तुति के पात्र हैं। इस अद्वैत पूर्ण भावना को प्राय: मनुष्य व्यवहार में अपनाने में असमर्थ हैं तथा अपने से भिन्न कौलों में भेदाभेद न देखकर घृणा करते हैं। लेकिन यह मात्र भ्रान्ति के कारण है।

तन्त्रों की प्रामाणिकता:– तन्त्रों में शक्ति की कल्पना वैदिक सिद्धान्तों के ही आधार पर की गयी है। ऋग्वेद के वाग्स्मृतीसूक्त में जिस शक्ति तत्त्व का प्रतिपादन है, शक्ति तन्त्र उसी के भाष्य माने जाते हैं। वैदिक काल में भी वैदिक पद्धति के साथ-साथ तान्त्रिक पद्धति का प्रचार कम नहीं था। उपनिषदों में वर्णित विभिन्न विद्याओं की आधार भित्ति तान्त्रिक प्रतीत होती है। बृहदारण्यक तथा छान्दोग्य उपनिषद् में वर्णित पञ्चाग्नि विद्या के प्रसंग में "योषा वाव गौतमाग्नि" आदि रूपक का क्या अर्थ है? सूर्य की उर्ध्वमुख रश्मियाँ, मधु, नाड़ियाँ है, गुह्य आदेश मधुकर है, ब्रह्म ही पुष्प है, उससे निकलने वाले अमृत का साध्य देवता उपभोग करते हैं। इस पंचम अमृत के वर्णन में जिन गुह्य आदेशों को मधुकर बतलाया गया है, वे गोपनीय तान्त्रिक आदेशों के अतिरिक्त क्या हो सकते हैं? [१४]

तन्त्रों की प्रामाणिकता के विषय में बहुत से मत हैं। तन्त्रदार्शनिक भास्कर राय तथा राघव भट्ट के अनुसार, श्रुत्यनुमत होने से तन्त्र परत: प्रामाण्य हैं। श्रीकण्ठाचार्य के अनुसार, तन्त्र श्रुति के समान स्वत: प्रमाण हैं। [१५]

कुलार्णवतन्त्र के अनुसार कौल तन्त्र नितान्त वैदिक शास्त्र है जिससे दोनों की एकता का संकेत मिलता है। [१६]

कुल्लूक भट्ट ने मनुस्मृति की टीका में हारित ऋषि का एक वाक्य उद्धृत किया है जिसका तात्पर्य यह है कि श्रुति दो प्रकार की होती है: वैदिकी और तान्त्रिकी, अर्थात् हारित की दृष्टि में भी वेद के समान ही तन्त्र श्रुति कहलाने की योग्यता रखते हैं। [१७]

उपर्युक्त मतों में पार्थक्य होने पर भी यह निष्कर्ष निकलता है कि तन्त्र की प्रामाणिकता श्रुति के समान है और वह वेद के समान ही स्वत: प्रमाण है।

इस प्रकार, साधनों के जगत् में प्रवेश करने के लिए तन्त्रों के रहस्य को जानना आवश्यक है। वेदान्त माया के ऊपरी जगत् का विवरण प्रस्तुत करता है, लेकिन इस मायालोक के ऊपर महामाया का तात्त्विक विवेचन तन्त्रों में किया गया है। तन्त्रदर्शन में शक्ति के जड़त्व को दूर कर उस की वास्तविक चित्स्वरूपता को प्रकट किया गया है। शक्ति तन्त्रों में पूर्ण अद्वैतवाद के साथ भक्ति का मनोरम समन्वय करना साधना जगत् के लिये एक महत्त्वपूर्ण कार्य है। अत: तन्त्रदर्शन

पूर्णतः वैदिक एवं स्वीकार्य है। इसमें उत्पन्न भ्रान्तियाँ तत्त्वों के रहस्य को न समझने के कारण है।

बुन्देलखण्ड महाविद्यालय, —राधाधर शर्मा
झाँसी (उत्तर प्रदेश)

टिप्पणियाँ

१. काशिका वृत्ति, सूत्र ६०८
२. शां. भा. २/१/१
३. वाचस्पति मिश्र, तत्त्ववैशारदी, १/१
४. जयरथ, तन्त्रालोक की टीका, पृ. १८
५. कुलार्णव तन्त्र, १/६-१०
६. बलदेव उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृ. १८
७. कुलार्णव तन्त्र, २/१-११०
८. ललिता सहस्त्रनाम, पृ. ५४
९. भास्करराय, सौभाग्य भास्कर, पृ. १
१०. लक्ष्मीधर, सौन्दर्य लहरी की टीका, श्लोक ४२
११. कुलार्णव तन्त्र, २/११/११७-१३६
१२. उडरफ, शक्ति ऐन्ड शाक्त, पृ. ४४०
१३. सतीश चन्द्र, सिद्धान्त भूषण, कौल मार्ग रहस्य पृ. १०
१४. बृहदारण्यक, ६.१२ तथा छान्दोग्य, ५/८
१५. श्री कण्ठाचार्य; ब्रह्मसूत्र का शैव भाष्य, २/२/३८
१६. कुलार्णव तन्त्र, २/१४०
१७. कुल्लूक भट्ट, मनुस्मृति की टिका २/१

नव्य-न्याय के पारिभाषिक पदार्थ (५)

अभावीय प्रतियोगिता

पिछले लेख में यह बतलाया गया था कि अभाव में प्रतीत होने वाली भिन्नता का कारण प्रतियोगिता की भिन्नता है।[1] नव्य-न्याय में अनेक प्रकार के अभाव माने गये हैं। अभाव के चार मुख्य भेद—प्रागभाव, ध्वंस, अत्यन्ताभाव तथा अन्योन्याभाव ये तो सर्व विश्रुत हैं ही। इनके अतिरिक्त अनेक प्रकार के अभाव नव्य-न्याय में चर्चित हैं। जैसे, सामान्याभाव, विशेषाभाव, सामान्यरूपेण विशेषाभाव, विशेष रूपेण सामान्याभाव, उभयाभाव, व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव, प्रतियोगिसमानाधिकरणाभाव, प्रतियोगिव्यधिकरणाभाव आदि आदि। इन सब अभावों में होने वाली भिन्नता का नियामक तत्-तत् प्रतियोगिताओं का भेद ही है। अतः अभावीय प्रतियोगिता की चर्चा करने के सन्दर्भ में इन प्रतियोगिताओं के भिन्न-भिन्न नियामक कौनसे हैं और उन्हें इस प्रकार क्यों स्वीकार करना पड़ता है इसका विश्लेषण करना पड़ेगा। प्रस्तुत लेख में सामान्याभावीय, तथा सामान्यरूपेण विशेषाभावीय प्रतियोगिता की चर्चा की है। उभयाभावीय, अन्यताभावीय आदि प्रकार के प्रतियोगिताओं की चर्चा अगले लेख में करेंगे।

पूर्व-लेख में कहा गया था कि अत्यन्ताभाव की ही प्रतियोगिता सम्बन्ध से नियमित होती है, प्रागभाव या ध्वंस की नहीं। जिस प्रकार ध्वंस की प्रतियोगिता सम्बन्ध से नियमित नहीं होती उसी प्रकार वह किसी (तात्त्विक) धर्म से भी नियमित नहीं होती। ध्वंस की प्रतियोगिता को धर्म से नियमित मानने में कोई प्रमाण नहीं है।[2] इसका तात्पर्य यह है कि जब हम कहते हैं कि 'यहाँ गौ का अभाव है' तब उसका तात्पर्य यह होता है कि गोत्व का आश्रय कुछ भी वहाँ नहीं है, गौ के न रहने पर उसके अभाव की प्रतीति में कोई बाधा नहीं है। परन्तु जब हमें 'गौ मर गयी' ऐसी प्रतीति होती है तो किसी एक गौ के ध्वंस (मृत्यु) की ही प्रतीति होती है, गो व्यक्ति-मात्र के ध्वंस की नहीं, क्यों कि गो व्यक्ति-मात्र

का ध्वंस सम्भव ही नहीं है। जब गो ध्वंस प्रतीत होता है तो किसी एक ही गो का ध्वंस प्रतीत होता है, गो-मात्र का ध्वंस प्रतीत नहीं होता। अतः ध्वंस की प्रतियोगिता को सम्बन्धावच्छिन्न की तरह धर्मावच्छिन्न मानने की कोई अनिवार्यता नहीं है। ध्वंस की तरह प्रागभाव की प्रतियोगिता भी धर्मावच्छिन्न नहीं होती है। 'यहाँ गौ पैदा होगी' यह जो गौ के प्रागभाव की प्रतीति है वह गो-सामान्य के प्रागभाव की प्रतीति नहीं है, अपितु किसी एक विशिष्ट गौ के अभाव की प्रतीति है। इसलिये उक्त अभाव की प्रतियोगिता भी गोत्व सामान्य धर्म से नियमित नहीं है। गौ मात्र का ध्वंस या गौ-मात्र का प्रागभाव प्रतीत ही नहीं होता है। (यहाँ यह ध्यातव्य है कि गोत्व जैसा सामान्य नव्य-न्याय के मतानुसार नित्य है।) लेकिन उक्त परिस्थितियों में क्रमशः गो प्रतियोगिक ध्वंस एवं गो प्रतियोगिक प्रागभाव प्रतीत होता है। अब प्रश्न यह उठता है कि अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव की प्रतियोगिताएँ ही क्यों धर्म से नियमित होती हैं? यदि उन्हें उक्त सामान्य-धर्मों से नियमित न मानें तो क्या हानि है? इसका उत्तर यह है कि बाध-निश्चय में रहने वाली प्रतिबन्धकता के आधार पर भेद और अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता को धर्म से नियमित मानना आवश्यक है।[३] गो की आश्रयता के ज्ञान का विरोधी गो-प्रतियोगिक अभाव की आश्रयता का निश्चय नहीं है; गो-प्रतियोगिक अभाव का निश्चय किसी एक गौ के अभाव का निश्चय भी हो सकता है। उसी प्रकार गोत्व के साथ रहने वाली प्रतियोगिता वाले अभाव का निश्चय भी उसका विरोधी नहीं है, क्योंकि 'सभी गौएँ वहाँ नहीं हैं' इस प्रकार का निश्चय भी उक्त प्रकार के गो की आश्रयता के निश्चय का विरोधी हो जायगा। इसलिये गो-सत्ता के निश्चय का विरोधी निश्चय गोत्व से नियमित गौ के अभाव का निश्चय ही होगा। अतः अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता को सामान्य धर्म से नियमित मानना अनिवार्य है।

तत् (संकेतित, विशिष्ट) गो के अस्तित्व के ज्ञान में संकेतित गौ के अभाव की अस्तिता का ज्ञान विरोधी होता है। वहाँ उस गौ के अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता के समान उस गौ के ध्वंस की प्रतियोगिता को भी तत् गोत्व (उस गौ का स्वरूप)-धर्म से नियमित मानना आवश्यक नहीं है, क्यों कि जब किसी एक सम्बन्ध (उदाहरणतः संयोग) से गौ के अभाव का अस्तित्व ज्ञात होने पर भी दूसरे किसी सम्बन्ध (उदाहरणतः कालिक) से उस गौ का ज्ञान होने में कोई बाधा न होने से सम्बन्ध-विशेष के आधार पर ही अत्यन्ताभाव के विरोध का निर्णय किया जाता है। चूँकि ध्वंस की प्रतियोगिता किसी सम्बन्ध से नियमित न होने से ध्वंस की प्रतियोगिता को उक्त प्रतियोगिता में समाविष्ट नहीं कर सकते।[४] दूसरी बात

यह भी है कि कुछ नैयायिक अभाव का प्रकार न मान कर उसे अखण्डोपाधि अर्थात् अनुयोगिता का एक प्रकार मानते हैं। इसलिये उक्त प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक-भाव में उसका समावेश नहीं किया जाता।

यहाँ प्रश्न यह है कि किसी भी अभाव की प्रतियोगिता को धर्म से नियमित माना ही क्यों जाय? और उसका उत्तर यह दिया गया है कि बिना प्रतियोगिता को धर्म से नियमित किये प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक-भाव ही नहीं बनता है। परन्तु अभाव की प्रतियोगिता को निरवच्छिन्न (किसी भी धर्म से नियमित नहीं) सम्बन्ध के रूप में उपस्थित किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, 'देवदत्तविशिष्ट-गृह' इस बोध में निरवच्छिन्न प्रतियोगिता सम्बन्ध से नियमित देवदत्तत्व में पर्याप्त रूप से रहने वाली अवच्छेदकता से प्रदर्शित प्रकारता से प्रदर्शित अभावत्व से नियन्त्रित विशेष्यता से नियमित स्वरूप सम्बन्ध से नियमित अभावत्व से नियमित प्रकारता से प्रदर्शित गृहत्व से नियमित विशेष्यताशाली निश्चय को प्रतिबन्धक मानने पर प्रतियोगिता को धर्म से नियमित किये बिना ही प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक भाव व्याख्यात हो सकता है। तथापि उक्त समस्या का यह उचित सामाधान नहीं है। अभाव के साथ जिसका सम्बन्ध स्थापित होता है उस सम्बन्धि का सम्बन्ध बनने वाला प्रतियोगिता-सम्बन्ध सम्बधिता के नियन्त्रक धर्म से नियन्त्रित ही होता है। इसलिये निरवच्छिन्न प्रतियोगिता को सम्बन्ध के रूप में उपस्थित करना सम्भव ही नहीं है। [५]

कुछ नैयायिकों का कथन है कि बाध निश्चय की प्रतिबन्धकता में विवाद होने पर भी बाधनिश्चयाभाव को कार्यमात्र में कारण मानने के बारे में कोई विवाद नहीं है। [६] बाधनिश्चय का अभाव जो कारण बनता है वह बाधनिश्चयत्व से नियन्त्रित प्रतियोगिता से प्रदर्शित अभाव के रूप में ही। अन्यथा किसी भी वस्तु के बाध-निश्चय का अभाव होने पर देवत्ताश्रयता का बोध होने लगेगा। लेकिन ऐसा नहीं होता है। देवदत्ताभाव के निश्चायक का अभाव होने पर ही देवदत्त का अस्तित्व ज्ञात होता है।

परन्तु कुछ नैयायिकों का कथन है कि अत्यन्ताभाव की तरह ध्वंस और प्रागभाव की प्रतियोगिता भी धर्मावच्छिन्न होती है। [७] जैसे, प्रलय काल में गौ का ध्वंस होने पर जो गौ नष्ट हुई यह बोध होता है उसमें गौ-सामान्य का ध्वंस प्रतीत होता है। इसलिये इसे हम गोत्वावच्छिन्नाभाव कह सकते हैं। चूंकि प्रलय काल में अन्य किसी गौ का अस्तित्व न होने से और उपर्युक्त ध्वंस गौ-मात्र का ध्वंस होने से वह सामान्याभाव ही है। प्रलय के सम्बन्ध में नैयायिकों की दो धारणाएँ हैं : एक धारणा यह है कि वेदादि में वर्णित प्रलय खण्ड प्रलय है

जिसमें एक ब्रह्माण्ड का विनाश होने पर भी ब्रह्माण्डान्तर रहता है। एक ब्रह्माण्ड की गौओं का विनाश होने पर दूसरे ब्रह्माण्डों में गौ विद्यमान होने से गो-सामान्य का ध्वंस नहीं होता है, गो-विशेषों का ही ध्वंस होता है। इसलिये गोत्व प्रागभाव और ध्वंस की प्रतियोगिता का अवच्छेदक नहीं होता है।

दूसरी धारणा यह है कि प्रलय खण्ड-प्रलय और महा-प्रलय भेद से दो प्रकार का होता है। जिसमें सभी जन्य भावों का विनाश होता है ऐसे महाप्रलय में गो-सामान्य के ध्वंस का आश्रय हो सकता है। उस अवस्था में ध्वंस की प्रतियोगिता को सामान्यधर्मावच्छिन्न मानने में कोई बाधा नहीं है। परन्तु सृष्टि की अन्य किसी अवस्था में होने वाले गो-ध्वंस की प्रतियोगिता को (गोत्व) सामान्य धर्म से नियमित मानना अनावश्यक है।

सामान्याभाव और विशेषाभाव में होने वाला भेद उनकी प्रतियोगिताओं और उनके अवच्छेदक धर्मों में होने वाले भेद के आधार पर स्पष्ट किया जाता है। परन्तु यहाँ भी प्रश्न यह है कि सामान्याभाव और यावद्विशेषाभाव में होने वाली प्रतियोगिताओं की भिन्नता का आधार क्या है? घट-सामान्य का अभाव जहाँ रहता है वहाँ सभी घट-विशेषों का अभाव रहता ही है। घट-सामान्याभाव की प्रतियोगिता भी सभी घटों में रहती है, तथा यावद् (याने सभी) घट-विशेषाभावों की प्रतियोगिता भी सभी घटों में रहती है, तो इन में अन्तर या भेद क्या है? नैयायिकों का कथन है[८] कि घट-सामान्याभाव की प्रतियोगिता सभी घटों में एक ही है, जबकि यावद्-विशेषाभाव की प्रतियोगिता प्रत्येक प्रत्येक (विशेष घट) में भिन्न है। क्योंकि सामान्याभावीय प्रतिगिता से भिन्न प्रतियोगिता प्रत्येकाश्रय में भिन्न होती है।[९] जब हम घट-सामान्याभाव की प्रतीति करते हैं तो घटत्व धर्म से नियमित एक ही प्रतियोगिता घट-मात्र में मानी जाती है। इसके विपरीत रक्तघट, पीत घट आदि तत् तत् विशेषों के अभाव की प्रतियोगिता उनके सापेक्ष नियन्त्रक भिन्न धर्मों के कारण भिन्न भिन्न होती है। परन्तु नैयायिकों का एक सम्प्रदाय स्वरूप-सम्बन्धरूप प्रतियोगिता को सामान्याभाव-स्थल में भी प्रतियोगिता भेद से भिन्न मानता है।[१०]

पिछले लेख में कहा गया था कि अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता ही सम्बन्ध से नियन्त्रित होती है, ध्वंस या प्रागभाव की नहीं। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता भी सभी सम्बन्धों से नियन्त्रित नहीं होती है। केवल वृत्तिनियामक सम्बन्ध से ही प्रतियोगिता नियन्त्रित होती है, वृत्यनियामक (जो वृत्तिनियामक नहीं होता ऐसा) सम्बन्ध से नहीं।[११] नैयायिकों ने जो अनेक प्रकार

की सम्बन्ध की संकल्पनाएँ स्वीकृत की हैं उनमें से कुछ ही सम्बन्ध वृत्तिनियामक सम्बन्ध हैं लेकिन अधिकतर सम्बन्ध वृत्यनियामक हैं। जिन सम्बन्धों से आधार आधेय भाव प्रतीत होता है उसे ही वे लोग वृत्तिनियामक सम्बन्ध मानते हैं, इसके विपरीत जिनसे केवल सम्बन्धिता प्रतीत होती है वे सभी वृत्यनियामक सम्बन्ध हैं। [12] वृत्ति-नियामक सम्बन्धों में घट का भूतल के साथ संयोग, समवाय आदि सम्बन्ध प्रमुख हैं।

लेकिन वृत्तिनियामक सम्बन्ध ही अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता का नियन्त्रक क्यों होता है, वृत्यनियामक सम्बन्ध इस प्रकार नियन्त्रक क्यों नहीं होता ? इसके बारे में नियम यह है कि जिस सम्बन्ध से जहाँ किसी वस्तु की आश्रयता प्रतीत होती है उसी सम्बन्ध से वहाँ उस वस्तु के न रहने पर उसका अभाव प्रतीत होता है। जैसे, मेज पर पुस्तक यदि संयोग सम्बन्ध से प्रतीत होती है तो पुस्तक वहाँ न रहने से उसका अभाव उसी सम्बन्ध से प्रतीत होता है। इसलिये संयोग सम्बन्ध पुस्तकाभाव की प्रतियोगिता को प्रस्तुत प्रसंग में नियन्त्रित करता है। संयोग चूंकि यहाँ आधार-आधेय स्वरूप को स्पष्ट करता है इसलिये उसे वृत्ति नियामक सम्बन्ध स्वीकार किया हैं और उसके द्वारा वस्तु की आश्रयता को व्यक्त किये जाने के कारण वह प्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्ध है। उसी प्रकार जो सम्बन्ध इस तरह आश्रयता को उद्घाटित नहीं करते वे प्रतियोगिता के नियामक नहीं होते हैं। इसलिये वृत्यनियामक सम्बन्ध प्रतियोगितावच्छेदक नहीं होते हैं। इसका मतलब यह हुआ कि अत्यान्ताभाव की प्रतियोगिता का नियामक वही सम्बन्ध हो सकता है जो प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक भाव को उद्घाटित करेगा और इस प्रकार वृत्तिनियामक सम्बन्धों के द्वारा ही प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक-भाव उद्घाटित किया जाने के कारण उन्हें प्रतियोगिता के नियामक कहा जाता है, वृत्यनियामक सम्बन्धों को नहीं।

सामान्याभाव की प्रतियोगिता को प्रतियोगितावच्छेदक स्वरूप या प्रतियो-गिता स्वरूप माना गया है। परन्तु यहाँ प्रश्न यह होता है कि यदि समवाय सम्बन्ध से अग्नि के प्रतियोगिता अग्नित्व स्वरूप है तो संयोग सम्बन्ध से अग्नि के अभाव की प्रतियोगिता भी अग्नित्व स्वरूप है और अग्नित्व एक ही है तो जो प्रतियोगिता समवाय से नियन्त्रित है वही संयोग से भी नियन्त्रित है। अतः सभी सम्बन्ध प्रतियोगिता के नियन्त्रक सम्बन्ध होंगे। इसके विषय में नैयायिकों का कथन है प्रतियोगिता प्रतियोगिरूप हो अथवा प्रतियोगिताच्छेदकरूप हो, किसी भी अभाव की प्रतियोगिता किसी विशिष्ट धर्म तथा विशिष्ट सम्बन्ध से ही नियन्त्रित होती है, सभी धर्मों और सम्बन्धों से नियन्त्रित नहीं होती है। क्योंकि ऐसा व्यवहार

देखा जाता है कि समवाय से नियमित अग्नि के अभाव की प्रतियोगिता संयोग से नियमित नहीं होती है।[१३] अतः प्रतियोगिता का स्वरूप कुछ भी हो, वह किसी विशिष्ट सम्बन्ध से तथा विशिष्ट धर्म से ही नियमित होती है।

तथापि कुछ नैयायिक प्रतियोगिता को वृत्यनियामक सम्बन्ध से भी नियमित मानते हैं।[१४] उनका कथन है कि "चैत्र धनी है" इस प्रतीति में धन चैत्र में स्वामित्व रूप सम्बन्ध से प्रतीत होता है, तो 'चैत्र निर्धन है' इस प्रतीति में चैत्र में धन का अत्यन्ताभाव जो बोधित होता है उसकी प्रतियोगिता स्वामित्व रूप सम्बन्ध से नियमित होती है। अन्यथा "चैत्र धनी है' इस बुद्धि का विरोध चैत्र निर्धन है यह बुद्धि नहीं करेगी। अतः वृत्यनियामक स्वामित्व सम्बन्ध को भी प्रतियोगिता का नियामक (अवच्छेदक) मानना आवश्यक है।

दूसरी बात यह है कि अन्योन्याभाव के स्वरूप के प्रसंग में नैयायिक तादात्म्य सम्बन्ध से नियमित प्रतियोगिता वाले अभाव को अन्योन्याभाव कहते हैं। परन्तु पूर्वोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि तादात्म्य सम्बन्ध भी वृत्यनिमामक सम्बन्ध है। अतः वह किसी भी प्रतियोगिता का नियामक नहीं हो सकता। अतः अन्योन्याभाव का उक्त लक्षण दूषित हो जाता है। अतः वृत्यनियामक तादात्म्य सम्बन्ध भी प्रतियोगिता का नियामक होता है। परन्तु दूसरे पक्ष का कथन है कि अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता को सम्बन्ध से नियमित मानना आवश्यक है क्यों कि उसके बिना प्रतिबध्य और प्रतिबन्धक भाव नहीं बनता है। वह बात भेद के साथ नहीं चरितार्थ होती। अतः भेद की प्रतियोगिता को सम्बन्ध से नियमित मानने की आवश्यकता नहीं है।[१५] तथापि फिर प्रश्न यह उपस्थित होना है कि अन्योन्याभाव का लक्षण क्या होगा? उक्त मत में ध्वंसत्वादि के समान अन्योन्याभावत्व भी एक स्वतन्त्र अखण्ड याने अविश्लेष्य उपाधि है।[१६]

इसके विपरीत दूसरे पक्ष का कथन है कि प्रतीति के बल से ही अर्थ-सिद्धि होती है। यदि तादात्म्य सम्बन्ध से नियमित प्रतियोगिता वाला अभाव अन्योन्याभाव है यह प्रतीति प्रामाणिक है तो तादात्म्य सम्बन्ध को वह वृत्यनियामक होने के बावजूद भी प्रतियोगिता का नियामक मानना अनिवार्य है।[१७] इससिये वृत्यनियामक सम्बन्ध नियमतः प्रतियोगितावच्छेदक नहीं होता है ऐसा नहीं स्वीकार किया जा सकता। इसका तात्पर्य यह है कि तादात्म्य से भिन्न वृत्यनियामक सम्बन्ध प्रतियोगिता का नियामक नहीं होता। वृत्यनियामक सम्बन्ध प्रतियोगिता का नियामक नहीं होता इस सामान्य मियम के लिये तादात्म्य सम्बन्ध अपवाद है। हाँ, तादात्म्य सम्बन्ध यह सम्बन्ध ही है या नहीं इसकी चर्चा इस प्रश्न की चर्चा से भिन्न है। सम्बन्ध की चर्चा करते समय इसका विचार किया जायगा।

सामान्याभाव (घट-मात्र का अभाव) के सम्बन्ध में दूसरा एक विचारणीय विषय यह है की सामान्याभाव की प्रतियोगिता का स्वरूप क्या है ? हम जानते हैं कि प्रतियोगिता के स्वरूप के सम्बन्ध में नैयायिकों के तीन मत हैं:

(१) प्रतियोगिता प्रतियोगीरूप होती है ।

(२) प्रतियोगिता प्रतियोगितावच्छेदक (नियामक) रूप होती है । तथा

(३) प्रतियोगिता स्वतन्त्र पदार्थ है ।

इनमें से प्रथम पक्ष का कथन है कि प्रतियोगिता स्वरूप सम्बन्ध है । परन्तु उसे किसका स्वरूप मानें : अभाव का, प्रतियोगि का, या प्रतियोगितावच्छेदक का ? प्रतियोगिता अभाव स्वरूप नहीं हो सकती । इस बात को पिछले लेख में स्पष्ट किया गया है । प्रतियोगिता को यदि प्रतियोगितावच्छेदक स्वरूप मानें तो धूम के अभाव की प्रतियोगिता धूमत्व-स्वरूप होगी और धूमत्व रूप से प्रमेय के अभाव की प्रतियोगिता भी धूमत्व रूप होगी । अर्थात्, दोनों अभावों की प्रतियोगिताओं की एकता होने से उक्त अभावों की भी एकता स्वीकार करनी पड़ेगी । इसलिये इस मत के अनुयायियों का कथन है कि स्वरूप-सम्बन्धात्मिका प्रतियोगिता प्रतियोगीरूप है । अतः प्रतियोगिता सामान्याभाव के सम्बन्ध में प्रतिव्यक्ति भिन्न-भिन्न है ।

दूसरे मत के अनुसार स्वरूप-सम्बन्धात्मक प्रतियोगिता सामान्याभाव स्थल में प्रतियोगिता के नियामक धर्म-स्वरूप ही है ।[१८] उनका कथन यह है कि प्रतियोगिता को प्रतियोगि-स्वरूप मानने पर प्रतियोगिता प्रतिव्यक्ति-भेद से अनेक हो जाने के कारण कल्पना-गौरव दोष उत्पन्न होता है । तथा, सब में समान रूप से रहने वाला अनुगत स्वरूप भी प्रतियोगिता का नहीं रह पाता है । दूसरी बात यह है कि प्रतियोगि और प्रतियोगिता के एक होने पर उनमें आधार-आधेय नहीं बनता है । तात्पर्य यह है कि प्रतियोगिता का स्पष्टीकरण करते समय " प्रतियोगिता यस्यास्तीति स प्रतियोगी " अर्थात्, जिसमें प्रतियोगिता रहती है (याने प्रतियोगिता जिसका धर्म है) उसे प्रतियोगी कहा कहा जाता है, याने प्रतियोगिता आधेय है तथा प्रतियोगी आधार है इसे ध्यान में रखना चाहिये । जब प्रतियोगिता प्रतियोगी-स्वरूप होगी तो 'स्व' 'स्व' का आधार नहीं हो सकता है, या कोई भी व्यक्ति अपने ही कंधों पर किसी भी स्थिती में खड़ा नहीं हो सकता इस प्रकार की प्रतीति बाधित होगी । इसलिये प्रतियोगिता को प्रतियोगि-रूप मानने के बजाय उसे प्रतियोगितावच्छेदकधर्म (यथा घटत्व)- रूप मानना चाहिये, जिससे प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक भाव के लिये आवश्यक आधार-आधेय व्यवस्था दूषित नहीं होती तथा प्रतियोगिता का प्रतियोगि मात्र में अनुगत होनेवाला स्वरूप भी प्रस्फुटित होता है ।

दूसरी बात यह है कि यदि प्रतियोगिता को प्रतियोगीस्वरूप मानें तो प्रतियोगिता के नियामक से नियमित के साथ अभाव का विरोध नहीं हो सकेगा। क्योंकि जैसे अग्नि के अभाव की अग्निरूप प्रतियोगिता अग्नित्व से युक्त है वैसे ही द्रव्यत्व, ज्ञेयत्व, प्रमेयत्व आदि धर्मों से भी युक्त है। द्रव्यत्व से युक्त के साथ अग्नि के अभाव का कोई विरोध नहीं है। अतः प्रतियोगिता को प्रतियोगी-रूप मानने के बजाय उसे प्रतियोगितावच्छेदकरूप मानने पर उक्त प्रकार का दोष उत्पन्न नहीं होता है। उस मत में अग्नित्व-रूप प्रतियोगिताश्रय के साथ (याने अग्नि के साथ) अग्नि के अभाव का विरोध स्पष्ट है।

तीसरी एक बात जो बतायी जाती है वह यह है कि प्रतियोगिता को प्रतियोगी-स्वरूप मानें तो घट-सामान्याभाव और घट-विशेषाभाव में कोई भेद नहीं रह जायगा, क्यों कि दोनों का भी प्रतियोगी घट ही है।[१९] यहाँ प्रतियोगिता को अतिरिक्तरूप मानने वालों का कथन यह है कि सामान्याभाव और विशेषाभाव में अन्तर यह है कि प्रतियोगिता सामान्याभाव-स्थल में सभी प्रतियोगियों में एक ही है, जब कि विशेषाभाव-स्थल में वह प्रतिव्यक्ति भिन्न-भिन्न है। अतः सामान्याभाव और विशेषाभाव में इस पक्ष का स्वीकार करने पर भेद हो जाता है तथा उनके अवच्छेदक धर्मों में भी भेद हो जाता है। इसलिये प्रतियोगिता को अतिरिक्त पदार्थ के रूप में स्वीकार करना ही अधिक युक्त है।

प्राचीन नैयायिकों का यह भी मत है कि सामान्याभाव की प्रतियोगिता के प्रतियोगि तथा प्रतियोगितावच्छेदक ये दोनों ही रूप हैं, परन्तु विशेषाभावीय प्रतियोगिता केवल प्रतियोगी-स्वरूप ही है।[२०] यदि इसे विशेष धर्म-रूप मानें तो सामान्यरूपेण विशेषाभाव और विशेषाभाव में कोई अन्तर नहीं रहेगा और ये दोनों एकही हैं ऐसा स्वीकार करना अयुक्त है।

कुछ नैयायिक सामान्याभाव और विशेषाभाव के अलावा सामान्य रूप से विशेष का अभाव भी स्वीकार करते हैं।[२१] अग्नि का अभाव यह अग्नि-सामान्याभाव है तथा द्रव्यत्व-रूप से अग्नि का अभाव यह सामान्य रूप से विशेष का अभाव है। द्रव्यत्व यह अग्नि का सामान्य धर्म है। उसी प्रकार अग्नि प्रमेय होने से प्रमेयत्व-रूप से अग्नि का अभाव सामान्य रूप से अग्नि का अभाव है। लेकिन प्रश्न यह है कि इस प्रकार के विलक्षण अभाव की प्रतीति होती है क्या? यदि होती है तो वह क्यों होती है?

हम यह जानते हैं कि अभाव की विलक्षणता का आधार प्रतिबन्धक बुद्धि ही है। अग्नि की बुद्धि के साथ अग्न्याभाव की बुद्धि विरोधक होती है, इसलिये अग्नि का अभाव एक स्वतंत्र पदार्थ है। परन्तु अब प्रश्न यह है कि सर्वत्र प्रतियोगि-सत्ता की बुद्धि के साथ प्रतियोगी के अभाव की बुद्धि विरोधी होती है क्या? इस पर नैयायिक कहते हैं कि नहीं, ऐसा निरपवादतया नहीं होता है। कुछ अभाव-बुद्धियाँ ऐसी भी होती हैं जिनका प्रतियोगिता-बोध के साथ विरोध नहीं होता है। उदाहरणार्थ, जहाँ अग्नि की आश्रयता ज्ञात होती है वहीं पर जलत्व रूप से अग्नि का अभाव प्रतीत होता है, या जहाँ मनुष्य की आश्रयता ज्ञात होती है वहीं पर पशुत्व रूप से मनुष्य का अभाव ज्ञात होता है। न्यायशास्त्र की परिभाषा में इसे व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव कहते हैं। इसके सम्बन्ध में नैयायिकों में काफी मतभेद हैं, जिनका विवेचन यथास्थान किया जायगा। इसलिए नैयायिकों का यह कथन है कि प्रतियोगी में प्रकार-स्वरूप धर्म से युक्त प्रतियोगिता के नियन्त्रक धर्म से युक्त प्रतियोगिमत्ताबुद्धि के साथ ही अभाववत्ता बोध का विरोध होता है।[२१] अर्थात्, 'अग्निमान्' इस बोध के साथ जो कि प्रतियोगि में प्रकार-स्वरूप अग्नित्व से युक्त अग्नि के साथ अग्नि के अभाव का ज्ञान प्रतिबद्ध होता है। अतः जहाँ अग्नि-बुद्धि है वहाँ अग्नि के अभाव की बुद्धि याने अग्नित्वेन अग्नि के अभाव की बुद्धि नहीं होती है, परन्तु जहाँ अग्निबुद्धि है वहाँ भी द्रव्यत्वेन अग्नि के अभाव की बुद्धि होने में कोई बाधा नहीं है। इससे यह ज्ञात होता है कि यह अभाव अग्नि के अभाव से विलक्षण अभाव है। इसे ही नैयायिक सामान्यधर्मेण विशेषाभाव कहते हैं। यह सामान्याभाव से विलक्षण है, क्योंकि जहाँ वस्तु के विद्यमान होने पर वस्तु के सामान्याभाव की बुद्धि नहीं होती है वहाँ उसके सामान्य रूप से विशेषाभाव की प्रतीति होने में कोई बाधा नहीं है।

यहाँ यह नहीं कह सकते कि अग्नित्व ही प्रतियोगितावच्छेदक है। द्रव्यत्व का अग्नि के साथ सम्बन्ध मात्र बोधित होता है, क्योंकि जिसे अग्निमान् यह निश्चय रहता है उसे भी उसी स्थान पर द्रव्यत्व रूप से अग्नि नहीं है यह प्रतीति होती है (जिसे अग्नि के द्रव्य होने का ज्ञान नहीं है)। इसलिए द्रव्यत्व को उक्त अभाव की प्रतियोगिता का नियामक मानना आवश्यक है। क्योंकि अग्नित्व से नियमित अग्नि में रहनेवाली प्रतियोगितावाली अग्नि-बुद्धि में अग्नित्व रूप से अग्निमत्ता का निश्चय विरोधक होता है इसलिए वहाँ भी प्रतियोगिता का नियामक द्रव्यत्व के स्थान पर अग्नित्व को मानने पर उक्त बुद्धि नहीं होगी। इसलिए द्रव्यत्व से नियमित अग्नि में रहनेवाली प्रतियोगितावाले अभाव-बोध में द्रव्यत्व रूप

से अग्नि का निश्चय ही विरोधी होता है। अतः अग्नित्व रूप से अग्नि का निश्चय होने पर भी द्रव्यत्व रूप से अग्नि के अभाव के निश्चय में कोई बाधा नहीं है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि द्रव्यत्व रूप से अग्नि का अभाव अग्नि सामान्यभाव से विलक्षण है। वह विलक्षणता प्रतियोगिता के स्वरूप की भिन्नता से उत्पन्न होती है। जैसा कहा जा चुका है कि प्रतियोगिता को स्वरूप सम्बन्ध के मत में सामान्याभाव की प्रतियोगिता प्रतियोगिता-नियामक-रूप होती है, परन्तु सामान्य रूप से विशेषाभाव-स्थल में इसका स्वरूप प्रतियोगितावच्छेदक सामान्य नहीं है, अपितु प्रतियोगि में प्रकार के रूप विद्यमान जो विशेष धर्म ही है, [२३] अर्थात् द्व्यत्व रूप से अग्नि के अभाव की प्रतियोगिता द्रव्यत्व स्वरूप न हो कर अग्नित्व (जो अग्नि का विशेषधर्म है)- रूप है, क्योंकि उसे द्रव्यत्व रूप मानने पर द्रव्य-सामान्याभाव और द्रव्यत्वेन अग्नि का अभाव इनमें कोई भेद नहीं होगा। दोनों ही की प्रतियोगिता द्रंव्यत्व-स्वरूप होगी और प्रतियोगिता के स्वरूप में भिन्नता न होने से अभावों में भी भिन्नता नहीं होगी। "इसलिए द्रव्यत्व रूप से पर्वत पर अग्नि नहीं है' इस अभाव की प्रतियोगिता द्रव्यत्व से नियमित होने पर भी वह प्रतियोगिता द्रव्यत्व नहीं है। वह अग्नित्व है या पूर्णतया स्वतन्त्र पदार्थ है।

परन्तु सामान्य रूपेण विशेष का अभाव (जैसे द्रव्यत्व रूप से अग्नि का अभाव) सभी नैयायिकों को मान्य प्रतीत नहीं होता। जगह-जगह पर जगदीश कहते हैं: [२४] "क्योंकि (कुछ नैयायिक) सामान्य रूप से विशेषाभाव को नहीं मानते" या "यदि (कुछ नैयायिक) सामान्य रूप से विशेषाभाव स्वीकार करें"– याने वन्हित्व रूप से तद्-वन्हि का अभाव स्वीकार किया तो–। इससे यह स्पष्ट है कि अनेक नैयायिकों की इस पक्ष के स्वीकार के बारे में अरुचि है। लेकिन इस प्रकार की उनकी अरुचि का कारण क्या है? सामान्य रूप से विशेषाभाव का तात्पर्य है कि जिस विशेषाभाव की प्रतियोगिता सामान्य-धर्म से नियमित होती है वह अभाव, अर्थात् उस अभाव की प्रतियोगिता का नियामक तत्त्व सामान्य तत्त्व होता है, विशेष तत्त्व नहीं, जैसा कि उक्त उदाहरण में द्रव्यत्व है। परन्तु नियामक अर्थात् अवच्छेदक के स्वरूप के विवेचन (जो कि आगे किया जायगा) से यह स्पष्ट है कि विशेष वस्तु के अभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक वही होता है जो न कम (न्यून) स्थान में और न अधिक स्थान में रहता है। इस दृष्टि से सामान्य धर्म से निरूपित विशेषाभाव सम्भव नहीं है। इसलिए कहा गया है कि प्रतियोगिता विशेष धर्म है। यदि वह इस प्रकार विशेष धर्म है तो उसे ही वहाँ अवच्छेदक मानना चाहिए, सामान्य धर्म को नहीं।

प्रतियोगिता का यह विवेचन अभी भी पर्याप्त नहीं है। अन्यान्य आभावों (जिनका उल्लेख इस लेख के आरम्भ में किया जा चुका है) के सन्दर्भ में इसका अधिक विवेचन अग्रिम लेख में किया जायगा।

दर्शन विभाग — बलिराम शुक्ल
पुणे विश्वविद्यालय
पुणे ४११००७

टिप्पणियाँ

१. अभाववैलक्षण्यं प्रतियोगितावैलक्षण्याधीनम्– व्याप्तिपञ्चक माथुरी, गंगानिर्झरिणी व्याख्यायाम्।

२. ध्वंसादि प्रतियोगितायां गोत्वादिधर्मावच्छिन्नत्वे मानाभावः। जागदीशी सिद्धान्तलक्षणे

३. बाधनिश्चयादि प्रतिबन्धकत्वाद्यनुरोधे नैव भेदात्यन्ताभावयोर्गोत्वाद्यवच्छिन्न प्रतियोगिताकत्वोमगमात्– वहीं।

४. ध्वंसीय प्रतियोगितायां सम्बन्धावच्छिन्नत्वेऽविवादादिति। जागदीशी सिद्धान्तलक्षणे, गंगा व्याख्यायाम्।

६. केचित्तु प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावानुरोधाभावेऽपि बाधनिश्चयाभावस्य कारणत्वानुरोधेनापि तत्स्वीकार आवश्यकः, तत्र हि तादृश निश्चयत्वावच्छिन्नाभावत्वे नैव कारणत्वम्, अन्यथा यत्किञ्चित् बाधनिश्चयाभावसत्वेऽपि तद्वत्तावुद्धि उत्पादापत्तेरिति आहुः। जागदीशी, सिद्धान्तलक्षणे, गंगाव्याख्या टिप्पण्यां।

५. ननु अभावीय प्रतियोगितायामेवधर्मावच्छिन्नत्वे मानाभावः तथा च सर्वा एव निरवच्छिन्नाः प्रतियोगित्वसम्बन्धावच्छिन्न गोत्वपर्याप्तावच्छेदकताकप्रकारतानिरूपिताऽभावत्वावच्छिन्न विशेष्यत्वावच्छिन्न स्वरूपसम्बन्धावच्छिन्नाभावत्वावच्छिन्न प्रकारतानिरूपित भूतलत्वावच्छिन्न विशेष्यताशालि निश्चयत्वेनैव प्रतिबन्धकत्व सम्भवादिति चेन्न। अभावांशेऽन्वयितावच्छेदकावच्छिन्न प्रतियोगित्वमेवान्वयिनः संसर्ग इति नियमात्। जागदीशी, सिद्धान्त लक्षणे, गंगाव्याख्या टिप्पण्यां।

७. एक जातीयेषु चरमव्यक्तिध्वंससमये तज्जातीय सामान्यध्वंस प्रतीतेरानुभविकत्वे सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वं ध्वंसे स्वीकार्यम्। वहीं।

८. प्रतियोगिव्यक्तिनां भेदेऽपि एकधर्मावच्छिन्नप्रतियोगितायाः लाघवेनैक्य स्वीकारादिति। जागदीशी, व्यधिकरणपरिच्छेदे

९. सामान्याभावीयान्यप्रतियोगित्वं च प्रत्याश्रयविभिन्नम्। वहीं

१०. स्वरूपसम्बन्धात्मिकायाः प्रतियोगितायाः सामान्याभावस्थले प्रतियोगिभेदेनैव भिन्नत्वादिति साम्प्रदायिकाः। जागदीशी, व्यधिकरण परिच्छेदे।

११. वृत्यनियामकसम्बन्धेनाधिकरणत्वस्य प्रतियोगित्वस्य चाप्रसिद्धया...... वहीं।

१२ (क) यस्मिश्च सम्बन्धे सति एकस्मिन् अपरस्य वृत्तिता, आधाराधेयभावः आश्रयाश्रयिभावो वा प्रतीयते स सम्बन्धः वृत्तिनियामकः।

(ख) यस्मिस्तु सम्बन्धे पूर्वोक्तरूपा वृत्तिता आधाराधेयभावश्च न प्रतीयते, केवलं सम्बन्धिताभावं स वृत्यनियामकः सम्बन्धः। Mahesh Chandra Nyayaratna; *Brief Notes on the Modern Nyaya System of Philosophy and its Technical Terms.*

१३. अत्र वदन्ति प्रतियोगिस्वरूपं तदवच्छेदकस्वरूपं वा यत् प्रतियोगित्वं तदपि कस्यचिदभावस्य केनचिद्धर्मेण सम्बन्धेन वाऽवच्छिन्नं व्यवहारबलात्, नतु सर्वेण सम्बन्धेन धर्मेण वा, समवायावच्छिन्नवन्ह्यभावप्रतियोगित्वं न संयोगावच्छिन्नमित्यादिव्यवहारात्। जागदीशी, सिद्धान्तलक्षणे

१४. अत्र च वृत्यनियामकसम्बन्धस्य प्रतियोगितावच्छेदकत्वमते एवेदमुक्तम्। जागदीशी, व्यधिकरणपरिच्छेदे

१५. अत्यन्ताभावप्रतियोगितायां सम्बन्धावच्छिन्नत्वसाधकस्य प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावाद्यनुपपत्यादेर्भेदस्थलेऽवतारासम्भवात्। जागदीशी, सिद्धान्त लक्षणस्य गंगाव्याख्यायाम्।

१६. अन्योन्याभावत्वमखण्डोपाधिरेव, यथा ध्वंसत्वादिकम्। वहीं

१७. तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावोऽन्योन्याभाव इति प्रतीतिबलादेव तत्सम्बन्धावच्छिन्नत्वं प्रतियोगितायां स्वीकार्यम्, तदतिरिक्त वृत्यनियामकसम्बन्धावच्छिन्नत्वं तु न। वहीं

१८. प्रतियोगित्वं हि स्वरूपसम्बन्धविशेषः । स च सामान्याभावस्थले प्रतियोगितावच्छेदक स्वरूप एव न तु प्रतियोगिस्वरूपोऽननुगमादाधाराधेयभावानुपपत्तेश्च । जागदीशी, व्यधिकरणपरिच्छेदे

१९. तत्र प्रतियोगिमात्रस्वरूपत्वे सामान्याभाव विशेषाभावयोरविशेषापत्तेरिरिती । जागदीशी, अवच्छेदकत्वनिरूक्ति प्रकरणे

२०. प्राचीनमते विशेषाभावीय प्रतियोगिता च केवला प्रतियोगिस्वरूपा । व्याप्तिपञ्चक माथुरी, गंगाव्याख्यायाम्

२१. अत एव द्रव्यत्वेन वन्हिर्नास्ति इत्यादि प्रतीत्या सामान्यधर्मेणापि विशेषाभावोऽभ्युपेयते । जागदीशी, व्यधिकरणपरिच्छेदे ।

२२. प्रतियोग्यंशे प्रकारीभूतधर्मविशिष्ट प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नेनैव साध्दमनायत्याऽभावस्य विरोधित्वं वाच्यम् । वहीं

२३. सामान्यरूपेण विशेषाभावस्थले प्रतियोग्यंशे प्रकारीभूतो विशेषधर्म एव-तथा न तु सामान्यधर्मः, अतिप्रसक्तत्वात् । जागदीशी, व्यधिकरण, परिच्छेदे ।

२४. "सामान्यरूपेण विशेषाभावानभ्युपगमात्" । तदभ्युपगमे तु...... जागदीशी, व्यधिकरणपरिच्छेदे ।

प्रतिक्रिया

परामर्श (हिन्दी) के खण्ड आठ अंक चार में "क्या दयानन्द नास्तिक थे ?" शीर्षक का निबन्ध पढने को मिला। उसके लेखक ने बहुत ही अच्छे ढंग से विषय के प्रतिपादन का प्रयास किया है। परन्तु लेखक ने कुछ बिन्दुओं को इस प्रकार प्रस्तुत किया है जिसके कारण लोगों का उनसे मतवैभिन्य हो सकता है।

गीतास्वरूप - निर्णय (पुनीत प्रकाशन, मेरठ) से दो वाक्यों को उद्धृत करते हुए लेखक ने डॉ. गर्ग की विद्वत्ता पर प्रश्नचिन्ह लगाने की आवश्यकता थी ? मान लीजिये कि डॉ. गर्ग ने दयानन्द को चार्वाक के सदृश स्वीकार किया है। पर क्या सादृश्य का अर्थ एकरूपता हो जाता है ? डॉ. गर्ग के कहने का अभिप्राय यह है कि किसी खास बिन्दु पर दयानन्द एवं चार्वाक के मत एक-दूसरे जैसे दिखाई देते हैं। सादृश्य दिख जाने पर सजीव एवं निर्जीव दोनों एक श्रेणी में चले आते हैं, फिर भी दोनों में आकाश एवं जमीन का अन्तर है।[1]

मेरे विचार से डॉ. गर्ग ने विशेष अर्थ में ही दयानन्द को नास्तिक कहा है। तथापि डॉ. तिवारी ने इस तथ्य की अवहेलना की है। मूर्तिपूजा, बलिप्रथा, वेद-विहित यज्ञादि अनुष्ठानों के विरुद्ध होने के कारण डॉ. गर्ग ने आर्य समाजी स्वामी दयानन्द सरस्वती को नास्तिक की संज्ञा से सम्बोधित किया है। पुरोहितवाद में अनाचारिता के आ जाने से यह घिनौना सा प्रतीत होता है। परन्तु इन यज्ञानुष्ठानों का अपना स्वतन्त्र महत्त्व है। यज्ञानुष्ठान अपने आप में बूरे नहीं हैं। इनमें कुरीतियाँ आ गयी और उन्हें दूर करने की आवश्यकता है। मूलत: यज्ञानुष्ठान निश्चित उद्देश्यों की प्राप्ति के दृष्टिकोण से ही किये गए होंगे। इनके अनुष्ठान का वैज्ञानिक महत्त्व भी है। अत: इन्हें शुद्ध करने की आवश्यकता है, न कि इन्हें समाप्त करने की। इन सभी तथ्यों को मथे नजर रखते हुए डॉ. गर्ग ने दयानन्द को चार्वाक के बट्टे चट्टे होने की बात की है।

कभी-कभी बाह्याडंबर आवश्यक होते हैं। संसार की सांसारिकता ही बाह्याडंबर है। बाह्याडंबर की समाप्ति के साथ संसार की सत्ता ही समाप्त हो जायगी।

हाँ, यह सही है कि जहाँ इस प्रकार बाह्याडंबरों से समाज की हानी होती है वहाँ समाजस्वास्थ्य के रक्षणार्थ उन्हें समाप्त करने की आवश्यकता है। लेकिन पूर्ण रूपेण बाह्याडंबरों को समाप्त करने पर मनुष्य की स्थिति कैसी होगी ? बाह्याडं-बरहीन समाज शायद नग्न स्त्री पुरुषों का समाज होगा जिससे आदिम सभ्यता का ही द्योतन होगा। आज तक के जितने ज्ञान-विज्ञान हैं वे सारे फिज़ूल प्रमाणित हो जाएँगे।

"दयानन्द निराकार और व्यक्तित्व-शून्य ईश्वर को छोड़ नहीं पाते" (पृ.३२६) डॉ. तिवारी का कहना शत--प्रतिशत सत्य है। परन्तु निराकार ब्रह्म उपासना का विषय विषय नहीं है। इसे व्यक्ति तब समझ पाता है जब वह विशिष्ट मानसिक स्थिति को प्राप्त कर लेता है। सामान्य जन के उपासना का विषय तो माया से संवलित ब्रह्म (ईश्वर) ही है और डॉ. तिवारी के अनुसार उसे महर्षि दयानन्द ने मान्यता नहीं दी है। यह भी एक कारण हो सकता है जिसके जरिये डॉ. गर्ग ने स्वामी जी को चार्वाक के समान माना है। परमार्थ की प्राप्ति के लिये संवृत्ति का सहारा आवश्यक है। [२]

"दयानन्द की भूल है कि उन्होंने पूर्ववर्ती ईश्वर को मान्यता न दे कर वेद को प्रामाणिक ग्रन्थ माना है। यदि वेद प्रामाणिक ग्रन्थ हैं तो पूर्ववर्ती ईश्वर के अस्तित्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। चार्वाक के सन्दर्भ में विरोधात्मकता का प्रसंग ही नहीं आता क्योंकि उसने स्वयं वेद की प्रामाणिकता पर प्रश्नचिन्ह लगाया है।" (पृ. ३२७-२८) डॉ. तिवारी के ये वाक्य प्रमाणित करते हैं कि दयानन्द स्वतोव्याघातता के शिकार हैं और चार्वाक एक निष्कलुष चिंतक है। परन्तु बात वैसी नहीं है। वेद के कर्ता के रूप में ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करना कोई जरूरी नहीं है। इसके कारणों की व्याख्या अन्यान्य भारतीय दर्शनों में विस्तार के साथ हुई है। वेद में बहुत से ऐसे तथ्यों की व्याख्या हुई है जो वैज्ञानिक की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। उन्हीं कारणों से स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने वेद को प्रामाणिक माना है। अतः दयानन्द के कथन में स्वतोव्याघातता नहीं है। चार्वाक न तो वेद को मानते हैं न ईश्वर को ही। परन्तु वेद का वैज्ञाज्ञिक महत्त्व है और ईश्वर का व्यावहारिक। इन्हें अमान्य घोषित करना यह प्रमाणित करता है कि ये विचार बुद्धिहीन लोगों के द्वारा एक विशेष उद्देश्य से प्रस्तुत किये गये हैं।

"किस भाष्यकार का भाष्य सही है और किसका गलत यह प्रश्न ही व्यर्थ है" (पृ. ३२८) जहाँ डॉ. तिवारी इसे स्वीकार करते हैं वहाँ दूसरी ओर कहते हैं कि "दयानन्द सरीखे विद्वान् को नास्तिक मानना और उन्हें चार्वाक के तुल्य

बनाने में क्या डॉ. गर्ग की विद्वत्ता पर प्रश्नचिन्ह नहीं लगता ? " इन दो कथनों से डॉ. तिवारी के मत में विरोधाभास स्पष्ट झलकता है। तुलसीदास की एक पंक्ति " सब खग मत नायक एहा " की व्याख्या एक विशिष्ट विद्वान् ने सत्रह हजार प्रकार से की है जो तुलसी सुधा सुधाकर भाष्य के नाम से प्रसिद्ध है। अब कोई कहेगा कि अमुक अर्थ सही है और अमुक सही नहीं है तो इसका कोई अर्थ ही नहीं होता। अतः डॉ. गर्ग की विद्वत्ता पर प्रश्नचिन्ह लगाना उचित नहीं होता है। वास्तव में गीता स्वरूप निर्णय की रचना कर डॉ. गर्ग ने लोकमान्य तिलक आदि के समान गीता की विशिष्ट व्याख्या प्रस्तुत की है। डॉ. गर्ग का यह कार्य मेरी दृष्टि से प्रशंसनीय है क्योंकि उन्होंने विषय को एक नए ढंग से जनता के समक्ष प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

– प्रभाकर मिश्र

दर्शन विभाग
नव नालन्दा महाविहार
नालन्दा– ८०३१११, (बिहार)

टिप्पणियाँ

1. "...When a word, as "good", is applied to the created and to God, it is not being used univocally (i. e. with exactly the same meaning) in the two cases. According to Acquinas, the "good" is applied to creator and creature neither univocally nor equivolly but analogically." John Hick; *Philosophy of Religion*, pp. 79-80.

२. द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना।
लोकसंवृत्तिसत्यं च सत्यं च परमार्थत.॥
नागार्जुन; मध्यमकशास्त्र २४.८

ग्रन्थ-समीक्षाएँ

— १ —

मोहता छगन, संक्रान्ति और सनातनता, वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर, १९८६ पृ. १०८, मूल्य रु. ४०/-

सांप्रतीय युग में मनुष्य अनेकों सामाजिक एवं साँस्कृतिक समस्याओं से मुकाबला कर रहा है। एक ओर है आधुनिकता और युग के बदलते परिवेश तो दूसरी ओर है पुरानी संस्कृति के सनातन मूल्य एवं आदर्श। आधुनिकता ने पुरानी संस्कृति के मूल्यों एवं आदर्शों को निस्तेज बना दिया है। इस हालत में सनातन मूल्यों एवं आदर्शों का अर्थ बता कर आधुनिक युग में उनकी प्रासंगिता प्रस्थापित करना मनीषियों के लिए एक महत्त्वपूर्ण काम है। इस तरह के कई प्रयास इन दिनों में हो भी रहे हैं। उन्हीं में से एक प्रयास है प्रस्तुत पुस्तक।

डॉ. छगन मोहता जी ने पिछले कुछ सालों में दिए हुए व्याख्यानों का परिशोधित एवं संस्कारित रूप इस पुस्तक में देखने को मिलता है। इसमें कुल मिलकर नौ निबंध हैं। सभी निबंधों का सूत्र एक ही होने के कारण पूर्ण पुस्तक में कुछ मद्दों की पुनरावृत्ति जरूर दिखाई देती है। फिर भी हर समय वही सूत्र अपने को एक नए ढाँचे में प्रस्तुत करता नजर आता है। डॉ. मोहता जी की शैली का यह वैशिष्ट्य अनूठा है।

आधुनिक मानव के जीवन की समस्याओं पर सोचते हुए उनका हल हमें दिखाई देता है अपनी मूल्य-परंपरा में ही। लेकिन सवाल यह उठता है कि इन मूल्यों को क्यों और कैसे स्वीकृत किया जाए ? इसी कारण डॉ. मोहता जी मूल्यों के दार्शनिक एवं आध्यात्मिक आधार खोजते हैं और उन आधारों पर मूल्यों की सनातनता को परखने की कोशिश करते हैं। उनकी धारणा है 'मूल्य अपने आप

में अखंड होते हैं।' (पृ. २६) '...स्वतंत्रता उस (मनुष्य) के लिए सबसे बड़ी मूल्यवान् चीज है।' (पृ. १९) 'मूल्यों का पुनर्मूल्यांकन ही वैचारिक क्रांति या अवस्थाओं की क्रांति होती है।' (पृ. २८) 'मूल्यबोध ही समाज की संरचना का आधार हो सकता था।' (पृ. ३१) 'जब बुनियादी पुरुषार्थों की पूर्ति नहीं होती तो पुरानी व्याख्या को चुनौती देना जरूरी हो जाता है।' (पृ. ३६) इस तरह के सूत्रों को सामने रखकर यहाँ मनुष्य जीवन के महत्त्वपूर्ण मूल्यांश को परखा गया है। इसके डॉ. मोहता जी गीता, शंकराचार्य, बुद्ध, कपिल आदि अनेकों महत्त्वपूर्ण दार्शनिक दृष्टियों का आधार देते हैं और नैतिक पक्ष के साथ ही साथ आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों पर विचार प्रस्तुत करते हैं।

अपने प्रथम निबंध 'कस्मै देवाय हविषा विधेय' में उन्होंने अर्थव्यवस्था के दो रूप– बलिदान-विषयक और बाजारू–बता कर नई समस्या का सनातन आधार खोज निकाला है। उनकी अंतिम दृष्टि समूची मानवता तक पहुँचती है। उसी स्तर पर उन्होंने अपना मूल्यचिंतन सभी निबंधों में जारी रखा है। 'सामाजिक पुनर्रचना के आधार' नामक अपने दूसरे निबंध में धर्म निरपेक्षता के सिद्धांत के खोखलेपन को धुत्कारते हुए उन्होंने धर्म के आशय की गरिमा अच्छी तरह बता दी है। वे कहते हैं, 'व्यवस्थित करना धर्म का प्रवृत्ति पक्ष है।' (पृ. ३३) लेकिन वे धर्म के बारे में अडिगपन नहीं दिखाते। उन्हें उसके परिवर्तन की संभावना मंजूर है और जरूरत पडने पर वे उसको पुकारते भी हैं, 'जब बुनियादी पुरुषार्थों की पूर्ति नहीं होती तो पुरानी व्याख्या को चुनौती देना जरूरी हो जाता है।' (पृ. ३६) अपने विचार को गीता, सांख्य और वेदांत के आधार पर सँवरते हुए वे गांधी और जयप्रकाश तक पहुँचते हैं और मानवी समस्या को सुलझाने के लिए सदाचार का व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक पक्ष उद्घाटित कर देते हैं। इसी पक्ष का अनुचरण करके मनुष्य का असली विकास हो पाता है। इस विचार का परिपोष उनके अगले निबंध 'मनुष्य : गुरुत्मान् नर पशु' में मिलता है। मनुष्य की आत्मचेतना के अतिक्रमण को उन्होंने बडी अच्छी तरह से स्पष्ट किया है। आगे चलकर 'भारतीय परंपरा : मूल दृष्टि' इस निबंध में भारतीय परंपरा में प्राप्त जीवन दृष्टि को स्पष्ट करते हुए वे एम्. एन्. रॉय, कार्ल मार्क्स, महात्मा गांधी, गीता, कुमार स्वामी तथा हेगेल इनके विचारों के संदर्भ में परखते भी हैं। 'भारतीय परंपरा : आधुनिक समाज' इस निबंध में वेद श्रुति तथा बुद्ध इनकी परंपरा से प्राप्त जीवन दृष्टि का विचार करते हुए मनुष्य की मूलभूत प्रेरणाओं

तथा मनुष्य के परस्पर संबंधों पर अपने विचार प्रकट करते हैं। इसमें बुद्ध की विचारधारा का बड़ा अनूठा अर्थ मिलता है। इसी तरह के विचारों के अन्य आयाम वे अपने शेष निबंध 'पर्यावरण और सनातन दृष्टि', 'बुनियादी मूल्य, परिवेश और बाजार', 'मानवीय मूल्यों का क्रम विकास' और 'आधुनिकता की समस्याएँ' इनमें प्रस्तुत करते हैं। डॉ. मोहता जी में कथन की रोचक शैली होने के कारण न केवल वे सहजता से विचार स्पष्ट करते हैं, बल्कि पाठकों की विचारधारा को जागृत करके किसी एक दिशा में गतिमान भी बना देते हैं। इसी कारण प्रस्तुत पुस्तक सामान्य जनों से लेकर दार्शनिक मनीषियों तक बहुत सारे लोगों को उपयुक्त साबित हो सकती है। दर्शनशास्त्र को संस्थात्मक मर्यादा के बंधन से मुक्त करके हमारे जीवन के व्यावहारिक पक्ष में उभरनेवाली समस्याओं को सुलझाने के लिए प्रयुक्त करने का डॉ. मोहता जी का यह प्रयास अवश्य ही स्पृहणीय है। इस पुस्तक से अनेकों तरह की विचार-चर्चाएँ शुरु हो सकती हैं, यही इस पुस्तक की यशस्विता मानना उचित होगा।

दर्शन-विभाग — सु. ए. भेलके
पुना - विश्वविद्यालय
पुणे – ७

— २ —

पोद्दार वासुदेव, कालयात्रा, दी उद्‌बोधन ट्रस्ट, कलकत्ता, १९८५, पृ. २०८, मूल्य रु. ७०/–

भारतीय शास्त्रग्रंथों का आलोडन करके डॉ. पोद्दार जी ने प्रस्तुत प्रबंध लिखा है। उनकी दृष्टि में यह ऋषिप्रज्ञा का विज्ञानचिंतन है। हमारे प्राचीन मनीषियों ने अनेकों विचारों पर काफी गहरा चिंतन करके कुछ सिद्धान्त प्रस्थापित किए हैं। लेकिन आधुनिक जगत् में उन्हें मान्यता नहीं मिल पा रही है। इस बात को सामने रखकर प्रस्तुत ग्रंथ लिखा गया है।

आदमी हमेशा ही अपने एवं विश्व के स्वरूप के बारे में सोचता चला आया है। इसी प्रक्रिया में एक ओर दर्शनशास्त्र का विकास होता है तो दूसरी ओर विज्ञान का उद्‌गम होता है। इन दोनों आयामों को एक दूसरे के परिप्रेक्ष्य में रखकर भी आदमी कुछ सोच-विचार करता है और उससे भी कुछ सिद्धान्तों का उद्‌गम होता है। इस तरह का चिंतन आज तक कई तरह के ग्रंथों में प्रस्तुत किया गया है वह भारतीय परंपरा में भी देखने को मिलता है। लेकिन उसकी समझ-बूझ एक पहेली-सी बनी है। क्यों कि प्राचीन भारतीय प्रस्तुतीकरण को ठीक तरह से समझ पाने का तंत्र अभी तक ठीक तरह से विकसित नहीं हो पाया है। अतः प्राचीन भारतीय चिंतन को समकालीन वैज्ञानिक परिभाषा में प्रस्तुत करना यह एक स्वतंत्र एवं महत्त्वपूर्ण कार्य बन गया है। यह कार्य कठिन है और विभ्रमादि जैसे बहुतेरे संकटों से भरा हुआ है। अपनी सांस्कृतिक महत्ता के आवेश में आकर कुछ विभ्रमादि संभव हैं और बुद्धि की जगह कल्पना की उड़ान का आधार लेकर अन्वेषण करने से कुछ और विभ्रमादि संभव हैं। अर्थात् ऐसे संकटों से ड़र कर नहीं बल्कि उनसे मुकाबला करते करते ही इस तरह का कार्य जारी रखना है

प्रस्तुत ग्रंथ में इस कार्य को बड़े सन्तुलित रूप से सम्हाला गया है। विश्वोत्पत्ति, जैवविकास, काल, जीवन और मृत्यु, सनातन महासत्ता, इतिहास इन विषयों-से जुड़े मौलिक प्रश्नों को लेकर उनके वैज्ञानिक उत्तरों का विमर्श देकर लेखक ने इस ग्रंथ की रचना की है। विश्व के स्वरूप का विचार करते हुए उसे ऐतिहासिक या कालिक संदर्भ में रखकर विश्लेषण करना यह एक दार्शनिक दृष्टि कही जा सकती है। इस तरह की विकासानुगामी दृष्टि का आरंभ उद्‌गमविषयक किसी सिद्धान्त या अभ्युपगम को सामने रखकर किया जा सकता है। इससे अभिभूत होनेवाला अर्थ ऐतिहासिक अन्वय के रूप में प्रतीत होने पर भी उसमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण होता है उसकी तार्किक गवेषणा का सूत्र। इन सूत्रों की खोज और पहचान यह दार्शनिक अनुसंधान का एक विशेष महत्त्वपूर्ण अंश होता है। इस सूत्र को अपने प्रबंध का केन्द्रीय सूत्र बनाकर डॉ. पोद्दारजी ने प्राचीन मनीषियों के चिंतन को आधुनिकता के रूप में ढ़ालने यशस्वी एवं प्रशंसनीय यत्न किया है।

प्रस्तुत ग्रंथ की भाषा संस्कृत प्रचुर एवं विद्वज्जड है। इससे शैली की सूक्ष्मयता एवं विषय की संपृक्तता अवश्य ही संरक्षित होती है। लेकिन दूसरी ओर इस तरह की भाषा से पाठकगणों का वर्ग संकुचित होता है और उन्हें विषय को समझने के लिए अपनी समझ पर कुछ अधिक ही बल देना पडता है। इस तरह के विषयों का विवरण व्यापक पाठक वर्ग तक प्रसारित होना अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है

और उस दृष्टि से शैली भी अधिक उपयुक्त होना आवश्यक है। प्राचीन ऋषि-प्रज्ञा का चिंतन प्रस्तुत करने में प्रस्तुतकर्ता को केवल तात्त्विक इतिहासकार की भूमिका लेने से काम नहीं चलेगा। उसमें संकल्पाओं का विवरण एवं विश्लेषण तथा उसमें अंतर्निहित तार्किक रचनाओं का प्रस्तुतीकरण भी अपेक्षित है। इससे मूल सिद्धान्त-दृष्टि को दृढता आ जाती है। ग्रंथ में दिये संदर्भों से एक व्यापक आधारभूत ग्रंथ-सूचि मिल सकती है। इस तरह की सूचि बनाकर उसे ग्रंथ में समाविष्ट करना भविष्यकालीन अध्येताओं को अधिक उपयुक्त साबित होगा।

— सु. ए. भेलके

दर्शन-विभाग,
पूना- विश्वविद्यालय,
पुणे- ७

आजीवन सदस्य (व्यक्ति)

१५१. डॉ. राजेश कुमार सिंह
ग्राम व पोस्ट– खैरा
वाया– राजौन– ८१३१०७
जिला– भागलपुर
(बिहार)

१५२. कु. चित्रा माथुर
द्वारा, श्रीराम मनोहर माथुर
२०२८, हाथीपुर
लखीमपुर (खीरी)- २६२७०१
(उ. प्र.)

१५३. डॉ. एस्. के. त्रिपाठी
म. नं. ३७६/१८
सिविल लाइन्स
बी. के. डी. शिक्षक आवास
झाँसी
(उ. प्र.)

१५४. डॉ. रघुनाथ गिरी
बी ३७/१६५ A गिरिनगर
बिरदोपुर
वाराणसी– २२१०१०
(उ. प्र.)

१५५. डॉ. चन्द्रिका चौबे
प्रपाठक, दर्शन विभाग
ल. ना. मिथिला विश्वविद्यालय
कामेश्वर नगर
दरभंगा– ८४६००४
(बिहार)

१५६. डॉ. जमनालाल बायती
शासकीय स्नातकोत्तर शिक्षक
प्रशिक्षण महाविद्यालय
बीकानेर-- ३३४००१
(राजस्थान)

१५७. डॉ. के. के. झा 'कमल'
ग्राम व पोस्ट डडिमा
बारास्ता-केवटी रनवे–
८४७१२१
दरभंगा
(बिहार)

१५८. डॉ. नवल किशोर
प्राचार्य
बालूघाट
मुझफ्फरपुर– ८४२००१
(बिहार)

१५९. डॉ. सुद्युम्नाचार्य
संस्कृत विभाग
मु. म. टाउन स्नातकोत्तर
उपाधि महाविद्यालय
बालिया– २७७००१
(उ. प्र.)

१६०. डॉ. अमरनाथ झा
शुभंकर पुरी
देवरी
दरभंगा
(बिहार)

स्थायी सदस्य (संस्था)

२१. ग्रंथालयाध्यक्ष,
रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय
ग्रन्थालय
जबलपुर- ४८२००१
(म. प्र.)

न्यायशास्त्रीय पद्धति के द्वारा देहात्मवाद की सम्भाव्यता

(यह विषय भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद् के द्वारा सारनाथ (वाराणसी) में सन १९८५ में आयोजित न्यायपंडित गोष्ठी में आचार्य बदरीनाथ शुक्ल जी के द्वारा प्रस्तुत किया गया था तथा उपस्थित विद्वानों के द्वारा साभिनिवेश इस पर चर्चा की गयी थी।[१])

न्याय-वैशेषिक शास्त्रों के प्रामाणिक ग्रन्थों के पर्यालोचन से 'आत्मा' के विषय में यह निष्कर्ष यह प्राप्त होता है कि आत्मा पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक् (दिशा) और मन से भिन्न नवम द्रव्य है। वह दो प्रकार का है--जीवात्मा और परमात्मा। उनमें से जीवात्मा प्रत्येक (सजीव) शरीर में भिन्न है, शरीर, इन्द्रिय मन तथा प्राण से भिन्न है; सभी मूर्त-द्रव्यों के साथ वह संयुक्त होता है तथा वह कर्ता एवं भोक्ता है। सभी मूर्त-द्रव्यों के साथ उसका सम्बन्ध होने पर भी जिस देह के साथ उसका पूर्व अर्जित अदृष्ट के कारण विलक्षण संयोग रूप भोगनियामक सम्बन्ध स्थापित होता है उसी देह से पूर्वकर्मों के ऊँच-नीच, सुख-दुःखात्मक फलों को भोगता है, तथा नये-नये कर्मों को करते हुए पुण्य-पाप-रूप धर्माधर्मों से अपने कोष में वृद्धि करता रहता है। नये-नये अनुभवों से प्राप्त संस्कार की राशि में वृद्धि करता रहता है। सभी प्रकार के क्रिया–कलापों में उसके अदृष्ट से आकृष्ट मन उसकी सहायता करता है।

न्याय-वैशेषिक दर्शनों के अनुसार जीवात्मा ज्ञान, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, भावना, सुख, दुःख इन नौ विशेष तथा संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग इन पाँच सामान्य गुणों का आश्रय माना जाता है। वह अपने कर्म के अनुसार विभिन्न योनियों में उत्पन्न होता है। मनुष्य अपने शरीर में आत्मतत्त्व के साक्षात्कार से अपवर्ग अथवा निःश्रेयस् का अधिकारी बनता है तथा देही, प्राणि, जीव आदि शब्दों से व्यवहृत होता है।

परमात्मा जीवात्मा से भिन्न, अद्वितीय (एक मात्र), जगत् का कर्ता, वेद-प्रणेता और उपासना से जीवों को भौतिक तथा दिव्य सुखों में को देने वाला है, जीवों को उनके अर्जित कर्म के फलभोग तथा मोक्षलाभ में सहायक है, नित्य-ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न तथा संख्या, परिमाण, पृथक्त्व संयोग, विभाग इन आठ गुणों का आश्रय है। ईश्वर प्रभु, भगवान् आदि शब्दों, से जाना जाता है। जगत् की सृष्टि, रक्षा और संहार-रूपी कर्मों के कारण क्रमशः ब्रह्मा विष्णु और शंकर नामों से जाना जाता है।

बाल्यकाल में अनुभूत का वार्धक्यावस्था में स्मरण न होने से तथा मृत देह में विद्यमान न होने से ज्ञान देहाश्रित नहीं है। ज्ञान-मूलक होने से (आत्मा के) अन्य विशेष गुण भी देहाश्रित नहीं हैं। एक इन्द्रिय से अनुभूत का उस इन्द्रिय का नाश होने पर भी स्मरण होने से, तथा एक शरीर में अनेक इन्द्रियों की सत्ता होने से (यदि उनमें से हरेक को आत्मा के रूप में स्वीकार किया तो एक ही शरीर में अनेक जीवात्माओं की सत्ता स्वीकार करनी पड़ेगी), तथा (उनके द्वारा) देह को एक साथ विपरीत दिशाओं में ले जाने की प्रवृत्ति उत्पन्न होने की सम्भावना होने से, और देह के विनाश की आपत्ति के कारण ज्ञान आदि गुण इन्द्रियाश्रित नहीं हैं। मन अणु (परिमाणी) होने से तथा उसमें आश्रित ज्ञान आदि गुणों का प्रत्यक्ष (ज्ञान) न होने से ज्ञान आदि गुण मन के भी नहीं कहे जा सकते। परन्तु इनसे भिन्न आत्मा ही ज्ञानादि का आश्रय है।

यहाँ यह विचार प्रस्तुत किया जा रहा है कि न्याय-वैशेषिक ग्रन्थों में उप-लब्ध आत्मवाद विचार करने पर स्थिरता को प्राप्त करता नहीं दिखायी देता। मन के सहयोग से शरीर को आत्मा मानना सम्भव है । उसी प्रकार आत्मा अतिरिक्त द्रव्य नहीं है; देह और मन के द्वारा ही आत्मा से सिद्ध होने वाले प्रयोजनों का निर्वाह शक्य है। इस मत में देह ही बुद्धि, सुख, दुःख इच्छा, द्वेष, प्रयत्न इन प्रत्यक्ष-योग्य गुणों का आश्रय है। प्रत्यक्ष-योग्य न होने वाले धर्म अधर्म, भावना का आश्रय मन है। पृथ्वी के विशेष गुण कारण गुणों से अथवा पाक से उत्पन्न होने वाले होने के कारण बुद्धि आदि गुण पार्थिव मनुष्यादि शरीर के विशेष गुण नहीं हो सकते, शरीर के अवयव जड़ होने के कारण और वे बुध्यादि से रहित होने से उनके गुणों से देह में बुद्धि आदि की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। पाक से भी देह में उनकी उत्पत्ति सम्भव नहीं है क्योंकि पाकज गुण अपने सजातीय गुणों का विनाश करके ही उत्पन्न होते हैं ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि बुद्धि आदि शरीर के सामान्य गुण माने जाते हैं। पृथ्वी के सामान्य गुणों की उत्पत्ति में अवयवों के सजातीय गुण या पाक की आवश्यकता नहीं

होती; शरीर में उत्पन्न होने वाले अन्य सामान्य गुणों की तरह प्रकारान्तर से बुद्धि आदि की उत्पत्ति सम्भव है। बुद्धि आदि को शरीर का सामान्य गुण मानने पर रूप आदि की तरह जबतक शरीर रहता है तबतक उनके रहने जैसी आपत्ति सम्भव नहीं है। शरीर में रहने वाले संयोग आदि सामान्य गुणों के समान ही उसमें रहने वाले बुद्धि आदि का भी शरीर के रहते हुए भी विनाश सम्भव है।

बुद्धि आदि को देह का गुण मानने पर उसे उसका विशेष गुण ही क्यों न माना जाय यह शंका नहीं करनी चाहिये क्योंकि विशेष-गुण के लक्षण के अनुसार उनका उसमें समूह नहीं होता है। साथ-साथ विशेष-गुणत्व का अर्थ है– द्रव्य का विभाजन करने वाली उपाधि से सम्बन्धित जातियुक्त गुणत्व। द्रव्य विभाजक उपाधि से जाति दो प्रकार के सम्बन्धों से सम्बन्धित होती है: एक सम्बन्ध है 'स्वाश्रयवृत्तितावच्छेदकत्व' (उपाधि के आश्रय से निर्देशित वृत्तिता का अवच्छेदक होना) तथा दूसरा है 'स्वनाश्रयवृत्तितानवच्छेदकत्व' (उपाधि के आश्रय के भिन्न के द्वारा प्रदर्शित वृत्तिता का अवच्छेदक न होना) जैसे, गन्धत्व नीलत्व, पाकज अनुष्णाशीतस्पर्शत्व, पाकज मधुरत्व आदि द्रव्य का विभाजन करनेवाली पृथ्वित्व उपाधि से युक्त उभय सम्बन्धों से सम्बन्धित है, अतः उन गन्धत्वादि जातियों के आश्रय गन्ध आदि गुण पृथिवी के विशेष गुण हैं। शीतत्व, स्नेहत्व, सांसिद्धिक द्रवत्व, अपाकारण मधुरत्व आदि द्रव्य-विभाजक जलत्व उपाधि से उक्त उभय सम्बन्धों से सम्बधित हैं। अतः उनके आश्रय शीतस्पर्श, सांसिद्धिक द्रवत्व आदि गुण जल के विशेष-गुण हैं। उष्णत्व, भास्वर शुक्लत्व उक्त दो सम्बन्धों से द्रव्य विभाजक उपाधि तेजस्त्व से सम्बधित होने से उक्त जातियों के आश्रय उष्ण स्पर्श, भास्वरशुक्ल-रूप तेज के विशेष गुण हैं। अपाकज अनुष्णाशीतस्पर्शत्व जाति द्रव्य की विभाजक वायुत्व उपाधि से उक्त उभय सम्बन्धों से सम्बन्धित होने से उस जाति का आश्रय अपाकज अनुष्णाशीतस्पर्श वायु का विशेष गुण है। शब्दत्व द्रव्य विभाजक आकाशत्व उपाधि से उक्त दो सम्बन्धों से सम्बधित होने से शब्दत्व जाति का आश्रय शब्द आकाश का विशेष गुण है। बुद्धि देहगत मानने पर उसे पार्थिव, जलीय, तैजस्, वायवीय देहों में विद्यमानता होने से बुद्धित्व आदि जातियाँ पृथ्वीत्व आदि किसी भी द्रव्य विभाजक उपधि से उक्त दोनों सम्बन्धों के माध्यम से सम्बन्धित नहीं हैं, अतः उन जातियों के आश्रय बुद्धि आदि गुण पृथ्वी आदि द्रव्यों का विशेष गुण नहीं हैं, बल्कि वे शरीर के सामान्य गुण हैं यह बात स्पष्ट है।

धर्म, अधर्म और भावना ये गुण इस मत में मन के गुण होने से धर्मत्व आदि जातियाँ द्रव्य-विभाजक मनस्त्व उपाधि से उक्त उभय सम्बन्धों से सम्बन्धित होने से उनके आश्रय धर्मादि मन के विशेष-गुण हैं।

बुद्धि आदि को शरीर का गुण मानने पर रूप आदि के समान चक्षुरादि बाह्य इन्द्रियों से उनका ग्रहण होना चाहिए यह शंका योग्य नहीं है। क्योंकि शरीर के गुणों का किसी एक इन्द्रिय से ही प्रत्यक्ष होता है इस प्रकार का नियम न होने से चक्षु से रूप का, त्वचा से स्पर्श का, घ्राण से गन्ध का, रसना से रस का जैसे प्रत्यक्ष होता है उसी प्रकार मन से बुद्धि आदि का प्रत्यक्ष होता है ऐसा मानने में बाधा नहीं है।

शरीर के गुणों का बाह्य इन्द्रिय से ही ग्रहण होता है यह नियम होने से मन के द्वारा ग्राह्य बुद्धि आदि शरीर के गुण नहीं हो सकते यह कहना भी योग्य नहीं है। शरीर को बुद्धि आदि का आश्रय स्वीकार करने पर उनके ग्राहक मन को भी बाह्य द्रव्य के गुण का ग्राहक मानने पर उसे भी बहिरिन्द्रिय कहा जाना चाहिए। उसे अन्तरिन्द्रिय इसलिये कहा जाता है कि वह शरीर के अन्दर रहता है।

अथवा, शरीर के बाह्यभाग में विद्यमान गुण ही बाह्य इन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य होते हैं यह नियम मानने पर बुद्धि आदि गुण शरीर के आभ्यन्तर भाग में उत्पन्न होते हैं अतः उनके ज्ञान के लिए अन्तरिन्द्रिय की ही आवश्यकता होने से रूप आदि के समान अथवा शय्या के साथ शरीर के संयोग के समान बाह्य इन्द्रिय से इनके ज्ञान की आपत्ति नहीं प्रस्तुत की जा सकती।

इस कहने का आशय यह है कि जिस प्रकार सांख्य दर्शन में इन्द्रियाँ ज्ञान और कर्म रूप प्रयोजनों के भेद से दो प्रकार की होती हैं और दोनों प्रकार की इन्द्रियों का सहकारि होने से मन जिस प्रकार उभयात्मक माना जाता है उसी प्रकार बुद्धि आदि देह के गुण होने से और मन बाह्य द्रव्य के गुणों का प्रत्यायक होने से बाह्य इन्द्रिय तथा शरीर के अन्दर रहनेवाला होने से अन्तरिन्द्रिय भी कहा जा सकता है।

शरीर को ज्ञान आदि का आश्रय मानने पर उसका रूप आदि गुण जिस प्रकार दूसरों से देखे जाने वाले हैं वैसे ही ज्ञान आदि भी दूसरे से देखे जाने वाले होने चाहिये यह शंका भी नहीं होनी चाहिये। क्योंकि एक शरीर में रहने वाले रूपादि गुणों का अन्य शरीर में होने वाले चक्षु आदि के समीप होने के कारण दूसरे के द्वारा उनका प्रत्यक्ष होने पर भी एक शरीर में रहने वाले ज्ञान आदि का

दूसरे के शरीर में रहने वाले अणु-परिमाणी मन के समीप न होने से (उसे उनका ज्ञान होने की) उक्त आपत्ति संभव नहीं है। (किसी भी) प्रत्यक्षात्मक अनुभव का विषय इन्द्रिय से सम्बन्धित पदार्थ ही होते हैं। शरीर को ज्ञानादिमान् मानने पर बाल्यकाल में अनुभूत वस्तुओं का वार्धक्यावस्था में स्मरण नहीं होना चाहिये, बाल्य और वृद्ध शरीर दोनों भिन्न होने से बाल्य शरीर के अनुभव से उत्पन्न संस्कार वृद्ध शरीर में नहीं रहते इस प्रकार की आशंका भी उचित नहीं है। शरीरात्मवाद में शरीरगत अनुभव से उत्पन्न संस्कार मन में मानने से बाल-शरीर-गत मन वृद्ध शरीर में भी होने से मन में रहने वाले संस्कार की महिमा से बाल्यकाल में अनुभूत वस्तुओं का वृद्धशरीर में स्मरण हो सकता है।

देहात्मवाद में संस्कार के लिये अनुभव 'स्वाश्रयविलक्षण-संयोग सम्बन्ध' से तथा स्मृति के लिए अनुभव 'स्वाश्रयविजातीय-संयोग सम्बन्ध' से कारण है। इन्द्रियों के साथ या शरीर के अवयवों के साथ जो मन का संयोग है वह मन और देह के संयोग का कोई प्रकार नहीं है। अतः इन्द्रियों में अथवा शरीर के अवयवों में संस्कार या स्मृति की उत्पत्ति की आपत्ति नहीं है।

वर्तमान शरीर से सहयोगी मन उस शरीर से उत्पन्न अदृष्ट के कारण उत्पन्न नूतन बालक शरीर में विजातीय संयोग सम्बन्ध से प्रविष्ट हो कर उसमें भी पूर्वशरीर के द्वारा अनुभूत पदार्थ का स्मरण होने में कोई बाधा न होने से सद्यःजात शिशु की दुग्धपान-प्रवृत्ति में भी कोई बाधा नहीं है। पूर्व-शरीर में स्थित मन, जो कि पूर्वशरीरगत स्तनपान के विषय में इष्टसाधनताज्ञान के फलस्वरूप उत्पन्न संस्कार से युक्त है, शिशु-शरीर में प्रविष्ट होने से उसमें रहने वाले आधार से वहाँ स्तन्यपानविषयक इष्टसाधनता का स्मरण होने में कोई विरोध नहीं है।

देहात्मवाद स्वीकार करने पर पूर्व शरीर में अनुभूत वस्तु की पश्चात् शरीर से स्मृति होती है यह स्वीकार करने पर चैत्र (एक व्यक्ति) के द्वारा अनुभूत वस्तु का मैत्र (अन्य व्यक्ति) को स्मरण होने की आपत्ति प्रस्तुत करना भी संभव नहीं है, क्योंकि चैत्र के द्वारा अनुभूत संस्कार चैत्र के मन में ही होते हैं और वे मैत्र के शरीर में नहीं रहते।

वर्तमान देहरूप आत्मा आजीवन विविध कर्मों में व्यापृत रहता है, परन्तु सभी कर्मों का फल उसे प्राप्त नहीं होता है। देह के नष्ट हो जाने पर उसके अभुक्त फल वाले कर्मों की व्यर्थता हो जाने से कृतप्रणाश, तथा नूतन देहस्वरूप आत्मा के जन्मकाल से ही अकृत कर्मों का फलोपभोग करने से अकृताभ्यागम का

देहात्मवाद में परिहार नहीं है यह भी कहना उचित नहीं है। वर्तमान शरीर से किये गये अभुक्त फलवाले कर्मों का फल, धर्माधर्म व्यापार के आश्रय मन के दूसरे शरीर में प्रवेश करने पर उसी शरीर में उत्पन्न होने से वे सार्थक हैं। बिलकुल नये शरीर में भी पूर्वदेह-कृत कर्मों के ही फल उत्पन्न होने से अकृताभ्यागम दोष नहीं होता है। देहात्मवाद में यह नियम नहीं है कि जो जिस कर्म को करता है वही उसका फल प्राप्त करता है। उक्त नियम अतिरिक्त आत्मवाद से चिरकाल से उत्पन्न संस्कार-मूलक है और वह यहाँ मान्य नहीं है। उसके स्थान पर यह नियम माना है कि जिस मन-अधिष्ठित देह से जो कर्म किया जाता है उसका फल उस मन के आश्रित देह के द्वारा ही भोगा जाता है। मन के देहाधिष्ठित होने का अर्थ है देह अनुयोगिवाले विजातीय संयोग का प्रतियोगि होना तथा देह का मन-अधिष्ठित होने का अर्थ है मन जिसका प्रतियोगी है ऐसे विजातीय संयोग का अनुयोगि होना।

शरीर के द्वारा किये गये विहित तथा निषिद्ध कर्म मन में न रहने से वहाँ पर तज्जनित पाप-पुण्य की उत्पत्ति कैसे हो सकती है, तथा मन में रहने वाले पाप-पुण्य से उनसे रहित नवीन शरीर में सुख-दुःखात्मक फल प्राप्ति कैसे हो सकती है यह शंका भी यहाँ सम्भव नहीं हैं क्योंकि शरीर के कर्म से शरीर के साथ मन के विजातीय संयोग से अदृष्ट (पाप-पुण्य) के लिये मन में रहने वाला अदृष्ट भी विजातीय संयोग सम्बन्ध से कारण मानने पर उपर्युक्त शंका की संभावना नहीं रहती है।

अनुभव, संस्कार और स्मृति में तथा कर्म और अदृष्ट-फल में जो साक्षात् सामानाधिकरण्य सम्बन्ध से कार्यकारण-भाव है वह पूर्वोक्त सम्बन्ध से होने वाले कार्यकारण की अपेक्षा लघु होने से उसके आधार पर अतिरिक्त-आत्मवाद ही मानना अधिक उचित है यह कथन भी सुचारु नहीं है। स्वीकृत पदार्थ के आधार पर लघु और गुरु इन दो प्रकार के कार्यकारण-भावों के उपस्थित होने पर उनमें से लघु का स्वीकार किया जाता है। जैसे, मीमांसक मत में 'साध्यव्याप्त हेतुः' 'हेतुमान् पक्षः' ये दोनों वादि-प्रतिवादी-सम्मत ज्ञान अनुमिति के लिये कारण माने जाते हैं। न्याय मत में 'साध्यव्याप्यहेतुमान् पक्षः' यह एक ही ज्ञान वादी-प्रतिवादी-सम्मत अनुमिनि के लिए कारण माना गया है। इस प्रकार दोनों पक्षों के उपस्थित होने पर (कल्पना) लाघव के आधार पर नैयायिक सम्मत कार्यकारण-भाव ही स्वीकार किया जाता है। उनके मत में कार्यकारणतावच्छेदक गर्भ में तत्-तत् पुरुष का प्रवेश नहीं होता है। समवाय सम्बन्ध से उन्होंने अनुमिति के लिये उक्त ज्ञान (साध्यव्याप्यहेतुमान् पक्षः) को कारण मानने पर एक के उक्त

ज्ञान से दूसरे को अनुमिनि की उत्पत्ति को सम्भावना नहीं रहती है। मीमांसक के मत में एक व्यक्ति को व्याप्ति-ज्ञान और अन्य व्यक्ति को पक्षधर्मता का ज्ञान होने पर तथा एक हेतु में व्याप्तिज्ञान और दूसरे हेतु में पक्षधर्मता का ज्ञान होने पर अनुमिति की आपत्ति का निराकरण करने के लियें उस व्यक्ति को अभिप्रेत साध्य तथा अभिप्रेत पक्ष में होने वाली अनुमिति के लिये उस व्यक्ति का अभिप्रेत पक्ष-वाला तथा अभिप्रेत साध्यवाला व्याप्तिज्ञान तथा उसी व्यक्ति का अभिप्रेत पक्ष में अभिप्रेत हेतु के ज्ञान को कारण मानना पड़ेगा, जिसके फलस्वरूप व्यक्ति के भेद से अनन्त कार्य--कारणभाव उत्पन्न होने से (कल्पना) गौरव के कारण मीमांसकों को मान्य कार्यकारण--भाव छोड़ा जाता है।

अथवा एक विषय योग्यता-ज्ञान से अन्य विषयक शाब्दबोध की आपत्ति का निराकरण करने के लिए कार्यकारणभावावच्छेदक शरीर में धर्मितावच्छेदकों (घटत्व, पटत्व आदि) का समावेश करना आवश्यक हो जाता है, जिसके फलस्वरूप शाब्दबोध और योग्यता-ज्ञान का आत्मा में रहने वाले सम्बध से कार्यकारणभाव धर्मितावच्छेदक भेद-मूलक अनन्तता के गौरव-दोष से ग्रस्त हो जाता है। यदि धर्मितावच्छेदक में रहनेवाले सम्बन्ध के आधार पर कार्यकारण-भाव स्वीकार किया हो तो एक व्यक्ति के ज्ञान से दूसरे व्यक्ति को होने वाले शाब्दबोध की आपत्ति के परिहार के लिये तत्पुरुषीयत्व का निवेश होने पर भी तत्-तत् पुरुष से भिन्न धर्मों का कार्यकारणभावावच्छेदक शरीर में प्रवेश न होने से लाघव होता है, इसलिए आत्मनिष्ठ सम्बन्ध से कार्यकारण-भाव अस्वीकार कर के धर्मितावच्छेदकनिष्ठ सम्बन्ध से ही उनमें कार्यकारणभाव स्वीकार किया जाता है।

प्रकृत पक्ष (मत) में ऐसी स्थिति नहीं है; अतिरिक्त आत्मा वादि और प्रतिवादी दोनों के लिये ही अस्वीकार होने से अनुभव, संस्कार, स्मृति तथा कर्म अदृष्ट-फल में साक्षात् सामानाधिकरण्य सम्बन्ध से कार्यकारणभाव प्राप्त ही नहीं है। उसकी प्राप्ति के लिये अनन्त विभु आत्माओं की कल्पना अत्यन्त गौरव-ग्रस्त है। इसलिये उनमें उक्त सम्बन्ध से ही कार्यकारणभावरूप एक ही पक्ष प्राप्त होने से उसे स्वीकार करना ही न्याय्य है।

दूसरी बात यह है कि अतिरिक्त आत्मवाद में 'मैं-जाता हूँ' (अहं गच्छामि) 'मैं जानता हूँ' (अहं जानामि) इत्यादि प्रयोगों में आख्यातार्थ की भिन्नता की कल्पना से प्रयुक्त गौरव भी दुर्निवार्य है। प्रथम उदाहरण में कृति तथा द्वितीय उदाहरण में आश्रयता को आख्यातार्थ माना जाता है। (इसके विपरीत) देहमा-वाद में दोनों ही स्थलों में आश्रयता ही आख्यातार्थ होती है।

इसके अलावा, चैत्र (एक व्यक्तिवाचक) पद चैत्रशरीरगत चैत्रत्व जाति-प्रवृत्ति-निमित्तक होने से और चैत्र व्यक्ति शरीर होने से "चैत्रो गच्छति" इस वाक्य से चैत्र व्यक्ति में गमन की आश्रयता का ज्ञान सम्भव होने पर भी 'चैत्रो जानाति' इस वाक्य से चैत्र में ज्ञानाश्रयता का बोध अतिरिक्त आत्मवाद में सम्भव नहीं है।

'ज्ञा' धातु के बाद प्रयुक्त आख्यात का 'अवच्छेदकत्व' अर्थ स्वीकार कर के उक्त वाक्य से यथार्थ शाब्दबोध का आपादन सम्भव नहीं है, क्योंकि ऐसी स्थिति में ईश्वरीय ज्ञान नित्य होने से 'अनवच्छिन्न' होने के कारण 'ईश्वरः सर्वं जानाति' इस वाक्यार्थ-बोध की अनुपपत्ति का प्रसंग उपस्थित होगा।

चैत्र पद को स्वाश्रयत्व स्वाश्रयावच्छेद्यत्वान्यतर सम्बन्ध से शरीरगत चैत्र-त्वादि जातिवाचक तथा प्रवृत्ति निमित्तक मानने से उसे शरीर तथा आत्मा इस उभय-परक स्वीकार करके भी 'चैत्रो जानाति,' 'चैत्रो गच्छति' इन वाक्यार्थों के बोध का उपपादन सम्भव नहीं है। क्योंकि 'चैत्रो न जानाति' इस वाक्यार्थ को समझने पर भी 'चैत्रो जानाति' इस बोध की आपत्ति का प्रसंग होगा। प्रथम की शरीर को ले कर तो द्वितीय की आत्मा को लेकर एकसाथ उत्पत्ति सम्भव है।

देहात्मवाद को लेकर कोई यह शंका उपस्थित कर सकता है कि संस्कार को स्वाश्रयसंयोग सम्बन्ध से स्मृति के लिये कारण मानने पर उस सम्बन्ध से उसके शरीर में रहने के समान इन्द्रिय में भी रहने से इन्द्रिय में भी स्मृति की उत्पत्ति होनी चाहिये। इन्द्रिय को स्मृति का आश्रय स्वीकार करने पर ज्ञान के आश्रय के रूप में उसे भी आत्मा मानने की आपत्ति होगी। परन्तु यह शंका उचित नहीं है, क्योंकि इन्द्रिय देहावयव आदि को छोड़ कर रहने वाले स्वाश्रयविजातीय संयोग सम्बन्ध से संस्कार के लिये अनुभव तथा स्मृति के लिये संस्कार को कारण मानने पर उक्त आपत्ति सम्भव नहीं है।

इसलिये वस्त्रादि के साथ मन का संयोग होने पर उनमें भी स्मृति की सम्भावना होने से उनको भी आत्मा मानने की आशंका सम्भव नहीं है। कारणता के नियामक के रूप में स्वीकार किये गये मन के साथ होने वाले विजातीय संयोग का वहां अभाव है। समानकालीनत्व (एक ही काल में होना), एकज्ञानविषयत्व (एक ही ज्ञान का विषय होना) आदि भी स्वाश्रय-संयोग सम्बन्ध के समान होने से उन सम्बन्धों से भी स्मृति के लिये संस्कार-कारण होने से सम्पूर्ण जगत् ही ज्ञानाश्रय होने से 'आत्मा' होगा यह शंका दुःसाहस की सूचक है। अतिरिक्त आत्मवाद में भी मूर्तमात्र के साथ का संयोग होने पर तथा उसका समकक्ष समकालीनत्व सम्बन्ध घट आदि पदार्थों के साथ होने पर जैसे घट आदि में ज्ञानोत्पत्ति नहीं होती है,

अपितु उस-उस आत्मा के साथ होने वाले शरीर के विजातीय संयोग से ही शरीर में ही ज्ञानोत्पत्ति होती है इसलिये शरीर को ही ज्ञान का नियामक माना जाता है, घट, पट, आदि को नहीं, उसी प्रकार देहात्मवाद में मन का संयोग एक ओर शरीर के साथ तथा दूसरी ओर घट, पट आदि के साथ होने पर भी उससे स्मृति आदि की उत्पत्ति नहीं होती है, किन्तु संस्कार के आश्रय मन के विजातीय संयोग के आश्रय शरीर में ही स्मृति की उत्पत्ति होती है। यह बात अनायास जानी जा सकने वाली होने से उपर्युक्त शंका अज्ञानमूलक है।

देहात्मवाद पर आक्षेप करने वाला कोई यह कह सकता है कि देह और मन से भिन्न आत्मा के निराकरण का प्रयास देह और मन इन दोनों को आत्मा सिद्ध करने में पर्यवसित होता है। तथापि यह स्वीकार करने योग्य नहीं है। क्योंकि देह अनित्य है, मन नित्य है; ऐसी स्थिति में देह और मन इन दोनों को मिल कर आत्मा मानने पर आत्मा को भी नित्य और अनित्य दोनों ही मानना पड़ेगा। कभी 'मैं नित्य हूँ' तो कभी 'मैं अनित्य हूँ' इस प्रकार की अनुभव-विरुद्ध प्रतीतियाँ होने लगेंगी; तथापि यह कथन स्वीकार नहीं है। देहात्मवाद में गौतम के सूत्र 'इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानात्मनो लिङ्गम्' से आत्मा के चिन्ह के रूप में कथित वे गुण देहात्मवाद में देह ही में होने से और उसी को आत्मा मानने से तथा मन का उनका आश्रय न मान कर धर्माधर्म, भावना मात्र का आश्रय स्वीकार करके तथा उसे कारण मान कर देह और मन से जीवात्मा के निराकरण का प्रयास देह और मन इन दोनों को आत्मा मानने में पर्यवसित होता है यह कथन बुद्धि की अनवधानता के कारण निष्पन्न होता है।

मन अणु-परिमाणी होने से तथा वह शरीरव्यापी न होने से नख ले कर शिखा तक सर्वत्र अनुभूत होने वाली बुद्धि की उत्पत्ति समग्र शरीरव्याप्त आत्मा को अस्वीकार करने पर नहीं हो सकेगी यह शंका भी उचित नहीं है। अतिरिक्त आत्मवाद में आत्मा और मन का संयोग शरीर के किसी एक भाग में होने पर जैसे सम्पूर्ण शरीर में बुद्धि प्रादुर्भूत होती है उसी प्रकार देहात्मवाद में भी उसकी उपपत्ति होने में किसी बाधक की सम्भावना नहीं रहती।

आपामर साधारण अनुभव के अनुसार मन अन्तरिन्द्रिय है। 'मन से करता हूँ' अथवा 'मन से निश्चित करता हूँ' इत्यादि प्रतीतियों के आधार पर वह करण मात्र है। करण को आत्मा के रूप में स्वीकार करना लोकप्रसिद्ध आत्मा के कर्ता होने के अनुभव के विरुद्ध है यह शंका भी उचित नहीं है। देहात्मवाद में देह

को ही आत्मा तथा मन को उसका उपकरण मात्र माना है। वह आत्मा नहीं है यह बात इसके पहले ही स्पष्ट की जा चुकी है।

मन में वर्तमान अदृष्ट को शरीर में चैतन्य का उत्पादक मानें तो मृत शरीर में भी नियमतः चैतन्य का अनुभव होना चाहिये, क्योंकि शरीर के मरने पर भी चैतन्य का जनक और अदृष्ट का आधार मन विद्यमान रहता है इस शंका के लिये भी अवकाश नहीं है। क्योंकि शरीर के मरणकाल में ही नियमपूर्वक उसके साथ मन के सम्बन्ध का विनाश उसी प्रकार हो जाता है जिस प्रकार अतिरिक्त आत्म-वाद में शरीर के मरणकाल में उसके साथ होने वाला आत्मा का विजातीय संयोग नष्ट हो जाता है।

यदि शरीर आत्मा है तो 'राहु का सिर' के समान 'मेरा सिर' इस प्रयोग को यद्यपि लाक्षणिक मान कर उसका समर्थन किया जा सकता है तथापि 'मैं शरीर हूँ' यह प्रयोग कभी भी कहीं भी क्यों नहीं होता है यह प्रश्न दुरुत्तर है, इस कथन का कोई औचित्य नहीं है, क्योंकि शब्दप्रयोग शब्दार्थविज्ञान के आधार पर होता है। 'मैं शरीर हूँ' इस प्रकार का ज्ञान न होने से उस प्रकार की प्रवृत्ति नहीं होती है। जब शरीर ही आत्मा है तो उस प्रकार का ज्ञान क्यों नहीं होता? यह शंका भी सम्भव नहीं है। 'अहं' इस पद के अर्थ का ग्रहण 'स्व' में रहने वाले प्रत्यक्षगुणों के आश्रय के रूप में ही होने का नियम होने से "मैं स्थूल हूँ", "मैं कृश हूँ", "मैं सुखी हूँ", "मै दुःखी हूँ" इत्यादि रूप से "मैं" का ज्ञान होने से "मैं शरीर हूँ" इस प्रकार ज्ञान अतिरिक्त आत्मवाद में "मैं आत्मा हूँ" इस ज्ञान के समान उत्पन्न नहीं होता। अतिरिक्त आत्मवाद में "मैं आत्मा हूँ" यह प्रत्यय सभी लोगों को नहीं होता है; अन्यथा वह विवाद का विषय नहीं होता। इसीलिये भाषापरिच्छेद में विश्वनाथ ने कहा है "अध्यक्षो विशेषगुणतः" —योग्य विशेषगुणों—ज्ञान, सुख, दुःख आदि—के संबंध से ही आत्मा का प्रत्यक्ष होता है, किसी दूसरे प्रकार से नहीं।

क्षिप्त, विक्षिप्त आदि चित्तभूमियों में शरीर के अवयवों से समग्र शरीर से सर्वानुभव-सिद्ध आत्मप्रत्यय के विनाश का देहात्मवाद में समर्थन करना सम्भव नहीं है यह चिंता भी निराधार है। देहात्मवाद में भी उस प्रकार की चित्तभूमियों की संभावना होने से तन्मूलक उक्त आत्मबुद्धि के विनाश की सम्भावना में कोई बाधा नहीं है।

मैं हूँ या नहीं इस प्रकार से किसी को सन्देह नहीं होता। शरीर आत्मा है या नहीं इस प्रकार का सन्देह विचारवान् मनीषियों को भी होता है। यदि शरीर

ही आत्मा है तब उसमें आत्मत्व का सन्देह होने पर "मैं हूँ या नहीं" इस प्रकार का सन्देह क्यों नहीं होता? यह प्रश्न भी उचित नहीं है। क्योंकि अतिरिक्त आत्मवाद में शरीर अनात्मा है यह निश्चय है, तथा देहात्मवाद में शरीर आत्मा है यह निश्चय है। अतः दोनों ही सिद्धान्तों में उक्त सन्देह आहार्य है तथा 'मैं' का निश्चय अनाहार्य है यह दोनों ही सिद्धान्तों में समान है। वह निश्चय मैं हूँ या नहीं इस संशय का विरोधी है। इसलिये शरीर में आहार्य आत्मत्व का सन्देह होने पर भी "मै हूँ" इस प्रकार के निश्चय के उत्पन्न होने में कोई बाधा नहीं होने से उस प्रतिबन्धक के विद्यमान होने के कारण उक्त संशय उत्पन्न नहीं हो सकता है।

इस कहने का आशय यह है कि "मैं" इस शब्द का उच्चारण करने वाला ही "मैं" का अर्थ होता है इसलिये अतिरिक्त आत्मवाद में "मैं" इस शब्द का प्रयोग करने वाला अतिरिक्त आत्मा ही "मैं" शब्द का अर्थ है; इसके विपरीत देहात्मवाद में "मैं" शब्द का प्रयोग करने वाला शरीर ही 'मैं' शब्द का अर्थ होता है। दोनों ही सिद्धान्तों में अपने-अपने मत के अनुसार 'मै' का अर्थ सुनिश्चित है। अतः मैं हूँ या नहीं इस प्रकार के स्वरूप में पर्यवसित होने वाला "मैं हूँ अथवा नहीं" इस प्रकार का संशय "मैं हूँ" इस निश्चय से प्रतिबध्य होने के कारण उसकी उत्पत्ति की संभावना नहीं रहती है। शरीर को आत्मा मानने के आहार्य संशय के रहने पर भी "मैं हूँ" इस प्रकार का निश्चय अक्षुण्ण है।

शरीर ही "मैं शरीर हूँ या नहीं" इस प्रकार की शंका करता है यह कथन देहात्मवाद में अतिविचित्र प्रतीत होता है। उससे देहात्मवाद का खण्डन अच्छा नहीं लगता है, क्योंकि अतिरिक्त आत्मवाद में "मैं शरीर नहीं हूँ" यह निश्चय है तथा देहात्मवाद में मैं शरीर हूँ यह निश्चय है। इसलिए दोनों ही सिद्धान्तों में उक्त विमर्श आहार्य होने से देहात्मवाद में शरीर ही "मैं शरीर हूँ या नहीं" इस प्रकार का सन्देह करता है यह कथन कहाँ तक विचित्र है यह वही कह सकता है।

"मैं" यह प्रतीति कभी सिर से होती है तो कभी सिर की मज्जातन्तुओं से उत्पन्न होती है इसलिये देहात्मवाद में "मैं मेरा सिर हूँ" या "मैं मेरा मज्जातन्तु हूँ" इस प्रकार के अनुभव की उत्पत्ति अनिवार्य है यह कथन भी पाण्डित्य के अनुरूप नहीं है क्योंकि सिर से उत्पन्न होने वाली प्रतीति भी उससे भिन्न देह नामक अवयवी में विद्यमान होने से और वही 'मैं' का अर्थ होने से यहाँ भी 'मैं' का अर्थ ज्ञानाश्रय नियत है।

'मैं' यह प्रतीति अन्य सभी शरीर-सुख-दुःखादि प्रतीतियों से बिल्कुल भिन्न है, यह बात सभी समझते हैं। अत: शरीर तथा मन से भिन्न कोई वस्तु उसका अधिष्ठान होना आवश्यक है यह कथन भी बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं है। केवल "मैं" इस प्रकार की प्रतीति अतिरिक्त आत्मवादी भी नहीं मानते। मैं इस शब्द से होने वाला बोध "मैं" इस शब्द का उच्चारण करने वाले के विषय में होने से देहात्मवाद में "मैं" शब्द का उच्चारण करने वाले देह के विषय में ही वह होता है। ऐसी स्थिति में उसके लिये किसी दूसरे अधिष्ठान की क्या आवश्यकता है?

स्वप्न के समान किसी चैतन्यावस्था में बाह्य पदार्थों की ही नहीं अपितु स्व-शरीर की सत्यता भी सन्दिग्ध तिरोहित विपर्यस्त प्रतिषिद्ध होती हुई प्रतीत होती है, परमात्मा की सत्यता उस प्रकार से प्रतीत नहीं होती है। यदि शरीर आत्मा है तो उसकी भी सत्ता उस प्रकार से क्यों नहीं उपलब्ध होती? यह शंका भी निःसत्व है। सत् पदार्थों की सत्यता को उन रूपों में प्रतीति भ्रमात्मक होने से जिस दोष की वजह से वह प्रतीति होती है उसी दोष के कारण उस काल में शरीर में आत्मा की बुद्धि का विरोध हो जाने से अनात्मरूप शरीर की सत्ता की सन्दिग्धता नहीं होती है। यह ठीक है कि शरीर ही आत्मा है और वे दोनों भिन्न नहीं हैं। किन्तु चेष्टाश्रयता यह जो शरीर का लक्षण है तथा ज्ञानादि की आश्रयता यह जो आत्मा का लक्षण है ये दोनों परस्पर भिन्न हैं। उक्त प्रकार की (स्वप्नवत्) चैतन्यावस्था में उस प्रकार की प्रतीति के लिये कारण-दोषों की वजह से उस समय देह में आत्मा की प्रतीति नहीं होती है, किंतु देह की ही बुद्धि होती है इसलिए शरीर के रूप में गृहीत होने वाले देह की ही सत्यता सन्दिग्ध आदि होती है, आत्मा के रूप में प्रतीत होने वाले (अन्य किसी) की नहीं।

देहात्मवाद में शरीर की सुख-समृद्धि-सम्पन्नता का सम्पादन ही परमपुरुषार्थ है। उसकी उपेक्षा करके लोक-कल्याण के लिए दुःख सहने की जो मानव-प्रवृत्ति दिखायी देती है वह इस वाद में कैसे संभव है? यह प्रश्न भी देहात्मवाद में असमाधेय नहीं है क्योंकि जैसे अतिरिक्त आत्मवाद में लोगों की प्रवृत्ति प्रायः स्व-सुख तथा स्व-निर्दुःखिता के संपादन में ही होती है, कुछ ही विवेकियों की स्व-सुख की उपेक्षा कर के दूसरों के दुःखों को दूर करने के लिये स्वयं दुःख उठाने की प्रवृत्ति होती है, उसी प्रकार देहात्मवाद में भी उसकी उत्पत्ति होने में कोई बाधा नहीं है। अतिरिक्त आत्मवादी जिस प्रकार से दूसरों के हित में स्वकीय सुख की इच्छा को शिथिल करके प्रवृत्त होता है, दुःख सहन करता है उसी प्रकार देहात्म-वादी भी यदि सुशिक्षित, सुसंस्कृत तथा विवेकी हो तो स्व-सुख की इच्छा न करते

हुये परहित के लिये प्रवर्तित होता है, दुःख सहन करता है। संसार में देहात्म-वादियों का एक बहुत बड़ा ऐसा वर्ग है जिसके सदस्यों में से बहुत से लोग लोक-हित के लिये अपनी बड़ी धनराशि खर्च करके विद्यालय, चिकित्सालय आदि का निर्माण करवाने में आनन्द का अनुभव करते हैं।

कोई विद्वान् यह शंका कर सकते हैं कि देहात्मवाद से अदृष्ट और भावना को मन में स्वीकार करने पर सुषुप्ति की अवस्था में मन का पुरीतति नाड़ी में प्रवेश होने पर उस समय श्वास-प्रश्वास की गति सम्भव नहीं होगी। इसीलिये अदृष्टादि के आश्रय के रूप में अतिरिक्त आत्मा की स्वीकृति आवश्यक है। उसको स्वीकार करने पर उसके प्रयत्न से श्वास-प्रश्वास की क्रिया सम्पन्न हो सकेगी। परन्तु यह शंका भी निर्जीव ही है क्योंकि त्वचा और मन का संयोग ज्ञान मात्र के लिये ही कारण है। सुषुप्ति में ज्ञान के उत्पन्न न होने से तन्मूलक इच्छादि भी उत्पन्न नहीं होते। परन्तु श्वास-प्रश्वास के कारण जीवन-योनि-यत्न को ज्ञान की आवश्यकता न होने से तथा वह जीवनादृष्टमूलक होने से पुरीतति नाड़ी में स्थित मन में जीवनादृष्ट से उत्पन्न शरीर-यत्न से श्वास-प्रश्वास की क्रिया होने में कोई बाधा नहीं है।

देहात्मवाद में मनुष्य की आजीवन कर्म में प्रवृत्ति नहीं होगी, अन्तिमा-वस्था में किये जाने वाले, तत्काल फल न देने वाले कर्मों से जीवन में फलप्राप्ति सम्भव नहीं है यह भी शंका उचित नहीं है। क्योंकि अपने से अधिक जीने वाले तथा बाद में उत्पन्न होने वालों को उन कर्मों की फलप्राप्ति की कामना से आजी-वन कर्म में लगे रहना सम्भव है। मनुष्य सब कुछ अपने लाभ के लिये ही करता है यह नहीं कह सकते। लोकहित के लिये भी अनेक कार्यों में मानव की प्रवृत्ति देखी जाती है जो लोकहितकारक कार्य व्यक्ति के वर्तमान जीवन में उसके अपने लाभ के लिये नहीं होते, उनसे प्राप्त पुण्य से जन्मान्तर में फल की कामना से वे कर्म किये जाते हैं यह स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि वर्तमान जीवन के अन्त तक ही अपना अस्तित्व मानने वाले, जन्मान्तर में विश्वास न रखने वाले लोगों के द्वारा किये गये लोक-हितावह, अतिवित्तव्ययसाध्य कर्म प्रत्यक्षसिद्ध हैं।

"शरीर दूसरों के लिये है क्योंकि वह संघात है, शय्या के समान" इस अनु-मान से सिद्ध होने वाला 'पर' अर्थात् शरीर से भिन्न आत्मा वाणी मात्र से या युक्त्याभास-जाल से निराकृत नहीं हो सकता है, यह भी कथन योग्य नहीं है। परार्थता की व्याख्या कठिन है, क्योंकि परार्थता का अर्थ अगर स्व-भिन्न का भोग-साधन होना है तो दृष्टान्त शय्या में वह घटित नहीं होता है। उक्तानुमान के पूर्व आत्मा

स्व-भिन्न के रूप में ज्ञान नहीं होता है। स्वभिन्न के रूप में शरीर के ग्रहण करने पर अतिरिक्त आत्मवाद में उसका भोग अप्रसिद्ध है (क्योंकि वहाँ भोग करने वाला आत्मा है)। यदि परार्थता का अर्थ 'भोग का आश्रय' न हो कर 'भोग का साधन होना' यह है तो पक्ष शरीर में हेतु न रहने से हेत्वासिद्धि है, क्योंकि अतिरिक्त आत्मवाद में शरीर संघात नहीं है। यदि संघात को छोड़ कर जन्यता हेतु कहें तो व्याप्यत्वासिद्ध नामक दोष होता है क्योंकि जड़ता यहाँ उपाधि है।

देहात्मवाद में यज्ञादि में प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिये यह कहना भी उचित नहीं है। वर्तमान जीवन में फल देने वाले पुत्रेष्टि आदि यागों में प्रवृत्ति होने में तो कोई बाधा नहीं है। जो याग स्वर्गफल देनेवाले माने गये हैं उनमें भी प्रवृत्ति की अनुपपत्ति नहीं है। यथावर्णित स्वर्ग सभी के लिये स्पृहणीय होने से देहात्मवादियों की भी उक्त प्रकार की कामना हो सकती है और उनकी भी उक्त यागो में प्रवृत्ति सम्भव है। यदि देहात्मवाद में देह के रहने पर स्वर्ग नहीं मिलता हो तो न मिले, लेकिन आनुषंगिक लोकप्रशस्ति आदि फल तो मिलता ही है। उद्देश्यभूत फल भी कर्ता के शरीर में स्थित मन के दूसरे शरीर में प्रवेश करने पर मिलता ही है। दूसरों के लिये लाभ पहुँचाने वाले कर्म में सहृदयों की प्रवृत्ति का बाहुल्य लोकसिद्ध होने से उस प्रकार के यज्ञों में मनुष्य की प्रवृत्ति ठीक ही है।

देहात्मवाद में पुनर्जन्म की कल्पना नहीं लागू होगी यह भी शंका नहीं की जा सकती। अतिरिक्त आत्मवाद में भी पुनर्जन्म का समर्थन नहीं किया जा सकता। अपने आश्रय-क्षण के ध्वंस के अनाश्रयक्षण के सम्बन्ध रूप जन्म नित्य आत्मा में घटित नहीं हो सकता है क्योंकि उसके आश्रय सभी क्षण उसके पहले-पहले के आश्रयक्षणों के ध्वंस के आश्रय होने से उसके आश्रयक्षण के नाश का अनाश्रयक्षण अप्रसिद्ध है। यदि नये उत्पन्न देह के साथ आत्मा का प्रथम विलक्षण संयोग ही जन्म के रूप में माना जाय तो उस प्रकार के जन्म का उपचार मन के द्वारा देहात्मवाद में भी लागू हो सकता है। उस वाद में देह का उस रूप में जन्म न होने पर भी देहोत्पन्न अदृष्ट से युक्त मन भावि देह के साथ उस प्रकार का सम्बन्ध संभव है और उस सम्बन्ध को ही जन्म माना जा सकता है।

देहात्मवाद में बन्ध-मोक्ष-व्यवस्था के न होने की आपत्ति भी सम्भव नहीं है क्योंकि दूसरे शरीर से भोगने योग्य फलोपयोगि अदृष्टोत्पादक कर्म का कर्ता होना ही बन्ध है, तथा उस का अभाव ही मोक्ष है इस रूप में बन्ध-मोक्ष की व्याख्या की जा सकती है। अतः जिस देह को देहात्मतत्त्व का योग से उत्पन्न साक्षात्कार नहीं हुआ है वह शरीरान्तर में भोग्यफल के लिये कारण होने वाले अदृष्ट के

उत्पादक कर्म करने के कारण बद्ध होता है। और जो उस आत्मातत्त्व के साक्षात्कार को करके उस प्रकार के कर्म से विमुख है वह मुक्त है। बद्ध के समान मुक्त भी नष्ट होता हो तो कोई भी देह मुक्ति-हेतु तत्त्वसाक्षात्कार के लिये वैषयिक सुख की उपेक्षा क्यों करें यह शंका भी नहीं करनी चाहिये। क्योंकि अतिरिक्त आत्मवाद में भी मुक्तात्मा मृतक के समान होने से वहाँ भी वह शंका हो सकती है। देहगत अनुभव से उत्पन्न संस्कार तथा देहकृत कर्मों से उत्पन्न का वाहक नित्य मन के सम्बन्ध से नवीन शरीरों में पूर्व देहों में अनुभूत पदार्थों का स्मरण तथा कृत कर्मों के फलों का भोग आदि कह कर देहात्मवाद की स्थापना का कोई लाभ नहीं है यह कथन भी उचित नहीं है। न्याय-वैशेषिक मत में नित्य, विभु, अनंत जीवात्माओं को स्वीकार करने की अपेक्षा देहात्मवाद में बहुत लाघव है। अतिरिक्त आत्मवाद में नित्य अनन्त जीवोंका अनन्त मूर्त द्रव्यों के साथ अनन्त कालक्षणों के साथ अनन्त सम्बन्ध तथा उनकी उत्पत्ति आदि की कल्पना करने में महागौरव है।

इसके अलावा अतिरिक्त आत्मवाद में प्राणि अपने पूर्वार्जित कर्म से उत्पन्न अदृष्ट के आधीन होने से स्वस्थिति-परिवर्तन में उनको स्वतन्त्रता न होने से दूसरे के द्वारा किये गये शोषण, उत्पीड़न आदि को उन्हें मौन-भाव से सहना पड़ेगा। सामाजिक, आर्थिक विषमता का प्रजा के सुख-सुविधा से उदासीन रहनेवाले शासनतन्त्र के उन्मूलन में शोषित पीडित की प्रवृत्ति नहीं होगी। किन्तु देहात्मक में यह स्थिति नहीं होगी क्योंकि उसमें मनुष्य के लिये यह बोध सुकर है कि वह तो पहली बार ही उत्पन्न हुआ है। उसका पूर्वकृत कुछ भी कर्म नहीं है जिसके कारण वह दूसरों के द्वारा किये जाने वाले शोषण, उत्पीडन को अपने कर्म का फल मान कर निष्क्रिय रहे। फलस्वरूप देहात्मवादी समुदाय अपनी परिस्थिति को बदलने में स्वातन्त्र्य रूप से प्रवृत्त हो सकता है। उस प्रकार प्रवृत्त हो कर न्यायपूर्ण, परस्पर हितावह सामाजिक, आर्थिक व्यवस्था को जन्म दे कर अति सुन्दर विश्व का निर्माण कर सकता है।

देहात्मवाद में अपना सुख सबको अभीष्ट होने से तथा मरणोत्तर उत्तरदायित्व न रहने से मनुष्य निरंकुश हो कर अपने हित के लिये सदा प्रयास करेगा, दूसरे के हित के लिये कोई चेष्टा नहीं करेगा और यदि परोत्पीडन से उसका अभ्युदय होता हो तो उससे भी नहीं बचेगा यह शंका नहीं करनी चाहिये क्योंकि लोकहित के लिये

कार्य करने वालों की उनके मरने के बाद उसकी लोगों में होने वाली सम्मान के साथ चर्चा तथा इतिहास में उनका आदर के साथ होने वाला उल्लेख आदि को देख कर अपने सुख की अभिलाषा को शिथिल कर के लोकोपयोगी कार्यों में प्रवृत्ति संभव होने से उपर्युक्त भय निराधार है।

देहात्मवाद में एक अन्य भी गुण है। मनुष्य अनैतिक, कदाचार- कलुषित, स्वार्थी जीवन–यापन करने वालों की होने वाली लोकनिंदा को देख कर मरण के बाद त्रुटि-परिहार का कोई अवसर न रहने से वर्तमान देहपात के पूर्व ही अपने जीवन को नैतिक तथा निर्दोष बनाने के हेतु सचेष्टा हो सकता है।

अतिरिक्त आत्मवाद में भावि जन्म में वर्तमान जीवन की त्रुटियों के परिहार के अवसरप्राप्ति की संभावना से वतमान जीवन को सुखी बनाने की अभिलाषा से उस सुख के लिये अपेक्षित समृद्धि को प्राप्त करने के लियें कोई अनैतिक कर्मों में भी प्रवृत्त हो सकता है। इस प्रकार से देहात्मवाद में जीवन में नैतिकता की स्थापना की अधिक सम्भावना होने से यही वाद (मत) लोकहितार्थ के लियें स्वीकार करने योग्य है यह बात स्पष्ट है।

भूतपूर्व कुलपति,
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी (उ. प्र.)

आचार्य बदरीनाथ शुक्ल

भाषान्तर
बलिराम शुक्ल

दर्शन विभाग
पुणे विश्वविद्यालय
पुणे– ४११००७

टिप्पणियाँ
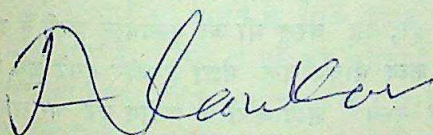
१ उक्त विषय आचार्य बदरीनाथ जी के द्वारा संस्कृत में प्रस्तुत किया गया था। उक्त चर्चा का हिंदी में भाषांतर कर उसे **परामर्श** (हिन्दी) के पाठकों के सामने प्रस्तुत करने की अनुमति सहृदयता से प्रोफेसर दयाकृष्ण जी ने आचार्य बदरीनाथ जी तथा भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद् की ओर से दी इसलिये हम उनके हृदय से आभारी हैं। आचार्य

शुक्ल जी के द्वारा प्रस्तुत उक्त मत पर पत्रिका के माध्यम से चर्चा हुई तो उसका स्वागत ही होगा।

कार्यकारी सम्पादक

२. आचार्य बदरीनाथ शुक्ल जी का कुछ ही महीने पहले दुःखद देहान्त हुआ। उनके व्याख्यान का यह हिन्दी भाषान्तर देखने के लिये और उसमें प्रस्तुत अन्यान्य बिन्दुओं की चर्चा में अपना सक्रिय सहयोग प्रदान करने के लिये आचार्य शुक्ल जी जीवित होते तो वह कितना संस्मरणीय होता। उनके प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए उनके द्वारा प्रस्तुत विचारों को लेकर पत्रिका के माध्यम से होने वाली चर्चा का स्वागत होगा और वही सम्भवतः आचार्य बदरीनाथ जी के प्रति उचित श्रद्धांजलि भी होगी।

कार्यकारी सम्पादक

नैतिक मूल्य : स्वरूप-चिंतन

'शिव' या 'शिवम्' शुभ या नैतिक मूल्य का प्रतीक है। वस्तुत: "शिव का शाब्दिक अर्थ है शुभ, कल्याण, मंगल, श्रेयस्कर आदि।"[1] यह अन्य दो मूल्यों– सत्य एवं सौंदर्य से सम्बन्द्ध है। अर्थात् यह माना जाता है कि जो कल्याणमय है, वही सत्य है तथा वही सुंदर है, किंतु भाषा के उपर्युक्त प्रयोग से भ्रमित होकर यह कदापि नहीं सोचना चाहिये कि शुभ सत्य व सौंदर्य में अपचेय (reducible) है।

सर्वप्रथम यह जान लेना परमावश्यक है कि "नैतिक मूल्य" शब्द का प्रयोग प्राय: दो अर्थों में किया जाता रहा है। इस संदर्भ में दर्शन परिभाषा कोश में सत्य ही लिखा है कि "मूल्य (अर्थात्) वह विशेषता जो शुभ, सुंदर इत्यादि समझी जानेवाली वस्तुओं में पाई जाती है, नैतिक बौद्धिक या सौंदर्यमीमांसीय दृष्टि से मूल्यवान् होने की विशेषता। साथ ही, वह वस्तु भी जो मूल्यवान् होती है या समझी जाती है। पहले अर्थ में यह शब्द भाववाचक संज्ञा है और दूसरे अर्थ में जातिवाचक।"[2] यही बात "नैतिक मूल्य" शब्दावली के प्रयोग पर भी लागू होती है, क्योंकि "नैतिक मूल्य" शब्दावली का प्रयोग कभी तो "नैतिक अच्छाई" के लिये किया जाता है और कभी "अपने आप में शुभ" अर्थात् "नैतिक आदर्श" को भी नैतिक मूल्य से संबोधित किया जाता है। स्मरणीय है कि प्रथम अर्थ में नैतिक मूल्य को 'शुभत्व' तथा द्वितीय अर्थ में 'शुभ' या नैतिक आदर्श कहा जा सकता है। इस तरह यहाँ शुभ का तात्पर्य कोई "सरल, अविश्लेष्य, अपरिभाष्येय धारणा नहीं है जैसा कि जी. ई. मूर मानते हैं।[3] इस शोध-पत्र में द्वितीय अर्थ में नैतिक मूल्य को समझने का प्रयास किया गया है। इस संदर्भ में यह महत्त्वपूर्ण तथ्य भी ज्ञातव्य है कि नैतिक अच्छाई के लिये जब नैतिक मूल्य शब्दावली का प्रयोग किया जाता है तब सदैव यह एकवचन में ही किया जाता है; इसके विपरीत जब इससे "नैतिक आदर्श" अभिप्रेत होता है, तब इसका प्रयोग बहुवचन में भी संभव है। इससे यह सिद्ध होता है कि जहाँ पर भी "नैतिक

मूल्य" शब्दावली का प्रयोग बहुवचन में हो वहाँ उससे "नैतिक आदर्श" ही अभिप्रेत है, क्योंकि नैतिक आदर्श अनेक हैं।

शुभ के विषय में यह सर्वसाधारण विश्वास भ्रामक है कि वह मानव-व्यक्तित्व के केवल संकल्पनात्मक पक्ष को ही संतुष्ट करता है, क्योंकि संकल्प संपूर्ण व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति है। व्यक्तित्व के ज्ञानात्मक, भावनात्मक एवं क्रियात्मक पक्ष परस्पर इस तरह संयुक्त हैं कि उनका पृथक्करण असंभव है। अतः संकल्प का आदर्श या शुभ मानव के संपूर्ण व्यक्ति को प्रभावित करता है। शुभ का अवबोध व्यक्ति में कर्तव्यबोध जगाता है, जिससे व्यक्ति को नैतिक बाध्यता की अनुभूति होती है। यह नैतिक बाध्यता न तो सत्य के अवबोध में पाई जाती है, और न ही सौंदर्यानुभूति में। इस तरह यह शुभ के अवबोध को विशिष्टता प्रदान करती है। शुभ या आदर्श की चेतना के साथ नैतिक भावनायें संलिष्ट हैं, जो व्यक्ति को सत्कर्म के लिए प्रेरित करने में सहायक होती हैं। इसीलिये यह मानना अधिक समीचीन है कि शुभ या नैतिक मूल्य की चेतना मानव की बुद्धि, भावना एवं संकल्प तीनों को प्रभावित करती है।

सत्य, सौंदर्य और शुभ में एक भिन्नता इस दृष्टि से भी है कि शुभत्व या नैतिक अच्छाई को जानने के लिये किसी विशेष प्रतिभा की अपेक्षा नहीं रहती; जनसामान्य में भी इसे जानने की क्षमता है। इस तरह नैतिक अच्छाई एवं नैतिक मूल्य की चेतना सदैव सार्वजनिक है। इसके विपरीत, सत्यता के ज्ञान तथा सौंदर्य के गुण-विवेचन की क्षमता कुछ ही व्यक्तियों में पाई जाती है अर्थात् इनके लिये जन्मजात सामर्थ्य अपेक्षित है। हम देखते हैं कि प्रत्येक सामान्य व्यक्ति नैतिक मूल्य के प्रति सहज प्रतिक्रिया करता है जब कि ललित कलाओं की प्रतिभा कुछ ही व्यक्तियों में पाई जाती है।

नैतिक मूल्यों की एक विशेषता यह भी है कि वे इन्द्रियानुभवात्मक तथा तथ्यात्मक नहीं हैं। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि वे असत् या अवास्तविक हैं। वस्तुतः वे मूर्त सत् न होकर अमूर्त सत् हैं। तथ्यात्मक न होने के कारण ही उन्हें "आदर्श" की श्रेणी में रखा जाता है। व्यावहारिक दृष्टि से देखें तो ये प्रयोजनात्मक या अर्थक्रियात्मक (pragmatic) भी नहीं हैं इसीलिये इनका महत्त्व परिणाम अथवा सफलता-असफलता के आधार पर नहीं आंका जा सकता। इस दृष्टि से नैतिक मूल्य आध्यात्मिक, धार्मिक, एवं सौंदर्यात्मक मूल्यों के समतुल्य है। अपने उपर्युक्त स्वरूप के कारण ही नैतिक मूल्यों से सम्बन्धित कथनों एवं निर्णयों को इन्द्रियानुभवात्मक तथा अर्थक्रियावादी पद्धतियों द्वारा प्रमाणित नहीं किया जा

सकता। उनकी प्रामाणिकता केवल इस आधार पर सिद्ध की जा सकती है कि वे मानवकल्याण एवं शांति के लिये अपेक्षित हैं। नैतिक मूल्यों पर सत्यता-असत्यता की कसौटी भी लागू नहीं होती, क्योंकि उनके सम्बन्ध में सत्य असत्य होने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।

नैतिक मूल्यों से संबंधित एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि हमारा नैतिक मूल्य-बोध कैसे जागता व विकसित होता है ? इस संदर्भ में सर्वप्रथम यह स्मरणीय है कि नैतिक मूल्य धर्मग्रंथों से निर्गमित नहीं होते; वे पूर्व-स्थित हैं। इस तरह धर्मग्रंथों को उनका स्रोत नहीं माना जा सकता। वस्तुतः उनका स्रोत मानव-चेतना रही है जो सदैव मानवीय सम्बन्धों से घिरी व प्रभावित होती रहती है। इस दृष्टि से देखा जाये तो धर्मग्रंथ स्रोत न होकर, मानव की नैतिक चेतना की अभिव्यक्ति हैं। इस मान्यता का प्रमाण यह तथ्य है कि ग्रीसवासियों के पास कोई धर्मग्रंथ न होने के बावजूद उन्होंने नैतिक मूल्यों एवं आदर्शों का एक उन्नत बोध विकसित किया। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि हम नैतिक मूल्यों को कैसे या किस प्रकार जानते हैं ? इसके उत्तर में नीतिशास्त्रियों ने विभिन्न सिद्धांतों का प्रतिपादन किया है, तथापि सामान्यतः इसका उत्तर यह कह कर दिया जाता है कि नैतिक ज्ञान का स्रोत अन्तःप्रज्ञा या अपरोक्ष आभ्यन्तरिक अनुभव है। इसे ही 'विवेक' व 'अन्तरात्मा' संबोधित किया जाता है। अन्तःप्रज्ञा द्वारा ही व्यक्ति जानता है कि क्या चीज आन्तरिक रूप से शुभ है, और जो आंतरिक रूप से शुभ है, वही 'आदर्श' होने के कारण साध्य एवं श्रद्धा का विषय है। इस तरह नैतिक निर्णय नैतिक अन्तर्बोध पर आधृत होते हैं। यह अन्तर्बोध अन्य प्रकार के अन्तर्बोध जैसे धार्मिक अन्तर्बोध से भिन्न है, क्योंकि इसमें एक ऐसी विशेषता पाई जाती है जो दूसरे प्रकार के अंतर्बोध में नहीं पाई जाती। वह विशेषता है नैतिक बाध्यता की अनुभूति, जो इसमें अनिवार्यतः अंतर्निहित रहती है।

अंतर्बोध पर आधृत नैतिक निर्णय लेते समय दो बातों पर ध्यान केंद्रित किया जाता है। यह देखा जाता है कि कौन कर्म अभीष्ट नैतिक मूल्य की प्राप्ति में सहायक होगा ? दूसरे, उन परिस्थितियों को भी समझने का प्रयास किया जाता है जिनमें वह कर्म किया जायेगा। जीवन में ऐसी जटिल परिस्थितियाँ भी उत्पन्न होती हैं, जब हम किसी नैतिक मूल्य के सम्बन्ध में निर्णय लेने में कठिनाई अनुभव करते हैं। उदाहरणार्थ, यह समस्या हमारे सम्मुख उस विवादास्पद स्थिति में उठ खड़ी होती है, जब हमें यह ज्ञात होता है कि हमारी सत्यनिष्ठता निर्दोष शरणागत व्यक्ति की मृत्यु का कारण बनेगी, जबकि उसकी जीवन-रक्षा की जानी चाहिये। ऐसे निर्णायक क्षणों में अंतर्बोध ही हमें राह दिखाता है और

अनुदेश देता है कि निर्दोष शरणागत व्यक्ति की जीवन-रक्षा के लिये ऐसे समय में झूठ बोलना अनुचित व अनैतिक नहीं है । इस तरह नैतिक मूल्य अथवा आदर्श नैतिक निर्णय की अपेक्षा करते हैं, तथा हमें नैतिक कर्म की ओर अग्रसर करते हैं । साथ ही ये नैतिकता के प्रति अनुभव की जानेवाली श्रद्धा से भी जुड़े हुये हैं ।

नैतिक मूल्यों के सम्बन्ध में यह तथ्य सर्वमान्य है कि मानव द्वारा किया जाने वाला इनका अनुसरण एकांकी नहीं होता । वह एक ओर उपयोगितामूलक साध्यों की मानवीय अपेक्षा से जुड़ा रहता है और दूसरी ओर व्यक्ति के बौद्धिक कलात्मक तथा धार्मिक विश्वासों से भी संलग्न रहता है ।

सर्वविदित है कि नैतिक आदर्शों की सत्ता केवल मानव के लिये है, क्योंकि मानव में स्वभावतः इन मूल्यों का अनुसरण करने की प्रवृत्ति पाई जाती है । बौद्धिक एवं आध्यात्मिक होने के कारण केवल मानव ही मूल्यों को जानता व आंकता है । इतना ही नहीं, वह इन मूल्यों का सृजन भी करता है । ये सृष्ट नैतिक मूल्य अन्य मूल्यों की अपेक्षा अधिक सार्वभौमिक या सार्वजनीन होते हैं फलस्वरूप ये अन्य मूल्यों की अपेक्षा अधिक वस्तुनिष्ठ होते हैं । उदाहरणार्थ सौंदर्य, ईश्वर, मोक्ष आदि मूल्य लोक-कल्याण, अहिंसा, विश्व-बंधुत्व आदि नैतिक मूल्यों से कम व्यापक हैं । कभी–कभी नैतिक आदर्शों की स्थापना पूर्णतः सचेत होकर, योजनाबद्ध तरीके से की जाती है जैसा कि गौतम बुद्ध ने "बहुजनहिताय बहुजनसुखाय" तथा गांधी ने "अहिंसा" की स्थापना के समय किया । इस तरह नैतिक मूल्यों से मानव दो रूप में जुडा है । वह इनका स्रष्टा या उत्पादक भी है और चिंतक या ध्याता भी । यही कारण है कि ऐसी ऐतिहासिक घटनाओं को जानकर हम आनंदित होते हैं, जो किसी सद्गुण या सत्कर्म की मिसाल हमारे सामने रखती हैं । इसी तरह सद्गुणी व सत्कर्मी व्यक्ति से मिलकर हम नैतिक संतोष से भर उठते हैं ।

मूल्यों के संदर्भ में जिस असहमति की चर्चा की जाती है, वह मूल्यों की स्वीकृति से संबंधित न होकर, वस्तुतः उनके श्रेष्ठता-क्रम से संबंधित असहमति है । इस असहमति की जड़ें व्यक्तियों के जीवन-दर्शन की भिन्नता में रहती हैं । जीवन-दर्शनों में पाये जानेवाले इस भेद के कारण ही व्यक्ति भिन्न-भिन्न मूल्यों को प्राथमिकता देते हैं । उदाहरणार्थ जीवन के प्रति भौतिकतावादी या उपभोगवादी दृष्टिकोण रखनेवाला व्यक्ति काम या सुख को मूल्य घोषित करता है जबकि धार्मिक दृष्टिकोण रखनेवाला ईश्वर को परममूल्य मानता है । इस तरह मानवतावादी

मानव-सेवा को सर्वोच्च नैतिक मूल्य मानता है। इस प्रकार जब कोई चिंतक किसी मूल्य को नकारता है तो इसका तात्पर्य यही है कि वह एक विशेष प्रकार की जीवन-शैली को अन्य जीवन-शैलियों की अपेक्षा श्रेष्ठ मानता है। दृष्टांत स्वरूप हम नीत्शे को देखते हैं जो 'विनम्रता' जैसे सदगुण को हेय दृष्टि से देखता है। ऐसे सभी विवादास्पद क्षणों में, जब विभिन्न लोग किसी गुण या कर्म की नैतिक अच्छाई अथवा किसी नैतिक मूल्य के संबंध में भिन्न या विरोधी मत रखते हैं, तब हम पाते हैं कि इन व्यक्तियों का जीवन-दर्शन ही भिन्न-भिन्न है। उदाहरणार्थ एक क्रांतिकारी या समाज-सुधारक सामाजिक प्रथा के उल्घंघन की प्रशंसा करता है, जबकी एक अनुदार परंपरावादी ऐसे कार्य की भर्त्सना करता है। इससे सिद्ध होता है कि व्यक्ति की मूल्य संबंधी धारणा या मान्यता के लिए उसकी विशिष्ट जीवन दृष्टि या जीवन-दर्शन उत्तरदायी है और यह जीवन-दर्शन वातावरण अथवा सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक दशाओं; यहाँ तक कि तकनीकी घटकों से भी निरंतर प्रभावित होता रहता है जिससे विभिन्न व्यक्ति विभिन्न मूल्यों को प्राथमिकता देते हैं। नीतिशास्त्र का इतिहास इस बात का साक्षी है कि जो सुख को साध्य मानते हैं, उनमें भी कुछ शारीरिक सुख तो कुछ बौद्धिक सुख, कुछ निजी सुख तो कुछ "अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख" को श्रेयस्कर मानते हैं। यही कारण है कि चिंतक यह अपेक्षा रखते हैं कि हम एक ऐसा-जीवन-दर्शन अपनायें जो कम-से-कम दो उद्देश्यों की पूर्ति अवश्य करे। सर्व प्रथम, व्यक्ति का जीवन-दर्शन ऐसा होना चाहिए जो उसके समाज को विशिष्टता प्रदान करनेवाले मूल्यों का बौद्धिक समर्थन करे। दूसरे, यह व्यक्तियों को इस योग्य बनाये कि वे मूल्यों की क्रम-श्रृंखला को जानते हुये मूल्यों के स्तर-भेद को समझ सकें।

नैतिक मूल्यों की स्वीकृति में भी प्राथमिकता-क्रम संबंधी मतभेद परिलक्षित होते हैं। ऐसे मतभेद विश्वासों के वैभिन्न्य की ओर संकेत करते हैं। इन मतभेदों को बौद्धिक विचार-विमर्श से दूर किया जा सकता है। इस तरह विश्वासजन्य मतभेद का निराकरण तो संभव है; किन्तु अभिवृत्तिजन्य मतभेद को दूर करना सिद्धान्ततः असंभव है। यथा, संवेगवादियों के नैतिकतासंबंधी मत की त्रुटियाँ बताकर उनसे असहमत न होना।

यह एक सर्वस्वीकृत तथ्य है कि लोग अपने समाज द्वारा स्वीकृत नैतिक मूल्यों से तटस्थ व अप्रभावित नहीं रह पाते। किसी समाज द्वारा स्वीकृत नैतिक मूल्य कभी-कभी सामाजिक रीतिरिवाजों व प्रथाओं के आवरण में प्रस्तुत होते हैं। ऐसी स्थिति में सामाजिक मूल्य व नैतिक मूल्य पृथक् नहीं रह जाते। दृष्टान्त

के स्वरूप हम " सत्य " नारायण की कथा का उल्लेख कर सकते हैं जिसमें " सत्य " की नैतिक सर्वोच्चता प्रतिपादित की जाती है।

यदि हम नैतिकता के प्रति लोगों के रुख पर ध्यान दें, तो देखते हैं कि एक विशेष समुदाय के लोग अपने समुदाय द्वारा स्वीकृत तथाकथित नैतिक मूल्यों को इतना महत्त्व देते हैं कि उनके संबंध में कोई भी विरोधी मत या प्रतिक्रिया उन्हें असह्य होती है। यह स्थिति तब और चिन्तनीय हो जाती है, जब स्वीकृत नैतिक मूल्य धर्माश्रित होते हैं। इस संबंध में " मुस्लिम महिला विधेयक " के समर्थकों व विरोधियों के झगड़ों को उदाहरणस्वरूप लिया जा सकता है। कुछ नैतिक मूल्यों का उल्लंघन सभी समुदायवालों को असह्य होता है जैसे चोरी, हत्या, बलात्कार आदि की सभी एक स्वर से निंदा करते हैं। यहाँ यह स्मरणीय है कि जिन मूल्यों के संबंध में सर्वस्वीकृति पाई जाती है अर्थात् प्रत्येक समुदाय जिन्हें स्वीकार करता है वे ही " मानव-मूल्य " हैं, और वे ही संपूर्ण मानवजाति के कल्याण का आधार हैं।

मानवशास्त्रीय (Anthropological) दृष्टि से देखें तो हम पाते हैं कि किसी समाज के चिंतक नैतिक मूल्यों के प्रति उस समाज के रुख अथवा अभिवृत्ति को अभिव्यक्त तथा व्यवस्थित रूप प्रदान करने का प्रयास करते हैं। इस तरह वे उस समाज के सदस्यों के नैतिक जीवन के नियामक के रूप में कार्य करते हैं। तथापि नैतिक मूल्यों का बोध, उनकी अभिज्ञता बुद्ध, ईसा, गांधी जैसे प्रतिभाशाली व्यक्तियों के प्रभाव से ही विकसित होती है। इस तरह ये महापुरुष समाज की मूल्य-चेतना को दिशा देते हैं। विवेकानन्द तथा महावीर जैसे प्रतिभावान् व्यक्ति उन उदात्त मूल्यों पर बल देते हैं जिनसे सामान्य जन परिचित तो रहते हैं; पर उन्हें इन मूल्यों का स्पष्ट व पूर्ण ज्ञान नहीं रहता। समाज ऐसी प्रतिभाओं को सम्मान व श्रद्धा की दृष्टि से देखता है, क्योंकि किसी मूल्य की खोज एवं प्राप्ति का चरम लक्ष्य प्राप्त करने का साहस एवं सामर्थ्य इनमें ही पाया जाता है। हम ग्रीन, कांट, बुद्ध आदि का सम्मान सिद्धान्त-प्रतिपादन के लिये न कर, इसलिये करते हैं कि मानव-मूल्यों के संबंध में उन्होंने महत्त्वपूर्ण उद्घोषणायें की। जिस व्यक्ति में किसी नैतिक मूल्य के सृजन, उसकी स्थापना तथा उसकी रक्षा की क्षमता एवं दृढ़ता पाई जाती है, समाज उसे ही " महापुरुष " मानकर पूजता है। ये महापुरुष सार्वभौमिक तथा सार्वकालिक मूल्यों की शिक्षा देते हैं। हम इन्हें महापुरुष इसलिये संबोधित करते हैं कि ये सामान्यजन से भिन्न प्रकृति एवं प्रवृत्ति के होते हैं और ऐसी गतिविधियों में संलग्न रहते हैं जो किसी नैतिक या मानव मूल्य की उत्पत्ति का कारण बनती हैं।

नैतिक मूल्य व नैतिक अच्छाई के संदर्भ में यदि विभिन्न धर्मों पर ध्यान केन्द्रित करें तो पाते हैं कि प्रत्येक धर्म बुराई पर अच्छाई या नैतिक मूल्य की विजय में आस्था रखता है। वह मानता है कि अन्ततः जीत अच्छाई की ही होती है। यही कारण है कि "सत्यमेव जयते" जैसी उक्तियां सभी-धार्मिक ग्रंथो में पाई जाती हैं। कुछ दर्शनिक, यथा नैयायिक, कांट आदि यह तर्क करते हैं कि शुभ की अंतिम विजय का सिद्धान्त ईश्वर की सत्ता का संकेतक है, क्योंकि इस प्रकार की विजय की गारंटी केवल ईश्वर ही दे सकता है। यही कारण है कि सभी धर्म 'न्याय' को सर्वाधिक महत्त्व देते हैं।

नैतिक मूल्य या आदर्श आंतरिक रूप से शुभ है, तथापि आंतरिक या आभ्यन्तरिक शुभ संबंधी विभिन्न अवधारणायें प्रचलित हैं। कुछ चिंतक इसे अनेक मूल्यों की आंगिक पूर्णता अथवा संगठित पूर्ण (Organic whole) के रूप में परिभाषित करते हैं। इस वर्ग के चिंतकों के मतानुसार यह सत्य, नैतिक श्रेष्ठता, सौंदर्य, संस्कृति, ज्ञान इत्यादि का समन्वयात्मक ऐक्य है। चिंतकों का दूसरा वर्ग पृथक्-पृथक् मूल्यों को आभ्यंतरिक शुभ मानता है। इनके मतानुसार सत्यबोध, सौंदर्यानुभूति, नैतिक परिपूर्णता आदि आभ्यन्तरिक शुभ हैं। इस तरह आभ्यंतरिक-मूल्य-संपन्न चीजों के संबंध में यह स्मरणीय है कि वे सरल अथवा जटिल किसी भी प्रकार की हो सकती हैं। पाश्चात्य नीतिशास्त्री जी. ई. मूर इस जटिलता को 'संगठित अंगी' की अवधारणा से समझाते हैं। इसी तरह यद्यपि सिज्विक व अन्य सुखवादी नहीं मानते, मूर जैसे चिंतक सुख को जटिलता-पूर्ण सिद्ध करते हैं क्योंकि उनके मतानुसार 'सुख' के अन्तर्गत सुख की चेतना या सुखानुभूति एवं सुखप्रद वस्तु दोनों समाविष्ट हैं।

जो चीज आंतरिक रूप से शुभ होती है या स्वतः मूल्यवान् होती है, उसका कुछ व्यक्तियों पर इतना गहरा प्रभाव पड़ता है कि वे उस नैतिक मूल्य को प्राप्त करने के लिए अपना जीवन समर्पित कर देते हैं। इतिहास ऐसी अनेक घटनाओं का साक्षी है जब किसी व्यक्ति ने किसी नैतिक आदर्श, यथा सामाजिक न्याय, के लिये अपना सर्वस्व लुटा दिया हो।

कोई चीज आंतरिक रूप से नैतिक मूल्य संपन्न है, यह इस तथ्य से सिद्ध होता है कि चाहे उस चीज की पूर्णतः ऐकान्तिक सत्ता हो, तब भी उसमें नैतिक मूल्य लाया जायेगा। स्वरूपतः नैतिक इन चीजों को ही 'नैतिक आदर्श' या साध्य माना जाता है। इसके विपरीत, जब कोई चीज किसी शुभ साध्य की प्राप्ति का साधन मात्र होती है, तो इस रूप में उसमें जो मूल्य पाया जाता है वह बाह्य

रहता है। इस भेद की ओर ध्यान आकर्षित करने के लिये ही जी. ई. मूर 'साध्य के रूप में शुभ' तथा 'साधन के रूप में शुभ' में भेद करते हैं।[४] नैतिक कर्म या कर्तव्य या शुभ कर्म को मूर कांट के समान साध्य न मानकर साधन मानते हैं। नैतिक मूल्य ही कर्मों के शुभत्व-अशुभत्व की कसौटी हैं। दूसरी ओर नैतिक मूल्य कर्मों के द्वारा ही प्राप्त या साकार किये जा सकते हैं। उदाहरणार्थ, सत्य का नैतिक मूल्य सत्यनिष्ठता, सत्यवचन आदि के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है।

नैतिक मूल्यों की यह विशेषता है कि वे हमें आत्मिक या आध्यात्मिक संतोष प्रदान करते हैं। इसके अतिरिक्त सार्वभौम होने के कारण वे व्यक्ति-निरपेक्ष होते हैं। ये एक साथ ही अपने आप में शुभ भी हैं और अपने आप साध्य भी हैं। ये शाश्वत मूल्य हैं। ज्ञातव्य है कि सभी मूल्य आंतरिक नहीं होते। केवल उन मूल्यों को आंतरिक संबोधित किया जाता है जो अपने आप में श्रेष्ठ व साध्य होते हैं। नैतिक मूल्य इसी श्रेणी में आते हैं। अर्बन[५] जैसे नीतिशास्त्री आंतरिक मूल्यों की पारलौकिक या तात्त्विक सत्ता मानते हैं। इस मान्यता का कारण मूल्यों का अति-प्राकृतिक होना है। हार्टमन[६] के मतानुसार भी आंतरिक मूल्य देशकालातीत हैं, तथापि सत्ता में अनुस्यूत होने के कारण वे वास्तविक हैं। इन्हें मानवीय कल्पना की उपज मानना भूल है। यह विश्वास किया जाता है कि आत्मसाक्षात्कार के लिये इन आंतरिक मूल्यों की प्राप्ति परमावश्यक है।

शुभ-साध्य अथवा नैतिक मूल्य स्वविवेकी चयन के विषय हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि जागृत विवेक के बिना व्यक्ति इनकी श्रेष्ठता को ग्रहण नहीं कर पाता और जब तक इनकी श्रेष्ठता अनुभव नहीं करता तब तक इनकी प्राप्ति के लिये सचेष्ट भी नहीं होता। चूंकि नैतिक शुभ व्यक्तिगत शुभ भी है और संपूर्ण मानवजाति का शुभ भी, अतः यह सर्वोच्च व्यक्तिगत तथा सामाजिक शुभ है। यदि हम यह मान भी लें कि यह अप्राप्य आदर्श है, तब भी यह हमारा नैतिक कर्तव्य है इसकी प्राप्ति को अपना ध्येय बनायें।

नीतिशास्त्रीय चिंतन-परंपरा पर दृष्टिपात करें तो हम पाते हैं कि परम शुभ अथवा चरम नैतिक मूल्य संबंधी तीन लोक-प्रिय मत प्रचलित हैं। ये हैं सुखवाद, कांटवाद व पूर्णतावाद। सुखवाद के अनुसार सुख ही एकमात्र शुभ है तथा ज्ञान, सौंदर्य, सदाचरण, सत्य आदि अन्य मूल्य उसकी प्राप्ति के साधन मात्र हैं। सिज्विक, बेन्थम, मिल आदि के मतानुसार केवल सुख ही आंतरिक नैतिक मूल्य है। सुखवाद के समस्त प्रकारों का अनेक आधारों पर खंडन किया जाता रहा है,[७] किन्तु यहां उसका सविस्तार खंडन समयोचित न होगा। इतना

कहना ही पर्याप्त है कि सुख को चरम शुभ व एकमात्र शुभ नहीं माना जा सकता क्योंकि यह अपने आप में शुभ नहीं है, व्यक्तिगत अनुभूति है; सत्कर्म व इसमें अपृथक् सिद्धता नहीं पाई जाती। जर्मन दर्शनिक कांट शुभसंकल्प की सर्वश्रेष्ठता का दावा करता है। उसकी दृष्टि में शुभ संकल्प निरपेक्ष शुभ है और स्वास्थ्य, समृद्धि, बुद्धि, आत्मसंयम आदि अन्य मूल्य इसकी सापेक्षता में ही शुभ कहे जा सकते हैं। उसके मतानुसार शुभ कर्म या कर्तव्य साधन नहीं, स्वयं साध्य है। कांट का मत भी अनेक कारणों से अमान्य कर दिया। सर्वाधिक विख्यात सिद्धान्त 'पूर्णतावाद' है जो आत्मन् के सामंजस्यपूर्ण विकास अथवा पूर्णता को परम शुभ घोषित करता है। पूर्णतावादी मानता है कि व्यक्ति तथा समाज के क्रमिक एकीकरण के द्वारा सामाजिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक आत्मन् की उपलब्धि ही नैतिक शुभ है। पूर्णतावाद मानता है कि ऐसी आदर्श पूर्णता विभिन्न मूल्यों की विवेकाधीन व्यवस्था के द्वारा ही संभव है। पाश्चात्य दर्शनिक प्लेटो, हेगेल, ब्रेडले तथा कुछ भारतीय अध्यात्मवादी चिन्तक इस मत के समर्थक हैं। इस मत को मूल्यसंबंधी समष्टि-ग्राही मत भी कहते हैं। पूर्णतावाद की इस आधार पर कटु निंदा की जाती है कि यह स्वार्थपूर्ण साध्य अथवा व्यक्ति की निजी पूर्णता का चरम नैतिक मूल्य मानता है जो अनुचित है। दूसरे, नैतिक कर्म के पीछे जो अभिप्रेरक होता है, वह कर्ता को निजी लाभ की अपेक्षा अन्य किन्हीं महत्तर उद्देश्यों की ओर उन्मुख करता है। पूर्णतावाद की मूल असंगति यह है कि यह निजत्व को महत्त्व देता है, जबकि एक सद्गुणी व्यक्ति स्वयं को कभी महत्त्व नहीं देता। सद्गुणी यह मानता है कि जो व्यक्ति निजी पूर्णता को साध्य मानता है, वह उसे प्राप्त करने में उस व्यक्ति की अपेक्षा जो अपना जीवन सर्वकल्याण के लिये समर्पित करता है कम सफल होता है।

नीतिशास्त्रियों का एक वर्ग ऐसा भी है जो सच्चरित्रता अथवा सद्गुण-संपन्न मानव व्यक्ति को चरम शुभ मानता है। यह दावा करता है कि यह अन्य किसी भी आंतरिक मूल्य से श्रेष्ठ है। फिर भी ये चिंतक यह कहने में संकोच करते हैं कि सद्गुणी होना व्यक्ति का सचेतन उद्देश्य होना चाहिए। इस सदर्भ में कांट के नैतिक सूत्र की चर्चा अपेक्षित है, जिसके अनुसार बौद्धिक प्राणि अपने आप में साध्य या व्यक्ति है। तथापि कांट शुभ संकल्प को ही परमोद्देश्य मानता है।

इनके अतिरिक्त ऐसे समकालीन दार्शनिक भी हैं (यद्यपि इनकी संख्या नगण्य है) जो मानव जीवन को चरम मूल्य मानते हैं। इस संदर्भ में विट्गेन्स्टीन का वह कथन उद्धरणीय है जिसमें वह कहता है कि "मानव जीवन के प्रति मेरा

दुख एक परम मूल्य के प्रति मेरा दुख है। मैं इस मत का नहीं हूं कि मानव-जीवन में मूल्य है।" [८] प्रश्न उठता है कि यदि यही सत्य है तो हम उन साहसी वीरों पर श्रद्धा क्यों करते हैं जो किसी नैतिक मूल्य के लिये अपना जीवन उत्सर्ग कर देते हैं?

डेविड रॉस ने अपनी पुस्तक फाउण्डेशन्स ऑफ एथिक्स में वस्तुओं को दो वर्गों में विभाजित किया है। [९] एक तो वे वस्तुयें जो संतोष के विषय हैं और दूसरी वे जिनकी प्रशंसा की जाती है। विलियम लिली एवं अन्य लोगों का कहना है कि केवल संतोष का विषय होने से कोई वस्तु नैतिक शुभ नहीं हो जाता। संतोष के विषय तथा नैतिक रूप से शुभ को एक मान लेना प्रकृतिवादी तर्कदोष में फसना है। दूसरी ओर, यह कहना भी भ्रामक है कि प्रशंसा के विषय सदैव नैतिक शुभ ही रहते हैं, क्योंकि प्रायः हम स्वार्थवश अनैतिक कर्मों की भी प्रशंसा करते हैं। हमें यह स्वीकार करना होगा कि प्रशंसा के सभी विषय नैतिक रूप से शुभ नहीं है, तथापि नैतिक दृष्टि से शुभ सभी वस्तुयें प्रशंसा के योग्य हैं। इतना ही नहीं वे श्रद्धा के एकमात्र विषय हैं।

हम २० वीं शताब्दि के नागरिक स्वर्गीय महापुरुषों, मनीषियों एवं ऋषियों के आदर्श एवं नैतिक अन्तर्बोधों की सराहना कर सकते हैं और करते भी हैं क्योंकि अतीत के नैतिक मूल्य शाश्वत होने से आज भी सार्थक व प्रासंगिक हैं। नैतिक मूल्यों की इस नित्यता एवं नैरन्तर्य का कारण का प्रारम्भ से आज तक मानव स्वभाव तथा मूल्य चेतना में पाई जानेवाली समानता है।

आज संपूर्ण विश्व में नैतिक शिक्षा की आवश्यकता अनुभव की जा रही है, क्योंकि मानव मूल्यों की चेतना क्षीण व धूमिल होती जा रही है। 'आज हम नैतिक संकट में फंसे हैं। वैज्ञानिक एवं तकनीकी उपलब्धियों की चकाचौंध, नैतिक सुखोपभोग की लालसा, धार्मिक सांप्रदायिकता एवं राजसत्ता के बढते प्रभाव ने मानव को समृद्ध नैतिक परंपरा से दूर कर दिया है। आज चिंतकों का प्रथम दायित्व है कि नई परिस्थितियों एवं नई आकांक्षाओं के प्रकाश में मूल्यों का आलोचनात्मक अध्ययन एवं मूल्यांकन करें जिससे हम एक ऐसा जीवन दर्शन विकसित कर सकें जो मानवीय गरिमा की रक्षा करने में समर्थ हो सके।

– छाया राय

७९६, नेपियर टाउन,
जबलपुर– ४८२००१ (म. प्र.)

टिप्पणियाँ

१. डॉ. राजबली पांडेय; हिन्दू धर्मकोश, पृ. ६३३
२. दर्शन परिभाषा कोश, पृ. ३८३
३. जी, ई. मूर; प्रिन्सिपिया एथिका, अध्याय प्रथम, पृ. ९
४. वहीं पृ. २१
५ डब्ल्यू एम. अर्बन; फण्डामेंटल्स ऑफ एथिक्स,
६. निकोलाय हार्टमन्; एथिक्स; खंड प्रथम : मॉरल फिनोमिना.
७. मूर; प्रिन्सिपिया एथिका; अध्याय तृतीय: सुखवाद, तथा
एच्. जे पेटन; द मॉरल लॉ, पृ. १०३
८. लु. विट्गेन्स्टीन; फिलोसोफिकल इन्वेस्टिगेशन, II p W
९. डब्ल्यू. डी रॉस; फाउण्डेशन्स ऑफ एथिक्स, पृ. २७८

माइकेल वाल्जर : समानता की बहुलवादी अवधारणा

— १ —

हाल ही के वर्षों में उदारवादी राजनीतिक सिद्धान्त मार्क्सवादी आलोचना से बचने के लिए उपयोगितावादी आग्रह से दूर हट कर "अधिकारयुक्त उदार मान्यता" पर जोर देने लगा है। इस हेतु उदारवादी राजनीतिक विचारकों ने काण्ट से अपने चिंतन के स्रोत प्राप्त किये। इन नव-काण्टवादी विचारकों में हम जॉन रॉल्स, इसैह बर्लिन, ड्वोर्किन, राबर्ट नोजिक आदि को ले सकते हैं।[1] ये विचारक उदारवाद के लिए नैतिक आधार तैयार करने लगे तथा अपनी मान्यता के घेरे में समतावादी दृष्टिकोण पर जोर देने लगे। किंतु नव-काण्टवादी उदारवाद को आज एक दूसरी दिशा से चुनौती मिलना प्रारंभ हो गई है। यद्यपि यह चुनौती किसी भी रूप में मार्क्सवादी घेरे से नहीं मिली, बल्कि यह चुनौती स्वयं उदारवाद के अन्तर्गत आने वाले सामुदायिक विचारकों (communitarian thinkers) ने दी। अलास्डेर मॅकिण्टायर (१९८१), चार्ल्स टेलर (१९७५) बेंजामिन बारबर (१९८४), माइकेल वाल्जर (१९८३) जैसे सामुदायिक विचारकों ने नव-काण्टवादी उदारवादी मान्यता की आलोचना करते हुये कहा कि यह अपने आपको व्यक्तिवादी मान्यता से अलग नहीं कर पायी। नव-काण्टवादी विचारकों की पद्धति व्यक्तिवादी रही तथा लक्ष्य सामुदायिक। किन्तु ये सामुदायिक लक्ष्यों के अनुरूप किसी भी प्रकार की सामुदायिक जीवन-योजना स्पष्ट करने में असफल रहे हैं। फलतः उनकी पद्धति तथा लक्ष्य में खाई पैदा हो गई, जिसको पाटने में नव-काण्टवादी विचारक असमर्थ रहे हैं। संक्षेप में, सामुदायिक विचारकों की नव-काण्टवादी उदारवाद के विरुद्ध निम्न आपत्तियाँ रही हैं।[2] प्रथम, इन विचारकों ने नव-काण्टवादी विचारकों की पद्धतीय व्यक्तिवाद के सिद्धांत (principle of Methodological Individualism) को अस्वीकार कर दिया

(पद्धतीय व्यक्तिवाद के सिद्धांत के अंतर्गत यह माना जाता है कि विवेकशीलता व्यक्ति की गतिविधियों एवं उसके कार्यों में ही अभिव्यक्त होती है।) इन विचारकों का मानना है कि विवेकशीलता केवल व्यक्तिगत कार्यों एवं गतिविधियों में ही अभिव्यक्त नहीं होती वरन् यह राजनीतिक संस्थाओं तथा राजनीतिक संस्कृति के माध्यम से भी प्रकट होती है, क्योंकि व्यक्ति के कार्य तथा उसकी गतिविधियों का स्वरूपण राजनीतिक संस्थाओं तथा संस्कृति द्वारा होता है। द्वितीय, अच्छाई को हम केवल व्यक्तिगत अच्छाई या व्यक्तिगत सुख के रूप में नहीं ले सकते। व्यक्ति की अच्छाई अन्य व्यक्तयों की अच्छाई से निकटता से जुड़ी होती है। "हम क्या हैं, यह इससे निर्धारित होता है कि समुदाय में हमारी सदस्यता का स्थान क्या है।" [३] समाज पृथक्-पृथक् व्यक्तियों का जोड़ मात्र नहीं है, जो कि अनभिज्ञता के आवरण (veil of ignorance) (रॉल्स : १९७१) के द्वारा एकत्रित होते हैं। वास्तव में समाज तो मानव प्राणियों का एक ऐसा समुदाय है, जिसमें उसके हर सदस्य की आवश्यकताओं को पूरी करने का प्रयास किया जाता है। व्यक्ति समाज के अन्तर्गत अनभिज्ञता के आवरण के अंतर्गत कार्य नहीं करता बल्कि उसकी भूमिका एक ऐसे व्यक्ति की है, जो समाज में अपने अस्तित्व के प्रति सचेत है, किन्तु उसके अस्तित्व का स्वरूप समाज द्वारा ही प्रदान किया जाता है। [४]

सामुदायिक विचारकों ने अपने चिन्तन का आधार अरस्तु तथा हीगल को बनाया। अरस्तु तथा हीगल के चिंतन से स्रोत लेते हुये इन विचारकों ने एक तरफ नव-काण्टवादी मान्यता का विकल्प प्रस्तुत किया तो दूसरी तरफ उन्होंने समसामायिक उदारवाद में, कम से कम सैद्धांतिक रूप में तो, व्यक्ति तथा समुदाय में समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया। जैसा कि गिलेस्पी ने लिखा है, "नव-काण्टवादियों की असफलता उदारवाद के लिए एक ऐसा आधार प्रदान करती है, जहाँ सामुदायिकता की अभिव्यक्ति तथा मानव गरिमा को गारण्टी प्रदान हो सकती है। नव-कण्टवादियों की असफलता ने अरस्तु, रूसो और संभवतः सबसे अधिक हीगल जैसे विचारकों पर पुनः विचार की ओर अग्रसित किया। हीगल द्वारा काण्ट की आलोचना के बिन्दुओं को नव-काटवादियों की आधुनिक आलोचना में उसी रूप में लिया जा रहा है तथा हीगल की विकल्पवादी धारणा-कम से कम सिद्धांत में तो- व्यक्ति तथा समुदाय का सामञ्जस्य स्थापित करती है, जिसका कि सामायिक उदारवाद में अभाव है। ऐसी स्थिति में हीगल की तरफ अग्रसित होने में आश्चर्य की कोई बहुत बड़ी भारी बात नहीं है।" [५] अरस्तु का अनुसरण करते हुये इन विचारकों ने कहा कि हम सामान्य तथा सामुदायिक

लक्ष्यों एवं उद्देश्यों को ध्यान में रखे बिना राजनीतिक समझौतों तथा सहमतियों को न्याय-संगत नहीं देख सकते हैं, जब तक कि हम सामुदायिक जीवन में एक नागरिक के रूप में हमारी क्या भूमिका रही इसको नहीं देख लें। काण्ट के विरुद्ध प्रयुक्त किये गये हीगल के तर्कों को अपनाते हुये ये विचारक आधुनिक उदारवाद के अच्छाई के ऊपर अधिकारों को प्राथमिकता देने के दावे तथा व्यक्ति की स्वतंत्र पसंदगी की प्रमुखता को चुनौती देने लगे।[6] अरस्तु का प्रभाव विशेष रूप से अलास्देर मॅकिण्टायर[7] तथा चार्ल्स टेलर[8] पर देख सकते हैं, तो हीगल के पुन: उद्भव का प्रयास रोबर्टो उगर[9] तथा माइकेल सेण्डल[10] ने किया। अलास्देर मॅकिण्टायर ने अरस्तु की न्याय की धारणा को स्वीकार करते हुये जॉन राल्स तथा रॉबर्ट नोजिक द्वारा योग्यता की अपेक्षा किये जाने के कारण उनकी आलोचना की।[11] अरस्तु की धारणा में न्याय ऐसे समुदाय में निहित होता है, जिसमें व्यक्ति तथा समुदाय दोनों एक दूसरे की अच्छाई में सहभागी हो। इस संदर्भ में हम देख सकते हैं कि मॅकिण्टायर की 'स्व' की मान्यता उदारवादी धारणा से भिन्न है। मॅकिण्टायर के अनुसार व्यक्ति का लक्ष्य तथा उसकी उपलब्धि केवल उसके अपने आप तक ही सीमित नहीं हैं, वरन् वे उस समुदाय से भी जुड़ी होती हैं, जिसमें व्यक्ति रह रहा है। जैसा कि माइकेल सॅण्डल ने मॅकिण्टायर की सामुदायिकता की अवधारणा पर टिप्पणी करते हुये लिखा है, "मेरी पहचान मेरे अपने अलग लक्ष्यों एवं उपलब्धियों में नहीं है, हालांकि ये उसके अंग जरूर हैं। मैं शुरू से ही उस स्थिति पर टिका हूँ, जहाँ इतिहास द्वारा अन्य व्यक्तियों में मेरी स्थिति तय कर दी है। मेरी अच्छाई सामुदायिक अच्छाई में ही निहित है।[12] चार्ल्स टेलर ने व्यक्तिवादी (Atomistic) उदारवाद को आलोचना का केन्द्र बनाया। उनका मानना था कि व्यक्तिवादी उदारवाद समाज की अपेक्षा व्यक्ति तथा उसके अधिकारों को प्राथमिकता देता है। रोबर्टो उगर तथा चार्ल्स टेलर दोनों ने इतिहास द्वारा नियन्त्रित व्यक्ति की हीगलवादी अवधारणा को स्वीकार करते हुए स्वतंत्र तथा विवेकीय प्राणी के रूप में व्यक्ति के उदारवादी मत को अस्वीकार कर दिया।[13] चूंकि प्रस्तुत लेख का आग्रह समुदायवादी धारा की समग्रता में विवेचन करना नहीं बल्कि समुदायवादी धारा के प्रतिनिधि विचारक, माइकेल वाल्जर के राजनीतिक चिन्तन, विशेषकर समानता की बहुलवादी धारणा का मूल्यांकन करना है, इसलिये हमारा प्रयास यह देखने का रहा है कि समुदायवादी धारा के विचारक के रूप में माइकेल वाल्जर उदारवाद के कौन से मुद्दों को आलोचना का शिकार बनाता है तथा व्यक्ति तथा समुदाय में कैसे समन्वय स्थापित करता है? साथ-साथ अपने चिन्तन के आधार पर उसने अरस्तु की मान्यताओं का कितना अनुसरण किया आदि बिन्दुओं पर स्पष्ट रूप से विचार किया गया है।

— २ —

माइकेल वाल्जर के चिंतन की शुरूआत हम उसकी न्याय की अवधारणा से करते हैं। न्याय से वाल्जर का तात्पर्य वितरणात्मक न्याय से है, जो अपने स्वरूप में बहुलवादी होता है। वाल्जर के अनुसार "एक विशिष्ट समाज में न्याय के सिद्धांत अपने स्वरूप में बहुलवादी होते हैं......विभिन्न सामाजिक वस्तुएँ विभिन्न प्रक्रियाओं के साथ विभिन्न कारणों के लिए वितरित होनी चाहिए"।[१४] वितरणात्मक न्याय जिन वस्तुओं के संबंध में हम चाहते हैं, उन वस्तुओं में हमारी सहभागी समझ अन्ततः जुड़ी होती है। प्राथमिक तथा मूल वस्तुओं का कोई एक समूह नहीं है। वाल्जर का मानना है कि यहाँ तक कि भोजन जैसी आवश्यक वस्तु भी विभिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न अर्थ लिये हुये है। साथ ही जो वस्तुएँ उपलब्ध हों, उनके बारे में कोई एकमात्र सामान्य कसौटी नहीं हो सकती है और न ही स्वतन्त्र विनिमय या योग्यता या आवश्यकता वितरण की सम्पूर्ण व्यवस्था को बदल सकती है। जब किसी विशिष्ट वस्तु का सामाजिक अर्थ इतिहास तथा समय-परिवर्तन के साथ बदल जाता है, तो सामाजिक जीवन के परिवर्तन की भाँति वितरण व्यवस्था भी स्वतः बदल जायेगी। अतः हम कह सकते हैं कि वाल्जर की बहुलवादी न्याय की मान्यता में तीन आयाम उभरकर आते है। ये हैं: विभिन्न वस्तुओं की मान्यता, वितरणात्मकता के कारण तथा विवरण की विभिन्न प्रक्रिया। हमारे लिए यह वांछनीय होगा कि हम इन तीनों आयामों का विस्तार से विवेचन करें।

अ) विभिन्न वस्तुओं की मान्यता

वस्तुओं के सिद्धान्त के बारे में वाल्जर ने छः मान्यतायें रखी हैं। प्रथम, वाल्जर का मानना है कि विवणात्मक न्याय से सम्बन्ध रखनेवाली सभी वस्तुयें सामाजिक वस्तुयें हैं। निजी तथा भावनात्मक कारणों के फलस्वरूप कुछ घरेलु वस्तुयें हो सकती है किन्तु इन वस्तुओं से रहने वाली जुड़ी भावनायें संस्कृति से जुड़ी हुयी होती हैं। अतः व्यक्तिगत वस्तुयें भी सामाजिक वस्तुओं की श्रेणी में आ जाती हैं। विश्व में वस्तुओं के अर्थ विभिन्न लगाये जाते हैं, क्योंकि इनका उद्भव तथा दृष्टि-कोण सामाजिक प्रकिया से जुड़ा होता है। इसी कारण विभिन्न वस्तुयें विभिन्न अर्थ रखती हैं। एक चीज का ही मूल्याकंन विभिन्न स्थानों पर विभिन्न प्रकार से किया जाता है। कहीं एक विशिष्ट चीज को महत्त्व दिया जाता है तो कहीं उसे गौण समझा जाता है।, द्वितीय, सामाजिक वस्तुयें व्यक्तियों को मूर्त स्वरूप प्रदान करती हैं। वितरण को व्यक्तियों के कार्यों के रूप में उस समय तक नहीं समझ सकते

जब तक कि उनके मानस या हाथ में कोई विशिष्ट वस्तुयें न हो। वास्तव में, व्यक्ति पहले से ही वस्तुओं के समूह के अनुरूप तय होते हैं। दूसरे शब्दों में, सामाजिक वस्तुयें ही समाजों को विभिन्नता का स्वरूप प्रदान करती हैं। तृतीय, प्राथमिक या मूल वस्तुओं का कोई एक समूह नहीं होता है जो कि पूरे विश्व में स्वीकृत हो, यहां तक कि 'आवश्यकता' की सीमारेखा भी बहुत भिन्नता लिये होती है। उनकी वरीयता का क्रम बहुत भिन्न होता है। उदाहरण के लिए, 'रोटी' जैसी आवश्यक वस्तु भी विभिन्न स्थानों पर विभिन्न अर्थ रखती है। एक जगह रोटी व्यक्ति का जीवन है तो दूसरी जगह अनाज को कूड़े के रूप में फेंका जाता है। ऐसी स्थिति में रोटी को हम सर्वमान्य वस्तु की सूची में कैसे ले सकते हैं ? चतुर्थ, वितरणात्मक कसौटी तथा व्यवस्था अपने आप में सामाजिक अच्छायी लिये होती है। अगर हम यह समझना चाहते हैं कि यह अच्छाई क्या है, व्यक्तियों लिए इसका क्या अर्थ है, इसको हम कैसे समझ सकते हैं, तो हमें उन कारकों को देखना होगा, जिनके कारण से व्यक्ति वस्तुओं को बांटना चाहते हैं। सभी वितरण व्यवस्थायें वस्तुओं के सामाजिक अर्थ के अनुरूप ही न्याय-संगत और अन्याय-संगत होती हैं। कोई भी वस्तु अगर सामाजिक रूप से स्वीकृत या या मान्य है तो वह न्याय-संगत है अन्यथा अन्याय-संगत। "एक निश्चित उपयुक्त कसौटी के अन्तर्गत प्रत्येक सामाजिक वस्तु का अपना पृथक् वितरण क्षेत्र होता है। वह कसौटी इन पर निर्भर करती है कि उस विशिष्ट वस्तु का हमारे लिये क्या अर्थ है, उसका महत्त्व हमारे से कैसे जुड़ा हुआ है। वितरण की न्याय-संगतता और अन्याय-संगतता उस विशिष्ट वस्तु के सामाजिक अर्थ से सापेक्ष रूप से जुड़ी होती है"।[१५] वाल्जर का मानना है कि सामाजिक अर्थ में कोई वस्तु न्याय-संगत है तो उसे खरीद-बेच सकते हैं अन्यथा नहीं। जैसे, वेश्यावृत्ति तथा रिश्वतखोरी सामाजिक अर्थ में मान्य नहीं है, अतः इनका प्रचलन तथा व्यापार भी मान्य नहीं है। वाल्जर का मानना है कि हमारे सामने इस बात की बहुत कठिन समस्या है कि हम सामाजिक वस्तु का अर्थ कैसे तय करें, क्योंकि आधुनिक समाज के हम लोगों की आदत किसी एक उपभोक्ता वस्तु की नहीं वरन् कई उपभोक्ता की होती है। हमारा दृष्टिकोण विभिन्न सामाजिक वस्तुओं के बारे में बंटा होता है। हमारे समाज में कोई सामूहिक सहमति जैसी कोई चीज नहीं है। ट्यूबर के शब्दों में, 'सामूहिक समझदारी इतनी कम है कि समान अर्थ के विश्व की रचना नहीं कर सकते हैं, जो दिशा प्रदान करने में सक्षम हो सके।"[१६] पंचम, सामाजिक अर्थ मे वस्तु की न्याय-संगतता या अन्याय-संगतता अपने स्वरूप में ऐतिहासिक होती है। दूसरे शब्दों में, वस्तु का सामाजिक अर्थ अर्थात् उसकी न्याय-संगतता या अन्याय-संगतता को उस काल या समय के अन्तर्गत लेकर ही देखा

जाता है। अतः वितरण की न्याय-संगतता तथा अन्याय-संगतता भी समयानुसार बदलती रहती है। हालाँकि कुछ वस्तुयें अपने स्वरूप में निरपेक्ष होने के कारण समय और स्थान की सीमा से दूर होती हैं, किंतु अधिकांश ऐतिहासिक स्वरूप से जुड़ी होती हैं। जब वस्तुओं के सामाजिक अर्थ विशिष्ट हैं तो वितरण व्यवस्था को निश्चित रूप से स्वायत्त होना चाहिये। वितरण की स्वायत्तता से तात्पर्य यह है कि वितरण को कोई एक ऐसा सार्वभौमिक प्रतिमान नहीं हो सकता है, जो सभी समाजों में समान रूप से लागू हो सके। प्रत्येक सामाजिक वस्तु या वस्तुओं का एक समूह वितरणात्मक क्षेत्र को लिये होता है, जिसमें कुछ निश्चित प्रकार की कसौटियाँ तथा व्यवस्थायें ही उपयुक्त हो सकती हैं। वितरण व्यवस्था वस्तु की प्रकृति, इतिहास तथा स्थान के अनुसार तय होती है। जैसा कि कहा गया है कि वितरण का कोई एक मान्य सिद्धान्त नहीं है। 'राजनीतिक शक्ति के वितरण के जो नियम हैं वे नियम प्यार, धन तथा अन्य वस्तुओं के वितरण के नहीं हो सकते हैं। अतः वे व्यक्ति जो किसी एक वितरण क्षेत्र में प्रभुत्व रखते हैं उनके लिये यह आवश्यक नहीं कि वे ही व्यक्ति किसी अन्य क्षेत्र में भी सफल हो जायेंगे'।[१७] जहाँतक वितरण व्यवस्था का इतिहास तथा स्थान से सम्बन्ध है, हम कह सकते हैं कि मानव संरचना स्थान और समय के अनुसार परिवर्तित होती रहती है तथा उस स्थान व समय के अनुसार तय होने वाले मूल्यों तथा मान्यताओं के अनुसार ही अपना अर्थ ग्रहण करती है। न्याय का जो अर्थ प्लेटो के लिए था, वह आज हमारे लिए नहीं हो सकता है। सामाजिक जीवन के विभिन्न रूप न्याय की अवधारणा के विभिन्न रूप लिये होती है।

(ब) वितरणात्मकता के निर्धारित कारक

सभी प्रकार के वितरणों के लिए कभी कोई भी एक कसौटी या पारस्परिक सम्बन्धता की सम्बन्धता की कसौटी का कोई एक रूप नहीं रहा है। योग्यता, जन्म तथा रक्त, मित्रता, आवश्यकता, स्वतंत्र विनिमय, राजनीतिक आस्था, लोकतांत्रिक निर्णय आदि सभी का अपना स्थान होता है। समान रूप से एक प्रकार की निर्णय व्यवस्था से भी सभी प्रकार की वितरण व्यवस्था को नियंत्रित नहीं किया जा सकता। कोई भी राज्य-शक्ति इतनी व्यापक नहीं हो सकती है कि वह समाज को स्वरूप देने वाली सभी हिस्सेदारी, वितरण-व्यवस्था तथा विनिमय के प्रारूप को नियंत्रित कर सकें। चीजें राज्य के नियन्त्रण से निकल जाती हैं। फलतः नये प्रारूप तय होते हैं। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि राज्य वितरण की सम्पूर्ण व्यवस्था को नियन्त्रित नहीं कर सकता है।

इस तरह वाल्जर का मानना रहा है कि सामाजिक वस्तुओं की विभिन्नताओं में वितरण की कोई एक कसौटी नहीं हो सकती है। किन्तु फिर भी मुख्यतः तीन कसौटियाँ हो सकती हैं, जिन पर हम वितरण व्यवस्था को केन्द्रित कर सकते हैं। ये कसौटियां स्वतन्त्र विनिमय, योग्यता (Desert) तथा आवश्यकता हो सकती हैं। वाल्जर के अनुसार वितरण व्यवस्था में ये तीनों प्रभावकारी कारक तो हैं, किन्तु इनमें से कोई एक कारक भी अपने आप में पूर्ण नहीं है, किन्तु वे उसका एक भाग हैं।[१८] यहाँ यह अच्छा होगा कि हम इन तीनों कारकों के बारे में थोड़ा विस्तार से विवेचन करें।

१) **स्वतन्त्र विनिमयः**- स्वतन्त्र विनिमय एक ऐसे बाजार का उद्‌भव करता है, जिसमें धन विनिमय का एक साधन होता है। दूसरे शब्दों में, धन के माध्यम द्वारा सभी वस्तुओं को अन्य दूसरी वस्तुओं द्वारा बदला जा सकता है। एक बंटवारे के लिए इस बाजार में दो चीजों का होना जरूरी है। प्रथम, जहाँ न तो कोई प्रभुत्वकारी वस्तुयें हो और न ही एकाधिपत्य हो; तथा द्वितीय, धन के माध्यम के द्वारा एक वस्तु द्वारा जो दूसरी वस्तु बदली जा रही है वह स्पष्टतः अपने सामाजिक अर्थ को अभिव्यक्त करती हो। अतः कह सकते हैं कि विनिमय सामाजिक दृष्टि से न्याय-संगत वस्तुओं के लिए ही मान्य होगा। किन्तु व्यावहारिक अनुभव से स्पष्ट है कि धन व पैसा एक प्रभुत्वकारी वस्तु है, इस पर उन्हीं व्यक्तियों का प्रभुत्व होता है जो कि सौदेबाजी तथा व्यापार की विशेष दक्षता रखते हैं। ऐसी स्थिति में वस्तु का सामाजिक अर्थ कमजोर पड़ जाता है, क्योंकि वाल्जर का मानना है कि सामाजिक अर्थ अर्थात् न्याय-संगतता कभी व्यक्तिपरक नहीं होती। ऐसी दशा में आम व्यक्ति द्वारा धन के वितरण की मांग की जाती है अर्थात् "साधारण समानता" स्थापित करने की मांग उठती है और किसी भी तरह इस स्थिति की स्थापना की खोज प्रारम्भ होती है।

(ii) **योग्यता** :- स्वतंत्र विनिमय की भांति योग्यता की मान्यता भी एक तरफ खुले-लक्ष्य युक्त है तो दूसरी तरफ वह अपने स्वरूप में बहुलवादी भी दिखायी देती है। वाल्जर का मानना है कि प्यार, प्रभाव, पद, कलात्मक कार्य आदि सभी का योग्यता के आधार पर ही वितरण होना चाहिये। कोई भी यह अनुमान लगा सकता है कि एक तटस्थ एजेन्सी अगर पुरस्कार या दण्ड को वितरित करती है तो निश्चित रूप से व्यक्ति की योग्यता के सभी रूपों के प्रति वह सजग होती है। कोई प्रभुत्वकारी वस्तु नहीं होगी। कोई भी किसी वस्तु को उसके सामाजिक अर्थ को देखे बिना बांट नहीं सकता है। किसी व्यक्ति को यह देखे बिना कि वह क्या है, अवधारणात्मक रूप से यह कहना बहुत मुश्किल है कि वह अमुक व्यक्ति

उस चीज के लिए योग्य है । व्यक्तियों के सभी प्रकार के वर्ग अपने अनुपात में पुरस्कार प्राप्त करेंगे । फिर यह कहना आसान नहीं है कि व्यवहार में यह कैसे कार्य करेगी । विशिष्ट वस्तुओं और विशिष्ट व्यक्तियों के गहन निकट सम्बन्धता की आवश्यकता होती है । "योग्यता आवश्यकता की जरूरत नहीं रखती है तथा यह समान रूप से चीजों को अपने पास भी नहीं रखती है।"[१९] वाल्जर उदाहरण दे कर स्थिति को स्पष्ट करता है । जैसे, केवल कलात्मक दृष्टि से पूर्ण रूप से विकसित व्यक्ति, जो कि तस्वीर रखने के योग्य है, को ही वास्तव में तस्वीरें रखनी चाहिये । राज्य सभी वस्तुओं को खरीद कर बेचने की पहल कर सकता है तथा कलात्मक रूप से विकसित स्त्री-पुरुषों को वह उन्हें बाँट सकता है । अच्छी तस्वीरों को और अधिक महत्त्व दिया जा सकता है । राज्य ऐसा उन वस्तुओं के लिए भी कर सकता है, जिनकी व्यक्तियों को आवश्यकता है । किन्तु व्यक्ति जिस चीज के लिए योग्य है, वहाँ वह ऐसा नहीं कर सकता है ।

(iii) आवश्यकता :– अन्तिम कसौटी आवश्यकता है । "प्रत्येक को उसकी आवश्यकता के अनुरूप" को सामान्यतः मार्क्स की इस प्रसिद्ध उक्ति कि "हमें समुदाय की सम्पत्ति को इस रूप में बाँटना चाहिए ताकि इसके सभी सदस्यों की आवश्यकतायें पूरी हो सके" को अर्धसत्य के रूप में लिया जाता है । वाल्जर का मानना है कि यह एक उपयुक्त प्रावधान है, किन्तु अपूर्ण है । वास्तव में, इस उक्ति का पहला आधा भाग– समुदाय की सम्पत्ति का वितरण–वितरणात्मक प्रावधान वाला है, किन्तु यह आगे के आधे भाग के नियम के अनुरूप नहीं है, क्योंकि प्रश्न उठता है कि आवश्यता का आधार क्या हो ? क्या आवश्यकता का तात्पर्य व्यक्ति की उस काम के लिए क्षमता है ? क्या आवश्यकता का आधार भौतिक चाह या या इच्छा है ? क्या आवश्यकता का आधार अन्य कोई गैर भौतिक अर्थ में लिया जाये ? जबकि "प्रत्येक को उसकी क्षमता के अनुसार" के प्रावधान का मानना है कि नौकरियों का वितरण व्यक्ति की योग्यता के आधार पर किया जाना चाहिये । नौकरियां सीमित हों, योग्य उम्मीदवार बहुतायत में हैं और उन योग्य उम्मीदवारों को नौकरी की भी आवश्यकता हो तो कौन से उम्मीदवार उन नौक-रियों के जादा योग्य हैं ? अगर यहाँ पर उनकी भौतिक आवश्यकताओं को लिया जाये तो उनमें बहुत से ऐसे होंगे, जिनको काम की कतई आवश्यकता नहीं है । किन्तु अगर उसे गैर-भौतिक अर्थ में लिया जाये तो उन्हें काम की जरूरत है । अतः स्पष्ट रूप से आवश्यकता के आधार पर व्यक्तियों में अन्तर नहीं कर सकते हैं । अतः हमें व्यक्तिगत आधार पर देखने के बजाय सामुदायिक आधार पर देखना चाहिये । वाल्जर का मानना है कि आवश्यकता का कोई एक आधार नहीं हो

सकता है। साथ ही वाल्जर का यह भी मानना रहा है कि ऐसी चीजें होती हैं जिनके वितरण में मार्क्स की उक्ती सहायता नहीं करती है। जैसे, राजनीतिक शक्ति, सम्मान, प्रसिद्धि, दुर्लभ पुस्तकें, सुन्दर वस्तुयें आदि। इन चीजों के बारे में यह नहीं कह सकते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति को इन चीजों की आवश्यकता होती है। वाल्जर का मानना है कि हम " आवश्यकता " की कोई स्पष्ट परिभाषा नहीं कर सकते हैं। बहुत सारी ऐसी चीजें हैं जिनकी समान रूप से चाह होते हुये भी उन्हें समान रूप से नहीं बांट सकते हैं, क्योंकि कुछ चीजें बहुत सीमित हैं तथा कुछ चीजों को हम उस समय तक अपने आधिपत्य में नहीं रख सकते हैं जब तक की अन्य लोग इस आधिपत्य के लिए तैयार न हों। आवश्यता के स्वरूप के बारे में वाल्जर ने लिखा है " आवश्यकता एक विशिष्ट क्षेत्र का उद्भव करती है, जिसके अन्तर्गत यह स्वयं एक उपयुक्त वितणात्मक सिद्धांत है। एक गरीब समाज में सामाजिक सम्पत्ति का एक उच्च भाग इस क्षेत्र के अन्तर्गत आयेगा।[20] किन्तु वाल्जर का मानना है कि वस्तुओं की विभिन्नता के कारण आवश्यकता के साथ वितरण के अन्य सिद्धान्त भी कार्य करते हैं। स्पष्ट है कि एक क्षेत्र में आवश्यकता के आधार पर वितरण का सिद्धान्त उपयुक्त है तो दूसरे में नहीं। स्वयं वाल्जर ने सुरक्षा तथा लोककल्याण के क्षेत्र में आवश्यकतानुसार वितरण सिद्धान्त को उपयुक्त माना है। अतः हम कह सकते हैं कि वाल्जर वस्तुओं को ऐसे व्यक्तियों को तो बाँटना चाहता है, जिनको आवश्यकता है, किन्तु वह इन्हें इस तरह बाँटना चाहता है कि उससे उसका सामाजिक स्वरूपण (सदस्यता) बनी रहे। अर्थात् आवश्यकता को सामुदायिकता के संदर्भ में तय किया जाना चाहिए। अतः हमें " प्रत्येक को उसकी क्षमता के अनुसार " के प्रावधान की अपेक्षा " प्रत्येक को उसकी सामाजिक स्वीकृत आवश्यकताओं के अनुरूप मिलना चाहिए ", के प्रावधान को अपनाना चाहिए।[21]

वितरण की विभिन्न प्रक्रियायें :—

वितरण की विभिन्न प्रक्रियाओं के बारे में पीछे काफी विवेचन कर चुके हैं, अतः यहाँ अलग से व्याख्या की जरूरत नहीं है। किन्तु इस संदर्भ में संक्षेप में हम कह सकते हैं कि वाल्जर ने नव-काण्टवादी विचारकों, विशेषकर जॉन राल्स की वितरणात्मक न्याय की मान्यता को अस्वीकार करते हुये कहा कि इन विचारकों की वितरणात्मक न्याय की मान्यता एक ही वितरणात्क प्रारूप को लेकर चलती है। उन्हीं के शब्दों में, " दार्शनिक मूल वस्तुओं की एक सीमित सूची पर जोर देते हैं और जल्दी ही एक मात्र वस्तु तथा एक वितरण कसौटी की तरफ आक-

षित हो जाते हैं। ..... तथा दार्शनिक स्वयं कम-से-कम प्रतीकात्मक रूप से तो, एकल निर्णय की मान्यता को लिए हुये हैं।" [२२] जबकि वाल्जर ने दूसरी तरफ बहुल वितरण व्यवस्था पर जोर दिया है, जो कि इतिहास, समय तथा स्थान के अनुसार परिवर्तित होती रहती है।

— ३ —

समानता की अवधारणा : साधारण समानता की अपेक्षा जटिल समानता की आकांक्षा :

वाल्जर का वितरणात्मक सिद्धान्त न केवल अपने स्वरूप में बहुलवादी है वरन् वह समतावादी भी है। वाल्जर ने समानता को परिभाषित करते हुये लिखा है, "समानता व्यक्तियों का जटिल सम्बन्ध है, वस्तुयें व्यक्तियों में मध्यस्थता का काम करती हैं, जिनमें कि व्यक्ति अपनी हिस्सेदारी प्राप्त करते हैं तथा जिन्हें वे आपस में बाँटते हैं। यह स्वामित्व की परिचायक स्थिति नहीं है। अतः इसमें वितरण कसौटी की बहुलता की जरूरत होती है, जो कि वस्तुओं की विभिन्नता को प्रकट करती है।" [२३] उल्लेखनीय है कि वाल्जर ने "साधारण समानता" की अपेक्षा "जटिल समानता" पर जोर दिया है। साधारण समानता तथा जटिल समानता का अर्थ स्पष्ट करने से पहले यह वांछनीय होगा कि हम एकाधिकार (Monopoly) तथा प्रभुत्व (Dominance) शब्दों के अर्थ को समझ लें, क्योंकि साधारण समानता तथा जटिल समानता का अन्तर इन्हीं दो शब्दों के अन्तर पर टिका हुआ है। व्यक्तियों द्वारा किसी वस्तु का नियन्त्रण होता है तो वहाँ एकाधिकार होता है, जबकि प्रभुत्व की स्थिति वहाँ होती है जहाँ किसी वस्तु पर एकाधिकार के कारण व्यक्ति दूसरी वस्तुओं को भी नियन्त्रित करता हो। अतः कह सकते हैं कि प्रभुत्व वस्तुओं की आपसी सम्बन्धता पर निर्भर करता है, जहाँ एक वस्तु का एकाधिकार अन्य वस्तुओं पर नियन्त्रण का भी कारक बनता है। उदाहरण के लिए, पैसे को हम प्रभुत्व की श्रेणी में ले सकते हैं, क्योंकि कोई व्यक्ति पैसे पर एकाधिकार रखता है तो अन्य वस्तुओं को भी नियन्त्रित कर सकता है।

अब हम साधारण समानता तथा जटिल समानता के अर्थों पर आते हैं। साधारण समानता से तात्पर्य उस आदर्शवादी स्थिति की कल्पना से है, जिसमें व्यक्ति बिना किसी पूर्वाग्रह के जीवन के हर क्षेत्र में समान समझा जाये। किन्तु वाल्जर का मानना है कि समानता को हम इस अर्थ में स्पष्ट नहीं कर सकते हैं, क्योंकि इसका अर्थ परिस्थिति, इतिहास, समय, राजनीतिक व्यवस्था आदि के

अनुसार बदलता रहता है। एक स्वेच्छाचारी या वर्गतंत्र (Autocratic or oligarchic) राज्य में समानता के अन्तर्गत एक ऐसे समाज की कल्पना की जाती है, जहाँ शक्ति को बाँटा जाये तथा प्रत्येक व्यक्ति की उसमें समान हिस्सेदारी हो, किन्तु प्रारंभिक स्थिति में भी समानता की यह मान्यता बनी नहीं रह सकती है। कोई अध्यक्ष निर्वाचित हो जायेगा, कोई अपने प्रभावशाली भाषण से हम सभी को इस बात के लिए राजी कर लेगा कि हम उसका नेतृत्व स्वीकार करें। अतः हम फिर असमान स्थिति में आ जायेंगे। एक पूंजीवादी राज्य में ऐसे समाज की कल्पना की जाती है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति के पास समान धन हो, किन्तु हम सभी जानते हैं कि समान रूप से वितरित किया गया धन भी कुछ समय बाद फिर असमान स्थिती में हो जायेगा। कुछ व्यक्ति इसको बचा कर रखेगें, कुछ इसे खर्च कर देगें तथा कुछ इसे अन्य चीजों में विनियोग कर देगें। अगर हम एक सामन्तवादी राज्य में रहते हैं तो वहाँ हम एक ऐसे समाज की कल्पना करते हैं, जहाँ सभी व्यक्तियों को समान रूप से सम्मान तथा आदर मिले। किन्तु ऐसा हम प्रत्येक व्यक्ति को बहुत कम समय के लिये ही दे सकते हैं। विभिन्न व्यक्तियों को हम उनकी क्षमता, दक्षता, बुद्धि, साहस, दया, उत्साह तथा सद्भावना की भिन्नता के आधार पर भिन्न रूप से आदर तथा सम्मान देंगें। यह भिन्नता ही एक व्यक्ति की दूसरे व्यक्ति से भिन्नता पैदा कर देगी।

वाल्जर का मानना है कि अधिकांश वितरणात्मक न्याय की समतावादी दार्शनिक अवधारणाएँ प्रभुत्वकारी वस्तुओं के पुनः वितरण पर जोर देती हैं, ताकि पहले से ज्यादा व्यक्तियों की उसमें हिस्सेदारी हो सके। इस तरह ये मान्यताएँ वस्तुओं के ऐकाधिपत्य को चुनौती देती हैं, किंतु उनकी प्रभुत्वकारी प्रकृति को नहीं। किंतु वाल्जर का मानना है कि साधारण समानता की यह स्थिति बहुत ही अस्थिर होगी तथा जल्दी ही पूर्ववर्ती स्थिति उत्पन्न हो जायेंगी। बाजार की स्वतंत्र विनिमय व्यवस्था फिर वहीं असमानता की स्थिति उत्पन्न कर देगी। एक नया वर्ग उभरेगा, जिसके पास फिर एकाधिकार होगा। वाल्जर का मानना है कि साधारण समानता को हम उस समय तक नहीं बनाये रख सकते हैं, जब तक कि राज्य अपने निरंतर हस्तक्षेप द्वारा नये एकाधिकारों तथा प्रभुत्व के नये रूपों को न रोके। किन्तु ऐसी स्थिति में राज्य का प्रभुत्वकारी रूप उभरेगा। फलतः वह अन्य वस्तुओं पर एकाधिकार करेगा। इसके लिये कुछ संवैधानिक प्रावधानों एवं प्रतिबन्धों की आवश्यकता होती है। इस संदर्भ में वाल्जर का मानना है कि अगर राज्य को एकाधिकार करने से रोकने के हेतु उसकी शक्ति को व्यापक रूप से विभाजित कर दिया गया तो वह नये उद्भव होने वाले एकाधिकारों को रोकने में बहुत

कमजोर कर देगा। इस तरह अगर राज्य के हस्तक्षेप पर जोर दिया जाता है तो एकाधिकार की प्रवृत्ति की समाप्ति होती है। किंतु व्यक्ति के विशेषाधिकार खत्म होते हैं और दूसरी तरफ अगर राज्य के हस्तक्षेप को कम कर दिया जाता है तो निजी विशेषाधिकार तो बने रहते हैं किंतु एकाधिकार की प्रवृत्ति उत्पन्न होकर फिर असमानता पैदा कर देती है। अतः स्पष्ट है कि साधारण समानता की स्थिति में एक विरोधाभास उभर कर आता है। जैसा कि वाल्जर ने लिखा है, "साधारण समानता की विडबना यह है कि निजी विशेषाधिकार का केवल उपचार राज्यवाद है और राज्यवाद से बचने का एकमात्र तरीका निजी विशेषाधिकार है।"[२४]

वाल्जर का आग्रह रहा है कि हमें एकाधिकार के अन्त के द्वारा साधारण समानता प्राप्ति के प्रयास की अपेक्षा प्रभुत्व के अन्त के द्वारा जटिल समानता को स्थापित करने का प्रयास करना चाहियें। जटिल समानता की स्थिति में किसी एक क्षेत्र में एकाधिकार की स्थिति हो सकती है, किंतु यह एक क्षेत्र का एकाधिकार की स्थिति का उपयोग अन्य सामाजिक वस्तुओं के नियंत्रण में नहीं कर सकेगा। अतः यह कह सकते हैं कि जटिल समानता के अंतर्गत वाल्जर प्रभुत्व को खत्म करना चाहते हैं, न कि एकाधिकार को।

प्रभुत्व की स्थिति : अन्याय का उद्भव

वाल्जर के अनुसार अन्याय का उस समय उद्भव होता है, जब एक क्षेत्र दूसरे क्षेत्र में हस्तक्षेप करने लगता है। उदाहरण के लिये, जिनके पास धन है, वे आर्थिक प्रभुत्वता के द्वारा, अपने प्रभाव को बाजार में भी लागू कर दें, ताकि अवसर तथा विशेषाधिकार मिल सके। सम्मान क्रय कर सकें या राजनीतिक पद खरीद सकें। न्याय सामान्यतः इस बात की कोई निश्चितता प्रदान नहीं करता है कि विशिष्ट वस्तुओं का वितरण केवल उन्हीं व्यक्तियों को किया जायेगा, जो कि उन्हें प्राप्त करने की उपयुक्त कसौटी रखते हैं।[२५]

वाल्जर ने जिस रूप में न्याय को लिया है, वह पास्कल के अत्याचार-तंत्र की परिभाषा से पूर्णतः भिन्न है। जैसा कि पास्कल ने लिखा है :—

"अत्याचार तंत्र की प्रकृति संपूर्ण विश्व पर तथा अपने स्वयं के क्षेत्र के बाहर शक्ति-प्राप्ति की इच्छा होती है।"

इस पर टिप्पणी करते हुये वाल्जर कहता है कि "विनम्र तथा सहायता देने वाले व्यक्तियों— राजनीतिज्ञों — की राजनीतिक शक्ति पर पकड़ होना गलत

नहीं है, किन्तु राजनीतिक शक्ति का प्रयोग अन्य वस्तुओं को प्राप्त करने के लिये करना, एक अत्याचारपूर्ण प्रयोग है।"[२६]

वाल्जर का मानना है कि इस संदर्भ में अन्य वस्तुओं की अपेक्षा पैसा सब से ज्यादा समस्या उत्पन्न करता है, क्योंकि वह अत्याचारपूर्ण (Tyrant) रूप लिये होता है। दूसरे शब्दों में, पैसा अपने क्षेत्र का उल्लंघन करके दूसरे क्षेत्र में भी प्रभुत्व करने लगता है। उदाहरण के लिये, पैसा वाले व्यक्ति अन्य सभी क्षेत्रों में अपना प्रभुत्व कायम कर लेते हैं।[२७]

वाल्जर का मानना है कि एक सामाजिक वस्तु का वितरण अन्य वस्तुओं के वितरण को प्रभावित करता है। अतः हमें सामाजिक वस्तुओं के वितरण की ऐसी व्यवस्था करनी चाहिये कि कोई भी वस्तु प्रभुत्व का साधन न बन सके। प्रभुत्व की इस स्थिति का समाधान करने के लिए वाल्जर ने "न्याय के क्षेत्रों में सापेक्ष स्वायत्तता" पर जोर दिया है। वाल्जर का मानना है कि एक क्षेत्र में एक प्रकार की वितरण व्यवस्था ही उपयुक्त होगी जो दूसरे क्षेत्र में उपयुक्त नहीं हो सकती। अतः हमें विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न वितरण व्यवस्थाओं की खोज पर जोर देना चाहिये। हर क्षेत्र के लिये अलग वितरण व्यवस्था की स्वीकृति को ही वाल्जर ने सामाजिक वस्तुओं की सापेक्ष स्वायत्तता की संज्ञा दी है, जिसमें एक प्रकार की वितरण व्यवस्था दूसरी वस्तुओं की वितरण व्यवस्था को प्रभावित नहीं करेगी। दूसरे शब्दों में, प्रभुत्व की स्थिति उद्भव नहीं होगी। सापेक्ष स्वायत्तता के अन्तर्गत समानता कैसे स्थापित हो पाती है, इसका उदाहरण वह शैक्षणिक तथा बाजार क्षेत्रों की स्वायत्तता के संदर्भ में देता है। शैक्षणिक क्षेत्र की पृथक्ता विश्वविद्यालयों की स्वायत्तता की रक्षा करती है, जहाँ धनिक तथा आभिजात्य वर्ग के बच्चे अपनी विशेषाधिकारी की स्थिति का प्रयोग नहीं कर सकते हैं। बाजार की स्वायत्तता के फलस्वरूप व्यक्ति बिना किसी प्रजाति, देशी या विदेशी आदि के भेदभाव के अपने अवसर तलाश कर सकता है। वाल्जर का मानना है कि परिणाम जरूर असमान होंगे, किंतु ये परिणाम जातीय पदसोपानीयता को पैदा कभी नहीं कर सकते हैं।[२८]

— ४ —

नव-काण्टवादियों के प्रति दृष्टिकोण

नव-काण्टवादी उदारवाद की आलोचनात्मक व्याख्या करते हुये वाल्जर ने इसमें कई कमियों की ओर दृष्टिपात किया है। उदारवाद मुख्यतः दो मान्यताओं

– व्यक्तिवाद तथा प्राकृतिक अधिकारों की अवधारणा – को लेकर चलता है। इन्हीं दोनों मान्यताओं के आधार पर वह व्यक्ति की स्वतन्त्र गतिविधियों में समर्थन व्यक्त करता है। उदारवादी न केवल चिन्तन क्षेत्र वरन् बाजार गतिविधियों में भी पूर्णतः स्वतंत्रता चाहते हैं। व्यक्ति को पूर्णतः मुक्त छोड़ दिये जाने का समर्थन करते हैं। चूंकि राज्य व्यक्ति की गतिविधियों में हस्तक्षेप करता है, अतः उदारवादियों ने उसकी इस नीति का विरोध किया तथा अहस्तक्षेपवादी नीति पर समर्थन व्यक्त किया। उदारवादी एक स्वतंत्र बाजार की स्थापना करना चाहते हैं, किंतु उनका मानना है कि स्वतंत्र बाजार के लिए एक सकारात्मक संरचना का होना जरूरी है। स्वतंत्र विनिमय की व्यवस्था अपने आप नहीं बनी रह सकती है। इसके लिए संस्थाओं, नियमों, तथा कुछ प्रावधानों की जरूरत पड़ती है। दूसरे शब्दों में, स्वतंत्र विनिमय व्यवस्था सफलतापूर्वक चलती रहे, इसके लिए व्यक्ति संस्थाओं को जन्म देता है। उदारवादियों ने माना कि समाज केवल मात्र व्यक्तियों का एक एकत्रीकरण मात्र है तथा विभिन्न प्रकार की संस्थाएँ– चर्च, स्कूल, बाजार, परिवार आदि– व्यक्तियों के सहमतिपूर्ण समझौते का परिणाम है। अतः व्यक्ति जब चाहें अपनी सहमति को वापिस ले सकते हैं। दूसरे शब्दों में, कह सकते हैं कि उदारवादी इन संस्थाओं को कृत्रिम संस्थाओं की श्रेणी में लेते हैं, जिन्हें अपनी आवश्यकतानुरूप वे उद्भूत कर सकते हैं तथा खत्म कर सकते हैं। व्यक्ति की यह स्वतंत्रता ही उसके अधिकारों का रक्षण करती है। उदाहरण के लिए धार्मिक स्वतंत्रता को यह अधिकार प्रदान करती है कि वह अपनी इच्छानुसार धर्म, देवता तथा ईश्वर की पूजा करे, न कि उसका सम्बन्ध विशिष्ट धर्म के संस्थात्मक स्वरूप से है। शैक्षणिक स्वतंत्रता का तात्पर्य सामाजिक आवश्यकता के रूप में विश्वविद्यालय की स्थापना, उसकी स्वायत्तता से कतई नहीं वरन् केवल व्यक्ति के पढ़ने-लिखने, बोलने, सुनने का व्यक्ति का अधिकार है।

वाल्जर ने उदारवाद के इस स्वरूप को पूर्णतया अस्वीकार कर दिया है। वाल्जर की उदारवाद के इस स्वरूप के विरुद्ध सबसे प्रमुख आपत्ति यह है कि इसने व्यक्ति को उसके सामाजिक पक्ष से अलग कर दिया। दूसरे शब्दों में, व्यक्ति का समुदाय से संबंध कट गया तथा प्रत्येक व्यक्ति अन्य दूसरे व्यक्ति से पृथक् हो गया। उदारवादियों की इस प्रवृत्ति पर टिप्पणी करते हुये वाल्जर ने लिखा है, "वे न तो सामाजिक एकता की समृद्ध तथा यथार्थवादी समझ ही प्रदान कर पाये और न ऐसे जीवन-अधिकारों को कोई अर्थ प्रदान कर पाये, जिन्हें व्यक्ति जी सके तथा जिसका उपभोग कर सके। उदारवादी जिस लक्ष्य–पृथक्ता पैदा करने की कला को लेकर चलते हैं वास्तव में वह असंभव है।" [२९] वाल्जर ने उदार-

वादियों की इस मान्यता को भी अस्वीकार कर दिया कि विभिन्न प्रकार की संस्थाएँ कृत्रिम हैं तथा इनका अस्तित्व व्यक्तियों की सहमति पर निर्भर करता है। "व्यक्ति जो संस्थाओं तथा उनके संबंधों से पूर्णत: बाहर रहता है तथा इनमें वह तभी प्रवेश करता है, जब वह चाहता है। इस तरह के व्यक्ति का कोई अस्तित्व नहीं रहता है, और न ही वह इस सामाजिक विश्व में अस्तित्व कर सकता है।... व्यक्ति इस विश्व में रहता है न कि उसको उद्भूत करता है।"[३०] वाल्जर का मानना है कि चर्च, स्कूल, बाजार, तथा परिवार सामाजिक संस्थाएँ हैं, उनका अपना विशिष्ट इतिहास होता है। इन संस्थाओं ने विभिन्न समाजों में विभिन्न स्वरूप ग्रहण कर लिया है। यह स्वरूप संबंधित व्यक्तियों की आस्था, समझ तथा सामाजिक दायित्वों द्वारा तय होता है। वाल्जर का मानना है कि ये संस्थाएं किसी भी रूप में व्यक्तियों के समझौते का परिणाम नहीं हैं। अत: इन सब पर सर्वमान्य कानून, नियम, रीतिरिवाज लागू नहीं होते। इन संस्थाओं का दायरा तथा नियम उस विशिष्ट समाज की प्रकृति पर निर्भर करता है।

साथ ही वाल्जर ने नव-काण्टवादियों के प्राकृतिक अधिकारों की मान्यता को भी अस्वीकार कर दिया। वाल्जर का मानना है कि प्राकृतिक अधिकार "प्राकृतिक वस्तुओं की सहभागी समझ" के सन्दर्भ में हमारी ज्यादा सहायता नहीं करते हैं। साथ ही वाल्जर ने इस बात पर जोर देकर कहा है कि यह आवश्यक नहीं है कि प्राकृतिक अधिकारों की अवधारणा सामाजिक वस्तुओं के बहुलवादी सिद्धांत के अंतर्गत प्रभुत्व (Domination) के विरुद्ध नागरिकों को सुरक्षा प्रदान करते हैं। वाल्जर का मानना है कि व्यक्तियों को प्रभुत्व से केवल क्षेत्रों की पृथक्ता और उनकी सापेक्ष स्वायत्तता के द्वारा ही सुरक्षा प्रदान की जा सकती है न कि प्राकृतिक अधिकारों की अवधारणा के द्वारा। वाल्जर ने प्राकृतिक अधिकारों के सर्व-व्यापकीय स्वरूप को भी चुनौती दी है। उनके अनुसार अधिकार अपने स्वरूप में स्थानीय तथा विशिष्ट होते हैं।[३१]

— ५ —

मानव समुदाय की अवधारणा

इस तरह स्पष्ट है कि वाल्जर ने आधुनिक सिद्धान्तों में अभिव्यक्त होनेवाली व्यक्तिवादी मान्यता को अस्वीकार कर दिया तथा उन्होंने सामुदायिक जीवन पर जोर दिया। वाल्जर के अनुसार "मानव समुदाय एक वितरणात्मक समुदाय है।"[३२] व्यक्ति एक दूसरे से चीजों में अपनी हिस्सेदारी प्राप्त करने

उन्हें बाँटने तथा उनका विनिमय करने के लिए मिलते हैं। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि "व्यक्ति अन्य व्यक्तियों से चीजें बाँटता है।"[३३] यहाँ बाँटने का अर्थ चीजों को देना, वितरण करना, विनिमय करना आदि है। सामुदायिक जीवन के बारे में वालजर की दो बातें उल्लेखनीय हैं: प्रथम, सामुदायिक जीवन में व्यक्ति की भूमिका उपभोक्ता या उत्पादक की नहीं है, वरन् उसे वस्तुओं को प्राप्त करने वाले के रूप में लिया गया है। अतः व्यक्ति स्वतः वितरणात्मक सिद्धांतों के घेरे के अन्दर आ जाता है। "हमारी अपनी प्रकृति क्या है? हमारे अधिकार क्या है? हमारी आवश्यकता क्या है? हम क्या चाहते हैं, किस चीज के लिए योग्य हैं आदि प्रश्नों के उत्तर वितरणात्मक सिद्धांतों में परावर्तित हो जाते हैं जो कि वस्तुओं की गतिविधियों को नियंत्रित करती है।"[३४]

इस संदर्भ में वालजर उदाहरण देते हुए कहता है कि अर्थ-व्यवस्था में मेरा स्थान, राजनीतिक व्यवस्था में मेरी स्थिति, साथियों में मेरी प्रतिष्ठा, मेरी भौतिक संपदा आदि सभी चीजें मेरे को अन्य व्यक्तियों से मिलाती हैं। अतः मेरे पास जो भी सही या गलत, न्याय-संगत या अन्याय-संगत है, उसे वितरणात्मक सीमाओं तथा सहभागी व्यक्तियों की संख्या पर ही देखा जाना चाहिये। द्वितीय, जिन वस्तुओं का वितरण किया जाना है, वह सामाजिक वस्तुएँ होती हैं, जैसा कि पीछे उल्लेख कर चुके हैं कि हर वस्तु का सामाजिक पक्ष होता है। इसी कारण उस विशिष्ट वस्तु की वितरण-व्यवस्था की न्याय-संगतता की कसौटी सामाजिक स्वीकृति पर ही निर्भर करती है। यह सामाजिक स्वीकृति हमारी सहभागी समझ पर निर्भर करती है।

राजनीति-विज्ञान विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय
जयपुर– ३०२००४
(राजस्थान)

लीलाराम गुर्जर

टिप्पणियाँ

१. नव-काण्टवादी विचारकों की रचनाएँ इस प्रकार हैं: राल्स, जॉन; ए थिअरी ऑफ जस्टिस, केम्ब्रिज: मास, १९७१ बर्लिन, इसेह: "टू कान्सेप्ट्स् ऑफ लिबर्टी," फोर एसेज ऑन लिबर्टी, न्यूयार्क १९६०।

ड्वोर्किन, रोनाल्ड : " दि ओरिजिनल पोजिशन," डेनियल, नोर्मेन : (संपादित) क्रिटिकल स्टडीज ऑफ ए थिअरी ऑन जस्टिस्, आक्सफोर्ड, बासिल ब्लेकवेल १९७५ हायक, ए; दि कान्स्टिटयूशन ऑफ लिबर्टी शिकागो १९६० नोजिक, रॉबर्ट; अनार्कि, स्टेट एण्ड युटोपिया न्यूयार्क १९७४

२. स्मिथ, स्टेवन, बी. : " हिगल्स क्रिटीक ऑफ लिबरालिज्म, " अमेरिकन पोलिटिकल साईन्स रिव्यू, खं. ८०, नं. १, मार्च १९८६, पृ. १२२

३. वहीं

४. सॅण्डल्, माइकेल : लिबरालिज्म एण्ड लिमिट्स ऑफ जस्टिस, न्यूयार्क : केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, १९८२, पृ. ५

५. गिलेस्पी, एन्. ए : " हेगल्स लिबरालिज्म " दि रिव्यू ऑफ पोलिटिक्स, खं. ४७, नं. ३, जुलाई १९८५, पृ. ४४६

६. सॅण्डल, माइकेल : (सम्पादित) लिबरालिज्म एण्ड इट्स क्रिटीक, आक्स-फोर्ड : बासिल ब्लेकवेल, १९८४, पृ. ५

७. मॅकिण्टायर, अलास्देर : आफ्टर वर्च्यू, नोत्रे डोम, १९८१

८. टेलर, चार्ल्स : हेगल, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, १९७५, साथ ही देखिए " आटोमिज्म " अस्कीन कोण्टोस : (सम्पादित) पॉवर, पजेशन एण्ड फ्रीडम : एसेज इन् ऑनर ऑफ सी. बी. मॅक्फर्सन् टोरण्टो, १९७०

९. उगर, रोबर्टो : नॉलेज एण्ड पोलिटिक्स, न्यूयार्क : फ्री प्रेस, १९७५

१०. सॅन्डल, माइकेल; उपर्युक्त

११. मॅकिण्टायर, अलास्देर, उपर्युक्त, पृ. २३२-३३, साथ ही देखिए, गुट्-मैन अमी, " कम्युनिटेरियन क्रिटीक्स ऑफ लिबरालिज्म " फिलोसफी एण्ड पब्लिक अफेअर्स, खं.- १४ नं. ३, १९८५, पृ. ३०८

१२. सॅण्डल, माइकेल (सम्पादित) उपर्युक्त, पृ. ९

१३. गुटमेन, अमी : उपर्युक्त, पृ. ३०८

१४. वाल्जर, माइकेल : स्फिअर्स ऑफ जस्टिस, बेसिक बुक्स, १९८३, पृ. ३

१५. ट्यूवर, एन्ड्रिज : (स्फिअर्स ऑफ जस्टिस की समीक्षा) पोलिटिकल थिअरी खं. १२ नं. १, फरवरी १९८४, पृ. १२०

१६. वही

१७. वही, पृ. ११८

१८. वाल्जर, माइकेल : उपर्युक्त, पृ. २१

१९. वही, पृ. २४

२०. वही
२१. वाल्जर, माइकेल : "वेल्फेअर, मेम्बरशिप ऑण्ड नीड" सॅण्डल, माइकेल : (सम्पादित) उपर्युक्त, पृ. २१७
२२. वाल्जर, माइकेल : स्फिअर्स ऑफ जस्टिस, बेसिक बुक्स, १९८३, पृ. ४
२३. वही, पृ. १८
२४. वही, पृ. १६
२५. ट्यूबर, एण्ड्रिज : वही, पृ. ११३
२६. वही
२७. वही,
२८. वाल्जर माइकेल : "लिबरालिज्म एण्ड दि आर्ट ऑफ सेपरेशन" पोलिटिकल थिअरी, खं १२, नं. ३ अगस्त, १९८४, पृ. ३२०
२९. वही, पृ. ३२४
३०. वही
३१. वाल्जर माइकेल; स्फिअर्स ऑफ जस्टिस, बेसिक बुक्स १९८३, पृ. XV
३२. वही, पृ. ३
३३. वही, पृ. ६
३४. वही

बौद्ध एवं ब्राह्मण सामाजिक विचार

यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि राजकुमार सिद्धार्थ व्रात्य थे अथवा उनका लालन-पालन ब्राह्मण सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत हुआ था। उपलब्ध आत्मकथाओं से यह स्पष्ट होता है कि उनके सामने पूर्ण विकसित एवं जटिल ब्राह्मण सामाजिक व्यवस्था प्रचलित थी। उसके पर्याप्त प्रमाण हैं कि ब्राह्मण-विचार-धारा के समानान्तर श्रमण-विचार-धारा प्रचलित थी जिसके समाज के सामान्य रीति वाले मूल्यों का अपलाप किया गया था। ब्राह्मण विचार-धारा संस्थागत, बहिर्मुखी एवं कर्मकाण्ड में विश्वास करने वाली थी जबकि श्रमण परम्परा सामाजिक व्यवस्था में दृढ़ नियम के अनुपालन का आदेश नहीं देती थी। अत्यधिक संभावना इस बात की है कि राजकुमार सिद्धार्थ ब्राह्मण परम्परा के संस्थागत एवं कर्मकाण्डीय विचारों के प्रति रुझान नहीं रखने के कारण श्रमण परम्परा के प्रति आकर्षित हुए होंगे। ऐसा भी प्रतीत होता है कि ब्राह्मण सामाजिक विचार-धारा के दकियानुसी होने के कारण उन्होंने उसको चुनौती देकर श्रमण परम्परा के प्रति अपनी सुदृढ़ अभिरुचि जाहिर की होगी। इस तथ्य की पुष्टी इस बात से भी होती है कि अपने परिवार को परित्यक्त कर देने के अनन्तर वे आलार कलाम एवं उद्दक रामपुत्त जैसे श्रमणों की शरण में जा कर उनसे ग्रहण करने योग्य को ग्रहण किया।

बोधि की प्राप्ति के उपरान्त भी उनकी प्रवृत्ति आदर्श श्रमण सामाजिक संस्कृति की ओर ही थी। इन सबों से यह पता चलता है कि वे एक भ्रमणशील शिक्षक थे जिन्होंने श्रामणिक आंदोलन के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। चरमलक्ष्य की प्राप्ति ही उनका प्रधान उद्देश्य था। इसके अतिरिक्त उन्होंने उस पथ को आलोकित किया जिस पर चलकर गृह-त्याग की बात सोची जा सकती है।

बौद्ध-साधना का मूल उद्देश्य किसी नयें सामाजिक व्यवस्था के विकल्य को प्रतिपादित करना नहीं था, यद्यपि बाद में स्वयं "बौद्धसंघ" रूपी संस्थात्मक

रूप में वह स्थापित हो गयी। इसके अतिरिक्त बौद्ध एवं ब्राह्मण पद्धतियों में धर्म की अवधारणा भिन्न है। ब्राह्मण परम्परा में वर्ण एवं आश्रम की सामाजिक संस्थाएं धर्म के अंग हैं। पर बौद्ध पद्धति में धर्म का सामाजिक व्यवस्था के यांत्रिक उपाय से कोई लगाव नहीं होता। सुख की इच्छा ही बौद्ध धर्म में नैतिक आचरण को जन्म देती है। नैतिक कारणता के नियम को अच्छी तरह से समझ लेने के बाद सुख की इच्छा के लिए नैतिक आचरण आवश्यक प्रतीत होता है। बौद्ध योजना में नैतिक आचरण आवश्यक होते हुए भी एक प्राथमिक तथ्य है, साधन ही महत्त्वपूर्ण वस्तु है।

श्रमण परंपरा ने सामान्य रूप से एवं बौद्ध परम्परा ने विशेष रूप से किसी वैकल्पिक सामाजिक व्यवस्था का आरम्भ नहीं किया। उन्होंने दैनिक जीवन के लिए किसी घरेलू रश्मों के नियम की स्थापना की ओर भी ध्यान नहीं दिया। निम्नलिखित तर्कों के आधार पर इस मत को संपुष्ट किया जा सकता है।

किसी ऐसे साहित्य की उपलब्धि नहीं होती है जो दैनिक कर्मकाण्डों का नियंत्रण कर सके। दूसरे शब्दों में, ब्राह्मण परम्परा के गृह्य-सूत्र का कोई विकल्प बौद्ध जीवन पद्धति में देखने को नहीं मिलता। इस संदभ में सिगालोवाद सुत्त, गहपत्ति और अभिसामाचारिका इत्यादि कुछ सुत्त ही उपलब्ध होते हैं। इन सबों के आधार पर यह प्रतीत होता है कि सामाजिक नैतिक उपदेशों को आयात किया जा रहा है परन्तु इसे ब्राह्मण धर्म के गृह्य सूत-सूत्र की प्रति-स्थापना नहीं कहा जा सकता। अधिकांश बौद्ध साहित्य आश्रय सम्बन्धी क्यों है?

अनेकों आधुनिक विद्वानों ने बुद्ध को एक समाज-सुधारक के रूप में स्वीकार किया है। उन लोगों ने यह भी सुझाया है कि वे जाति-प्रथा के विरुद्ध थे। फिर भी वर्णव्यवस्था को दैनिक सामाजिक संस्था के रूप में स्वीकार करने में उन्हें-आपत्ति नहीं थी। बुद्ध ने हमेशा किसी संस्थागत सीमाओं का समर्थन नहीं किया इस लिए उन्होंने मोनास्टिक व्यवस्था में किसी दूसरे संस्थाओं के निर्माण की निन्दा की। अगर कोई संघ का सदस्य बन जाता है तो वह स्वभावतः पहले के सभी बंधनों से, जिसमें जाती एवं कुल भी शामिल हैं, मुक्त हो जाता है। परन्तु क्षत्रिय को परम्परागत सामाजिक व्यवस्था के सदस्य रहते हुए भी श्रेष्ठ समझा जाता है। क्या इसे बुद्ध का जाति-विरुद्ध मत माना जाय? दासत्व के सम्बन्धमें भी इस प्रकार की समस्या देखने को मिलती है।

सार्वभौमिकता ही बौद्ध-पद्धति की विशेषता है क्योंकि इसका मूलोद्देश्य सार्वभौम दुःख की परिसमाप्ति है। इसका सम्बन्ध दैनिक जीवन के कार्यकालापों

से सम्बन्धित नियमों का निर्माण करना नहीं है। यह स्थानीय रीति-रिवाजों, सामाजिक संहिता एवं समाज के सामान्य नियमों के ग्रहण से भी सम्बन्धित नहीं है। उदाहरण के लिए चीन में कन्फ्युसियस्, जापान में शिन्तो और तिब्बत में बौन धर्म के साथ इसका मैत्री-सम्बन्ध है। भारत वर्ष में भी इसकी यही मनोवृत्ति थी। बुद्ध का जन्म शून्य में नहीं हुआ था। उनके पीछे एक सामाजिक पृष्ठ-भूमि थी जिसको वे सुधारना चाहते थे। उन्होंने अपने भक्तों को ब्राह्मण परम्परा द्वारा स्थापित गृह्य-सूत्रों को मानते हुए भी कुछ निश्चित नैतिक आदर्शों का पालन करने का परामर्श दिया था। आश्रम सम्बन्धी बौद्ध साहित्य सामान्य अनुयायियों के साथ न्याय नहीं कर सकता क्योंकि यह तत्कालीन कुछ दैनिक रस्मों की भर्त्सना करता है। संभवतः उदयनाचार्य इस तथ्य पर बहुत अधिक जोर देते हैं।'

बौद्ध परम्परा के उपलब्ध साहित्य से यह स्पष्ट है कि इस पद्धति ने किसी सामाजिक योजना या सामाजिक संहिता को उपस्थित नहीं किया जो ब्राह्मण सामाजिक विचारधारा के प्रतिस्थापन का कार्य कर सके।

क्या बौद्ध साधना असामाजिक है? क्या इसका सम्बन्ध परित्याग से है? क्या यह मात्र संन्यासियों के लिए है? क्या यह पूर्णतः असांसारिक एवं सामाजिक समस्याओं के प्रतिकूल है? ये विचार पूर्णतः असत्य हैं।

बुद्ध ने समाज के विभिन्न वर्ग के लोगों को ध्यान में रखते हुए विभिन्न प्रकार की समस्याओं के बारे में विवेचना की थी। इस बात का उल्लेख उपलब्ध है कि उन्होंने अपने समय का अधिकांश भाग शहर के ही बाहर व्यतीत किया था, सूनसान, बिजनवान् जंगल एवं पर्वतों पर नहीं। उनके उपदेशों में मूल वैयक्तिक मानसिक शांति के साथ ही सभी लोगों के सुखों का लक्ष्य भी जुड़ा हुआ है।

उन्होंने निस्संदेह रूप से समकालीन समाज के समान स्तर के स्थापित मूल्यों को चुनौती दी थी। सामान्य मनुष्य के लिए सुख जीवन का मुख्य लक्ष्य था। बुद्ध भी इस मूल्य को स्वीकार करते थे परन्तु उनका सुख का संप्रत्यय सामान्य विचार से बहुत अधिक भिन्न था। उन्होंने लोगों को इस तथ्य का एहसास दिलाना चाहा कि धन एवं शक्ति से सुख प्राप्त करने के जो सामान्य रास्ते हैं, उनसे काम चलने वाला नहीं है। पहले से सामाजिक व्यावस्था में बिना कोई परिवर्तन लाये उन्होंने अपने उपदेशों के आधार पर समाज-सुधार का अथक प्रयास किया। उनका प्रयास मुख्य रूप से लोगों को उनकी परिस्थितियों से ऊपर उठाने का प्रयास था जो कामाचार भूमि में थे। [illegible] इस

अर्थ में चुनौती दी कि ब्राह्मण कर्मकाण्ड के स्थान पर नैतिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जो समाज को परिवर्तित कर एक आदर्श समाज का निर्माण कर सके। उनकी चुनौति किसी वैकल्पिक समाजिक व्यावस्था के लिए नहीं थी।

सिगालोवाज सुत्त [१] में यह स्पष्ट किया गया है कि बुद्ध की दैनिक कर्मकाण्ड के प्रति क्या मनोवृत्ति थी। उक्त सुत्त में बुद्ध ने एक सामान्य अनुयायी को ब्राह्मण परम्परा में बताये गये तरीके से दैनिक कार्यों के सम्पादन के अनन्तर माता-पिता, शिक्षकों, पत्नी, मित्रों, दासों, श्रमणों को क्रमशः छः दिशाओं के रूप में मानने का उपदेश दिया है। इन छः प्रकार के सम्बन्धों के सुरक्षा के लिए उन्होंने चार प्रकार के दुर्गुणों से बचने की चेतावनी दी है—हत्या, चोरी, यौन, दुराचार एवं असत्य भाषण। इसके द्वारा उन्होंने इन चार प्रकार के दुर्गुणों से बचने की चेतावनी दी है। उनके अनुसार इन कृत्यों के सम्पादन से एक सामान्य शिष्य चौदह प्रकार के दुर्गुणों से छूट सकता है।

यह स्पष्ट है कि यह पद्धति, जो सामाजिक सम्बन्धों के चार सिद्धान्तों से संतुलित तथा समाज के भलाई में निहित है, सामाजिक व्यवहारों के विशिष्ट एवं भावात्मक संहिता को प्रस्तुत करती है। इस सुत्त में धन के विस्तार के बजाय दान के महत्त्व पर जोर दिया है। यहां पर दुर्गुणों का उपस्थापन सभी प्रकार के आवश्यक सदाचरणों के विकास एवं परिणामस्वरूप सामाजिक भलाई के अनुशंसा के लिए आधार के रूप में हुआ है। इस सुत्त में निम्नलिखित भी शामिल हैं।

(१) पूर्णतः सामाजिक नैतिक सिद्धान्त (२) समाज के दुराचरण की परिस्थितियों की आलोचना और (३) सांसारिक आचरण के सिद्धान्त जो सामाजिक उन्नति की ओर ले जाते हैं।

अतः संक्षेप में कहा जा सकता है कि बौद्ध एवं ब्राह्मण परम्पराओं की मनोवृत्ति मूलतः भिन्न है। उनके धम्म के संप्रत्यय भी भिन्न हैं।

ब्राह्मण सामाजिक परम्परा में संस्थानात्मक सामाजिक निर्माण पर जोर है, जब कि बौद्ध परम्परा में ये मानवीय स्वातंत्र्य के रोड़े हैं। यही कारण है कि उन्होंने दैनिक जीवन के लिए किसी वैकल्पिक सामाजिक संहिता पर जोर नहीं दिया। संभवतः बौद्ध अनुयायियों ने या तो सामाजिक व्यवहारों का अनुसरण किया या या उनका बहिष्कार किया। यही कारण है कि बौद्ध परम्परा अधिक संख्या में लोगों को आकर्षित करने में विफल रही।

पर बौद्ध परम्परा असामाजिक नहीं है। यह ब्राह्मण सामाजिक व्यवस्था को चुनौती मात्र इस अर्थ में दे सकी कि इसने आदर्श समाज के निर्माण के लिए नैतिक सामाजिक निर्देशों को प्रारम्भ किया, जिसे ब्राह्मण परम्परा सामाजिक विचारों के पूरक के रूप में समझा जाना चाहिए न कि उसके पूर्णतः विरोध के रूप में।

दर्शनशास्त्र विभाग — प्रभाकर मिश्र
नव नालन्दा महाविहार
नालन्दा– ८०३१११ (बिहार)

टिप्पणियाँ

१– नास्त्येव तद्दर्शनं यत्र सांवृतमित्युक्त्वापि गर्भाधानाद्यन्त्येष्टिपर्यन्तां वैदिकीं क्रियाम् जनो नानुतिष्ठन्ति। आत्मतत्त्वविवेक, पृष्ठ– ४१७।
२– दीघ निकाय– २।

गांधी जी का धर्म-दर्शन :

ईश्वर के अस्तित्व सम्बन्धी युक्तियाँ

गांधी जी के अनुसार ईश्वर की ज्ञेयता के संबंध में दार्शनिकों ने तीन दृष्टिकोण अपनाए हैं। "कुछ ज्ञानवान् लोग ईश्वर को अज्ञेय मानते हैं, कुछ अन्य उसे 'अज्ञात' समझते हैं, और और कुछ हैं, जो 'नेति-नेति' के रूप में उसे परिभाषित करते हैं।" [1]

ईश्वर न केवल अनुभवातीत है बल्कि मनुष्य में अंतर्निहित भी है। वह किसी भी मोक्षार्थी द्वारा, जिस हद तक वह उसमें अंतर्निहित है, आत्मसात् किया जा सकता है। इसलिए ईश्वर को पूर्णतः 'अज्ञात' समझना, अथवा 'अज्ञेय' मानना आत्मखंडन है। और फिर 'अज्ञात' कहने वाले को कम से कम इतना तो ज्ञात है कि वह अज्ञात है।

ईश्वर का वर्णन 'नेति-नेति' द्वारा भी नहीं किया जा सकता। इस प्रकार का वर्णन पूर्णतः नकारात्मक है और वह अंततः ईश्वर को शून्य घटित कर देता है। निषेध की प्रक्रिया द्वारा ईश्वर केवल एक रिक्त अभाव भर रह जाता है। उसका हर चीज से पृथक्करण कर दिया जाता है। गांधी जी ईश्वर को एक पूर्णतः अमूर्त वस्तु नहीं मानते, बल्कि उसे वे एक मूर्तमान् और सर्वव्यापी वास्तविकता के रूप में ग्रहण करते हैं। ईश्वर से कुछ भी पृथक् नहीं किया जा सकता। वह एक ऐसा आध्यात्मिक नियम है जो 'एक पत्थर तक में' अभिव्यक्त होता है- गांधी जी आग्रहपूर्वक यह मानते हैं।

और फिर भी ईश्वर एक अर्थ में अज्ञात है। अर्थात् जिस अर्थ में हम अन्यान्य वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करते हैं- बुद्धि अथवा ज्ञानेन्द्रियों से- उस अर्थ में उसका ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता। आध्यात्मिक होने के नाते, ईश्वर अदृश्य

है, मानव दृष्टि के परे है। अपनी इंद्रियों से हम जो कुछ भी 'देख पाते' हैं, उससे ईश्वर बिलकुल भिन्न है। वह इन्द्रियातीत है।[२]

ईश्वर का ज्ञान प्राप्त करने में बुद्धि भी असमर्थ है। ईश्वर बौद्धिक समझ के बाहर है। उसका विधान समझ पाने में मानव-बुद्धि अक्षम है। वह मानवी प्रज्ञा से परे है। जिस तरह वह इंद्रियातीत है, उसी प्रकार वह वाक् और बुद्धि का भी अतिक्रमण कर जाता है।[३]

गांधी जी का ईश्वर में अटूट विश्वास था। वे एक निष्ठावान् व्यक्ति थे। उनका विश्वास था कि मानव जीवन को प्रकाशित करने के लिए ईश्वर में एक जीवित आस्था का होना अनिवार्य है। ऐसा मानने में निष्ठा बहुत जरूरी है। तर्क द्वारा हम अनेकों प्राक्कल्पनाएँ बना और मिटा सकते हैं। वाद-विवाद में कोई नास्तिक शायद जीत भी जाए, लेकिन गांधी जी का ईश्वर में विश्वास तर्क और विवाद को पीछे छोड़ देता है। उनके लिए तो बस, 'ईश्वर है, और हमेशा रहेगा'[४]। वे यह मानते हैं कि इस विश्वास के लिए उनके पास कोई बौद्धिक तर्क या युक्ति नहीं है। निष्ठा, विवेक से परे होती है। अतः असंभव के लिए प्रयत्न करना बेकार है।[५]

और फिर भी गांधी जी इसी असंभव प्रयत्न को त्यागते नहीं। उनके विविध लेखन में हमें ऐसी अनेक युक्तियाँ और तर्क मिलते हैं जो भले ही 'सिद्ध' करने के लिये न दिये गये हैं किंतु जो कम-से-कम ईश्वर के अस्तित्व को पुष्ट तो करते ही हैं। गांधी जी इस प्रकार ईश्वर के अस्तित्व को एक सीमा तक प्रमाणित करते प्रतीत होते हैं। ये 'प्रमाण' लगभग एक प्रशिक्षित दार्शनिक की भाषा में प्रस्तुत किये गये हैं और इन्हें निम्नलिखित परंपरागत शीर्षकों के अन्तर्गत व्यवस्थित किया जा सकता है।

(i) **सत्ता मीमांसात्मक युक्ति ('ऑन्टॉलॉजिकल आर्गुमेण्ट')**— इस युक्ति का सामान्य स्वरूप कुछ इस प्रकार है— ईश्वर का प्रत्यय एक संपूर्ण सत्ता का प्रत्यय है और यदि इस सत्ता का अस्तित्व तक नहीं है तब यह प्रत्यय कैसे हो सकता है? अतः ईश्वर का अस्तित्व है। इस युक्ति का आग्रह यह भी है कि 'पूर्णता' और 'परम' प्रत्यय हमारी समस्त चिंतना में अनिवार्यतः अंतर्निहित हैं। 'परम सत्य' के विचार में ही 'सत्य' की धारणा अंतर्वर्तित है। इसी प्रकार 'परम मूल्य' के विचार में 'मूल्य' और 'अपरिमित' के विचार में 'परिमित' अंतर्भूत है। अतः ईश्वर की 'संपूर्ण-सत्ता' के विचार में उसका 'अस्तित्व' निहित ही है।

विख्यात दार्शनिक कांट ने 'अस्तित्व के विचार' और 'वास्तविक अस्तित्व' में अंतर बताकर प्रत्यय–सत्ता युक्ति की कड़ी आलोचना की है। किन्तु निरपेक्ष-वादियों ने इस युक्ति को पुनः प्रतिष्ठित किया। उनका कहना है कि ईश्वर के 'वास्तविक-अस्तित्व' की अन्यान्य विषयों के अस्तित्व से तुलना नहीं की जा सकती। ईश्वर का 'अस्तित्व' और उसका 'विचार' संपाती हैं। ईश्वर के संदर्भ में 'प्रत्यय' और 'अस्तित्व' अलग-अलग नहीं है।

गांधी जी कहते हैं कि 'ईश्वर सत्य है' सूत्र में 'सत्य' 'ईश्वर' का केवल एक विशेषण (गुण) मात्र नहीं है। बल्कि वह वही है। यदि वह (ईश्वर) सत्य नहीं है तो वह कुछ नहीं है। सत्य संस्कृत में 'सत्' है। सत्, अर्थात्, 'है' (अस्तित्व)। अतः सत्य 'है' में निहित है। ईश्वर (ही) है और कुछ नहीं है।[६]

इसी युक्ति को और भी स्पष्ट करने के लिये मानों गांधी जी ने 'ईश्वर सत्य है' की बजाय 'सत्य ईश्वर है' कहना आरंभ कर दिया। 'ईश्वर सत्य है', प्रतिज्ञप्ति में ईश्वर के अस्तित्व पर संदेह किया जा सकता है और तब 'सत्य' किसी ऐसी सत्ता (?) जिसका अस्तित्व ही नहीं है के संदर्भ में विधेय बन जायेगा। ऐसी प्रतिज्ञप्ति की कोई तार्किक सार्थकता नहीं रहेगी। किन्तु 'सत्य' के संदर्भ में कोई संदेह नहीं रह सकता। वह हमारी वैचारिक प्रक्रिया में ही अंतर्निहित है। सत्य का तो अस्तित्व होना ही चाहिए और यह अस्तित्ववान् सत्य सिवा अस्तित्व के और क्या हो सकता है। इस प्रकार जब यह कहा जाता है कि 'सत्य ईश्वर है' तो इसका मतलब है कि 'ईश्वर' और 'सत्' एक ही है। वह सत्-स्वरूप है। यह प्रतिज्ञप्ति कुल मिला कर, इस प्रकार, ईश्वर के अस्तित्व का प्रमाण बन जाती है।[७]

(ii) **विश्व-कारण युक्ति** (कॉस्मॉलॉजिकल आर्गुमेंट)– अपने परंपरागत रूप में इस युक्ति के अनुसार प्रत्येक घटना का कोई कारण होता है और कारणों की यह शृंखला हमें एक प्रथम कारण अथवा मूल–कारण की ओर संकेत करती है। इस मूलकारण, जिसका अपना कोई कारण नहीं होता, अर्थात्, ईश्वर, के बिना कभी न समाप्त होने वाली कारणों की श्रृंखला अव्याख्यायित रह जाती है।

गांधी जी अपनी पारंपरिक शैली में कहते हैं कि यदि हमारा अस्तित्व है, यदि हमारे माता–पिता और फिर, उनके माता-पिता का अस्तित्व रहा है तब यह विश्वास करना ठीक ही है कि समस्त सृष्टि के भी माता-पिता होने चाहियें।[८]

सारांश यह है कि विश्व कोई स्वयं-व्याख्यायित व्यवस्था नहीं है और इसलिये इसकी व्याख्या 'प्रथम कारण' की परिकल्पना पर ही निर्भर करती है। ईश्वर सृष्टि का यही प्रथम, मूल-कारण है।

तार्किक रूप से उपरोक्त युक्ति की आलोचना की जा सकती है। कहा जा सकता है कि यदि कभी न समाप्त होने वाली कारणों की श्रृंखला समझ में नहीं आ सकती तो ऐसे कारण की धारणा भी, जिसका अपना कोई कारण न हो, समझ के परे है। पुनः इस विश्व-कारण युक्ति में मूल-कारण को ईश्वर मानने में प्रत्यय-सत्ता युक्ति भी अंतर्वलित है।

आधुनिक चिन्तन के प्रकाश में विश्व-कारण युक्ति का महत्त्व स्पष्ट ही समाप्त हो गया है, क्यों कि प्रकृति की यांत्रिक अवधारणा असिद्ध हो चुकी है और उसके साथ ही 'कारण-क्रिया' की सामान्य अवधारणा भी वैज्ञानिकों ने निरस्त कर दी है। किन्तु, इस युक्ति का आग्रह कि प्रकृति स्वयं व्याख्यायित नहीं है और भी सुस्पष्ट हो गया है। ख्यातिप्राप्त दार्शनिक ए. एन्. व्हाइटहेड ने इस बात की ओर स्पष्ट संकेत किया है कि प्राकृतिक-व्यवस्था की कोई भी पूर्ण व्याख्या, बिना किसी ऐसे तत्त्व को स्वीकार किये नहीं की जा सकती कि जो प्रकृति से परे न हो। हम प्रकृति को, प्रकृति का संक्रमण किये बिना, सार्थक रूप से समझ नहीं सकते।

इसी बात को गांधी जी भी कुछ-कुछ देख पाये हैं। वे कहते हैं कि यद्यपि सभी चीजें सतत परिवर्तनशील और नश्वर हैं किंतु इस परिवर्तन के पीछे एक ऐसी जीवित शक्ति भी है जो स्वयं अपरिवर्तनीय है, और सभी को नियंत्रित किये है। यह शक्ति ऐसी नहीं है जिसे इन्द्रियों से देखा जा सके। यह एक आध्यात्मिक शक्ति, अर्थात्, ईश्वर है।[६] गांधी जी इस प्रकार विश्वकारण युक्ति को पुनर्जीवित करते प्रतीत होते हैं।

(iii) आयोजन युक्ति (टीलियोलॉजिकल- आर्गुमेण्ट)- यह युक्ति अभिकल्प युक्ति (आर्गुमेण्ट फ्रॉम डिजाइन) के नाम से भी जानी जाती है। व्यवस्था और प्रयोजन के 'तथ्यों' से यह युक्ति व्यवस्था के स्रोत, अर्थात् एक बुद्धिमान् प्रायोजक ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करती है। प्रकृति में प्रयोजन और अभिकल्प के कई साक्ष्य देखे जा सकते हैं किन्तु प्रयोजन की कल्पना तभी की जा सकती है जब हम एक ऐसे बुद्धिमान्-मन को भी स्वीकार करें जो प्रकृति में व्यवस्था प्रदान करता हो।

इधर यह महसूस किया गया है कि विकास-क्रम सहज यांत्रिक क्रिया नहीं है। इससे कुछ अधिक है। विकास के उत्पाद केवल पूर्वावस्थाओं के परिणाम

मात्र (रिजल्टैण्ट) नहीं होते, वे उद्गामी (एमर्जेंट) होते हैं। उनमें नए गुण और उच्चतर मूल्य होते हैं। तब यह प्रश्न उठता है कि विकास में उद्गामी गुणों के लिए कौन जिम्मेदार है? और एक बार फिर, उचित व्याख्या हेतु, ईश्वर की ही परिकल्पना करनी पड़ती है।

बहुरूपी और भव्य अनेकता के पीछे गांधी जी प्रकृति में प्रयोजन और अभिकल्प की एकता पाते हैं।[10] वे यह महसूस करते हैं कि विश्व में व्यवस्था की व्याख्या अंध यांत्रिक नियमों द्वारा नहीं की जा सकती क्योंकि कोई भी अंध नियम जीवन को नियंत्रित नहीं कर सकता।[11] 'जीवन', गांधी जी की काव्यात्मक अभिव्यक्ति के अनुसार, 'एक उत्कंठा है'[12] अर्थात्, वह पूर्णता की ओर एक विकासोन्मुख प्रक्रिया है। तब वह नियम, जो जीवन को नियंत्रित करता है, ईश्वर ही होना चाहिये।

(iv) **नीति-परक युक्ति** (मॉरल आर्गुमेंट)– उपरोक्त तीन बौद्धिक युक्तियों के अतिरिक्त गांधी जी ईश्वर के अस्तित्व के लिये एक नीति-परक युक्ति भी प्रस्तुत करते हैं। यह बहुत कुछ विख्यात दार्शनिक कांट द्वारा प्रस्तुट नीति-परक युक्ति के ही अनुरूप है।

गांधी जी का एक मुख्य लक्ष्य धर्म के वास्तविक स्वरूप का समर्थन करना था। और उसे, ऐसे धर्म से जो केवल रीति-रिवाजों और कर्मकांड तक ही सीमित हो, अलग करना था। इसके लिये धर्मों के नैतिक आयाम पर उन्होंने बल दिया और उसमें नैतिक आस्था के लिये गुंजाइश की।

यदि हम नैतिक चेतना के अपने अनुभवों को, जो हमें अंतर्ध्वनि के रूप में प्राप्त होते हैं, स्वीकार करें तो उन्हें पालन करने के लिये हम अपने को पूर्णतः बाध्य पाते हैं। इस नैतिक नियम का, गांधी जी के अनुसार, प्रतिरोध नहीं किया जा सकता। कांट की भाषा में यह 'निरपेक्ष–नियोग' (**कॅटागरीकल इम्परेटिव**) होता है। यह एक ऐसी माँग है जिसकी कोई शर्त नहीं हो सकती और इस नैतिक नियम का कर्तव्यस्य पालन असत्य नहीं माना जा सकता। अतः हम सब, सत्य को जिस तरह देख पाते हैं, उसका ही पालन करने के लिये बाध्य हैं।

और यदि यह बात सही है तो एक सच्चा जीवन, जो नैतिक जीवन भी है, उस सत्य की ओर क्रमिक विकास है और अभिव्यक्ति है जो स्वयं इतिहास और विकास के परे है। ऐसे सत्य को गांधी जी ईश्वर कहते हैं। वह अंतर्ध्वनि, वह लघु चेतना, जिसका प्रतिरोध संभव नहीं है, परमात्मा की आवाज के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकती।

(v) अर्थक्रिया-परक युक्ति (प्रैग्मैटिक आर्गुमेंट) यह युक्ति यह बताती है कि ईश्वर की हमारी आस्था उपयोगिता पर आधारित है। इसे सर्वप्रथम अमरीकी दार्शनिक विलियम जेम्स ने प्रस्तुत किया था। उसने ईश्वर के प्रत्यय को इसलिये प्रमाणिक माना क्यों कि यह हमारे भावनात्मक और व्यावहारिक हित में है। जेम्स के लिये किसी भी वस्तु की प्रामाणिकता को पुष्ट करने का एक मात्र मापदंड उसकी उपयोगिता से ही मान्य है।

गांधी जी भी ईश्वर की आस्था में भावनात्मक और व्यावहारिक उपयोगिता पाते हैं; किंतु यह आस्था एक जीवित-आस्था होनी चाहिये। गांधी जी अंध-विश्वास और जीवित-आस्था में अंतर करते हैं। अंध-विश्वास शब्द तथा परंपरा द्वारा आरोपित होता है तथा केवल बाह्य संस्थाओं द्वारा ही कायम रहता है, किन्तु जीवित-आस्था केवल अंदर से ही विकास कर सकती है[१३] और यही कारण है कि अत्यंत विपरीत परिस्थितियों में भी वह अटूट बनी रहती है। वह स्वयं प्रज्वलित है और मानव जीवन को अधिकाधिक प्रकाश देती है।

गांधी जी के अनुसार, ईश्वर में हमारी जीवित-आस्था ने जीवन की अनेक पहेलियों को बुझाया है। इससे हमारे दुःख मिटे हैं। यह हमारे जीवन का सहारा है और मृत्यु में एक मात्र सांत्वना है। इस विश्वास के कारण ही सत्य की हमारी कोई भी खोज रुचिकर और सार्थक बन जाती है। जिस व्यक्ति में भी ईश्वर के प्रति एक जीवित-आस्था है वह कभी अकेला और असहाय नहीं पड़ता। यदि ईश्वर से उसे शक्ति और बल प्राप्त नहीं हो तो सभी प्रकार की यंत्रणाओं को, बिना किसी मनोमालिन्य और शिकायत के सह पाना, मनुष्य के लिए संभव नहीं होता।[१४]

(vi) शब्द प्रमाण (अथॉरिटेरियन आर्गुमेंट)- गांधी जी ने ईश्वर के अस्तित्व के संबंध में जो शब्द प्रमाण प्रस्तुत किया है, वह वेद के शब्द पर आधारित नहीं है।- जैसा कि प्रायः भारतीय दर्शन के कतिपय संप्रदायों में हम पाते हैं। गांधी जी के चिंतन में हमें इस युक्ति के तीन रूप मिलते हैं—

प्रथम, वह शब्द जिसका सूत्र धार्मिक अनुभव प्रदान करता है। गांधी जी के अनुसार प्रत्येक धर्म के कुछ ऐसे रहस्यवादी ऋषि-मुनि हुए हैं जिन्होंने ईश्वरानुभूति को अपरोक्षतः अंतःप्रज्ञा द्वारा प्राप्त किया है। धार्मिक प्रतिभाओं के इस वस्तुनिष्ठ अनुभव के सामने ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिये वस्तुतः और किसी अन्य युक्ति की आवश्यकता ही नहीं रहती। सभी देशों और जातियों के संत-महात्माओं की अनवरत परंपरा ने ईश्वर की उपस्थिति की जो वास्तविक

अनुभूति प्राप्त की है, वह ईश्वर के अस्तित्व को पुष्ट करने के लिये प्रमाणस्वरूप काफी है और इस प्रमाण को अस्वीकार करना स्वयं को ही नकारना है। [१५]

गांधी जी दूसरे प्रकार के शब्द का सूत्र प्रजातन्त्रात्मक लोकमत बताते हैं। उनके अनुसार ईश्वर में विश्वास कुछ लोगों का ही विशेषाधिकार नहीं है। अज्ञानी लोग ईश्वर के अस्तित्व के विवाद में उलझे रहते हैं, लेकिन गांधी जी स्वयं को इन करोड़ों विद्वानों की पंक्ति में पाते हैं जिनका ईश्वर में विश्वास है [१६] कोई भी व्यक्ति ईश्वर में विश्वास करनेवाले इस बहु-मत को अनदेखा नहीं कर सकता।

और अंततः तीसरे प्रकार के शब्द का सूत्र स्वयं इतिहास है। समस्त मानव इतिहास में ऐसा कोई काल-खंड नहीं मिलता जब ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास न किया गया हो। सृष्टि के आरंभ से ही मूर्खों और विद्वानों की समान रूप से यह मान्यता रही है कि यदि हमारा अस्तित्व है तो ईश्वर का भी अस्तित्व है और यदि ईश्वर का अस्तित्व नहीं है तो हमारा अस्तित्व भी नहीं है। ईश्वर का अस्तित्व सूर्य के समान सुनिश्चित है। [१७]

यदि केवल तर्क की दृष्टि से देखें तो ईश्वर के अस्तित्व के संबंध में उपरोक्त सभी युक्तियाँ स्पष्ट ही दोषयुक्त हैं और उन्हें आसानी से खंडित किया जा सकता है। ईश्वर, अन्य आस्तिकों की तरह, गांधी जी के लिये प्रमुख रूप से आस्था और विश्वास का विषय है। गांधी जी तो यहाँ तक कहते है कि ईश्वर वस्तुतः ईश्वर रहेगा ही नहीं, यदि वह स्वयं को प्रमाण का विषय बना ले। ईश्वर को सिद्ध करना बुद्धि को ईश्वर से ऊँचा मानना है। [१८]

ईश्वर के अस्तित्व के विषय में दी गई सारी युक्तियाँ केवल आस्तिकों के विश्वास को बल देने के लिए हैं, न कि वे नास्तिकों और संदेहवादियों को आस्तिक बनाने के लिये हैं। गांधी जी प्राथमिक रूप से यह मानकर चलते हैं कि ईश्वर है और वही हमारे अस्तित्व और समस्त मूल्यों का स्रोत है। बाद का उनका अनुभव केवल इस विश्वास का समर्थन करता है और उसे एक अटूट आस्था में परिवर्तित कर देता है। वस्तुतः गांधी जी के अनुसार ईश्वर की अभिव्यक्ति मुख्यत नैतिक जीवन में होती है। तर्क यहाँ अधिक साथ नहीं दे सकता और युक्तियां बेकार हो जाती हैं। ईश्वर को प्राप्त करने के लिए हमें अपने सामान्य तर्क, अनुभूति और विचार से ऊपर उठना पड़ता है। ईश्वरानुभूति के साथ साथ विकसित होना पड़ता है। ईश्वर को हम अपने स्तर पर नहीं पा सकते।

यदि हम धर्म के इतिहास पर दृष्टि डालें तो यह सुस्पष्ट है कि ईश्वर की धारणा के विकास में एक निश्चित दिशा है। वह अनेकता से एकता की ओर,

प्राकृतिक से आध्यात्मिकता की ओर, विशेष से सामान्य की ओर अग्रसर हुई है। ईश्वर की अभिव्यक्ति प्रकृति और आत्मा दोनों में ही है, किन्तु प्रकृति से अधिक वह आत्मा में अभिव्यक्त हुई है। मनुष्य के बौद्धिक और नैतिक जीवन में उसका सर्वोच्च विकास देखा जा सकता है।[१९]

गांधी जी स्पष्टतः ईश्वर की इसी विकसित धारणा के उपासक हैं। ईश्वर उनके लिए अद्वितीय है, आध्यात्मिक है, और सार्वभौमिक है। वह हर चीज में व्याप्त है- पत्थर में भी। सभी मनुष्य, चेतन या अचेतन रूप से, उसकी अद्वितीय एकता की अनुभूति के लिए ही कार्यरत हैं। यही कारण है कि इस अनुभूति को सर्वाधिक नैतिक जीवन में देखा जा सकता है। ईश्वर आस्था का विषय है किन्तु तर्कबुद्धि के विरुद्ध नहीं है। वह बौद्धिक जीवन का संक्रमण कर जाता है।

व्यावहारिक, भावनात्मक और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ऐसे ईश्वर में विश्वास बहुत महत्त्वपूर्ण होता है। गांधी जी के लिए उसकी सर्वोच्च सार्थकता है। वह उनके लिए निरपेक्ष सत्य है। गांधी जी ने अपने निकट ऐसे ही ईश्वर की आध्यात्मिक उपस्थिति को, जो उन्हें विचलित और व्याकुल करती है, और जो उन्हें यथार्थ के प्रति आश्वस्त करती है, सदा अनुभव किया है।[२०]

–सुरेन्द्र वर्मा

शासकीय रा. बि. महाविद्यालय,
मनासा– (म. प्र.)- ४५८११०

टिप्पणियां

१. तेण्डुलकर, डी. जी.– महात्मा (अंग्रेजी) VII, बम्बई १९५३, पृ. १५६
२. यंग इण्डिया– ११–१०–२८ पृ. ३५०
३. वही– ५–३–२५
४. वही, २१–१–२६ पृ. ३०–३१
५ एण्ड्रूस, सी. एफ– महात्मा गांधीज आइडियास, न्यूयोर्क १९३० पृ. ४५
६. बॉन्डूरैंट, जॉन. वी.– कांक्वेस्ट ऑफ वायोलेंस : द गांधीयन फिलॉसफी ऑफ कॉन्फ्लिक्ट, प्रिंसटन १९५८, पृ. १९
७. राजू, पी. टी.– आइडियालिस्टिक थॉट ऑफ इंडिया, लंदन १९५३ पृ, २१७

८. यंग इंडिया २१-१-२६ पृ. ३०-३१
९. वही ११-१०-२८ पृ. ३४०
१०. तेण्डुलकर- महात्मा II, बम्बई १९५१, पृ. २८२
११. यंग इंडिया- ११-१०-२८ पृ. ३४०
१२. तेण्डुलकर- महात्मा IV, बम्बई १९५२, पृ. ३९
१३. हरिजन ९-१०-१९३७ पृ. २९२
१४. तेण्डुलकर- महात्मा V, बम्बई १९५२, पृ. ११९
१५. यंग इंडिया- ११-१०-२८, पृ. ३४१
१६. वही २१-१-२६, पृ. २१
१७. तेण्डुलकर- महात्मा III, बम्बई १९५१, पृ. ३५९
१८. केयर्ड, एडवर्ड : इन्ट्रोडक्शन टु द फिलॉसफी ऑफ रिलीजन, ग्लासगो १८९१ पृ. ४०
१९, केयर्ड, एडवर्ड : एवोलूशन ऑफ रिलीजन, I, ग्लासगो १८९९ पृ. ६२
२०. राधाकृष्णन्, एस.- दि ग्रेट इंडियन्स, बम्बई, पृ. २१

नागार्जुन की कर्मफलपरीक्षा का आलोचनात्मक मूल्यांकन

भारतीय दर्शन परम्परा में कर्मसिद्धान्त का एक प्रमुख स्थान है। सभी भारतीय दार्शनिक प्रणालियों में कर्मसिद्धान्त ने बहुत ही महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है तथा इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि यह भारतीय दर्शन का मेरुदण्ड है। ठीक इसी प्रकार बौद्ध दर्शन में भी इसका एक अतीव महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। जहां तक बौद्ध दर्शन के कर्म के सातत्य एवं इसके फल देने की प्रक्रिया के सिद्धान्त का प्रश्न है; टामस एल. डार्वलिंग का कहना है, "भारतीय बौद्ध दर्शन में कर्म सातत्य एवं इसके फल देने की प्रक्रिया का एक ऐसा सिद्धान्त है कि सांप्रदायिक साहित्य में इस सिद्धान्त की एक सुग्राह्य एवं सतत होने वाली व्याख्या के प्रति लोगों की चिन्ता को आसानी से समझा जा सकता है"[1]। जहां तक इस शब्द के प्रयोग का प्रश्न है यह कहा जा सकता है कि बौद्ध-पूर्व साहित्य में इसका प्रयोग धार्मिक या सामाजिक कर्म तथा मनुष्य के कर्तव्य के लिए किया जाता था। **ईशोपनिषद्** में कर्म का प्रयोग इसी परवर्ती अर्थ में किया गया है। बौद्ध-ग्रंथों में भी यह अर्थ चला आ रहा है तथा वहां इसका प्रयोग बहुवचन में मनुष्य की आजीविका या कार्यों के अर्थ में किया जाता है। नागार्जुन ने अपने **मध्यमकशास्त्र** नामक ग्रंथ में कर्मफलपरीक्षा नामक अध्याय में इस सिद्धान्त का माध्यमिक दृष्टि से विवेचन प्रस्तुत किया है तथा अन्त में इसकी ग्राह्यता को निरस्त किया है।

मध्यमकशास्त्र का कर्मफलपरीक्षा नामक अध्याय ३२ कारिकाओं में विभक्त है। सर्वप्रथम, संसार, जन्म, एवं मरण से संबंधित प्राचीन बौद्ध सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। इसके बाद चेतना कर्म तथा चेतयित्वा कर्म का विवेचन किया गया है। फिर कायिक-वाचिक-मानसिक कर्मों के प्रधानतः सात भेद बतलाए गए हैं- (i) कुशल-अकुशल वाक् कर्म; (ii) कुशल-अकुशल काय-कर्म; (iii) कुशल अविज्ञप्ति कर्म; (iv) अकुशल अविज्ञप्ति कर्म; (v) परिभोगान्वय पुण्य;

(vi) परिभोगान्वय अपुण्य तथा (vii) चेतना। इसके उपरान्त सौत्रान्तिकों के सिद्धान्तों एवं विज्ञानवादियों के सिद्धान्तों का खण्डन प्रस्तुत किया गया है। फिर बीजसिद्धान्त का विवेचन एवं दस प्रकार के कर्मों का निरूपण प्रस्तुत किया गया है। तदनन्तर सम्मितीय सिद्धान्त एवं सौत्रान्तिकों के मतों का खण्डन किया गया है। फिर कर्म के अविप्रणाश नामक धर्म की चर्चा की गई है। अन्त में माध्यमिक शास्त्र में जो कर्म की स्थिति है, उसकी विभिन्न दृष्टियों से परीक्षा करके यह प्रतिपादित किया है कि कर्म स्वभावतः फल से स्वतन्त्र रहता है तथा देश-काल की परिस्थितियों से भिन्न होने के कारण यह विशुद्ध सर्वदृष्टिशून्य मात्र एक विचार है।

सर्वप्रथम नागार्जुन संसार तथा कर्म एवं इसके फल की चर्चा करते हैं। फिर वे एक पूर्वपक्षीय स्थापना के रूप में यह प्रस्तुत करते हैं कि क्योंकि कर्म और उसके फल का आपसी संबंध है, इसलिये संसार की विद्यमानता भी है। क्योंकि जन्ममरण-परम्परा द्वारा सन्तान का अविच्छिन्न क्रम चलता रहता है; अतः हेतुफलभाव की प्रवृत्ति द्वारा संस्कारों एवं आत्मा का संसरण बना रहता है; इसलिये कर्मफलसंबंध भी बना रहता है।[२] यहां पर चन्द्रकीर्ति की प्रसन्नपदा नामक टीका के अध्ययन से यह प्रतीत होता है कि वे संस्कार या आत्मा की सन्तति (सन्तान) को अपनी स्वीकृति प्रदान करते हैं। यहां यह स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है कि चन्द्रकीर्ति सम्मितीय के पक्ष को प्रस्तुत कर रहे हैं जो पुद्गल की सत्ता में विश्वास करता है। इसके बाद वे अपनी स्थापना करते हुए कहते हैं कि संसार की सत्ता नहीं है; उत्पत्यनन्तर चित्त का भी विनाश हो जाता है; अतः कर्मफलसंबंध का नितान्त अभाव रहता है।[३] इस चर्चा को अगे बढाते हुए टीकाकार चन्द्रकीर्ति का कहना है कि यदि हम संसार की स्थति को स्वीकार करते हैं तो कर्मफल-संबंध भी स्वीकार करना होगा। जहां तक चित्त का प्रश्न है, इसको तीन भागों में विभक्त किया गया है? (i) आत्मसंयमकं चेतः (ii) परानुग्राहकं चेतः तथा (iii) मैत्र चेतः।[४] चित्त का कार्य क्या है? कर्म के विपाक के समय शुभ एवं अशुभ कर्मों का नियमन करना चित्त का कार्य है। चित्त मन एवं विज्ञान इसके ही पर्याय हैं।[५] इस विषय में गुंथर नामक विद्वान् के विचार इस प्रकार हैं: वे कहते हैं "चित्त, चाहे इसका संबंध संसार से हो या इसका संबंध निर्वाण से हो, वही बौद्ध दर्शन एवं मनोविज्ञान की कुंजी है।"[६] जैसा कि पहले बताया जा चुका है, कर्मों को दो भागों में बांटा गया है (i) चेतना कर्म तथा (i) चेतयित्वा कर्म। चेतना कर्म वे मानसिक कर्म हैं जिनको मन (विज्ञान) द्वारा किया जाता है। इन दो कर्मों के अनेक भेद होते हैं। मनोविज्ञान सम्प्रयुक्त चेतना मानस कर्म हैं। चेतना से चिन्तित और काय-वाक् से प्रवर्तित कर्म चेतयित्वा कर्म हैं। यहां प्रश्न

उठता है कि उक्त कर्म क्या विपाक काल तक स्थित होते हैं? अथवा नष्ट हो जाते हैं। ७ यदि हम पहली स्थिति को स्वीकार करते हैं तो हमें उनको नित्य मानना होगा। अर्थात् यदि उत्पन्न कर्म विपाक काल तक स्वरूपेण अवस्थित होते हैं तो इतने काल तक अविनष्ट होने के कारण इन्हें नित्य मानना होगा। इसके पश्चात् ही उनका विनाश नहीं होता। कर्म यदि उत्पादानन्तर विनाशी हैं, तो वह अपनी अविद्यमान स्वभावता के कारण फलोत्पादन नहीं करेंगे। ८ नागार्जुन अपनी बात को और अधिक स्पष्ट करने के लिए बीज एवं अंकुर का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। पहला बीज है; दूसरा अंकुर है तथा तीसरे इसके विकास के लिए अनुकूल परिस्थितियां। नागार्जुन कर्मफल के सिद्धान्त को बीज एवं अंकुर के उदाहरण से समझाने की चेष्टा करते हुए कहते हैं कि बीज अपने आप में एक सन्तान है। बीज अपने आप में क्षणिक है और यदि इसको अनुकूल परिस्थितियां मिलती हैं तो इसमें अंकुर को उत्पन्न करने की क्षमता है। जहाँ तक बीजांकुर सिद्धान्त का प्रश्न है वसुबन्धु के अभिधर्मकोषभाष्य तथा यशोमित्र की स्फुटार्थ अभिधर्मकोष व्याख्या में इसके अनेक संदर्भ आते हैं। नागार्जुन का वैशिष्टच यह है कि इसमें उन्होंने अपनी बात स्पष्ट करने के लिए एक नया आयाम जोड़ दिया है। अभिधर्मकोष के अनुसार बीज एक नाम-रूप है अर्थात् यह पांच स्कन्धों का एक पुंज है जिसमें सन्तति परिणाम विशेष के कारण फलोत्पादन का सामर्थ्य विद्यमान है। ९ यहां पर यह बात विचारणीय है कि सौत्रान्तिकों ने इस बीज सिद्धान्त का अपने ढंग से विकास किया था। कालान्तर में वैभाषिकों ने इस बीज सिद्धान्त के विरुद्ध अनेक प्रकार की आपत्तियां उठाईं। कालान्तर में वैभाषिकों ने प्राप्ति एवं अप्राप्ति नामक धर्मों का विकास किया। ऐसा प्रतीत होता है कि वैभाषिक धर्म-प्राप्ति को निरस्त करने के लिए सौत्रान्तिकों ने अपने बीज सिद्धान्त का प्रयोग किया था। प्राप्ति वास्तव में विरोधी चित्तों के बीच समनन्तरोत्पाद विद्यमान रहने वाला धर्म है। इस विषय में एडवर्ड कोन्स १० का कहना है कि प्राप्ति एक पृथक् धर्म नहीं है परन्तु एक प्रकार के भाव को उत्पन्न करने वाली अवस्था है। इस प्रकार बीज स्वयं अंकुर का कारण है परन्तु अग्नि जैसी प्रतिकूल परिस्थितियों में बीज में अंकुर को पैदा करने का सामर्थ्य नहीं होता है तथा उस परिस्थति में बीज अंकुर को पैदा करने से नष्ट हो जाता है। इस प्रकार हमें बीज के उच्छेद को स्वीकार करना पड़ेगा और यदि बीज विनष्ट नहीं होता है तथा इसमें सन्तान के रूप में अंकुर को उत्पन्न करने का सामर्थ्य है तो हमें बीज की शाश्वतता को भी स्वीकार करना होगा। परन्तु नागार्जुन के अनुसार बीज में शाश्वतता एवं उच्छेद दोनों का ही अभाव है। ११ वे बीजांकुर दृष्टान्त के समान ही कुशल या अकुशल चेतना-विशेष को चित्त-सन्तान का हेतु मानते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैसे बीज सिद्धान्त वाले ढांचे में न तो बीज का उच्छेद है और न ही इसका सन्तान है; इसीप्रकार चित्त में भी न तो कर्म का उच्छेद है न ही इसका सन्तान है। पी. एस. जैनी के अनुसार एक प्रकार के नए चित्त को उत्पन्न करने की शक्ति का ही नाम बीज है। यह एक स्वतन्त्र सत्ता है तथा यह प्रज्ञा मात्र है।[१२] चित्त एवं बीज पर अधिक गंभीरता से विचार करने से पूर्व इस पूरी स्थिति पर वस्तु एवं मन की दृष्टि से विचार करना ज्यादा श्रेयस्कर होगा। जब हम बीज-सिद्धान्त की बात करते हैं तो इसका तात्पर्य यह है कि हम पहले बीज वस्तु की बात कर रहे हैं। दार्शनिक दृष्टि से हर वस्तु का एक जड़ बिम्ब होता है तथा एक मानस बिम्ब होता है। जब हम बीज वस्तु की चर्चा करते हैं तो हमें इसका दृष्टिगत रूप प्राप्त होता है। परन्तु इसके साथ-साथ जब हम बीज शब्द का प्रयोग करते हैं तो हमें एक बीज सम्बन्धी भावात्मक दृश्य की अनुभूति होती है। निश्चय ही यह भावात्मक दृश्य हमारी मानसिक स्थिति में ही घटित होता है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि वस्तु एवं मन (चित्त) के अपने-अपने क्षेत्र होते हैं। जहां तक बौद्ध दार्शनिक प्रणालियों का प्रश्न है सभी के लिए यह भावात्मक दृश्य बहुत ही महत्त्वपूर्ण है जिसका निर्माण मूलतः चित्त या मन ही करता है। यह वस्तु-जगत् के पदार्थों का चित्त संबंधी एक भावात्मक दृश्य हमारे लिए प्रस्तुत करता है। इस विषय में गुंथर के विचार द्रष्टव्य है, "चाहे इसका संबंध संसार से हो या निर्वाण से चित्त ही बौद्ध-दर्शन एवं मनोविज्ञान की कुंजी है। यद्यपि बौद्ध धर्म में चित्त की स्थिति को लेकर काफी विवाद रहा है, फिर भी किसी भी बौद्ध दार्शनिक पद्धति ने इसकी प्रमुखता को चुनौति नहीं दी है।[१३] इस प्रकार हम देखते हैं कि एक नए चित्त को उत्पन्न करने की शक्ति का ही नाम बीज है। यह कोई स्वतन्त्र सत् नहीं है परन्तु यह प्रज्ञामात्र है। अतः जब सौत्रान्तिकों ने बीज सिद्धान्त का प्रतिपादन किया तो धर्मों की क्षणिकता तथा सन्तति के बीच में बीज द्वारा सामंजस्य स्थापित करना ही उनका एक मात्र उद्देश्य था। एडवर्ड कोन्स[१४] के अनुसार बीज एक मानसिक-शरीरिक घटक या पांच स्कन्धों का एक पुंज है।

नागार्जुन एक बार चित्त एवं बीज में एक प्रकार की समानता स्थापित करने के बाद यह सिद्ध करना चाहते हैं कि उच्छेदवाद तथा शाश्वतवाद की दृष्टियों से इन दोनों की स्थिति नहीं बन सकती है। इस परिस्थिति में विरोधी पक्ष कर्म को 'अविप्रणाश' नामक धर्म से जोड़ना चाहता है। वस्तुतः जब कर्म उत्पन्न होता है, तो उसके साथ संतान में एक 'अविप्रणाश' नामक धर्म भी उत्पन्न होता है। यह एक विप्रयुक्त धर्म है। जैसे ऋण-पत्र लिख लेने से धनिक के धन का नाश

नहीं होता, बल्कि कालान्तर में ब्याज के साथ वह वापस मिलता है, उसी प्रकार कर्ता-कर्म के विनष्ट होने पर भी इस 'अविप्रणाश' कर्म के अवस्थान से फल अभिसंवृद्ध होता है। जैसे ऋणपत्र दाता का धन लौटा कर निर्मुक्त है, अतः वह विद्यमान हो या अविद्यमान पुनः धनाभ्यागम नहीं कर सकेगा उसी प्रकार 'अविप्रणाश' विपाक प्रदान कर निर्मुक्त ऋण-पत्र के समान कर्ता का विपाक से पुनः सम्बन्ध नहीं कराएगा। यह 'अविप्रणाश' कर्म-विनाश से विनष्ट नहीं होता और कर्म-प्रहाण से प्रहीण नहीं होता। इस विषय में चन्द्रकीर्ति का कथन है, 'क्योंकि किया हुआ कर्म सत् रूप में निरुद्ध होता है, वह स्वभाव से स्थित भी नहीं होता, अतः कर्म के स्वभाव के अनवस्थान के कारण शून्यता पैदा होती है। इस प्रकार कर्म की अवनस्था के कारण कर्म के उच्छेद की संभावना भी नहीं रहती तथा कर्म के अविप्रणाश धर्म के कारण कर्म का विपाक होता है। विपाकाभाव दशा में तो कर्म का उच्छेद होगा'।[१५] चन्द्रकीर्ति इसी संदर्भ में आगे कहते हैं, "यदि कर्म की स्वरूपतः उत्पत्ति होती है, तो उसके विपाक अवस्था तक विद्यमान रहने के कारण कर्म की नित्यता सिद्ध हो जाती है परन्तु इसके विनाश के कारण इसका उच्छेद भी होता है। अतः जब कर्म अपनी स्वभाव-शून्यता के कारण उत्पन्न ही नहीं होता तो कहां तो इसका अवस्थान है और कहां इसका विनाश है'।[१६] इस प्रकार कर्म की उत्पत्ति एवं उच्छेद इन दोनों का निराकरण कर दिया गया है। इसके अतिरिक्त नागार्जुन का कहना है कि यदि कर्म का अपना कोई स्वभाव होता तो यह नित्य हो जाता है; यदि कर्म अकृत है, तो यह कहा जा सकता है कि कोई भी नित्य कर्म किसी भी व्यक्ति के द्वारा नहीं किए जाते हैं।[१७] इस विषय पर चन्द्रकीर्ति अपनी व्याकरण संमत राय अभिव्यक्त करते हुए कहते हैं कि हमें यहां इस परिस्थिति में व्याकरण के कर्ता-स्वातन्त्र्य के सिद्धान्त तथा उसके द्वारा क्रिया के द्वारा संपादित कर्म वाली स्थिति स्वीकार्य नहीं है।[१८] कर्मों का क्लेशादि से भी कोई संबंध नहीं है क्योंकि सिद्धान्ततः हेतु-क्लेश निःस्वभाव होते हैं। जब क्लेश ही नहीं हैं तो कर्म की सत्ता कहां से होगी।[१९] कर्म न तो प्रत्यय-उत्पन्न हैं और न ही अप्रत्यय-उत्पन्न हैं। उनका कोई कर्ता भी नहीं है; यदि कर्म एवं कर्ता नहीं हैं, तो कर्म से उत्पन्न होने वाला फल भी कहां होगा? इस प्रकार फलाभाव में उसका भोक्ता भी नहीं हो सकता।[२०] नागार्जुन के कर्मफलसंबंध को सही परिप्रेक्ष्य में समझाने के लिए गतागतपरीक्षा को भी इस संदर्भ में देखना हमारे लिए श्रेयस्कर होगा। जब हम किसी कर्म के संपादन की कल्पना करते हैं तो यह हमेशा ही गति-सापेक्ष होता है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि कर्म का गति से संबंध होता है और हम इसके साथ-साथ एक प्रकार के गन्ता एवं गन्तव्य की भी कल्पना करते हैं। इस स्थिति में गतागतपरीक्षा

नामक अध्याय में नागार्जुन का कहना है कि यदि गमन ही गन्ता है तो इसका तात्पर्य यह होगा कि कर्ता एवं कर्म का एकीभाव हो जाएगा।[21] परन्तु सिद्धान्ततः नागार्जुन यह प्रतिपादित करते हैं कि गन्ता एवं गमन दो भिन्न-भिन्न सत् हैं तथा इनमें कोई आपसी संबंध भी नहीं है। इस प्रकार वे गति, गन्ता एवं गन्तव्य की सत्ता को स्वीकार नहीं करते हैं।[22] यहां पर चन्द्रकीर्ति प्रकारान्तर से बीजांकुर के प्रसंग को लाकर यह प्रतिपादित करते हैं कि यदि बीज ही अंकुर में संक्रान्त होता है तो वह बीज ही होगा अंकुर नहीं होगा; तथा इस प्रकार शाश्वत दोष की प्राप्ति हो जाएगी। इसके विपरीत यदि हम यह स्वीकार करते हैं कि अंकुर कहीं अन्यत्र से आ जाता है तो उस स्थिति में अहेतुकदोष प्रसंग की प्राप्ति होगी, क्योंकि खरविषाण के समान अहेतुक की उत्पत्ति नहीं होती है।[23] इस प्रकार बीज एवं अंकुर के उदाहरण का कर्म एवं इसके फल के साथ सादृश्य स्थापित करके यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि कर्म एवं फल की दो भिन्न-भिन्न सत्ताएं हैं तथा इसमें आपस में कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि कर्म फल में संक्रान्त होता है तो फल कर्म हो जाएगा तथा फल नहीं होगा। इस प्रकार हमारे विश्लेषण से यह प्रकट होता है कि नागार्जुन के अनुसार कर्म फल एवं इनके संबंध में कोई आपसी रिश्ता नहीं है। ये सब मात्र भाव हैं तथा हमेशा ही वस्तुनिष्ठ होते हैं। परिणाम स्वरूप सभी विचारों का नागार्जुन द्वारा परित्याग किया गया है क्योंकि उनके सिद्धान्त में कर्म निःस्वभाव है, इसलिए उनके दर्शन को शाश्वत-दर्शन या उच्छेद-दर्शन के दोष नहीं लगते। प्रकारान्तर से हम इस बात को ऐसे भी कह सकते हैं कि नागार्जुन कर्म के विषय में सर्वदृष्टिशून्यता को स्थापित करना चाहते हैं।

संस्कृत-विभाग
श्री गुरुतेगबहादुर खालसा कालेज
दिल्ली विश्वविद्यालय
दिल्ली– ११०००७.

तुलसीराम शर्मा

टिप्पणियाँ

१. टामस एस. डावलिंग; "कर्म एण्ड सैक्टेरियन डेवेलेपमेण्ट" इन स्टडीज इन पालि एण्ड बुद्धिज्म, पृ. ४ दिल्ली १९७९ संपादक, ए. के. नाराणय

२. इह सन्तानाविच्छेदक्रमेण जन्ममरणपरम्परया हेतुफलभावप्रवृत्त्या संस्काराणामात्मनो वा संसरणं स्यात्, स्यात्तदानीं कर्मफलसम्बन्धः। चन्द्रकीर्ति, प्रसन्नपदा, वाराणसी, १९८३ पृ. १३१

३. यथावर्णिते संसाराभावे तु उत्पत्त्यनन्तरविनाशित्वाच्चित्तस्य कर्माक्षेपकाले विपाकस्यासद्भावात् कर्मफलसम्बन्धाभाव एव स्यात्। वही, पृ. १३१

४. आत्मसंयमकं चेतः परानुग्राहकं च यत्। मैत्रं स धर्मस्तद्बीजं प्रेत्य चेह च ॥ मध्यमकशास्त्र, १७.१, पृ. १३१

५ चिनोति उपचिनोति शुभाशुभं कर्म विपाकादानसामर्थ्ये नियमयतीति चेतः। चित्त मनः विज्ञानमिति तस्यैव पर्यायाः। वही, पृ. १३१.

६ हरबर्ट वी. गुंथर; फिलोसिफि एण्ड सायकोलोजि इन् दि अभिधर्म पृ. १५; दिल्ली, १९५७.

७. मध्यमकशास्त्र, १७.६ पृ. १३३

८. अथ उत्पादानान्तरविनाशित्वमेव कर्मणामभ्युपेतम, ननु एवं सति निरुद्धं चेन्निरुद्धं सत् किं फलं जनयिष्यति। अभावीभूतं सत् कर्म अविद्यमानस्व-भावत्वान्नैव फलं जनयिष्यतीत्यभिप्रायः। चन्द्रकीर्ति, वही पृ. १३३–३४

९. किं पुनरिदं बीजं नाम? यन्नामरूपं फलोत्पत्तौ समर्थं साक्षात् पारंपर्येण वा सन्ततिपरिणामविशेषात्। स्फुटार्थ भाष्य, अभिधर्मकोश, २.३६, पृ. २१७; वाराणसी, १९७१, संपादन, डी. जी. शास्त्री.

१०. एडवर्ड कोन्स; बुद्धिस्ट थॉट्स इन इण्डिया, पृ. १४२, दि युनिवर्सिटी ऑफ् मिशिगन प्रेस, १९८२

११. योऽङ्कुरप्रभृतिर्बीजात् सन्तानोऽभिप्रवर्तते।
ततः फलमृते बीजात् स च नाभिप्रवर्तते॥
बीजाच्च यस्मात् सन्तानः सन्तानाच्च फलोद्भवः।
बीजपूर्वं फलं तस्मान्नोच्छिन्नं नापि शाश्वतम्॥

१२. जैनी. पी एस्; 'दि सौत्रान्तिक थियरि ऑफ बीज" बुलेटिन ऑफ बि स्कूल ऑफ ओरियण्टल एण्ड आफरिकन स्टडीज, खण्ड २१, पार्ट I; पृ. २४४.

१३. हर्बर्ट वी गुंथर; फिलॉसॉफि एण्ड सायककोलॉजी इन दि अभिधर्म; पृ. १५

१४. एडवर्ड कोन्स; बुद्धिस्ट थॉटस् इन इण्डिया, पृ. १४२

१५. यस्मात् कर्म कृतं सत् निरुध्यते, न स्वभावेनावतिष्ठते, तस्मात् कर्मणः स्वभावेनावस्थानात् शून्यता चोपपद्यते। न चैवं कर्मणाऽनवस्थानादुच्छेद दर्शनप्रसङ्गः, अविप्रणाशपरिग्रहेन कर्मविपाकसद्भावात्। विपाकाभावे हि कर्मणः उच्छेददर्शनं स्यात्। मध्यकमशास्त्र १७.२० पर चन्द्रकीर्ति, प्रसन्नपदा, पृ. १३८

१७. यदि हि कर्मण स्वरूपेणैवोत्पादः स्यात्, तस्य अविपाकावस्थानाच्छिरत्वं स्यात्, विनाशादुच्छेदः स्यात्। यदा तु कर्म नैवोत्पद्यते स्वभावशून्यत्वात्, तदा तस्य कुतोऽवस्थानम्, विनाशो वा। वही, पृ. १३८.

१७. कर्म स्वभावतश्चेत् स्याच्छाश्वतं स्यादसंशयम्। अकृतं च भवेत् कर्म क्रियते न हि शाश्वतम्॥ मध्यमकशास्त्र १७.२२. पृ. १३९

१८. कर्तुः स्वतंत्रस्य क्रियया यदीप्सिततमं तत्कर्म। एतच्च न युज्यते। किं कारणम्? यस्मात् क्रियते न हि शाश्वतम्। शाश्वतं हि नाम तद् यद्विद्यमान सत्ताकम्। मध्यमकशास्त्र १७ २२ पर चन्द्रकीर्ति, प्रसन्नपदा, पृ. १३९

१९. कर्म क्लेशात्मकं चेदं ते च क्लेशा न तत्त्वतः। न चैते तत्त्वतः क्लेशाः कर्म स्यात् तत्त्वतः कथम्॥ मध्यमकशास्त्र १७.२७ पृ. १४०

२०. न प्रत्ययसमुत्पन्नं नाप्रत्ययसमुत्थितम्।
अस्ति यस्मादिदं कर्म तस्मात् कर्तापि नास्त्यतः॥
कर्म चेन्नास्ति कर्ता च कुतः स्यात् कर्मजं फलम्।
असत्यथ फले भोक्ता कुत एवं भविष्यति॥
मध्यमकशास्त्र, १७-२९-३०. पृ. १४१

२१. यदेव गमनं गन्ता स एव हि भवेद् यदि।
एकीभावः प्रसज्येत कर्तुः कर्मण एव च॥
मध्यमकशास्त्र २. १२. पृ ३९

२३. यदि बीजमेवाङ्कुरे संक्रमति, बीजमेव तत्स्यान्न यदङ्कुरः,
शाश्वतदोषप्रसंगश्च। अथाङ्कुरोऽन्यत आगच्छति,
अहेतुकदोषप्रसंगः स्यात्। न चाहेतुकस्योत्पत्तिः, खरविषाणस्येव।
मध्यमकशास्त्र, २.२५ पर चन्द्रकीर्ति, प्रसन्नपदा
पृ. ४३

क्या गांधीवादी, साम्यवादी और धर्मवादी प्रवंचक हैं ?

एक प्रख्यात समकालीन भारतीय दार्शनिक और चिंतक[1] ने वार्त्ता के क्रम में अपना विचार रक्खा कि यह दुर्भाग्य है कि आज औसत गांधीवादी, साम्यवादी एवं धर्म का गुणगान करने वाले व्यक्ति सामान्य लोगों की अपेक्षा अधिक प्रवंचनामूलक जीवन व्यतीत करते हैं। उन्होंने कहा कि इसमें अपवाद हो सकते हैं लेकिन अपवाद तो नियम का सिद्ध ही करते हैं। अपना मत पुष्ट करने के लिए उन्होंने अनेकों उदाहरण दियें, अनेकों व्यक्तियों के नाम गिनाये जिन सबों का उल्लेख आवश्यक नहीं है। सर्व प्रथम उन्होंने गांधीवादियों के विषय में कहा कि सामान्यत: ये लोग ऊँची ऊँची बातें तो कहते हैं लेकिन अपने आचरण में उसका पालन नहीं करते। उनके मन में भी अर्थ-संग्रह की वही आकांक्षा रहती है, उसी प्रकार सम्पत्ति आदि का विनियोग अपनी संतान के लिये करते हैं जिस प्रकार अन्य सामान्य लोग। सर्वोदय-समाज के अन्दर सत्ता संघर्ष की ओर संकेत करते हुए उन्होंने कहा कि विनोबा जैसे व्यक्ति पं. नेहरु एवं उनकी सरकार की आलोचना तक से मुकरते रहे, सक्रिय विरोध करना तो दूर रहा। भूदान के दान-पत्र या अन्य समारोहों में सर्वोदय वाले बड़े राजकीय नेताओं को ही आमंत्रित करते रहे, कभी यह नहीं सोचा कि विद्वानों, वैज्ञानिकों एव दार्शनिकों को भी इसके लिये कष्ट दिया जाय। फिर सर्वोदय समाज का एक पक्ष का नेतृत्व कुत्सित एवं गर्हित रूप से सत्ता की खुशामद-बरामद करने में लगा हुआ है। उनके अलग भी सर्वोदय के एक-एक भीष्म पितामह एक-एक मठ को पकड़े हुए हैं। कुछ वरिष्ठ सर्वोदय के नेता ३०-४० तक संस्थाओं पर हावी हैं एवं ऊपर में उसी प्रकार एक गुट बनाकर काम करते हैं जिस प्रकार भ्रष्ट राजनितीज्ञ आदि। भले ही उन्हें साधन उपलब्ध न हों किन्तु उपलब्धि होने पर वे लोग भी गांधी जी की सादगी

आदि को तिलांजलि देकर हवाई जहाज की ही सैर करते रहते हैं एवं अपनी संस्थाओं में नोकरशाह की सामन्ती संस्कृती का परिपालन करते हैं। प्रकट एव अप्रकट रूप में सर्वोदय-गांधी-खादी की संस्थाओं में औसत समाज से भ्रष्टाचार गबन आदि कम नहीं होते हैं। दुख की बात तब होती है जब ये लोग अपरिग्रह, सत्ताहीनता, सादगी आदि की सबसे अधिक दुहाई देते हैं। यह प्रवचंना नही तो क्या है ?

उसी तरह उन्होंने साम्यवादियों को आड़े हाथों लेते हुए कहा कि कुछ अपवाद को छोड़कर साम्यवादियों के कितने नेता गरीबों के साथ तादात्म्य स्थापित कर जीवन बिताते हैं। कई उच्च स्तरीय अखिल भारतीय स्तर के साम्यवादी नेताओं के विषय में उन्होंने सप्रमाण बताया कि वे चारमीनार नहीं बल्कि कीमती सिगरेट, साधारण शराब नहीं बल्कि स्कॉच विस्की का ही व्यवहार करते हैं, पांच सितारों वाले होटलों में विलासी जीवन बिताते हैं और दुहाई गरीबों की देने में सबसे आगे रहते हैं। यही नहीं, व्यक्तिगत सम्पत्ति के नाश की बात भले करते हैं लेकिन किसी भी औसत व्यक्ति से उनकी अर्थ-संग्रह की भावना कम नहीं। भले ही जमीन के बँटवारे की बातें मंच से बोले किन्तु हजारों साम्यवादी नेता हैं जो कुलकों की तरह बड़े-बड़े भूपति हैं। वे भी अपने घरों में नौकर रखकर उनसे गुलाम की तरह व्यवहार करने में संकोच नहीं करते, स्त्रियों के प्रति वही अनुदारवादी दृष्टिकोण रखते हैं, यहाँ तक कि जातिवाद के रोग से भी कुछ हद तक अन्य लोगों की तरह ग्रसित रहते हैं। विवाह शादी में दहेज नहीं लेने की पार्टी की बन्दिश केवल दिखाने को है। फिर यह सब प्रवचना नहीं तो क्या है ?

अंत में उन्होने धर्म का नाम लेने वाले खासकर टीक-चंदन आदि धारण करने वालों की भी अच्छी खबर ली। भले ही उनका बाह्य आवरण साधु-संत जैसा लगता हो किंतु व्यक्तिगत जीवन में उन्हें भी सम्पत्ति एवं सत्ता की किसी से कम स्पृहा नहीं होती है। भले ही वे सिर मुंड़ावें, या केश बढावें, किंतु व्यसनमुक्ति तो नहीं ही रहती है, साथ-साथ गुप्त रूप से कई प्रकार के यौनाचार में निल-ज्जित रहते हैं। महंतों के जीवन में राजसी विलास बिल्कुल सामान्य तो रहता ही है, यों समाज में धर्म आदि की जो बहुत दुहराई देते हैं, उनमें अन्य लोगों की तरह एक से एक दोष भरे रहते हैं। रामायण या भागवत के उन कथाकारों को देखिये जिनके व्यक्तिगत जीवन और आचरण में उसकी कोई छाया नहीं रहती, कथा वाचन के लिये वेश्यायों की तरह फीस लेते ही हैं।

उन्होंने अपनी बात बढाते हुए कहा कि अच्छा आदमी होने के लिए गांधीवादी, साम्यवादी या धर्मवादी होने की जरूरत नहीं। यदि गांधी ने शांति की बातें की तो बर्ट्रान्ड रसेल ने विश्वयुद्ध रोकने में जो पहल की, वह अविस्मरणीय है। यदि गांधी ने अन्याय का प्रतिकार किया तो प्रसिद्ध दार्शनिक सार्त्र आदि ने भी अपने को जोखिम में डालकर किया, रूस में शोखोरोव ने किया आदि-आदि। बल्कि इन लोगों में प्रवंचना नहीं, कभी उन्होंने यह कहा या माना नहीं कि वे बड़े हैं और वे बड़ा सिद्धांत पालन कर रहे हैं। शांत एवं मूक भाव से जो अनुभव किया उसका आचरण किया।

जब मैंने यह जानना चाहा कि ऐसी प्रवंचना का क्या कारण है तो उन्होंने कहा कि उनके पास इसकी कोई व्याख्या नहीं है किन्तु इस पर चिंतन तो होना ही चाहिए कि आखिर समाज में अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक प्रतिष्ठित ये गांधीवादी, साम्यवादी और धर्मवादी प्रवंचना के शिकार क्यों हैं? एक स्वतंत्र एवं उदार चिंतक की भांति उन्होंने कहा की उनकी स्थापनाओं को भी चाहें तो न मानी जाय, हो सकता है कि वे सही नहीं हों, किंतु यदि वे सही हैं तो अवश्य ही इसके कारणों पर चिंतन होना चाहिये। काफी दिनों के बाद एक ठोस एवं वास्तविक दार्शनिक समस्या मेरे समक्ष आयी और मैंने इसपर चिंतन के क्रम में यह अनुभव किया कि उक्त दार्शनिक महोदय निष्पक्ष भाव से अपने इस सत्य पर पहुँचे हैं, कोई पलायन और निराशा की वृत्ति से यह निष्कर्ष उन्होंने प्रस्तुत नहीं किया। उन्होंने मस्तिष्क के साथ हृदय को भी खोलते हुए कहा कि "मुझे भी यह इच्छा है कि मैं राष्ट्रपती बनूं या इसी प्रकार के किसी उच्च पद पर आसीन होऊँ तो इसमे क्या हानि है? इसको छिपाने की क्या आवश्यता?" किंतु दुख तब होता है जब लोक उपर से कहते हैं – "मुझे यह सब कुछ नहीं चाहिये" और भीतर उसकी तीव्र आकांक्षा पोषते रहते हैं: यही है प्रवंचना। उन लोगों पर उन्हें जरा रंजिश नहीं जो अपने या अपने बच्चों या पत्नी के लिए छोटी-मोटी सिफारिशों के लिये सकुचाते नहीं, किन्तु प्रवचक वे है जो इन चीजों की उपर से भर्त्सना तो कर देंगे भीतर से चाहेंगे कि वे लाभ उन्हें किसी प्रकार मिल जाय यही है प्रवंचना। यह स्थापना सही है या गलत? वस्तुत: यह तो समाज-शास्त्रीय अनुसंधान का विषय है। लेकिन जो कुछ सामने है, वह बिल्कुल निराधार नहीं है। यही तो कारण है कि आम जनता की नजरों में इन लोगों की विश्वसनीयता भी गिरती जा रही है। कषाय वस्त्र, चंदन और माला का दुरुपयोग और उसके विरुद्ध तीव्र आक्रोश के स्वर तो भगवान् बुद्ध एवं कबीर आदि

महात्माओं ने भी बुलन्द किये हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि धर्म की बाह्य एवं अंदर में काफी अन्तर रहा है। धार्मिक सुधारवादी सारे आंदोलन इन्हीं प्रवंचनाओं के ही विरुद्ध हुए हैं। फिर यदि कोई दार्शनिक इसे उठाता है तो इसे अत्युक्ति कैसे मान लिया जाय ? किन्तु मूल स्थापना यही है कि क्या औसत धार्मिक कहलाने वाले व्यक्ति औसत लोगों से अच्छे होते हैं ? इसमें एक प्रश्न है कि अच्छाई का मापदंड क्या है ? सामान्य व्यक्ति यदि सत्ता या सम्पत्ति की आकांक्षा प्रकट करता है तो वह उतना गिरा हुआ नहीं माना जायेगा; लेकिन जब कोई गांधीवादी, साम्यवादी अथवा धर्मवादी ऐसा करता है तो वंचक या पाखंडी माना जाता है। इसका यह अर्थ हुआ कि विभिन्न स्तर के लोगों के लिये एक ही प्रकार के आचरण के मूल्यांकन के लिए भिन्न मापदंड रखे जाते हैं। शायद यही कारण है कि उक्त प्रकार के दार्शनिक महोदय अपनी उपरोक्त प्रकार की स्थापना बना लेते हैं। असल में रंगीन कपड़े की दाग जल्दी मालूम नहीं पडती किन्तु सफेद कपड़े की दाग सब के समक्ष प्रगट हो जाती है। समाज एक गांधीवादी, साम्यवादी और धर्मवादी से अपेक्षाकृत ऊँचे आचरण की अपेक्षा करता है किन्तु जब उसे भी सामान्य व्यक्ति के चरित्र का पाता है तो फिर प्रवंचना का उसपर आरोप स्वाभाविक लग जाता है।

इसी से मिलती-जुलती यह भी बात है कि गांधीवादी-साम्यवादी-धर्मवादी के आदर्श औसत से कुछ इतने ऊँचे होते हैं कि भले ही कभी हम उस ऊँचाई पर चले जायें किन्तु सब और सामान्य स्थित में उनपर आरूढ रहना असान भी नहीं होता है। फिर मानवीय दुर्बलताएँ होती हैं और व्यक्ति विरले ही गांधी की तरह होता है जो उन्हें सार्वजनिक रूप से स्वीकार करने की हिम्मत करता हो। फिर तो प्रवचना आ ही जाती है। यह हमारी स्वाभाविक दुर्बलता है। समाज के द्वारा मान्य उच्च आदर्श-स्थान पर जब एकबार व्यक्ति सिद्धांत या भावना या पथ के द्वारा प्रतिष्ठित हो जाता है तो उसके जीवन में आदर्श और यथार्थ की खाई ज्यादा चौड़ी हो जाती है, जिसे पाटना आसान नहीं है। फिर दुर्बलता छिपाने की ओर हम अभिप्रेरित होते हैं और वही प्रवंचना का मूल कारण हो जाता है।

फिर यदि ये गांधीवादी-साम्यवादी-धर्मवादी त्याग या सेवा के कार्य भी करते हैं तो उन्हें इसके लिये कुछ विशेष श्रेय नहीं मिलता। यह मान लिया जाता है कि वैसा करना तो उनका कर्तव्य है। लेकिन चाहे कोई भी व्यक्ति हो वह हमेशा परोपकार-त्याग-सेवा के उच्च धरातल पर नहीं रह सकता और फिर इस कारण भी उसके आदर्श और आचरण में भेद देखा जाता है।

असल में समाज में गांधीवादी-साम्यवादी-धर्मवादी आदि के नाम से जो कुछ विशिष्ट वर्ग बन गये हैं और उनसे संयुक्त कुछ मूल्य भी निर्माण हो गये हैं, वही इसकी जड़ में हैं। यह सब भी एक प्रकार की वर्ण-व्यवस्था या जाति-व्यवस्था ही है। निरुपाधिक मानव रहना ज्यादा महत्त्वपूर्ण है, यह हमने जाना ही नहीं। हमने तरह-तरह की चादरें ओढ़ ली हैं। इस कारण से हमारी समस्यायें ज्यादा उलझती जा रहीं हैं। आदर्श आकर्षक अवश्य होता है किन्तु उतना ही दुष्प्राप्य भी होता है। किन्तु केवल इसलिये हम आदर्श को तिलांजलि नहीं दे सकते कि हम वहाँ पहुंच नहीं सकते या पहुँचने में वह अत्यन्त दुस्सह होता है। आदर्श जिस दिन नहीं रहेगा, मानव की प्रगति रुक जायगी। जो दार्शनिक महोदय आदर्शवादी गांधीवादी-साम्यवादी-धर्मवादी के अन्दर प्रवंचना की बात करते हैं उनके अन्दर भी आदर्श की भूख है। किसी भी कारण आदर्श जब आचरण में नहीं आ पाता है तो प्रवचना के लिए अवसर हो जाता है। इसका यह अर्थ नहीं कि प्रवंचना क्षम्य है। वस्तुतः कथनी और करनी का भेद ही मानव व्यक्तित्व को छलनी बना देता है।

गांधी न तो गुरु-निष्ठ था, न ग्रंथ-निष्ठ, वह तो केवल सत्य-निष्ठ था। और वही बना रहा। उसने तो आजीवन सत्य की ही साधना की और सत्य का प्रयोग किया। इसीलिये उसने कथनी से ज्यादा करनी, सिद्धान्त से अधिक प्रयोग को महत्त्व दिया। हजार टन शब्द की अपेक्षा एक तोला आचरण अधिक अच्छा है। अतः जिसके आचरण में कथनी-करनी में भेद है उन्हें गांधीवादी कहना ही अपराध है। यदि कोई स्वयं अपने को गांधीवादी कहता है तो कहे, किन्तु गांधी-वादी की एक मात्र कसौटी होगी आदर्श और यथार्थ का समन्वय। साम्यवादी लोग तो साध्य का भेद भी मानकर कथनी-करनी के सामंजस्य को उतना महत्त्व नहीं दें; किन्तु गांधीवादियों के लिये तो यही सर्वस्व है। यही उनकी जीवन-निठा है। गांधी के वर्तमान अनुयायियों में जो स्खलन हुआ है वह चिंतनीय है, हालाँकि यह सार्वत्रिक पतन की छाया है। गांधी के बाद दुर्भाग्य से गांधीवादियों ने संघर्ष को भुला दिया, सत्याग्रह को एक अत्यन्त खतरनाक औजार समझकर किसी पिटोरे में रख दिया गया, अतः जूझने, जोखिम उठाने, कठोर से कठोर शरीरिक कष्ट उठाने आदि का अभ्यास छूट गया। हाँ, भूदान-ग्राम-दान अभियान में त्याग की प्रेरणा जगी थी किन्तु लक्ष्यांक के व्यामोह एवं सत्ता-धारित अभियान और वृत्ति के कारण इनकी तेजस्विता प्रकट न हो सकी, जैसा असहयोग, सविनय अवज्ञा, भारत छोड़ो आदि राष्ट्रीय या चंपारण, खेडा, अहमदाबाद जैसे क्षेत्रीय आन्दोलन में प्रकट हो पायी थी। गांधी-युग में गांधीवादियों का चरित्र निश्चय ही औसत जनता के चरित्र से अधिक प्रांजल था क्योंकि गांधी ने चरित्र की ही

राजनीति, अर्थनीति और समाजनीति को विकसित किया था। हजारों लोग अपनी सुख-सुविधा, ऐशो-आराम, नोकरी-गृहस्थी छोड़कर राष्ट्रीय-संग्राम में लगे। विनोबा के भूदान अभियान में भी कुछ अंशतक ऐसा हुआ। अतः इस प्रकार का सामान्यीकरण कि गांधीवादी लोगों का चरित्र औसत लोगों से भी गिरा हुआ होता है, मानने में मुझे तथ्यात्मक कठिनाई हो रही है। हाँ, आज परिप्रेक्ष्य अवश्य निराशाजनक है। असल में गांधीवाद बुराइयों के खिलाफ लड़ने का शाश्वत संघर्ष है। आज गांधी जीवित होते तो देश में केवल व्यापक हिंसा, साम्प्रदायिक कट्टरता के खिलाफ ही नहीं लड़ते बल्कि राजनीति एवं शासन में फैले प्रगत भ्रष्टाचार के खिलाफ भी मुहिम चलाते। अन्याय के विरुद्ध संघर्ष करते रहने में एक आकर्षक चरित्र का निर्माण होता है। औसत लोग जो संघर्ष से अलग रहते हैं, छोटी-छोटी सुविधाओं के लिये भी कई प्रकार के समझौते कर लेने में बुरा नहीं मानते, जबकि संघर्ष-शील व्यक्ति ऐसा समझौता नहीं करता। सच्चे साम्यवादी भी संघर्षशील होते हैं। नक्सलवादी नौजवानों का चरित्र निश्चय ही औसत जनता के चरित्र से ऊँचा है। सुविधावादी-सत्तावादी साम्यवादियों की बात अलग है। साम्यवादियों ने भी विश्व में समाजवाद की स्थापना के लिये अनुपम त्याग एवं कठोर संघर्ष किये हैं।

असल में हमारे मानस में गांधीवादियों और सम्यवादियों के विषय में ऊँची मान्यता है और जब वे संघर्ष से विलग होकर सुविधा की जिन्दगी बिताने लगते हैं तो हम शीघ्र सामान्यीकरण कर उनके उज्वल पक्ष को भी भूल जाते हैं।

दार्शनिक दृष्टि से भी विचार करने पर हमें मानना पड़ेगा कि आदर्श हमारे चरित्र को ऊँचा करता है। गांधीवादी, साम्यवादी या विशुद्ध धर्मवादी लोगों के पास एक विशेष आदर्श होता है, जिधर जाना उनका लक्ष्य होता है। औसत लोगों के समक्ष केवल घर-बार की दैनन्दिन समस्यायें होती हैं। सामान्यतः परिवार ही उनका प्रकोष्ठ होता हैं। आदर्श एवं सिद्धान्त की बातें उन्हें ज्यादा नहीं छूतीं। इस तरह उनकी गिरावट ज्यादा दीखती नहीं। आदर्श एवं व्यवहार में जहां अन्तर की गुंजाइश होती है, वहीं प्रवंचना का प्रश्न आता है। औसत लोगों के समक्ष इस प्रकार की समस्यायें कम उठती हैं। अतः दोनों के लिये एक ही मापदड का इस्तेमाल करना ही उतना न्यायपूर्ण नहीं है। [२]

गांधी-विचार विभाग
भागलपुर विश्वविद्यालय,
भागलपुर– ८१२००७ (बिहार)

रामजी सिंह

टिप्पणियाँ

१. यहाँ सन्दर्भ विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के उपाध्यक्ष प्रोफेसर के. सच्चिदानन्द मूर्ति जी के द्वारा वार्तालाप में प्रस्तुत मन्तव्य का है। यहाँ उनके विचार एक पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत किये हैं। उनके विचारों का शब्दांकन हमारा है, विचार के बिन्दु उनके हैं।

२. डॉ. रामजी सिंह ने प्रोफेसर मूर्ति जी के द्वारा प्रस्तुत पूर्वपक्ष का उत्तर एक दृष्टि से देने का प्रयास किया है। इस लेख में प्रस्तुत पूर्वपक्ष तथा उत्तर-पक्ष को ले कर पत्रिका के माध्यम से चर्चा हुई तो उसका स्वागत होगा। ध्यातव्य है कि चर्चा विचार को सामने रख कर ही की जाय, व्यक्तियों को नहीं।

कार्यकारी सम्पादक

धार्मिक चेतना और मानव-विवेक

मानव में धार्मिक चेतना है और इसी चेतना के कारण उसका झुकाव धर्म की ओर होता है। धार्मिक चेतना का लक्ष्य परम तत्त्व के साथ तादाम्य स्थापित करना है और जब तक असीम के साथ तादात्म्य स्थापित नहीं हो पाता तब तक मनुष्य की धार्मिक भावना सन्तुष्ट नहीं हो पाती है। परम तत्त्व या असीम, जिसे सामान्य व्यक्ति ईश्वर के रूप में पहचानता है, धार्मिक चेतना का विषय माना जाता है। और चूंकि श्रद्धा और विश्वास से ही धर्म को साधा जाता रहा है अतः धार्मिक चेतना का विषय विश्वास और श्रद्धा का विषय ही माना जाता है। कहने का तात्पर्य है कि हम ईश्वर की प्राप्ति श्रद्धा एवं विश्वास के द्वारा ही करते हैं। धार्मिक चेतना के बारे में यही बात स्थापित सिद्धान्त के रूप में मानी जाती रही है।

प्रायः यह बात कि धर्म तथा धार्मिक अनुभूति विश्वास व श्रद्धा का विषय है, संसार के सभी धर्मों में स्वीकार की जाती है। कई धर्मों का, तथा कई धर्म चैतन्य महापुरुषों का यह प्रयास रहा है कि धार्मिक अनुभूति के क्षेत्र में से बौद्धिक तत्त्व को बिलकुल अलग कर दिया जाय। उन्होंने धार्मिक चेतना के विषय को परा-बौद्धिक माना है। उनके अनुसार परम सत्ता का स्वरूप वर्णनातीत है, रहस्यमय है, अद्‌भुत है। इसे तो केवल अनुभूति द्वारा जाना जा सकता है। उनकी यह मान्यता रही है कि बौद्धिक अवबोध के द्वारा धार्मिक चेतना के विषय को लक्षित नहीं किया जा सकता है। एक तरह से वे बुद्धि को इस योग्य ही नहीं समझते कि उसके द्वारा परमतत्त्व का साक्षात्कार कर पायें। धार्मिक चेतना के विषय में बौद्धिक अवबोध के प्रति अवहेलनापूर्ण दृष्टिकोण एक सामान्य बात रही है।

लेकिन इस प्रकार के प्रयासों में हम इस आधार भूत तथ्य को भूल जाते हैं कि मनुष्य एक विचारशील प्राणी है। उसकी बुद्धि या विचारशीलता ने ही उसे

'मनुष्यत्व' प्रदान किया है। अपनी विचारशीलता एवं विवेकशीलता के कारण ही वह धार्मिक है। इस प्रकार से केवल मनुष्य का ही धर्म से सम्बन्ध है और चूंकि अन्य प्राणी विवेकहीन हैं, धार्मिकता का प्रश्न उनके संदर्भ में उठता ही नहीं है। अत: इसी तथ्य को स्वीकारना उचित होगा कि मनुष्य की अन्य नैतिक, सौन्दर्यात्मक, सामाजिक धारणाओं की तरह धार्मिक चेतना की जनक भी मनुष्य की बुद्धि और उसका विवेक है। इस प्रकार से यह स्पष्ट है कि धार्मिक चेतना के मूल में विवेक का तत्त्व ही मौजूद है।

यह भी सत्य है कि मनुष्य भौतिक जीवन एवं भौतिक समृद्धि मात्र से ही सन्तुष्ट नहीं हो पाता। बल्कि वह तो सदैव आध्यात्मिक प्रगति के लिए आकुल रहता है, क्योंकि उसके द्वारा ही उसे पूर्णता, शांति एवं मुक्ति प्राप्त हो सकती है। परन्तु जो तत्त्व उसे उसकी आध्यात्मिक उड़ान की ओर प्रेरित करता है एवं सहायक होता है वह उसका सार-तत्त्व विवेकशीलता ही है। यह तत्त्व मानव और आध्यात्मिकता के बीच का सम्पर्कसूत्र है, जो अपने वैशिष्ट्य के कारण धार्मिक चेतना के विषय को मानव की पहुँच से बाहर नहीं होने देता, अर्थात् इसी तत्त्व के द्वारा मानव धार्मिक चेतना को अनुभूत कर पाता है।

बहुत से विद्वानों की ऐसी मान्यता रही है कि परम सत्ता या धार्मिक चेतना का विषय तो स्वानुभूति का विषय है। वे ईश्वर को बुद्धि का नहीं अपितु अनुभूति का विषय मानते हैं। उनका तो यह भी कहना है कि आध्यात्मिक अनुभूति को भाषा के द्वारा भी स्पष्ट नहीं कि जा सकता है। भाषा के द्वारा ऐसे जितने भी प्रयत्न किये गये हैं वे अपर्याप्त और अपूर्ण हैं क्योंकि मानवीय भाषा की भी अपनी सीमायें है। यह बात कुछ सीमातक उपयुक्त है कि सब प्रकार की भावनाओं एवं अनुभूतियों को स्पष्ट रूप से शब्दों में नहीं ढाला जा सकता। सामान्य जीवन में भी हमें कई बार भाषा की कमी महसूस होती है लेकिन कोई विशेष प्रकार की रहस्यात्मक भाषा की बात को स्वीकार कर पाना, जिसे कुछ विशेष व्यक्ति ही समझ पाते हैं बुद्धि-संगत नहीं लगता है। साथ ही धार्मिक चेतना के विषय को केवल मात्र अनुभूति का विषय या वैयक्तिक अनुभूति का विषय घोषित कर देना तो उसे व्यक्तिगत दृष्टिकोणों तक सीमित कर देना होगा और इस प्रकार तो उसकी सामान्यता की धारणा को अस्वीकृत कर देना होगा। वस्तुत: अगर धर्म तथा धार्मिक चेतना में सामान्यता का तत्त्व नहीं होगा तो सभी धर्म निजी दृष्टिकोणों के अलावा और कुछ नहीं रह जाते। धर्मों के सामान्य एवं सार्वभौम तत्त्व ही उन्हें महान् धर्म बनाते हैं। इसी प्रकार से धार्मिक चेतना के विषय के स्वरूप बारे में अलग अलग धर्मों में मतभेद नहीं है क्योंकि ऐसी चेतना का अस्तित्व

तो प्रायः सभी धर्मों में सभी समय रहा है। जबसे मानव ने धर्म के मर्म को जाना है तब से ही धार्मिक चेतना उसमें है। अतः यह चेतना मानव में सामान्य तौर पर पायी जाती है और उसी से उसकी सामान्यता सिद्ध होती है। इसलिये धार्मिक चेतना तथा उसके विषय को अनुभूति का विषय मानने का अर्थ यह नहीं है कि यह ऐसी बात है जो कि बुद्धिगम्य नहीं है या जिसका अनुभव बुद्धि या विवेक द्वारा नहीं हो सकता है। इसे विवेकोत्तर मान कर तो हम उसे मानवीय ज्ञान के क्षेत्र से बाहर कर देते हैं। वस्तुतः मानव जीवन में से विवेकशीलता तथा अनुभूति को एक दूसरे से कभी भी पूरी तरह अलग नहीं किया जा सकता है। दोनों में निरन्तर सम्पर्क बना रहता है। और दोनों एक दूसरे को प्रभावित करते रहते हैं। कई बार ऐसा तो पाया गया है कि मन की आवेगात्मकता एवं अनुभूतियों का स्पष्ट ज्ञान बुद्धि पूरी तरह नहीं कर पाती है परन्तु फिर भी उनका बोध तो अवश्य करा देती है। कितने भी उच्च स्तर पर अनुभूति क्यों न हो, वह मनस् से अलग नहीं हो सकती है क्योंकि मनुष्य की सभी भावनाओं, संवेगों, वांछनाओं अनुभूतियों, विश्वासों, श्रद्धाओं का उद्गम स्थल तो मानवीय बुद्धि ही है। अगर मानव में विवेकशीलता नहीं है तो फिर इन सभी का कोई अर्थ नहीं है। वे सभी निरर्थक हैं। अतः हमारे सामने मानवीय बुद्धि की क्षमता पर किसी प्रकार का संदेह करने का कोई उचित कारण नहीं है। वस्तुतः उसमें परमसत् तथा धार्मिक चेतना के विषय को इंगित करने की क्षमता है। मानव को बुद्धि का वरदान इसलिये मिला है कि वह शुभ-अशुभ, नित्य-अनित्य, सत्य-असत्य में विवेक कर सके। विवेक के अभाव में श्रद्धा उत्पन्न ही नहीं हो सकती है। विवेक-बुद्धि से श्रद्धा पल्लवित होती है तथा स्वानुभूति गहन ज्ञान से ही संभव है। इस प्रकार बौद्धिक ज्ञान ही धार्मिक चेतना का मुख्य आधार है तथा यह सभी प्रकार की चेतनाओं को अनुभूत करने में सक्षम है।

एक अन्य दृष्टिकोण से भी यह उचित लगता है कि विवेक या बुद्धि ही धार्मिक चेतना एवं उसके विषय का आधार है। हम इस बात को श्रेष्ठव्यक्ति, पूर्ण पुरुष, पुरुषोत्तम की धारणा के आधार पर समझ सकते हैं।

हम जानते हैं कि मानव अपूर्ण है तथा विवेकशील होने के कारण ही उसे अपनी अपूर्णता का ज्ञान है और इसी लिये वह निरन्तर रूप से पूर्णता की ओर अग्रसर होने का प्रयत्न करता रहा है। अपूर्णता की चेतना तथा पूर्णता की आकांक्षा उसमें धार्मिक चेतना पैदा करती है। अपनी वर्तमान स्थिति से असंतुष्ट मानव आध्यात्मिक प्रगति चाहता है। धार्मिक चेतना के संदर्भ में देखा जाय तो मनुष्य की अपूर्णता उसे पूर्णता की ओर उन्मुख करती है तथा जब उसे अपने चारों

ओर पूर्णता नजर नहीं आती है तो वह एक महान् शक्ति की धारणा को अपना लेता है। यह धारणा 'पूर्ण पुरुष' की धारणा है, जिसे हम ईश्वर भी कहते हैं तथा कोई उसे और नाम भी दे सकता है। मानवीय बुद्धि अपूर्णता से पूर्णता की ओर बढ़ने का प्रयास करती है तथा इसी प्रक्रिया में अपने समक्ष पूर्ण पुरुष के आदर्श को रखकर उसी स्थिति को प्राप्त करने की या उसके समान बनने का प्रयास करती है। आदर्श व्यक्ति या ईश्वर की धारणा ही धार्मिक चेतना का विषय है जिसका निर्माण हमारा विवेक ही करता है। इस प्रकार से हमारे आध्यात्मिक जीवन का सीधा सम्बन्ध हमारी बुद्धि से है तथा उसमें कोई विरोध नहीं है, यहाँ तक कि श्रद्धा और विश्वास भी उसी के पहलू हैं। मानव अपने जीवन के परम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति आध्यात्मिकता के द्वारा करता है तथा मोक्ष प्राप्ति बिना ज्ञान के संभव नहीं है। प्रायः सभी धार्मिक तथा दार्शनिक विचार-धारायें इस बात पर एकमत हैं कि ज्ञान मोक्ष का कारण है, तथा अज्ञान बन्धन का कारण है, इससे भी यही बात सिद्ध होती है कि ज्ञान, विवेक या बुद्धि धार्मिक चेतना के विषय (परमात्मा) को जानने में, समझने में, प्राप्त करने में, सहायक है।

परन्तु यह कहना तो अन्याय होगा कि केवल बुद्धि ही अपने शुद्ध रूप में ईश्वरीय ज्ञान का एक मात्र साधन है। यह भी संभव है कि उससे उच्चस्तर पर बुद्धि का ही कोई और स्तर हो या मानव में और भी कोई ऐसी शक्ति हो जो पराभौतिक सत्ता के ज्ञान में ज्यादा सहायक होती हो। लेकिन अगर इस बात को स्वीकार कर भी लें तो भी बुद्धि या विवेक का महत्त्व कम या समाप्त नहीं होता है, क्योंकि मानवीय जीवन में ऐसा कोई भी उच्च तत्त्व या शक्ति नहीं है, जिसके द्वारा परम तत्त्व का साक्षात्कार किया जा सके लेकिन जो तत्त्व या शक्ति अपना आरम्भ बुद्धि या विवेकशीलता में नहीं करेगा। हम ऐसे किसी भी बुद्धि-निरपेक्ष तत्त्व की कल्पना नहीं कर सकते जो मानव में तो है परन्तु मानव के सार-तत्त्व बुद्धि से संबंधित न हो। श्रद्धा और विश्वास भी तो मानवीय तत्त्व ही हैं, उनका आधार भी मानव मनस् ही है। मन के अन्तर्गत विचार, भाव व क्रिया तीनों तत्त्व शामिल हैं। इस प्रकार से धार्मिक चेतना के भी तीन पहलू हैं : ज्ञानात्मक, भावात्मक तथा क्रियात्मक। धर्म मानव मन की क्रिया है और मानव में तीनों पहलू हैं तथा उनमें से किसी भी पक्ष की अवहेलना नहीं की जा सकती है। गलती तभी होती है जब हम केवल श्रद्धा, विश्वास एवं भक्ति तक ही धार्मिक चेतना को सीमित कर देते हैं तथा मानवी जीवन के महत्त्वपूर्ण तत्त्व बुद्धि और विवेक को इस क्षेत्र से पूर्णतः अलग कर देते हैं, जबकि सत्य यह है कि विवेक तत्त्व में 'परमसत्' को जानने की केवल क्षमता ही नहीं है बल्कि वह श्रद्धा और विश्वास को बल भी प्रदान करता है।

इस जगत् में कुछ धार्मिक विचारधारायें ऐसी भी हैं जो कि धार्मिक चेतना के विषय के रूप में ईश्वर धारणा को स्वीकार नहीं करती हैं। उनके विचार में ईश्वर व धर्म का सम्बन्ध ऐसा अटूट नहीं है कि ईश्वर की धारणा के बिना धर्म का अस्तित्व ही न माना जा सके। वे धर्म एवं धार्मिक चेतना को ईश्वर के बिना भी स्वीकार करते हैं। भारतीय धार्मिक एवं दार्शनिक विचार धाराओं में जैन, बौद्ध आदि मतों में ऐसी व्यवस्था है, फिर भी वे विश्व के महान् धर्म कहलाते हैं। ईश्वर की धारणा को अस्वीकार करते हुए भी इन धर्मों द्वारा उच्चतम जीवन के महत्त्व को स्वीकारा गया है। इन धर्मों ने भी माना है कि मानव जीवन का उद्देश्य जन्म लेकर मर जाना मात्र नहीं है अपितु कैवल्य एवम् निर्वाण को प्राप्त करना है। इस प्रकार से इन धर्मों में धार्मिक चेतना को रहस्यमय विषय बनाने का प्रयत्न नहीं किया गया है अपितु उसके स्वरूप का बौद्धिक माना गया है जिसके द्वारा जीवन के सर्वोच्च लक्ष्य मुक्ति या मोक्ष को समझने का प्रयास किया गया है। निस्संदेह रूप से इन्होंने श्रद्धा एवं विश्वास के महत्त्व को अस्वीकार नहीं किया है, परन्तु इनका महत्त्व भी तभी है जब कि वे बुद्धि और ज्ञान के साथ जुड़े हों।

यह मानव की धार्मिक चेतना की मांग हो सकती है कि वह अपने विषय के रूप में ईश्वर की धारणा का निर्माण करें परन्तु यह कोई सार्वभौम सिद्धांत नहीं है। गौतम बुद्ध के लिए एक ईश्वर की धारणा को जन्म देना कठिन नहीं था, लेकिन उन्होंने ऐसा करना आवश्यक नहीं समझा। यह अलग बात है कि उनके अनुयायियों ने ही बाद में बुद्ध को दिव्यता प्रदान की, उनके चारों ओर उपासनाओं का मण्डन किया तथा उन्हें भगवान् का दर्जा दिया। शायद बुद्ध धर्म की सफलता के लिये यह जरूरी समझा गया हो। इस विवेचन से भी यही स्पष्ट होता है कि मानव-बुद्धि धर्म के सूक्ष्मतम पहलूओं के बारें में भी सभी दृष्टि से विश्लेषण करने में समर्थ है। यह ईश्वर की धारणा का सृजन कर सकती है, खण्डन कर सकती है। जीवन के उच्चतम लक्ष्य का निर्धारण कर सकती है, उसके स्वरूप का विश्लेषण कर सकती है तथा उसे प्राप्त करने के साधनों का निर्माण कर सकती है। जगत् में पाये जाने वाले सभी महान् मूल्यों, जैसे कि सत्य, शुभ व सौन्दर्य आदि का उद्गम स्थल मानव-विवेक ही है। इन मूल्यों का महत्त्व ही मानवीय बुद्धि के संदर्भ में है। यहाँ तक कि इन महान् मूल्यों के अधिष्ठाता या धारक के रूप में जब हम एक महान् सत्ता को ईश्वर के रूप में स्वीकार करते हैं तो यह भी बुद्धि-विवेक के द्वारा ही संभव होता है। यह ठीक है कि यहाँ पर श्रद्धा-तत्त्व बौद्धिक तत्त्व में उभरा रहता है।

वस्तुतः मानव भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों जीवन साथ-साथ जीता है। इन दोनों प्रकार के जीवन का समन्वयक तत्व उसकी बुद्धि या विवेक ही है। भौतिक जीवन, जो कि मूल रूप से इन्द्रिय जीवन है, बुद्धिनिरपेक्ष नहीं है। इसी तरह आध्यात्मिक जीवन केवल आवेगात्मक, रहस्यात्मक व अनुभूती-मूलक ही नहीं है, बल्कि ज्ञानात्मक भी है। आध्यात्मिक जीवन को बुद्धि-निरपेक्ष बनाने की चेष्टा में हम इसे मानवोत्तम बना डालते हैं। धार्मिक चेतना तो मानव का सहज गुण (प्रॉपर्टी) है। अतः मूल रूप में तो वह बुद्धि पर ही आधारित है। मनुष्य की बुद्धि का सम्बन्ध केवल अनुभव जगत् से हीं नहीं है बल्कि उसके अन्तस्थ में चलने वाली सभी प्रकार की सूक्ष्म मानसिक प्रक्रियाओं के साथ भी है। इसलिये आध्यात्मिकता भी मानवीय बुद्धि का ही विषय है। यह अलग बात है कि ऐसी अनुभूती बुद्धि के उच्चस्तर पर ही संभव है। जो व्यक्ति इन ऊंचाईयों की ओर सतत रूप से अग्रसर है, निश्चय ही उसका मानस अध्यात्म के क्षेत्र में रमता जाता है। एक साधारण मानव के लिये "उच्चता प्राप्त मनस्" एक रहस्य, एवं आश्चर्य हो सकता है क्योंकि वह उससे भिन्न लगता है, लेकिन वास्तविकता यह नहीं है। उसमें तो मात्र स्तर का अन्तर है; वह "उच्चस्तर" है, भिन्न नहीं है। तथा ज्यों ज्यों एक साधारण व्यक्ति आध्यात्मिकता के मार्ग पर आगे बढ़ता जाता है वह मनस् की ऊँचाईयों को लांघता हुआ धीरे-धीरे आध्यात्मिकता के क्षेत्र में प्रवेश कर जाता है तथा अन्ततः वैसी ही "उच्चस्तर" स्थिति को प्राप्त कर लेता है जो किसी समय उससे रहस्य थी, आश्चर्य था। वस्तुतः हमारी बुद्धि हमारा विवेक उच्चता की ओर उन्मुख है तथा बौद्धिक स्तर की उच्चता में ही धार्मिक चेतना को अनुभूत किया जा सकता है। अतः बौद्धिक जीवन की उच्चता में ही आध्यात्मिक जीवन संभव है। वास्तव में दोनों का "आधार" चिन्तन एवं मनन है तथा परिणाम सृजनशीलता एवं उच्चता-प्राप्त जीवन है।

धर्म तथा धार्मिक चेतना में प्रतीकों का भी महत्व है। प्रतीकों को आधार बनाकर ही हम सत्य की खोज करते हैं। प्रतीकों का सृजन मानव बुद्धि ही करती है। "परमसत्य" का भी "मानवीकरण" होता है, प्रतिमाओं की व्यवस्था होती है जो मूलतः मानव मन की कल्पनायें ही हैं तथा समय के साथ यही प्रतिमायें स्वतंत्र आध्यात्मिक सत्ता का रूप लेती हैं। व्यक्ति यह भूल जाता है कि ये प्रतीक और प्रतिमायें स्वयं उसकी बुद्धि की ही रचनायें हैं। अब "मानवीकरण" धार्मिक चेतना की आवश्यकता बन जाता है जो कि मूलतः हमारे बुद्धि व मन का सृजन है। तथ्य यही है कि हमारा विवेक ही धार्मिक चेतना एवं उसके विषय का आधार है। वस्तुतः धार्मिक चेतना सम्पूर्ण मानव मन की

प्रक्रिया है जिसके द्वारा वह आदर्शों, मान्यताओं तथा महान् गुणों की प्रतिस्थापना अपने जीवन में करता है । इसमें ज्ञान, भाव, तथा कर्म मानव मन के तीनों पक्ष उपस्थित हैं जो कि मिल-जुल कर उसे अध्यात्म-क्षेत्र की ओर ले जाने में सहायता करते हैं। अतः आज आवश्यकता इस बात की है कि हमें हर हालत में धार्मिक चेतना के स्वरूप व आधार के बारे में किसी भी एकांगी दृष्टिकोण से बचना चाहिये । उपरोक्त विवेचन से भी यह पर्याप्त रूप से स्पष्ट हो जाता है कि धार्मिक चेतना तथा उसके विषय को परा-बौद्धिक या विवेकोत्तर मानना ठीक नहीं है। जगत् तथा मानव विवेक से अलग हटकर धार्मिक चेतना एवं उसके विषय मानव के शुभचिन्तक नहीं बन सकते हैं। वस्तुतः हमारी समस्त आस्था और विश्वास का आधार हमारी बुद्धि और विवेक ही है, चाहे वह भौतिक जीवन में हो या आध्यात्मिक जीवन में।

दर्शन शास्त्र विभाग — डी. आर. भंडारी
जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर।

ज्याँ पाल सार्त्र के जीवन-दर्शन के शैक्षिक निहितार्थ

अस्तित्ववादी सार्त्र, फ्रांस की उभरती हुई संस्कृति का एक ऐसा बुद्धिजीवी था, जिसको अपने जीवन में दार्शनिक चिन्तन के साथ-साथ पत्रकार की वस्तुपरक दृष्टि भी प्राप्त थी। वह एक ऐसा अस्तित्ववादी विचारक भी हुआ, जिसकी भाषा में शल्य-चिकित्सक के औजारों जैसी तीक्ष्णता का पुट मिलता है। विचारों को अर्थपूर्ण संगति देने वाला सार्त्र एक कथाकार, कल्पनाशील व्यक्ति के रूप में उभरा।

अस्तित्ववादी सार्त्र यह मानता है कि तत्त्व अस्तित्व से पूर्व नहीं होता, अस्तित्व ही तत्त्व से पूर्व होता है। मानव तो सदा से विद्यमान है, जैसा कुछ वह सोचता है, जैसा कुछ बनना चाहता है, वैसा बन जाता है। एक स्थान पर सार्त्र ने लिखा है कि "मैं नहीं मान सका कि व्यक्ति अपनी अस्मिता को कहीं बाहर से ग्रहण करता है।"

सार्त्र के दर्शन में शून्यता का प्रत्यय महत्त्वपूर्ण है। यही शून्यता तत्त्वज्ञान है। मनुष्य ही एक ऐसी सत्ता है, जिसमे संसार में शून्यता आती है। तात्पर्य यह है कि व्यक्ति सत्त्व व असत्त्व का योग है। सत्त्व के लिए न तर्क चाहिए न प्रमाण। सत्त्व अनुभवातीत है। सत्त्व अपने आपमें अविभक्त, आकारहीन और अर्थ-रहित है। सत्त्व (बीईंग) अविद्यमानता (नथिंगनेस) से आया है अर्थात् कुछ नहीं से सत्त्व का अस्तित्व है, और मृत्यु के बाद वह अविद्यमानता में विलीन हो जाएगा। चेतना अविद्यमानता का अभिव्यक्त रूप है। इस प्रकार वस्तु अविद्यमानता का अभिव्यक्त स्वरूप है। सार्त्र के अनुसार चेतना और वस्तु एक दूसरे के सापेक्ष हैं।

सार्त्र ने मानव व्याख्या के रूप में तीन तथ्यों को स्वीकार किया--

१. अपने में अस्तित्व : जो वस्तु के रूप में है।

२. अपने लिए अस्तित्व : जो कुछ अपने निर्माण की दृष्टि से चाहता है। अतः वह अपने विकास के लिए प्रयत्नशील है, और अपने अस्तित्व के लिए उत्तर-दायी भी है। मानव स्वतंत्र होने के लिए अभिशापित है। जो स्वयं वह है उसका सदैव अतिक्रमण करना चाहता है।

३. दूसरों के लिए अस्तित्व : मनुष्य वह भी है, जो दूसरे उसे समझते हैं। इसके अतिरिक्त सार्त्र मनुष्य के अस्तित्व को दो प्रकार का मानता है– प्रामाणिक और अप्रामाणिक। प्रामाणिक– वह है जो अपने अनुसार उचित हो। अप्रामा-णिक– जो दिखता है वह है नहीं, और जो है वह दिखता नहीं। इसका मात्र कारण "हीन श्रद्धा" (बॅड फेथ) है : इस प्रकार अपनी अनुभूतियों के अनुसार जीवन बिताना अस्तित्ववादियों का आधारभूत सिद्धान्त है। सार्त्र ने अनुभूतियों से प्राप्त ज्ञान को ही स्वीकार किया और वस्तुनिष्ठ ज्ञान का विरोध किया।

सार्त्र ने ईश्वर के स्वरूप का खण्डन किया क्योंकि वह मानव स्वतन्त्रता का कठोर समर्थक है। ईश्वर का अस्तित्व मनुष्य के ऊपर पारलौकिक नियन्त्रण रखता है। वह व्यक्ति की स्वतंत्रता और उत्तरदायित्व यथार्थ तथ्य मानता है। इसीलिए सार्त्र मानव को मूल्य-निर्माता मानता है।

सार्त्र के आधारभूत सिद्धान्तों पर दृष्टिपात करते हुए ज्ञात होता है कि उसने मानव के प्रामाणिक और अप्रामाणिक अस्तित्व, सहज-अनुभूति, व्यक्तित्व के विकास व स्वतत्रता, उत्तरदायित्व आदि घटकों पर विशेष बल दिया है। अतः शिक्षा के उद्देश्य, पाठचक्रम, शिक्षक-विद्यार्थी सम्बन्ध तथा शिक्षण-प्रणाली को इन अवधारणाओं से पृथक् नहीं सोचा जा सकता।

शिक्षा के उद्देश्य–

१. तथ्यात्मकता– प्रत्येक व्यक्ति किसी विशेष परिस्थिति व वातावरण में पलता है। व्यक्ति का यह वातावरण ही व्यक्ति को "स्व" की अनुभूति कराता है। उसका वातावरण ही शिक्षा का प्रमुख साधन है; उसके स्वाभाविक वातावरण में ही उसे पूर्ण मानव बनाने की शिक्षा मिले।

२. प्रामाणिक अस्तित्व का निर्माण– प्रामाणिक अस्तित्व के आधार पर जो कुछ मानव-अनुभूति के अनुसार उचित है, वह ही सत्य है। अतः व्यक्ति जो

सोचता है, वही ठीक है, जो वह करता है, वही उसका सत्य है। सार्त्र के अनुसार सत्य अपनी अनुभूतियों के आधार पर स्वीकार होता है। अतः शिक्षा बालक के प्रामाणिक अस्तित्व के निर्माण में सहायक हो। और वह तभी सम्भव होगा जब शिक्षा के उद्देश्य पूर्व-निर्धारित न होकर एक दिशा-निर्देशक के रूप में दिए जाएँ, और व्यक्ति उन पर चलकर स्वयं उद्देश्यों को निर्धारित करे।

३. **स्व-अनुभूतियों के अनुकूल व्यक्तित्व का विकास**– जहाँ तक व्यक्तित्व के विकास का प्रश्न है– सार्त्र द्वारा शारीरिक एवं मानसिक विकास दोनों के संतुलन को स्वीकार किए जाने की संभावना है। व्यक्तित्व का विकास स्वनिर्मित मूल्यों के आधार पर होना न कि परम्परागत जीवन के आधार पर।

४. **स्वमूल्य-निर्माता**– सार्त्र ईश्वर-विरोधी होने के कारण किन्हीं पूर्व निर्मित मूल्यों को स्वीकार नहीं करते। इस प्रकार सार्त्र का प्रत्येक मनुष्य स्वय छोटा ईश्वर बन गया है। सार्त्र का मानव स्वतंत्र होने के कारण अपने चयन व अनुभूतियों के अनुरूप मूल्यों को परिवर्तित कर सकता है। अतः शिक्षा ऐसी हो जो मानव को स्वतन्त्रता पूर्वक मूल्यों के चयन के लिए प्रेरित करे।

५. **उत्तरदायित्व की भावना का विकास**- सार्त्र के अस्तित्ववाद का प्रथम प्रयास ही यह है कि प्रत्येक मनुष्य को जो कुछ वह है उसके प्रति सजग किया जाए, और उसके अस्तित्व के पूर्ण उत्तरदायित्व को उसी पर पूर्ण स्थित किया जाए। इस प्रकार मानव स्वयं अपने अच्छे-बुरे कृत्यों के लिए उत्तरदायी है और जब उत्तरदायित्व का निर्वाह नहीं हो पाता तो अपराध-भाव उत्पन्न होता है, जिसका कारण "हीन श्रद्धा" (बॅड फेथ) है। अतः शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य हो जाता है कि अपनी अनुभूतियाँ व चेतना के आधार पर अपने जीवन तथा अन्य व्यक्तियों के जीवन से सम्बन्ध स्थापित करता हुआ, अपनी व्यवस्था व समाज की व्यवस्था के प्रति उत्तरदायित्व का निर्माण कर सके।

६. **जीवन की त्रासदी से परिचित कराना**– सार्त्र के अनुसार त्रासदी जीवन का एक अंग है। अतः शिक्षा का यह उद्देश्य होना चाहिए कि वह व्यक्ति को जीवन में आने वाली निराशा, बेचैनी व त्रासदी के लिए तैयार करे।

७ **वैयक्तिकता का विकास**– शिक्षा का महत्त्वपूर्ण उद्देश्य बालक की वैयक्तिकता का विकास करना प्रतीत होता है। प्रत्येक बालक की शिक्षा उसे केन्द्र बनाकर दी जाए तथा स्वयं बालक की चेतना अनुभूति को ध्यान देते हुए उसके विकास के लिये स्वतंत्र अवसर प्रदान किए जाए ताकि वैयक्तिकता का निर्माण संभव हो सके।

८. स्वतंत्र एवं उत्तरदायित्वपूर्ण व्यष्टि– सार्त्र बालक की स्वतंत्रता पर बल देता है। बालक को आत्माभिव्यक्ति की स्वतंत्रता मिलनी चाहिए। उसे अपना विकास करना, अपने विचारों व भावों के प्रकाशन आदि की छूट मिलनी चाहिए। अत: शिक्षा का लक्ष्य होना चाहिए कि बालक स्वतंत्र रूप से अपनी मूल-प्रवृत्तियों का विकास कर सके। शिक्षा का कार्य है कि बालक को पूर्ण अवसर देना जिससे कि वह अपनी क्षमताओं का पूर्णरूप से विकास कर सके।

पाठ्यक्रम

अस्तित्ववादी सार्त्र के अनुसार सत्य अनन्त है, अत: कोई निश्चित पाठ्यक्रम निर्धारित करना संभव नहीं है। प्रत्येक बालक को रुचि, चेतना व अनुभूति के अनुसार जो उचित है, वही पाठ्यक्रम बनाने की कल्पना की जा सकती है। इनके पाठ्यक्रम का स्वरूप लचीला व परिवर्तनशील होगा। किसी प्रकार का कठोर पाठ्यक्रम आरोपित नहीं किया जाएगा। पाठ्यक्रम में उन सभी विषयों को पढ़ाने की कल्पना की जा सकती है, जो मानव-अस्तित्व को बनाए रखने में बाधा न डालें। यह बौद्धिक ज्ञान-विज्ञान की उपलब्धियों को व्यक्ति के लिए अनावश्यक समझता है। इस दृष्टि से इतिहास, भूगोल, समाजशास्त्र, दर्शन आदि को पाठ्यक्रम में विशेष स्थान नहीं दिया जाएगा। सार्त्र अनीश्वरवादी है, इस कारण धार्मिक विषयों को भी कोई महत्त्व नहीं दिया जाएगा। मानव-अस्तित्व का बोध एवं सार्थकता सिद्ध करने वाले सभी विषयों जैसे शरीर-विज्ञान, कला, साहित्य, नैतिक शिक्षा एवं इन्द्रिय ग्राह्य विषयों, जो उसकी अनुभूति के अनुकूल हों, को पाठ्यक्रम में सम्मिलित किया जाएगा। नैतिक शिक्षा कोई परिभाषित वस्तु नहीं वरन् स्वतंत्र चयन कर उसका पूर्ण रूपेण निर्वाह करना है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि सार्त्र ने बाल केंन्द्रिय शिक्षा को स्वीकार किया। प्रत्येक बालक की रुचि के अनुकूल पाठ्यक्रम होना चाहिए। बालकों की रूचि क्रिया में अधिक होती है, और क्रिया द्वारा प्राप्त अनुभव अधिक स्थाई होता है। अत: अनुभव एवं क्रियाओं के आधार पर ही पाठ्यक्रम का निर्माण किया जाए। इसी सिद्धान्त के आधार पर आज भी क्रियाकेन्द्रित पाठ्यक्रम के निर्माण की आवश्यकता अनुभव की गई है।

शिक्षण विधियाँ

वस्तुगत चिन्तन पद्धति एवं आत्मगत चिन्तन पद्धति को स्वीकार नहीं किया गया। इन्द्रिय-विषयात्मक व लेखन पद्धति का आश्रय लिया। इस पद्धति के

अनुसार उन सभी विषयों का विवेचन किया जाता है जिसे मन सीधा इन्द्रियों द्वारा प्राप्त करता है। इसका अभाव सात्रं पर भी दिखाई देता है :-

१. सहज अनुभूति विधि– बालक अपने अनुभव द्वारा जो विषय-वस्तु ग्रहण करे उसे उसके भिन्न-भिन्न अवसर प्रदान करना जिससे वह उन परिस्थितियों में स्वयं ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ हो।

२. व्यक्तिगत अध्ययन विधि– बालक को स्वयं विषय-वस्तु पढ़ने के लिए प्रोत्साहित करना जिससे बालक अपनी प्रकृति के अनुकूल विकसित हो सके।

३. प्रत्यक्ष विधि– जो कुछ प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है उसको इन्द्रियों के माध्यम से ग्रहण करना।

४. स्वय अनुभव द्वारा सीखना– बालक को सुअवसर प्रदान किये जाएं जिनके आधार पर उसे अनुभव प्राप्त होंगे और जो अनुभव के परिणाम सीखने में सहायक होंगे।

इसके अतिरिक्त खेल-विधि, सुकरात-विधि आदि का प्रयोग भी किया जा सकता है।

शिक्षक एवं छात्र

सात्रं के अनुसार शिक्षक महत्त्वपूर्ण है क्योंकि वह ऐसी शैक्षिक परिस्थिति का सृजनकर्ता है जिसमें शिक्षार्थी ' स्व ' के प्रति सचेत होकर ' स्व ' से सम्पर्क स्थापित कर सकता है और स्वानुभूति प्राप्त कर सकता है। शिक्षक मार्ग-दर्शक के रूप में बालकों को ऐसा मार्गदर्शन देगा कि वे वस्तुजगत् की निष्ठा से हटकर 'स्व के प्रति निष्ठावान् बनें। छात्र के व्यक्तित्व की रक्षा करना शिक्षक का परम धर्म है। शिक्षक छात्र को पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान करें। उस पर किसी प्रकार का हस्त-क्षेप व आरोपण न किया जाए, और न ही पूर्वनिश्चित व्यवहार किया जाए। शिक्षक केवल दिशा-बोध कराएगा और वह भी बालक की अनुभूति के आधार पर।

शिक्षक विषय-सामग्री को इस प्रकार प्रदान करें कि बालक उसमें निहित सत्य को स्वतंत्र साहचर्य द्वारा खोज सके। शिक्षक बालक का पथ-प्रदर्शन अवश्य करेगा परन्तु विद्यार्थियों की अनुभूतियों, योग्यताओं व क्षमताओं के अनुकूल, अन्यथा शिक्षक के बिना शिक्षार्थी दिग्भ्रमित सा भटकता रहेगा तथा अपरिपक्व मस्तिष्क

का विकास अवरुद्ध हो जाएगा। इस प्रकार अस्तित्वादी शिक्षक का महत्त्व और बढ़ जाता है– क्योंकि वह प्रत्येक बालक की व्यक्तिगत विशेषताओं का ध्यान में रखकर दिशा-बोध कराएगा। सार्त्र की विचारधारा के अनुसार शिक्षक शिष्य नहीं बनाता, लेकिन बालक का चयन व अनुभूति के आधार पर उसे सुघड़ मार्गदर्शन दे सकता है, क्योंकि जहाँ शिष्य का प्रश्न उठता वहाँ शिक्षक स्वयं आरोपित हो जाता है।

सार्त्र के अनुसार शिक्षक से न तो एक अच्छे वक्ता की अपेक्षा की जा सकती है, जो अपने भाषण द्वारा छात्रों की सराहना का पात्र बन सके और न ही यह अपेक्षा की जा सकती है कि उसके छात्र उसके आचरण का अनुकरण करें। अनुकरण करने वाले छात्र उत्पन्न करना उसका ध्येय कदापि नहीं हो सकता। छात्रों के मस्तिष्क का स्वतः संचालन इस रूप में विकसित किया जाए कि उनमें विशेष प्रकार का चरित्र-गठन हो, ऐसा चरित्र जो स्वतंत्र, उदार तथा स्व-संचालित हो।

शिक्षक से एक और महत्त्वपूर्ण अपेक्षा यह की जा सकती है कि वह छात्रों को उनके द्वारा चयन किए निर्णयों के अभिप्रेतार्थ का अनुभूति कराए। छात्रों को यह अनुभूति करानी चाहिए कि वह केवल अकेला है। अतिशय कुण्ठा एवं सूनेपन के क्षण जीवन में अनिवार्यतः आते हैं और उन्हें बरदाश्त करने की क्षमता छात्रों में उत्पन्न कराना उसका कर्तव्य है।

छात्र संकल्पना

छात्र एक व्यक्ती है। शारीरिक एवं मानसिक रूप से जो कुछ है, वही उसका व्यक्तित्त्व है। बालक की अपनी चेतना, अनुभूति एवं अस्तित्व है। अनीश्वरवादी सार्त्र छात्र की संकल्पना किसी दैवीय रूप में नही करता। इसका छात्र पूर्णतः व्यक्तित्वादी है। इस व्यक्तित्व की रक्षा करना शिक्षक का परम धर्म है।

अस्तित्ववादी सार्त्र मूल्यों की पूर्व-योजना स्वीकार नहीं करता। वह मानता है कि बालक मूल्य का सृजन स्वयं कर सकता है। बालक अपने अनुभव के सहारे वातावरण में परिवर्तन कर सकता है। वह किसी बात को इस प्रकार नहीं स्वीकार कर लेगा कि उसे उसको स्वीकार करना ही है। बल्कि प्रत्येक बात की परीक्षा करके, उसकी आलोचना करके एवं अच्छी प्रकार से जाँच करके ही स्वीकारेगा। इस प्रकार सार्त्र बालक को आत्मनिर्णय लेने की शक्ति से युक्त मानता है और इसकी उस शक्ति का वह संरक्षण करता है।

अनुशासन–

सार्त्र स्व-अनुशासन पर बल देते हैं। उन्होनें कहा है कि 'अन्य की सत्ता का प्रथम अनुभव ही पतन है।" (बीइंग एण्ड नथिगनेस पृष्ठ २६३) अतः वह बालक पर अंकुश नहीं चाहता। वह बालक को पूर्ण स्वतंत्र मानता है। यहाँ पर स्वतंत्रता का विस्तृत अर्थ लिया गया है। यह हिंसात्मक कार्य तक ही सीमित नहीं है, वरन् यह उद्देश्य-प्राप्ति का आधार है। स्वतंत्रता-जो बालक बनना चाहता है, उसे बनने में सहायता प्रदान करती है। वह अपने कार्य का चयनकर्ता स्वयं है और जो भी परिणाम होंगे, उन्हें स्वयं ही भोगेगा। उसका चयन केवल उसे ही प्रभावित नहीं करता उसका उतना ही प्रभाव अन्य पर पड़ता है। इसके कार्य के परिणाम कुछ अनुभूतियां देते हैं, जो बालक को अनुशासित करती हैं। अतः उनके अनुशासन सम्बन्धी पूर्व-निर्मित मानक नहीं हैं।

अनुशासन को कायम रखने के लिए कुछ मानदण्डों का उपयोग किया जाता है किन्तु सार्त्र किसी आचार-संहिता को स्वीकार नहीं करता। बालक को पूर्ण स्वातंत्रता देते हुए उसे चयनकर्ता व उपभोक्ता मानता है। वर्तमान समय में यह सम्भव है कि असंख्य विद्यार्थी मनमानी करें व समाज में अव्यवस्था फैलाएँ परन्तु ऐसा समझना भूल होगी। अस्तित्ववादी चिन्तक मानव को सक्षम मानते हैं कि वह जो कुछ चयन करेगा वह शुभ होगा, अशुभ का चयन नहीं करेगा। किसी प्रकार अशुभ का चयन हो भी जाता है तो उसका भोक्ता वह स्वयं होगा। स्वतंत्र चयन से व्यक्तिक दायित्व के निर्वाह की क्षमता विकसित होती है।

विद्यालय प्रबन्ध

सार्त्रीय विचारधारा के अनुसार किसी संगठित विद्यालय की कल्पना नहीं की जा सकती। विद्यालय-संगठन का आधारभूत तत्त्व यह है कि समाज अपनी सांस्कृतिक धरोहर के रक्षण, हस्तान्तरण तथा विकास के लिए विद्यालयों की स्थापना करता है ताकि समाज जिन मूल्यों को वांछनीय मानता है, उन्हें नई पीढ़ी तक अनुप्राणित कर सके।

निष्कर्ष :

उपरोक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि सार्त्र का अस्तित्ववाद दर्शन न होकर एक दार्शनिक प्रवृत्तिमात्र है। इसलिए शैक्षिक दर्शन के लिए इससे निकलने वाले अभिप्रेत अत्यन्त न्यून हैं। अस्तित्ववाद अति-व्यक्तिवादी तथा

वैयक्तिक स्वतंत्रता का प्रबल समर्थक न होने के कारण न तो सांस्कृतिक परम्पराओं के हस्तान्तरण में विश्वास करता है और न समूह द्वारा निर्धारित मूल्य-मानदण्ड को व्यक्ति पर आरोपित करने में विश्वास करता है। इस दृष्टि से कक्षाध्यापन तो सम्भव नहीं है।

अन्त में, अस्तित्ववाद का जो सबसे सबल पक्ष है, वही सबसे दुर्बल पक्ष भी है। मनुष्य की स्वतंत्रता का उद्घोष अस्तित्ववाद की सबसे बड़ी देन है तो दूसरी और समाज-निरपेक्ष, निर्बाध वैयक्तिक स्वतंत्रता आज के सुगठित तथा अत्यन्त जटिल सामाजिक जीवन में न केवल असम्भव आदर्श है, अपितु सामाजिक दृष्टि से अवांछनीय भी।

दर्शन विभाग
डी. ई. आई डीम्ड विश्वविद्यालय
दयालबाग
आगरा– २८२००५ (उ. प्र.)

मणि शर्मा
तथा
सुधा सक्सेना

थियॉसॉफी : एक मृतसंजीवनी

उन्नीसवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध भारत के इतिहास में अविस्मरणीय काल रहा है। यही वह समय है जब समस्त भारत में, समाजिक, धार्मिक सुधार-आन्दोलन अपनी चरमसीमा पर था। पूर्व में राजा राममोहन राय इसके अगुआ थे, तो पश्चिम में स्वामी दयानंद सरस्वती इस आन्दोलन का नेतृत्व कर रहे थे। बंगाल का ब्रह्मसमाज, पंजाब का आर्यसमाज और महाराष्ट्र का प्रार्थना-समाज प्रमुख धार्मिक समाजिक संस्था थें। इन संस्थाओं के प्रवर्तक क्रमश: राजा राम-मोहन राय, स्वामी दयानन्द सरस्वती और आत्माराम पांडुरंग थे। प्रार्थना समाज और ब्रह्मसमाज आज मृतप्राय हैं, लेकिन आर्यसमाज आज भी जीवित है।

आर्य समाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द ने १८७९ ई. में मॅडम हेलेन पेट्रोना ब्लावत्स्की तथा कर्नल हेन्री ऑल्काट को भारत आने का आमंत्रण दिया। ब्लावत्स्की और ऑल्काट क्रमश: रूसी और अमेरिकन थें। किन्तु दोनों ही गुह्य-सत्ता की खोज में अलग-अलग भटक रहे थे। संयोगवश उनकी मुलाकात न्यूयार्क में हुई। उन्होंने पाया कि वे एक दूसरे के साथ मिलकर अपने उद्देश्य की प्राप्ति कर सकते हैं। अत: उन्होंने "थियोसिफकल समाज" नामक एक आध्यात्मिक धार्मिक संस्था की स्थापना की। १७ नवम्बर, १८७५ ई० में इस संस्था की स्थापना हुई। दो व्यक्तियों द्वारा स्थापित इस संस्था ने भारत में आकर एक आंतरराष्ट्रीय संस्था का रूप ले लिया।

ब्लावत्स्की और ऑल्काट दयानंद के साथ मिलकर भारत में धार्मिक सुधार का कार्य करते रहे, लेकिन इनका साथ उत्यंत अल्पकालीन रहा। कारण, जैसाकि ह्यूग शरमन ने कहा है, थियोसाफिकल समाज और आर्य समाज के उद्देश्यों में अंतर है। थियोसाफिकल समाज गुह्य सत्ता की खोज पर बल देता है, जबकि आर्य समाज धर्म के विकृत रूप को संशोधित कर समाज की बुराईयों को भी दूर करना चाहता है। थियोसाफिकल समाज मूलत: रहस्यवादी है, आर्य समाज

मूलत: सामाजिक धार्मिक संस्था है । इसलिये शरमन आर्य समाज के उद्देश्य को विस्तत और मूल्यवान् मानता है, लेकिन थियोसॉफिकल समाज के उद्देश्य की तरह सार्वभौम नहीं मानता । ' आर्यसमाज मात्र उत्तरी भारत का आन्दोलन साबित हुआ, और आज भी यह उत्तरी भारत तक ही सीमित है । पर थियोसिफकल समाज को व्यापकता संपूर्ण भारत के साथ-साथ विश्व के प्राय: सभी देशों में फैली है ।

थियोसाफिकल समाज को अंतर्राष्ट्रीय स्वरूप प्रदान करने का श्रेय एक ब्रिटिश महिला ऐनी बेसेंट को जाता है । श्रीमती बेसेंट ने थियोसाफिकल समाज के रहस्यवादी स्वरूप को सामाजिक-धार्मिक संस्था का रूप प्रदान किया किन्तु इस संस्था का आधार पूर्ण आध्यात्मिक है । अत: यह आध्यात्मिक-सामाजिक आंदोलन का निकाय है ।

थियोसाफिकल समाज वह निकाय है, जो "थियॉसॉफी" के प्रचार-प्रसार में अहम् भूमिका निभाता है । थियॉसॉफी एक विचार है, जो ब्लावत्स्की, ऑल्काट और बेसेंट के समन्वित विचारों का समूह है ।

थियॉसॉफी ग्रीक शब्द "थियॉस" और "सोफिया" से बना है । थियॉस का अर्थ है गॉड (ईश्वर) और सोफिया का अर्थ नॉलेज (ज्ञान) है । अत: थियॉसॉफी ईश्वर का ज्ञान है । ईश्वर-ज्ञान ही यथार्थ ज्ञान है । भारतीय दर्शन में, विशेषत: वेदान्त दर्शन में, यथार्थ ज्ञान को पराविद्या कहा गया है । जो पराविद्या में पारंगत है, वही सत्य को प्राप्त कर सकता है । सत्य की प्राप्ति ही मानवम जीवन का चरमलक्ष्य है । सत्य ही एकमात्र धर्म है । सत्य से बढ़कर कोई दूसरा धर्म नहीं है ।

सत्य क्या है ? वेदान्त दर्शन में सत्य ब्रह्म को कहा गया है । ब्रह्म ही एकमात्र सर्वोच्च एवं सत्य सत्ता है । ब्रह्म के अतिरिक्त कोई दूसरा सत्य नहीं है। एकोऽहं न द्वितीयम् । थियॉसॉफिकल समाज की दृष्टि में सत्य ईश्वर है । ब्रह्म और ईश्वर में कोई खास अंतर नहीं है । ब्रह्म निराकार-निर्गुण ईश्वर है और ईश्वर साकार-सगुण ब्रह्म । यही कारण है कि ऐनी बेसेंट ने थियॉसॉफी को ब्रह्म-विद्या कहा है, ईश्वर विद्या नहीं । वास्तव में थियॉसॉफिकल समाज जिस ईश्वर को मान्यता देता है, वह पूर्ण निराकार, निर्गुण, अमूर्त ईश्वर है । वेदान्त दर्शन के ब्रह्म की तरह, बिल्कुल ब्रह्मसमान ।

ब्रह्म अदृश्य, अलौकिक सत्ता है । वह अनिर्वचनीय, एक और सभी उपाधियों के परे है । समस्त विश्व उस एक रहस्यमय सत्ता की ही पूर्ण अभिव्यक्ति

है। ब्रह्म का व्युत्पत्त्यार्थ "बृह" धातु से निष्पन्न है। 'बृह' का अर्थ बढ़ना है। अतः ब्रह्म वह सत्ता है जो स्वयं बढ़ने की प्रवृत्ति रखता है। स्व-विस्तार ब्रह्म का आन्तरिक स्वभाव है। इस स्वभाव का प्रकाश तभी मिलता है, जब ब्रह्म में प्रच्छन्न सृजनशक्ति कार्यरत होती है। उस सृजन-शक्ति को "माया" कहा गया है। माया रहस्यमयी शक्ति है, जो हमें अविद्या में ले जाती है। जबतक हम मायावच्छिन्न हैं, ब्रह्मविद्या प्राप्त नहीं कर सकते। "थियॉसॉफी" में माया की अवधारणा नहीं है, पर ईश्वर की सृजनशक्ति को स्वीकारा गया है। माया या सृजनशक्ति कुछ भी नहीं, वरन् ब्रह्म या ईश्वर में अन्तर्निहित वह शक्ति है, जो उसे विकास के लिए प्रेरित करती है। समस्त विश्व उस एक रहस्यमय सत्ता (ईश्वर या ब्रह्म) के विकास का ही परिणाम है।

अत विश्व के समस्त पदार्थ (जड़, चेतन सभी) परस्पर एक दूसरे से आबद्ध हैं। उनमें एकत्व की भावना है। उन सभी पदार्थों में मनुष्य श्रेष्ठतम है। प्रत्येक मनुष्य उस एक मात्र सत्ता का ही विकसित रूप है। इसलिये उनमें किसी आधार पर भेद भाव नहीं किया जा सकता। मनुष्य मात्र मनुष्य है, वह धर्म, जाति, सम्प्रदाय, वर्ण, वर्ग नहीं है। उसमें एकत्व और भ्रातृत्व की भावना होनी चाहिए। थियॉसॉफी इस भावना के ज्ञान का ही नाम है। हेस्टिंग्स ने "ईश्वर, मनुष्य और विश्व से सम्बन्धित तथ्यों की संस्था को "थियॉसॉफी" कहा है। [२]

मनुष्य और विश्व का मौलिक रूप ईश्वर है। अतः समस्त मानव में ईश्वरानुभूति या सत्यानुभूति ही थियॉसॉफी है। इस अर्थ में प्रत्येक धर्म थियॉसॉफी है, क्योंकि प्रत्येक धर्म का एक सामान्य उद्देश्य सत्यानुभूति या ईश्वरानुभूति कराना है। यह अनुभूति तभी हो सकती है, जब हमें सत्यज्ञान की प्राप्ति हो।

सत्यज्ञान और साधारण ज्ञान में अंतर है। सत्यज्ञान की अभिव्यक्ति असंभव है, वह मात्र अनुभूति का विषय है। साधारण ज्ञान की अभिव्यक्ति संभव है। इसे पुस्तकों, भाषणों, व्याख्यानों आदि द्वारा प्राप्त किया जाता है। सत्यज्ञान अमूर्त है, साधारण ज्ञान मूर्त। सत्यज्ञान साधारण ज्ञान से श्रेष्ठ है। सत्यज्ञान तर्क के परे होता है, विश्लेषण और निदेशन की सीमा के बाहर। वह स्वप्रेरित ज्ञान है। साधारण ज्ञान अभ्यास से प्राप्त किया जाता है, जिसका विश्लेषण और निदेशन संभव है। यह तर्क की सीमा के बाहर नहीं होता।

सत्यज्ञान की प्राप्ति के लिये साधारण ज्ञान को जानना भी आवश्यक है। दर असल साधारण ज्ञान सत्यज्ञान को पाने की पहली सीढ़ी है। इसलिए थियॉ-

सॉफी के अन्तर्गत दोनों प्रकार के ज्ञान सन्निहित हैं। सत्यज्ञान के रूप में थियॉसॉफी वह रहस्यमय ज्ञान है जो केवल पारमार्थिक सत्ता का अनुभव कराता है। वह पारमार्थिक सत्ता ईश्वर या ब्रह्म है। ब्रह्म की अनुभूति या ईश्वरानुभूति ही सत्यज्ञान है। यह "अनबोल पूर्ण ज्ञान" है, जिसे जैन दर्शन में "केवल ज्ञान" कहा गया है। साधारण ज्ञान के रूप में थियॉसॉफी संस्कृति-सापेक्ष, काल-सापेक्ष और परिस्थिति-सापेक्ष ज्ञान है। किसी समाज की परिस्थिति, उसकी संस्कृति और सभ्यता, तथा उसकी आवश्यकता के अनुसार प्राकृतिक तथ्यों की व्याख्या करना ही थियॉसॉफी है।[३] प्राकृतिक तथ्यों की व्याख्या के द्वारा ही मनुष्य इस योग्य हो पाता है कि वह ईश्वर की अनुभूति कर सके। मनुष्य के लिये ईश्वरानुभूति अर्थात् ईश्वर का साक्षात् ज्ञान संभव है। इस विचार को जन-साधारण तक पहुँचाने के लिये ही थियॉसॉफिकल समाज का अस्तित्व है।

अतएव थियॉसॉफिकल समाज का स्वरूप आध्यात्मिक है, किन्तु उसके सामाजिक स्वरूप को अनदेखा नहीं किया जा सकता। थियॉसॉफी के आध्यात्मिक अर्थ में ही इसका सामाजिक स्वरूप निहित है। इसलिये थियॉसॉफिकल समाज के तीन प्रमुख उद्देश्यों में प्रथम है– 'जाति, लिंग, वर्ग, सम्प्रदाय आदि के भेदभाव के बिना मानवता के सार्वभौम भ्रातृत्व का केन्द्र स्थापित करना।" यह उद्देश्य स्पष्ट करता है कि थियॉसॉफिकल समाज एक ऐसे अंतराष्ट्रीय समाज की स्थापना करना चाहता है जहाँ मनुष्य-मनुष्य में घृणा, वैमनस्य आदि की भावना न हो, वरन् विश्व के सभी मनुष्यों में प्रेम और भ्रातृत्व की भावना हिलोरें ले रही हो।

आज भारत में धर्म के नाम पर आतंकवाद, सम्प्रदायवाद की खौफनाक दहशत का अनुभव हो रहा है। मानवता के स्थान पर जातिवाद, वर्गवाद का खूनी पंजा भारत को लहूलुहान कर रहा है। भारत में मनुष्य नहीं, जाति, वर्ग, सम्प्रदाय ही रह गया है। चाहे पंजाब हो या बंगाल, आसाम हो या कर्नाटक, मनुष्य नहीं मिलता।

टूटते हुए आज के भारत में "थियॉसॉफी"– जैसे विचार की सख्त आवश्यकता है, और थियॉसॉफिकल समाज को चाहिये कि वह रहस्यमय एवं अलौकिक सत्ता की खोज करने की सलाह न देकर मानवता का संदेश दे। थियॉसॉफिकल समाज की स्थापना मानवता का संदेश घर-घर पहुँचाने के लिये ही की गयी थी।

थियॉसॉफी कोई धर्म नहीं, वरन् एक सामाजिक आदर्श है। उपर्युक्त उद्देश्य का विश्लेषण इस तथ्य को प्रमाणित करता है।

यदि प्रत्येक मनुष्य में, विश्व के सभी व्यक्तियों में भ्रातृत्व की स्थापना हो जाय, तो समस्त विश्व एक परिवार होगा, एक बृहत् परिवार। हम सब उस परिवार की इकाई होंगे। एक ही बृहत् परिवार का सदस्य होने के कारण हमारा एक ही सम्प्रदाय, जाति वर्ग आदि होगा और वह सम्प्रदाय, धर्म, जाति, वर्ग आदि एक और मात्र एक है— मानवता। मानवता ही हमारा सर्वश्रेष्ठ धर्म है। मानव ही हमारी जाति और हमारा वर्ग है। मानव ही हमारा सम्प्रदाय है।

जहां मानवता है, वहाँ प्रेम है। जहाँ प्रेम का सागर है, वहां करुणा की आर्द्रता है। जहां करुणा है, वहां दया और सहानुभूति है। दया और सहानुभूति सहयोग को जन्म देती है। सहयोग सहिष्णुता को जन्म देता है। सहिष्णुता है, तो मैत्री है। मैत्री त्याग की सीख देती है। त्याग भ्रातृत्व-भाव में ही निहित होता है।

कल्पना कीजिये, वह समाज कैसा होगा जहां प्रेम ही प्रेम है, भ्रातृत्व ही, भ्रातृत्व, त्याग ही त्याग है। सहयोग, सहानुभूति, करुणा, मैत्री, दया, सहिष्णुता जैसे नैतिक एवं मानवीय गुणों से आवृत्त समाज क्या ईश्वरीय समाज का अनुभव नहीं करायेगा? यही समाज रामराज्य है। गांधी की कल्पना का समाज गांधी से कई वर्ष "थियॉसॉफी" ने हमें अनुभूत कराया था। ४

सच कहा जाय, तो गांधी पर थियॉसॉफी का अधिक प्रभाव रहा है। गांधी ने एक ऐसे समाज की कल्पना की है, जिसमें ऊँच-नीच, छूत-अछूत आदि का भेदभाव न रहे। प्रत्येक व्यक्ति सामाजिक दृष्टि से समान हो। उनके जीवन स्तर में समानता होनी चाहिये। थियॉसॉफी ने जिस समाज की कल्पना की है, वह भी भेदभावरहित, प्रत्येक व्यक्ति को समान सामाजिक जीवन-स्तर दिलानेवाला समाज है। गांधी के सामाजिक-राजनैतिक मंच पर आने के कई वर्ष पूर्व थियॉसॉफी ने ही भारत में सबसे पहले अछूतोद्धार का कार्यक्रम चलाया। १८९४ ई. कर्नल आल्काट ने हरिजन थियॉसॉफिकल स्कूलों की स्थापना कर हरिजनों को समाज में उचित स्थान दिलाने का कार्यक्रम चलाया। पश्चिमी देशों के थियॉसॉफिस्ट भारत आकर हरिजन बच्चों को शिक्षा देते थे। लेकिन थियॉसॉफिस्टों ने अछूतों को 'हरिजन' की संज्ञा नहीं दी, और न ही सवर्णों सवर्ण कहा। उनके लिए सवर्ण और हरिजन सब मनुष्य थे। मनुष्य के रूप में ही अछूतों का उद्धार किया गया। किन्तु गांधी ने अछूतों को "हरिजन" कहकर सामाजिक वर्ग-व्यवस्था को बनाये रखने में सफलता प्राप्त की, जिसका दुष्परिणाम आज हम भोग रहे हैं। भारतीय समाज न केवल हरिजन और सवर्ण में बंटा है, वरन् और भी कई अन्य जातीय दलों, प्रान्तीय समूहों में बंटता चला गया है। भाषागत समस्याएं एवं कई अन्य छोटी-

बड़ी समस्याओं से भारत जूझ रहा है। इन सारी समस्याओं का एक ही समाधान है--थियॉसॉफी।

थियॉसॉफी न जातीय दलों, न प्रान्तीय समूहों और न ही भाषागत समस्याओं को जन्म देती है, वरन् एक ही आन्तरराष्ट्रीय भाषा पर बल प्रदान करती है। समस्त विश्व के लिये, एक बृहत् परिवार के लिये एक ही भाषा होनी चाहिये, एक ऐसी भाषा, जो उस परिवार की सभी ईकाईयों की समझ में आ सके। वही उस परिवार की मातृभाषा होना चाहिये। एक वर्ग, एक जाति समुदाय, एक सम्प्रदाय, एक वर्ग, धर्म, एक ही एक। समस्त विश्व में एकत्व। यही है थियॉसॉफी। इसी की आज हमारे देश में, भारत में सख्त जरूरत है।

भारत में फैली जातीय विषमता, धार्मिक अंधविश्वास, भाषायी झगड़े, साम्प्रदायिक कलह, हमारी मानसिक शान्ति छीन चुके हैं। जीवन की सुरक्षा खतरे में है। अशान्ति और असुरक्षा की बढ़ती भावना को घटाने की एक दवा है, जो हमें खोयी एकता और भ्रातृत्व को दे सकती है, मृत अखण्डता को जिला सकती है। वह मृतसंजीवनी है थियॉसॉफी।

लेकिन हम इस मृतसंजीवनी को भुला चुके हैं, क्योंकि आज जो थियॉसॉफिस्ट हैं, उनमें श्रीमती बेसेंट और कर्नल ऑल्काट या मैडम ब्लावत्स्की की तरह कार्यक्षेत्र में आने की शक्ति कोई नहीं रखते। यह ठीक है कि मैडम ब्लावत्स्की ने थियॉसॉफी के रहस्यवादी स्वरूप पर ही बल दिया, पर आल्काट और बेसेण्ट ने उसके सामाजिक स्वरूप की प्रखरता को पहचाना और थियॉसॉफी के रहस्यवादी पोशाक को उतार फेंका। थियॉसॉफी का सही और उचित अर्थ रहस्यवाद में नहीं, सामाजिक कार्यक्षेत्र में ही निहित है। पर आज के थियॉसॉफिस्ट-इस बात को भुलाकर रहस्यवाद और (निरर्थक) तात्त्विक विषयों पर किसी कक्ष में बैठकर बहस कर लेते हैं। यह आत्मसंतोष की बात है, इससे सामाजिक समस्याओं का समाधान नहीं होता।

थियॉसॉफिस्टों को चाहिये (और सच कहिये, तो संसार का हर व्यक्ति थियॉसॉफिस्ट है) कि समाज के प्रत्येक व्यक्ति को, बालक-युवक-प्रौढ़, वृद्ध सभी को बतायें कि जाति, वर्ग वर्ण, आदि कहीं नहीं हैं। ये सब धोखा मात्र हैं। मुट्ठी भर अज्ञानियों अपनी स्वार्थसिद्धि के लिये समाज के अधिकांश लोगों को बरगला

रहे हैं। सत्य यह है कि हर व्यक्ति केवल मनुष्य है, और इसलिए मनुष्य केवल भाई-भाई हैं। कोई किसी का दुश्मन नहीं। छल-कपट से दूर प्रेम की गंगा में हर व्यक्ति को गोता लगाना चाहिये

प्रेम की पावन सरिता में, भ्रातृत्व की पवित्र नदी में जो स्नान करता है वही थियॉसॉफिस्ट है; सभी धर्मों से परे, पर सभी धर्मों का आधार, सत्य का खोजी। थियॉसॉफी को परिभाषित करते हुए थियॉसॉफिकल समाज की कार्यकारिणी समिति ने कहा था कि 'थियॉसॉफी उन सत्यों का निकाय है जो सभी धर्मों का आधार है, और उनमें किसी एक पर भी अनन्य अधिकार रखने का दावा थियॉसॉफी नहीं कर सकती।'[५]

अर्थात्, थियॉसॉफी कोई धर्म नहीं है। वह धर्मनिरपेक्ष सामाजिक आदर्श है। गांधी ने भारत को धर्मनिरपेक्ष राज्य बनाना चाहा था, और भारतीय संविधान में भी इस बात की घोषणा सगर्व की गयी है। हमारे राजनैतिक नेता धर्मनिरपेक्षता का नारा पिछले चालीस वर्षों से लगाते रहे, लेकिन आज तक भारत धर्मनिरपेक्ष नहीं हो सका। धर्मनिरपेक्षता का सही अर्थ भारतीय मानव से गायब हो गया है।

धर्मनिरपेक्षता की वकालत करते हुए भी हिन्दू धर्म को सर्वश्रेष्ठ घोषित करना या इस्लाम धर्म को ही सही मानना धर्मनिरपेक्षता के विचार का खंडन करता है। यह भूल थियॉसॉफी में भी है। ब्लावत्स्की पर बौद्धधर्म का प्रभाव पड़ा, खासकर वज्रयान तंत्र का और उन्होंने थियॉसॉफी को रहस्यवादी बना दिया। ऐनी बेसेंट पर हिन्दू धर्म का प्रभाव पड़ा, और हिन्दू धर्म की कई बातों को लेकर थियॉसॉफी को उदारवादी बना दिया। किन्तु हिन्दूधर्म का उदारवाद थियॉसॉफी के उदारवाद से श्रेष्ठ नहीं है।

यदि कोई व्यक्ति थियॉसॉफी को अपनाता है, तो वह अपने हिन्दुत्व, ईसाइयत या इस्लामियत को नहीं त्यागता। लेकिन यदि कोई मुसलमान हिन्दू धर्म को अपनावे, तो उसे इस्लामियत को त्यागना पड़ेगा। इसी तरह, ईसाई या सिक्ख धर्म में भी होता है। अतः थियॉसॉफी में धर्मनिरपेक्षता का तत्त्व निहित है। ब्लावत्स्की के शब्दों में, "धर्म का विस्तृत अर्थ विश्व के सभी जीवों और सभी पदार्थों को एक सम्पूर्णता में बांधना है, केवल सभी मनुष्यों को नहीं।"[६]

धर्म की यह परिभाषा बतलाती है कि चाहे मनुष्य हो, या पशु-पक्षी, पेड़ पौधे हो या कोई निर्जीव वस्तु, सब, के सब एक सूत्र में बंधे रहें। एक सूत्र में

बंधना ही वास्तविक धर्म, है, और यह तभी सम्भव है जब हिन्दू, ईसाई, मुसलमान, सिक्ख आदि में हम बँटे न रहें। हिन्दू धर्म को स्वीकारते हुए भी अपने को केवल मनुष्य समझें और अनुभव करें कि ईसाई धर्म या अन्य धर्मों को स्वीकारने वाले भी हमारी तरह मनुष्य हैं। इसलिये उनसे घृणा और वैमनस्य न किया जाय। यही है धर्मनिरपेक्षता, और वास्तविक धर्म। थियाँसॉफी इसी अर्थ में धर्म है और धर्मनिरपेक्ष भी है। यह धर्म केवल शांतिदूत का कार्य करता है। इस तरह की धर्मनिरपेक्षता सार्वभौम शांति और सार्वभौम एकता को स्थापित करती है। इसलिये ऐनी बेसेंट ने थियाँसॉफी को धर्मों के बीच "शान्ति-निर्माती" कहा है। "थियाँसॉफी धर्मपरिवर्तन की बात नहीं करती। यह उसकी गरिमा है। वह प्रत्येक व्यक्ति को अपने विचार, अपने विश्वास के साथ जीने की पूर्ण स्वतंत्रता देती है। उसके अनुसार सभी धर्मों में एक ही तत्त्व निकलता है, और वह तत्त्व प्रेम, करुणा और सहिष्णुता से भरा है। इसलिये थियाँसॉफी धर्मों के बीच शांति कायम करती है।" ७

आज समस्त विश्व में, विशेषकर भारत में, शान्ति की अनिवार्यता को अनदेखा नहीं किया जा सकता। अतएव आज पुनः थियाँसॉफी को एकबार उसी तरह आंतरराष्ट्रीय मंच पर खड़ा होकर अपनी अहम् भूमिका निभानी है, जिस तरह उन्नीसवीं शताब्दि के उत्तरार्द्ध में उसने निभायी थी।

भारत के लिये तो थियाँसॉफिकल समाज को अवश्य सोचना चाहिये। भारत ही वह भूमि है जहां थियाँसॉफी को फलने-फूलने का अवसर मिला। अतएव भारत की समस्याओं के समाधान के प्रति थियाँसॉफी को अधिक सजग और सक्रिय होना चाहिये।

भानु कुमारी

शोधछात्रा, समाजशास्त्र विभाग,
पटना विश्वविद्यालय, पटना।
द्वारा– श्री हराधन
ई/५२ ए,
रिजर्व बैंक स्टाफ क्वाटर्स,
राजेन्द्रनगर, पटना– ८०००१३।

टिप्पणियाँ

१. ह्यूग शरमन; माॅडर्न थियाँसाॅफी, पृ. २१

२. जेम्स हेस्टिंग्स, एनसाइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन एण्ड एथिक्स, १२, पृ. ३००।

३. ह्यूग शरमन; तत्रैव पृ. ६

४. द हैंडबुक ऑफ द इण्डियन सेक्शन, द थियाँसाॅफिकल सोसायटी, पृ. ८८, ९२।

५. शरमन, तत्रैव पृ. ७

६. द हैंडबुक, पृ. ८७

७. वही, पृ. ४

परामर्श (हिन्दी) के स्वामित्व एवं अन्य विषयों से संबंधित विवरण
फॉर्म ४ (नियम ८ देखिए)

१. प्रकाशन स्थान :	दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय पुणे — ४११००७
२. प्रकाशन अवधि :	त्रैमासिक
३. मुद्रक का नाम, पता और राष्ट्रीयता	डॉ. सुरेन्द्र शिवदास बारलिंगे १, मोरेश्वर हाउसिंग सोसायटी बाणेर रोड, पुणे – ४११००७ भारतीय
४. प्रकाशक का नाम, पता और राष्ट्रीयता	डॉ. सुरेन्द्र शिवदास बारलिंगे १, मोरेश्वर हाउसिंग सोसायटी बाणेर रोड, पुणे –४११००७ भारतीय
५. संपादक का नाम, पता और राष्ट्रीयता	डॉ. सुरेन्द्र शिवदास बारलिंगे १, मोरेश्वर हाउसिंग सोसायटी बाणेर रोड, पुणे – ४११००७ भारतीय
६. उन व्यक्तियों / संस्थाओं के नाम व पते जो समाचार पत्र के स्वामी हों ।	दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय पुणे – ४११००७ और प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र, अंमलनेर – ४२५४०१ जिला –जलगांव (महाराष्ट्र)

मैं, सुरेन्द्र शिवदास बारलिंगे, एतद् द्वारा घोषित करता हूँ कि मेरी अधिक-तम जानकारी एवं विश्वास के अनुसार उपर्युक्त विवरण सत्य है ।

— सुरेन्द्र बारलिंगे

नव्य-न्याय के पारिभाषिक पदार्थ

अभावीय प्रतियोगिता

पिछले लेख में सामान्य रूपेण विशेषाभाव को प्रतियोगिता की चर्चा की गयी। अब इस में विशेष रूपेण सामान्याभाव की प्रतियोगिता की चर्चा करेंगे। सामान्य धर्म अतिप्रसक्त होने से प्रतियोगिता तद्रूप नहीं हो सकती। अतः जिस प्रकार कुछ नैयायिक सामान्य रूपेण विशेषाभाव अर्थात् द्रव्यत्व रूप से अग्नि का अभाव स्वीकार करते हैं तथा उसकी प्रतियोगिता को विशेषधर्म (द्रव्यत्व) के रूप में स्वीकार करते हैं, उसी प्रकार कुछ नैयायिक विशेष रूपेण सामान्याभाव स्वीकार करते है; [1] जैसे, श्वेत-गोत्वेन गौ का अभाव विशेष रूपेण सामान्याभाव है, क्योंकि कृष्ण आदि गौओं के विद्यमान होने पर भी यह अभाव श्वेत गौ के न रहने पर रहता है। जिस तर्क के आधार पर सामान्य रूपेण विशेषाभाव सिद्ध होता है उसी तर्क के आधार पर विशेष रूपेण सामान्याभाव भी सिद्ध होता है। अतः कुछ नैयायिकों के मतानुसार उनमें से एक को स्वीकार करना तथा दूसरे को अस्वीकार करना युक्ति-संगत नहीं है। [2]

अब प्रश्न यह है कि सामान्य रूपेण विशेषाभाव की प्रतियोगिता प्रतियोगी में प्रकार के रूप में भासित होने वाले विशेष-धर्म के रूप में होती है, तो विशेष रूप से सामान्याभाव की प्रतियोगिता का क्या स्वरूप है? यदि इसे सामान्याभाव के समान प्रतियोगितावच्छेदक-स्वरूप मानें तो सामान्य रूपेण विशेषाभाव और विशेष रूपेण सामान्याभाव में कोई भेद नहीं होगा। अतः इसे सामान्य धर्म के रूप में ही स्वीकार करना होगा। शुद्ध सामान्याभाव स्थल में प्रतियोगिता प्रतियोगितावच्छेदक-स्वरूप होती है यह हम पूर्व लेख में देख चुके हैं। जब शुद्ध सामान्याभाव स्थल में प्रतियोगिता प्रतियोगितावच्छेदक-रूप होती है तब विशेष रूपेण सामान्याभाव स्थल में प्रतियोगिता प्रतियोगि में प्रकारीभूत धर्म-स्वरूप

होती है, प्रतियोगितावच्छेदकरूप नहीं, क्योंकि यहाँ प्रतियोगितावच्छेदक विशेष धर्म है, सामान्य धर्म नहीं।

दूसरी बात यह है कि धूम के अभाव की जो प्रतियोगिता है वही धूमत्वेन प्रमेय के अभाव की प्रतियोगिता नहीं है, चूंकि धूमत्वेन प्रमेय का अभाव विशेष रूपेण सामान्याभाव होने से इसकी प्रतियोगिता प्रतिव्यक्ति भिन्न है।[३]

जिस प्रकार सभी नैयायिक सामान्य रूप से विशेषाभाव नहीं मानते, उसी प्रकार विशेष रूप से सामान्याभाव भी नहीं मानते। उनका कथन है कि विशेष धर्म से सामान्य का अभाव असिद्ध ही है[४] परन्तु यदि उक्त अभाव असिद्ध है तो उसकी प्रतीति क्यों होती है? इस प्रश्न पर उनका उत्तर यह है कि उक्त प्रतीति में श्वेतत्व का अभाव गौ में प्रतीत होता है, न कि श्वेत गो के रूप में गौ का अभाव। विशेष रूप से सामान्याभाव स्वीकार करने पर सामान्य रूप से विशेषाभाव भी तुल्य न्यायेन स्वीकार करना पड़ेगा, और उसे स्वीकार करने पर वाच्यत्व रूप से घट नहीं है यह प्रतीति भी होनी चाहिये, क्योंकि वाच्यत्व घट का सामान्य धर्म है। तथापि उक्त प्रत्यय अनुभव के विरुद्ध है। अतः सामान्य रूपेण विशेषाभाव मानने में बाधा है। तुल्य रूप से विशेष रूपेण सामान्याभाव भी सिद्ध नहीं है। जिस प्रकार सामान्य धर्म प्रतियोगिता से अधिक-वृत्ति होने के कारण प्रतियोगिता का नियामक नहीं होता, उसी प्रकार विशेष धर्म प्रतियोगिता से न्यून-वृत्ति होने की वजह से प्रतियोगिता का नियामक नहीं होता।

परन्तु दीधितिकार रघुनाथ शिरोमणि आदि नैयायिकों का कथन है कि यदि "घटत्वेन पटो नास्ति" अर्थात् घटत्व रूप से पट के अभाव (जो कि न्याय की भाषा में व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव कहा जाता है और उसका विवेचन आगे किया जा रहा है) का लोगों को होने वाला यथार्थ अनुभव है[५] तो इस युक्ति के आधार पर विशेष रूप से सामान्य का तथा सामान्य रूप से विशेष का अभाव स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं है। "द्रव्यत्वेन घट नहीं है" इस प्रतीति में घटत्व से नियमित प्रतियोगिता ही मालूम पड़ती है यह पहले ही खण्डित किया जा चुका है।[६]

विशेष रूपेण सामान्याभाव के पश्चात् उभयाभाव की प्रतियोगिता का भी विचार करना पड़ेगा। उभयाभाव (दो वस्तुओं का एकसाथ अभाव या उनमें से किसी भी एक का अभाव) की प्रतीति भी एक विलक्षण प्रतीति है। उभयाभाव जैसे उभय वस्तुओं न रहने पर प्रतीत होता है वैसे उनमें से एक के न रहने पर भी प्रतीत होता है। जहाँ गो और महिष दोनों का अभाव रहता है वहाँ भी गौ

और महिष इन दोनों का अभाव प्रतीत है, उसी प्रकार जहाँ गो नहीं है या महिष नहीं है वहाँ भी गौ और महिष उभय का अभाव प्रतीत होता है। इसे ही संस्कृत में कहते हैं एक सत्वेऽपि द्वयं नास्ति। इसे नैयायिक व्यासज्य-वृत्ति धर्म से नियमित प्रतियोगिता-वाला अभाव कहते हैं।

इस प्रकार के अभाव की प्रतियोगिता के सम्बन्ध में नैयायिकों में मतभेद है। कुछ नैयायिक मानते हैं कि उभायाभाव की प्रतियोगिता उभय में रहती है और उभयत्व से नियमित होती है।[७] उदाहरणार्थ, गौ और अश्व उभय के अभाव की प्रतियोगिता गौ और अश्व दोनों में समान रूप से है। इसे यदि उनमें से एक में ही अर्थात् गो में ही प्रतियोगिता मानें तो गौ के अभाव और गौ तथा अश्व उभय के अभाव में कोई भेद नहीं होगा। एक में प्रतियोगिता मानने पर उभयत्व उसका नियामक नहीं माना जा सकेगा। प्रश्न यहाँ यह है कि प्रतियोगिता जो उभय में है वह एक है या एक से अधिक, याने दो अलग-अलग प्रतियोगिताऐं हैं? कुछ नैयायिकों का उत्तर है कि एक धर्म से नियमित प्रतियोगिता एक ही होती है।[८] लेकिन उभयाभाव की प्रतियोगिता व्यासज्य-वृति होती है, अर्थात् एक साथ ही दोनों पदार्थों में रहती है। यदि उनमें से एक ही पदार्थ में उक्त प्रतियोगिता रहती हो तो उभयाभाव और अन्यतराभाव में पार्थक्य करना सम्भव नहीं होगा। इसके विरुद्ध कुछ अन्य नैयायिकों का मत है कि प्रतियोगिता प्रति आश्रय में भिन्न-भिन्न है.[९] एक ही नहीं है। अर्थात्, गौ और अश्व के अभाव की प्रतियोगिता अश्व में जो है वह गौ में नहीं है, जो गौ में है वह अश्व में नहीं है।

वासुदेव सार्वभौम का मत है कि उभयाभाव और विशिष्टाभाव में कोई भेद नहीं है। उनका कथन यह है कि उभयत्व एक विशिष्ट अपरत्व है![१०] अर्थात्, 'गो और अश्व उभय' का अर्थ है 'गो के साथ अश्व'। इसलिये उभयाभाव की प्रतियोगिता गौ के साथ अश्व में है, न कि अश्व या गौ में भिन्न-भिन्न है। परन्तु ऐसा मानने पर उभयाभाव और विशिष्टाभाव में भेद करना कठिन होगा। उभया-भाव (गौ और अश्व उभय का अभाव) गौ के न रहने से होता है, अश्व के रहने से होता है, तथा दोनों के न रहने से भी होता है। विशिष्टाभाव भी विशेषण के न रहने से, विशेष्य के न रहने से तथा दोनों के न रहने से होता है। अतः इन दो प्रकार के अभावों में कोई भेद नहीं होगा। तथापि उनमें होने वाला भेद प्रतियोगिता-प्रयुक्त होता है। अतः यज्ञपति उपाध्याय का कथन है कि विशिष्टा-भाव की प्रतियोगिता विशेषण में होती है, तथा उभायाभाव की प्रतियोगिता उसी में होती है जिसके न रहने पर उभयाभाव की प्रतीति होती है।[११] घट-विशिष्ट पट के अभाव की प्रतियोगिता घट में है तथा घट-पट-उभयाभाव की

प्रतियोगिता उसमें रहती है जिस अभाव के कारण उभयाभाव प्रतीत होता है। तात्पर्य यह है कि यदि घट के न रहने से घट-पट-उभयाभाव प्रतीत होता हो तो उसकी प्रतियोगिता घट में रहेगी, यदि पट के न रहने से घट-पट उभयाभाव प्रतीत होता हो तो उसकी प्रतियोगिता पट में रहेगी, तथा उन दोनों के न रहने से उभयाभाव प्रतीत होता हो तो उसकी प्रतियोगिता दोनों में (घट में तथा पट में) रहेगी।

वासुदेव सार्वभौम उभयत्व को पर्याप्ति सम्बन्ध से रहनेवाला नहीं मानते।[२१] उनके मतानुसार उभयत्व व्यासज्यवृत्ति न होने से उसकी प्रतियोगिता भी व्यासज्यवृत्ति नहीं है। प्रतियोगिता हमेशा विशेषण में ही रहती है, क्योंकि विशेषण के न रहने से ही विशिष्टत्व नहीं होता। अकेला विशेष्य विशेषण के बिना विशिष्ट नहीं होगा। इसका तात्पर्य यह है कि विशेषण के कारण ही कोई वस्तु विशिष्ट कहलाती है। यदि विशेषण नहीं है तो कोई पदार्थ विशेष्य भी नहीं हो सकता; और विशेषण नहीं है तो विशिष्ट भी नहीं है, क्योंकि विशेषण के जरिये ही कोई विशेष्य विशिष्ट कहलाता है। अतः विशिष्टाभाव की प्रतियोगिता केवल विशेषण में ही है। अतः उनके मतानुसार उभयाभाव की प्रतियोगिता एक से अधिक स्थानों में नहीं रहती।

परन्तु दूसरे अनेक नैयायिक वासुदेव सार्वभौम से सहमत नहीं हैं। उनका विचार है कि उभयाभाव और विशिष्टाभाव ये दो भिन्न प्रकार के अभाव हैं। उभयत्व एक विशिष्ट अपरत्व नहीं है।[१३] किन्तु यह अपेक्षा-बुद्धि से जन्य विशेष विषयत्व है। विशिष्टाभाव की प्रतियोगिता के अवच्छेदक के शरीर में सामानाधिकरण्य (एक ही आश्रय में रहना) का प्रवेश होता है, जबकि उभयाभाव की प्रतियोगिता के अवच्छेदक के शरीर में सामानाधिरण्य का कोई स्थान नहीं है। तात्पर्य यह है कि जब 'घट-विशिष्ट पट का अभाव' या 'गो-विशिष्ट अश्व का अभाव' इस प्रकार का शब्दप्रयोग प्रयुक्त किया जाता है तो उसमें घट और पट के या गो और अश्व के एक-साथ रहने की संकल्पना अन्तर्निहित रहती है। परन्तु जब हम गो एवं अश्व का अभाव कहते हैं तो उसमें उनके एक-साथ रहने की संकल्पना अन्तर्निहित नहीं रहती। उभयत्व की संकल्पना अपेक्षा-बुद्धि के द्वारा जन्य विशेष विषयता की संकल्पना होने से उभयाभाव का प्रतियोगितावच्छेदक जो उभयत्व है उसमें सामानाधिकरण्य अन्तर्निहित नहीं है।

परन्तु उभयाभाव का प्रतियोगी यदभाव-प्रयुक्त उभयाभाव होता है ऐसा मानने पर उभयाभाव और अन्यतराभाव में भेद कैसे होगा? क्योंकि जहाँ उभया

भाव रहता है वहाँ अन्यतर का अभाव रहता है और जहाँ अन्यतर का अभाव रहता है वहाँ उभय का अभाव भी रहता है। इस तरह ये दोनों अभाव बराबर रहने वाले हैं। उदाहरणार्थ, जहाँ अश्व और गो में से एक का अभाव है वहाँ अश्व और गो दोनों का अभाव भी है; उसी तरह जहाँ अश्व और गो दोनों का एक-साथ अभाव है वहाँ उक्त दोनों में से एक का अभाव अवश्य ही है। इस प्रकार दोनों प्रकार के अभाव समनियत (एक दूसरे के बराबर) हैं; परन्तु क्या इन दोनों अभावों की संकल्पनाएँ एक ही स्थिति को व्यक्त करती हैं ? नहीं। ये दो अभाव समनियत होते हुए भी एक नहीं हैं। उनमें भेद है और यह प्रतियोगिता-भेद के द्वारा ही समझाया जा सकता है। उभयाभाव की प्रतियोगिता व्यासज्य-वृत्ति है जबकि अन्यतराभाव की प्रतियोगिता एक में ही रहती है। यदि उभयाभाव की प्रतियोगिता को एक में ही स्थित मानें, याने जिसके न रहने से उभयाभाव प्रतीत होता है उसमें ही अवस्थित मानें, तो उभयाभाव और अन्यतराभाव में भेद क्या होगा ? लेकिन उनके समनियत होते हुए भी प्रतियोगिता के आधार पर भेद दिखाया जा सकता है। उभयाभाव की प्रतियोगिता उभयत्व से नियमित होती है तथा अन्यतराभाव की प्रतियोगिता अन्यतरत्व से नियमित होती है। उभयत्व और अन्यतरत्व ये दो भिन्न संकल्पनाएँ हैं। उभयत्व एक विशिष्ट अपरत्व या अपेक्षा-बुद्धि-विशेष-विषयत्व है जबकि अन्यतरत्व "भेदद्वयावच्छिन्नप्रतियोगिताक भेदवत्त्व" स्वरूप है। अतः दोनों में भेद है। नैयायिकों का बहुमत उभयाभाव की प्रतियोगिता अनेक में रहनेवाली है ऐसा पक्ष स्वीकार करता है।

सामान्य रूपेण विशेषाभाव की तरह विरोधी धर्मेण वस्तु का अभाव भी एक विलक्षण प्रकार का अभाव है और उसका विवेचन न्याय ग्रन्थों में मिलता है। वह अभाव "व्यधिकरण धर्मावच्छिन्नाभाव" (अर्थात् जिसकी प्रतियोगिता व्यधिकरण-धर्म-याने प्रतियोगि में न होने वाले तत्त्व-से नियमित होती है ऐसा) है। इस व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव को सोन्दड उपाध्याय [१४] नामक चिन्तक ने प्रस्तुत किया था। यद्यपि इस अभाव का खण्डन तत्त्वचिन्तमणिकार गंगेशोपाध्याय ने किया है तथापि इस मीमांसक तत्त्वचिन्तक के द्वारा प्रस्तुत अभाव को लेकर व्याप्ति के चौदह लक्षण नव्य-न्याय में प्रस्तुत किये गये हैं। उदाहरणार्थ, गोत्व रूप से अश्व का अभाव व्यधिकरण-धर्म से नियन्त्रित प्रतियोगिता-वाला अभाव है। धर्म दो प्रकार के हो सकते हैं : समाना-धिकरण और व्यधिकरण। जो धर्म जिसके साथ किसी अधिकरण पर रहता है उस धर्म को उसका समानाधिकरण धर्म कहते हैं, तथा जो धर्म जिसके साथ किसी अधिकरण पर नहीं रहता है उस धर्म को उसका व्यधिकरण धर्म कहते हैं।

गोत्व धर्म अश्व में रहनेवाली प्रतियोगिता का समानाधिकरण नहीं है, वह व्यधिकरण धर्म है; तथा अश्वत्व उस प्रतियोगिता का समानाधिकरण धर्म है। जब 'गोत्वेन अश्व का अभाव' कहते हैं तो अश्व में रहनेवाली उस अभाव की प्रतियोगिता गोत्व धर्म से नियमित होती है, जो उक्त प्रतियोगिता का व्यधिकरण-धर्म है। इसलिये उक्त अभाव को व्यधिकरणाधर्मावच्छिन्नाभाव कहा गया है। सामान्य रूप से प्रतियोगिता में न रहनेवाले धर्म से नियमित प्रतियोगितवाले अभाव को व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव कहते हैं। परन्तु उसका यह लक्षण पर्याप्त नहीं है। क्योंकि विशिष्टसत्ता रूप से गुण के अभाव को तथा गगन रूप से घट के अभाव को भी व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव के रूप में नैयायिकों ने स्वीकार किया है। अतः 'व्यधिकरण-धर्म' का स्वरूप सुव्यवस्थित रीति से स्पष्ट होना आवश्यक है। इसलिये स्व (प्रतियोगिता) के अधिकरणता में रहनेवाले भेद की प्रतियोगिता की अवच्छेदकता का अभाव तथा स्वाश्रय में वृत्तित्व ये दोनों जिसमें न हो वह धर्म ही व्यधिकरण धर्म है और उससे नियमित प्रतियोगिता-वाला अभाव ही व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव कहलाता है।[१५]

अब प्रश्न यह है कि इस प्रकार का अभाव कैसे सम्भव है ? क्योंकि प्रतियोगिता के नियन्त्रक धर्म से युक्त के आश्रय में उसका अभाव नहीं रहता है। अर्थात्, प्रतियोगितावच्छेदकधर्मावच्छिन्न आश्रयता के साथ अभाव का विरोध होता है। जहाँ अश्व होगा वहाँ अश्व का अभाव नहीं रहता है। जब 'गोत्वेन अश्व का अभाव' कहते हैं तो वह अभाव प्रतियोगितावच्छेदक गोत्व से युक्त गौ के आश्रय में भी रहता है, जबकि गौ का अभाव वहाँ नहीं रहता है। यह अभाव प्रतियोगि के आश्रय में रहने से उसका प्रतियोगि के साथ कोई विरोध नहीं है। जिसका प्रतियोगितावच्छेदक-युक्त प्रतियोगि के साथ विरोध नहीं है ऐसा अभाव कैसे सम्भव है ? इस विषय में सोन्दड के अनुयायियों का यह मन्तव्य है कि सोन्दडोपाध्याय के मत में प्रतियोगितावच्छेदक से युक्त प्रतियोगिमत्ता के साथ अभाव का विरोध नहीं है। अन्यथा घटत्व का आश्रय घट के रहने पर घटत्वेन पटाभाव की प्रतीति ही नहीं होगी। घट के आश्रय में 'घटत्वेन पटो नास्ति' घट के रूप में पट नहीं है यह प्रतीति होती है। अतः प्रतियोगि में प्रकार स्वरूप धर्म-विशिष्ट प्रतियोगितावच्छेदक से अवच्छिन्न जो होता है उसके साथ ही अभाव का विरोध होता है। व्यधिकरण धर्म को प्रतियोगिता का नियामक मानने पर केवल प्रतियोगितावच्छेदक से अवच्छिन्न होने वाले के साथ अभाव का विरोध नहीं है।

व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव स्वीकार करने में विवाद है। और गंगेश ने उसका खण्डन भी किया है।[१६] परन्तु समनियताभाव को एक ही मानने पर सभी

व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव गगनाभावरूप होते हैं, क्योंकि जहाँ-जहाँ व्यधिकरण-धर्मावच्छिन्नाभाव रहता है वहाँ-वहाँ गगनाभाव भी रहता है, क्योंकि ये दोनों ही प्रकार के अभाव सर्वत्र रहते हैं। ऐसी परिस्थिति में गगनाभाव माननेवाले चिन्तामणिकार भी उसे अस्वीकार नहीं कर सकते। [१७]

अब प्रश्न है कि व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव की प्रतियोगिता का स्वरूप क्या है ? व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव की प्रतियोगिता प्रतियोगितावच्छेदक-स्वरूप नहीं है; वह अतिरिक्त ही है। उसे प्रतियोगितावच्छेदक-स्वरूप मानने पर प्रतियोगितावच्छेदक से युक्त प्रतियोगि के साथ अभाव का विरोध होने से प्रतियोगितावच्छेदक से युक्त प्रतियोगि के आश्रय में उक्त अभाव नहीं रहेगा। इसलिए प्रतियोगिता को अतिरिक्त मानना ही उचित है। व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव के सम्बन्ध में विवाद भी उसकी अतिरिक्त प्रतियोगिता को लेकर ही है। व्यधिकरण-धर्मावच्छिन्नाभाव और गगनाभाव एक होने पर भी उनकी प्रतियोगिता एक नहीं है। व्यधिकरण धर्म से नियन्त्रित प्रतियोगिता स्वतन्त्र पदार्थ है। [१८]

दूसरा प्रश्न यह है कि व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव की प्रतियोगिता किसी संबंध से नियन्त्रित होती है या नहीं ? यदि होती है तो उसके लिए क्या प्रमाण है ? जैसे 'संयोगेन घटो नास्ति' इस प्रतीति के आधार पर घटाभाव की प्रतियोगिता संयोग संबंध से नियमित होती है, उसी तरह 'स्वरूप सम्बन्धेन घटत्वेन वाच्यत्वं नास्ति' इस प्रतिति के आधार पर घटत्व से नियन्त्रित वाच्यता के अभाव की प्रतियोगिता भी स्वरूप सम्बन्ध से नियमित होती है। [१९] इस प्रकार अनुभव ही प्रतियोगिता के नियामक संबंध के विषय में प्रमाण है। परन्तु यह कथन समीचिन नहीं है। केवल अनुभव ही प्रतियोगिता के नियामक संबंध के विषय में प्रमाण नहीं है। प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकाभाव के कारण भी प्रतियोगिता को विशेष संबंध से नियमित मानना पडता है। बाध-ज्ञान में रहनेवाली प्रतिबन्धकता किसी न किसी संबंध–विशेष से नियमित होती है। अन्यथा संयोगेन घटाभाव-बुद्धि संयोगेन, कालिकेन, समवायेन आदि सभी प्रकार के संबंधों से घटवत्ता-ज्ञान का प्रतिबन्ध करेगी। लेकिन इस प्रकार का प्रतिबन्ध वह नहीं करती। अतः जिस सम्बन्ध से जहाँ जो प्रतीत होता है उसी सम्बन्ध से उसके न रहने पर उसका अभाव प्रतीत होता है। इस तरह समानाधिकरण धर्म से नियमित प्रतियोगिता संबंध से भी नियमित होती है। वही बात व्यधिकरण–धर्म से नियमित प्रतियोगिता के सम्बन्ध में भी चरितार्थ होती है। [२०] यदि व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिता को सम्बन्ध से नियमित न मानें तो 'भूतल संयोग सम्बन्ध से पटत्वावच्छिन्न घटयुक्त है' ऐसा ज्ञान रहने पर भूतल में (पर) संयोग सम्बन्ध से पटत्वयुक्त-घट

नहीं है यह प्रतीति होनी चाहिए। लेकिन इस प्रकार की प्रतीति नहीं होती। इसलिए व्यधिकरण–धर्म से नियमित प्रतियोगिता को सम्बन्ध–विशेष से नियमित मानना चाहिए। यह कोई अपसिद्धान्त नहीं है। क्योंकि ग्रंथकार ने ही स्वयं कहा है कि यदि व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव प्रामाणिक है तो उसकी प्रतियोगिता को सभी सम्बन्धों से नियमित माननी चाहिए। लेकिन व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव की प्रामाणिकता यही एक प्रश्नचिन्ह है।

व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव की प्रतियोगिता अतिरिक्त होने पर भी वह सभी प्रतियोगियों में एक नहीं है। वह स्वाश्रय प्रतियोगि के भेद से भिन्न-भिन्न प्रकार की है।

व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव न मानने वालों का तर्क यह है कि प्रतियोगिता–वच्छेदक से युक्त प्रतियोगिता का ज्ञान अभाव मात्र के प्रत्यक्ष के लिए कारण होता है। 'यहां गौ नहीं है' इस प्रकार का प्रत्यक्ष उसे ही होता है जिसे गोत्व-विशिष्ट गौ का पूर्वज्ञान है। जिसे गोत्व-विशिष्ट गौ का ज्ञान ही नहीं है उसे उसके अभाव की प्रतीति नहीं होती है। अभाव-बुद्धि के लिये केवल प्रतियोगि के ज्ञान को कारण नहीं कह सकते। नहीं तो 'गो तथा गोत्व' इस प्रकार के निर्विकल्पक ज्ञान के बाद भी 'यहां गो नहीं है' यह प्रतीति होनी चाहिये। लेकिन गौ के निर्विकल्पक ज्ञान के बाद यहाँ गौ नहीं ऐसी प्रतीति नहीं होती है। अतः अभाव-बुद्धि के लिये प्रतियोगितावच्छेदक गोत्व से युक्त गौ के ज्ञान को कारण मानना आवश्यक है।[२१] गोत्व-युक्त अश्व की प्रतीति न होने से गोत्वरूप से अश्व का व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव प्रतीत नहीं होता है। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि यदि अभाव के ज्ञान के लिये प्रतियोगितावच्छेदक विशिष्ट प्रतियोगि का ज्ञान कारण है तो गौ में शशशृंग के अभाव की प्रतीति कैसे होती है? क्योंकि शशीयत्व से युक्त शृंग अप्रसिद्ध है। अतः उसका ज्ञान अप्रामाणिक है। इसके विषय में नैयायिकों का कथन है कि 'शशशृंग नहीं है' इस प्रतीति में शशशृंग का अभाव प्रतीत नहीं होता है, अपितु शृंग में शशीयत्व का अभाव प्रतीत होता है।[२२]

दूसरी बात यह है कि यदि यह मान भी लिया जाय कि सर्वत्र अभावबुद्धि में प्रतियोगितावच्छेदक से युक्त प्रतियोगि का ज्ञान कारण नहीं होता है तब भी विशिष्ट वैशिष्ट्य का अवगाहन कराने वाले ज्ञान के लिये विशेषणतावच्छेदक विशिष्ट ज्ञान कारण होने से व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव खण्डित हो जाता है। जैसे, 'गोत्वविशिष्ट अश्ववद्भूतल' इस प्रकार के विशिष्ट के वैशिष्ट्य को प्रकट

करने वाले बोध के लिये 'अश्व गोत्वयुक्त है' इस प्रकार का ज्ञान कारण होता है, उसी प्रकार 'गोत्वेन अश्व नहीं है' इस प्रकार के बोध के लिए भी उक्त ज्ञान कारण है, क्योंकि उक्त अभाव विषयक बोध भी विशिष्ट के वैशिष्टच को प्रदर्शित करने वाला बोध है। 'गोत्व रूप से अश्व नहीं है' यह बोध विशिष्ट के वैशिष्टच का द्योतक बोध नहीं है ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि 'घटो नास्ति' इस अभाव के प्रत्यय में घटत्व से युक्त घट का प्रतियोगि के रूप में ग्रहण होने पर उसमें विशेषण के रूप में प्रतीत होने वाला घटत्व प्रतियोगिता के अवच्छेदक के रूप में प्रतीत होता है, स्वतन्त्र रूप से घटत्व अवच्छेदक के रूप में प्रतीत नहीं होता है। अर्थात्, प्रतियोगि घट के धर्म के रूप में ही उसकी प्रतीति होती है। उसी प्रकार यदि व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव के विषय में भी यदि उक्त प्रतीति में व्यधिकरण धर्म से युक्त प्रतियोगि नहीं प्रतीत होता हो तो उसमें उक्त अभाव की प्रतियोगितावच्छेदकता भी नहीं मालूम पड़ती है। यदि व्यधिकरणधर्म से युक्त प्रतयोगि प्रतीत होता है तो उसे भ्रम ही मानना पड़ेगा और भ्रम से किसी अर्थ की सिद्धि नहीं होती है, प्रमा से ही अर्थ की सिद्ध होती है। अतः उक्त प्रकार के अभाव में व्यधिकरण धर्म से युक्त प्रतियोगि का भासमान होना भ्रम है और इसलिये उक्त प्रकार के अभाव की प्रामाणिकता सिद्ध नहीं होती है।[२३]

परंतु यदि लोगों का 'गोत्वेन अश्व यहाँ नहीं है' इस प्रकार का अनुभव प्रामाणिक है तो उक्त अभाव का निराकरण ब्रह्मदेव भी नहीं कर सकते। तात्पर्य यह है कि उक्त प्रतीति यदि प्रामाणिक है तो इसके लिये व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव मानना आवश्यक है।[२४]

यहाँ और एक बात विचारणीय है कि पूर्व में यह जो कहा गया कि अभाव-बुद्धि विशिष्ट के वैशिष्टच का अवगाहन कराने वाली होने से उसके लिये विशेषणतावच्छेदक विशिष्ट ज्ञान कारण है, परन्तु क्या अभाव-बुद्धि विशेष्य विशेषण इस न्याय से सम्भव नहीं है? नैयायिक कहते हैं कि यह सम्भव नहीं है कारण विशेष्य-विशेषण न्याय से अभाव का प्रत्यक्ष होने का कोई अनुभव नहीं है।[२५] उसका कारण यह है कि जहाँ प्रतियोगि का ज्ञान नहीं है, या इस प्रकार का ज्ञान रहने पर भी जहाँ अभाव मात्र में घटीयत्व का बाध है उस समय इन्द्रिय-सम्बद्ध-विशेषणता रूप सन्निकर्ष से केवल 'नास्ति' इस प्रकार का अभाव का प्रत्यक्ष हो जायगा। इस आपत्ति का निराकरण करने के लिये विशिष्ट के वैशिष्टय का अवगाहन कराने वाले अभाव के लौकिक प्रत्यक्ष के लिये इन्द्रिय सम्बद्ध विशेषणता को कारण मानना पड़ेगा। इस प्रकार की ज्ञान-सामग्री न होने से 'विशेष्ये विशेषणं, इस न्याय से अभाव का प्रत्यक्ष कहीं भी नहीं होता है।[२६] अतः अभाव का

प्रत्यक्ष विशिष्ट के वैशिष्ट्य का अवगाहन कराने वाला होने से इसके लिये प्रतियोगितावच्छेदक विशिष्ट प्रतियोगि का ज्ञान कारण मानना अनिवार्य है। इसके फलस्वरूप व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव स्थल में प्रतियोगितावच्छेदक विशिष्ट प्रतियोगि न होने से उक्त प्रकार की अभाव की प्रतीति को अवसर ही नहीं है।

प्रतियोगिता के सम्बन्ध में शेष चर्चा अगले लेख में पूरी कर उसके बाद अवच्छेदकता की चर्चा का आरंभ करेंगे।

दर्शन विभाग बलिराम शुक्ल
पुणे विश्वविद्यालय
पुणे –४११००७

टिप्पणियाँ

१. सामान्य रूपेण विशेषस्य विशेषरूपेण सामान्याभावश्च संगृहीतः। जागदीशी, व्यधिकरणपरिच्छेदे.

२. तुल्ययुक्त्यां तदवृत्तिधर्मेण तस्यैव विशेषरूपेण सामान्यस्य सामान्यरूपेण च विशेषस्याभावे बाधकाभावादिति ध्येयम्। तत्रैव

३. स्वरूपसम्बन्धात्मिकायाः प्रतियोगितायाः सामान्याभावस्थले प्रतियोगिभेदेनैव भिन्नत्वादिति साम्प्रदायिकाः। तत्रैव

४. तथा च विशेषधर्मेण सामान्याभावोऽप्यासिद्ध एवेति तद्व्यक्तित्वेन घटो नास्तीति प्रतीतेर्घटे तद्व्यक्तित्वभावामात्रावगाहित्वादेव न व्यभिचारोऽन्यथा सामान्यरूपेण विशेषाभावस्यापि स्वीकारापत्तेः वाच्यत्वेन घटो नास्ति इत्यपि प्रत्ययप्रसङ्गादिति भावः। तत्रैव

५. यदि पुनरानुभविको लोकानां स्वरसवाही घटत्वेन पटो नास्तीत्यादि अनुभवः ...। दीधिति, व्यधिकरणपरिच्छेदे

६. यत्तु द्रव्यत्वेन घटोनास्तीति प्रतीतेर्घटत्वावच्छिन्नाभावे नैवोपपत्तौ सामान्यरूपेण च विशेषाभावादौ मानाभाव इति तत् प्रागेव दूषितम्। जागदीशी, व्यधिकरणे.

७. उभयाभाव प्रतियोगिता व्यासज्यवृत्तित्वाद्वैत्यापि द्रष्टव्यम्। जागदीशी, गंगाव्याख्यायाम्, सिद्धान्तलक्षणे.

८. प्रतियोगिभेदेऽपि प्रतियोगितावच्छेदकाभेदेन प्रतियोगितायाः एकत्वे वह्नित्वेन घटाभावीया प्रतियोगिता सैव वह्निघटोभयाभावस्यादिति । जागदीशी, गंगाव्याख्यायाम्, व्यधिकरणपरिच्छेदे.

९. तयोभयाभावप्रतियोगित्वं प्रतियोगिभेदेन भिन्नमितिमते... । तत्रैव

१०. (क) एक विशिष्टापरत्वानतिरिक्तस्य उभयत्वस्य सार्वभौममते पर्याप्ति-भिन्नसम्बन्धेनैव साध्यतावच्छेदकत्वात् । जागदीशी, व्यधिकरणपरिच्छेदे

१०. (ख) अन्यथा सार्वभौममते उभयत्वस्यैकविशिष्टापरत्वरूपत्वे... । जागदीशी, सिद्धान्तलक्षणे,

११, विशिष्टाभावप्रतियोगित्वं विशेषणे, एवमुभयाभावप्रतियोगित्वं यदभाव-प्रयुक्तोभयाभाव. तत्र स्वीक्रियते । जागदीशी, गंगाव्याख्यायाम्, व्यधि-करण परिच्छेदे.

उपाध्यायस्तु यदभावप्रयुक्तः उभायाभावस्तत्रैव प्रतियोगिता स्वीकुर्वन्ति । तत्रैव

१२. एकविशिष्टापरत्वातिरिक्तस्य उभयत्वस्य सार्वभौममते पर्याप्तिभिन्न सम्बन्धेनैव साध्यतावच्छेदकत्वात् । जागदीशी, व्यधिकरणरिच्छेदे

१३. नचोभयत्वमेकमविशिष्टापरत्व विशिष्टं च केवलादन्यदिति । तत्रैव, गंगाव्याख्यायाम्

१४. सोन्दडमते प्रतियोगितावच्छेदकधर्मावच्छिन्नवत्तामात्रस्याभावाविरोधित्वा-त्, अन्यथा घटवति घटत्वेन पटाभावस्यापलापापत्तेः, किन्तु प्रतीतिबला-द्व्यधिकरणधर्मस्य प्रतियोगितावच्छेदकसिद्धौ सत्यां प्रतियोग्यंशे प्रकारी-भूतधर्मविशिष्टप्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नेनैव सार्द्धमनापत्याऽभावस्य विरोधित्वम् । जागदीशी, व्यधिकरणपरिच्छेदे.

१५ अथ व्यधिकरणधर्मत्वं स्वाधिकरणवृत्तिभेदप्रतियोगितानवच्छेदकत्व-स्वाधिकरणवृत्तित्वोभयाभावद्धर्म एव व्यधिकरणधर्मः तदवच्छिन्नाभावो व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव । तत्रैव

१६. प्रतियोग्यवृत्तिश्च धर्मो न प्रतियोगितावच्छेदकः । तत्त्वचिन्तामणि अनुमानप्रकरणे.

१७. समनियताभावानामैक्येन निखिल व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभावस्यैवगगना-भावतया गगनाभावस्वीकर्तॄणां चिन्तामणिकाराणां तदनङ्गीकारानुपपत्तेः । जागदीशी, व्यधिकरणपरिच्छेदे.

१८ व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभावस्थले च प्रतियोगितावच्छेदकस्वरूपं न प्रतियो-गित्वं किन्तु अतिरिक्तम् । अन्यथा प्रतियोगितावच्छेदकविशिष्टप्रतियो-

गिनैव साद्धंमभावस्यविरोधित्वात्तदवच्छिन्नवतिताद‍ृशा भावस्यासत्व प्रसङ्गात् । तत्रैव

१९. स्वरूपसम्बन्धेन घटत्वादिना वाच्यत्वं नास्तीत्यादि प्रतीत्यनुरोधेन ताद‍ृशाभावस्यापि प्रतियोगितावच्छेदकसम्बन्धस्वीकारात् । तत्रैव

२०. ननु अनुभवबलान्न समानाधिकरणधर्मावच्छिन्नाभावस्य प्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्धादरः किन्तु बाधबुद्धि प्रतिबन्धकताया सम्बन्धविशेष-नियन्त्रितत्वानुरोधेनैव । अन्यथा एकैकविधाभावज्ञानस्य संयोग समवायादि निखिल संसर्गावगाहि ज्ञानप्रतिबध्यत्वप्रसङ्गादित्याशङ्कवे तर्हि तुल्यं प्रकृतेऽपि... । जागदीशी, गंगाव्याख्यायाम्, व्यधिकरणपरिच्छेदे

२१. तद्विशिष्टिज्ञानस्याभावधीहेतुत्वात्, अन्यथा निर्विकल्पादपिघटो नास्तीति प्रतीत्यापत्तेः । तत्त्वचिन्तामणि अनुमानखण्डे.

२२. तत्रैव

२३ विशेषणतावच्छेदक विशिष्टज्ञानस्य विशिष्टवैशिष्ट्यम् प्रत्ययहेतुत्वात् । अभाव प्रत्ययो हि घटत्वादि विशिष्टस्य घटादेः प्रतियोगित्वमवगाहमानो विशेषणस्यापि घटत्वादेस्तदवच्छेदकत्वमवगाहते, न स्वातन्त्र्येण घटो नास्तीत्येव प्रतीतेः । तदिह्वाभावप्रत्ययो यदि व्यधिकरणेन धर्मेण विशिष्ट-प्रतियोगित्वं नावगाह्यते, नावगाह्यत एव तदा तस्याऽपि प्रतियोगितावच्छेदकत्वम्; अथावगाहते तर्हि ततोऽर्थसिद्धिरिति भावः । दीधिति, व्यधिकरणप्रकरणे.

२४. यदि पुनरानुभविको लोकानां स्वरसवादी घटत्वेन पटो नास्तीत्यादिरनुभवः तदा ताद‍ृशाऽभाव निवारणं गीर्वाणगुरुणामप्यशक्यमिति मन्तव्यम् । तत्रैव

२५. विशेष्ये विशेषणमिति न्यायेन च नाभावः प्रत्यक्षः अननुभवात् । जागदीशी, गंगाव्याख्यायाम्, व्यधिकरणप्रकरणे.

२६. प्रतियोगिज्ञानाभावदशायां तत्सत्वेऽभावत्वावच्छेदेन घटीयत्वादि बाधकाले वा इन्द्रियसम्बद्ध विशेषणतारूप सामग्रीबलात् नेत्याकारक प्रतियोग्य-मिश्रिताभाव प्रत्यक्ष वारणाय इन्द्रियसम्बद्ध विशेषणताया एव घटत्वादि विशिष्ट वैशिष्ट्यावगाह्यभाव लौकिकप्रत्यक्षत्वमेव कार्यतावच्छेदकं वाच्यम् । एवं विशेष्ये विशेषणमिति न्यायेन नाभावधीः सामग्र्यभावात् । जागदीशी गंगाव्याख्यायाम्, व्यधिकरणप्रकरणे.

ग्रंथ-समीक्षा

जैन, (डॉ.) सागरमल; जैन भाषा-दर्शन; भोगीलाल लेहरचन्द भारतीय संस्कृति संस्थान, दिल्ली, १९८६; पृ. १०९ (सजिल्द) मूल्य : रुपये ५०-००

भाषा मानवीय संवेदनाओं को दूसरे तक पहुँचाने का सबसे सरल और सुगम उपाय है। वेदों से प्रारम्भ कर आधुनिक युग तक भारतीय चिन्तक भाषा के विभिन्न पहलुओं को उद्घाटित करने में लगे हुए हैं। इस दृष्टि से वाग्देवी के उपासकों के लिये डॉ. सागरमल जी का यह लघुग्रन्थ उपासना-सामग्री की भेंट है।

कई भारतीय दर्शनों में पर्याप्त रूप से भाषा-चिन्तन हुआ है; खास करके न्याय, मीमांसा, बौद्ध और व्याकरण दर्शनों में भाषा के कई पहलुओं पर काफी गहरा विचार किया गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में लेखक ने जैन चिन्तकों के भाषा-चिन्तन को विशेष रूप से प्रस्तुत किया है, तथा पूर्वपक्ष के रूप में बौद्ध, न्याय तथा मीमांसादि विचारकों के सिद्धान्तों को यथाज्ञान प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

लेखक ने पुस्तक को सात अध्यायों में बांटा है। प्रथम अध्याय में भाषा और भाषा-दर्शन का सामान्य परिचय देते हुए भारतीय चिन्तन में भाषा-दर्शन का विकास और जैन भाषा-दर्शन की समस्याओं पर प्रकाश डाला है। दूसरे अध्याय में भाषा और लिपी के सम्बन्ध में पर्याप्त खोजपूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया है। इसमें भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जैन दृष्टिकोण के साथ लिपी के सम्बन्धी प्रस्तुत किया गया खोजपूर्ण विवरण लिपी-शास्त्र के अध्येताओं के लिए विशेष उपयोगी है। तीसरे अध्याय में शब्द और उसके अर्थ-बोध की प्रक्रिया का सम्यक् दर्शन उपलब्ध होता है। इसी अध्याय में विद्वान् लेखक ने अन्य दर्शनों के शब्दार्थ विषयक विचारों का मन्थन करके उनकी समालोचनाओं के साथ जैन दर्शन के शब्दार्थ विषयक विचार को प्रस्तुत किया है। चतुर्थ अध्याय में वाक्य-

सम्बन्धी विभिन्न सिद्धांतों का ऊहापोह किया गया है। वाक्यार्थ-बोध सम्बन्धी सिद्धांतों का भी इस अध्याय में विवेचन किया गया है। प्रमुख रूप से मीमांसकों के सुप्रसिद्ध अभिहितान्वयवाद और अन्विताभिधानवाद की समीक्षा की गई है। पाँचवें अध्याय में नय और निक्षेप की चर्चा की गई है तथा वाच्यार्थ और नय के सम्बन्ध के बारे में प्रकाश डाला गया है। छठे अध्याय में भाषा की वाच्यता-सामर्थ्य के बारे में चिन्तन प्रस्तुत किया गया है। अन्तिम अध्याय में भाषा और सत्य के प्रश्न पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। इसमें सत्य तथा सत्य-भाषा और असत्य भाषा के अनेक पहलुओं को उद्घाटित करने का प्रयास किया गया है।

यह ग्रन्थ जिस रूप में हमारे सामने प्रस्तुत हुआ है उसको देखते हुए इसमें कुछ त्रुटियाँ भी दृष्टिगोचर होती हैं। इतर दर्शनों के जो सिद्धान्त इसमें प्रस्तुत किये गये हैं उसके विषय में पर्याप्त सावधानी नहीं रखी गई है। उदाहरण के, लिए, "वे कहते हैं कि यदि शब्द भौतिक है तो उसमें स्पर्श गुण होना चाहिए" (पृ. ३४) यह कथन नैयायिक का नहीं हो सकता, क्योंकि नैयायिक मत में सारे स्पर्शवान् पदार्थ भौतिक नहीं हैं। उदाहरणार्थ, आकाश भौतिक होते हुए भी स्पर्शवान् नहीं है। उसी प्रकार उसी पृष्ठ पर कहा गया है कि "यदि शब्द भौतिक होते तो वे सावयव होते" (तत्रैव)। यह भी नैयायिक मत में ठीक नहीं है। नैयायिक सभी भौतिक पदार्थों को अवयवी नहीं मानते, जैसे, आकाश अवयवी नहीं है। इस तरह उस पृष्ठ पर दी हुई जैनियों के द्वारा प्रस्तुत न्याय मत की आलोचना निरर्थक है। यह सही है कि विभिन्न दर्शनों में एक दूसरे के सिद्धान्तों को भ्रष्ट रूप से प्रस्तुत कर उनकी आलोचना की गई है। परन्तु प्रामाणिक विचारक के लिए यह आवश्यक है कि वह उपलब्ध ग्रन्थों से उक्त सिद्धान्तों का मिलान करके उन्हें प्रस्तुत करे और इस प्रकार का मिलान न देख पाने पर उसकी उपेक्षा करे। उसी प्रकार मीमांसकों के मत को भी प्रस्तुत करने में सावधानी नहीं रखी गई है (पृ. १४) मीमांसक शब्द को वर्णात्मक तथा ध्वन्यात्मक भेद से दो प्रकार का मानते हैं तथा वर्णात्मक शब्द को ही नित्य मानते हैं, तथा ध्वन्यात्मक अर्थात् जो लौकिक भाषा-रूप है उसे अनित्य ही मानते हैं। वर्णात्मक शब्द अनादि है, पर भाषा (ध्वनि) अनादि नहीं है। पृष्ठ ३८ पर वाच्यार्थ निर्धारण के तीन सिद्धान्त– सहजयोग्यता, संकेत और समय (परम्परा या प्रयोग)– इस विषय के विवरण में हिन्दी में प्रस्तुत किये हैं। लेकिन उनके समर्थन में जो टिप्पणी दी गई है– "स्वाभाविकसामर्थ्यसमयाभ्यामर्थबोधनिबन्धनं शब्द इति" (पृ. ३८) उसमें वाच्यार्थ के दो ही निर्धारक प्रस्तुत किये गए हैं। उक्त विवेचन और उसके पुष्टयर्थ दी गई टिप्पणी में विसंगति स्पष्ट है।

इस प्रकार की कुछ त्रुटियों के बावजूद लेखक का प्रयास स्तुत्य है। इस लघु ग्रन्थ में जैन शब्द-दर्शन के अध्येताओं के लिए पर्याप्त सामग्री के संकेत उपलब्ध हैं। इस ग्रन्थ के आधार पर इस विषय का गंभीर विवेचन करने के तथा उसमें अनुसन्धान करने के रास्ते खुल गए हैं, और यही पुस्तक का अनुकूल पक्ष है।

लेखक की भाषा भी परिमार्जित तथा परिष्कृत है, और शैली रोचक है। ग्रन्थ का मुद्रण दोष-रहित है। इसमें जोड़ी गई भारतीय दर्शनों के सुविख्यात मर्मज्ञ विद्वान् स्वामी योगीन्द्रानन्द जी की भूमिका (प्राची-प्रभा) ने इस ग्रन्थ की महत्ता को द्विगुणित कर दिया है। स्वामी जी ने अपनी मनोरम शैली में शब्द-स्वरूप के सम्बन्धी भारतीय चिन्तकों की दृष्टियों का सुन्दर संक्षिप्त विवेचन करके शब्द का जो तात्त्विक विश्लेषण प्रस्तुत किया है उससे इस ग्रन्थ की उपादेयता और भी बढ़ गई है।

दर्शन विभाग
पुणे विश्वविद्यालय
पुणे– ४११००७

– बलिराम शुक्ल

आजीवन सदस्य (व्यक्ति)

१६५. डॉ. जगत् नारायण मिश्र
मानविकी एवं सामाजिक विज्ञान
विभाग
भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान
कानपुर– २०८०१६. (उ. प्र.)

१६२. डॉ. लेखरामशास्त्री शर्मा
पोस्ट देयठी– १७३२११
वाया– सोलन (हि. प्र.)

१६३. डॉ. रेखा शर्मा
१६/१२, हरित मार्ग
लुहार गली
आगरा– २८२००३ (उ. प्र.)

१६४ डॉ. भूपेन्द्र नाथ
२०, अनुग्रहपुरी
गया– ८२३००१ (बिहार)

१६५. डॉ. हिरेन्द्र प्रसाद साहू
गिरधारी साहू लेन
सुजागंज
भागलपुर– ८१२००२ (बिहार)

१६६. डॉ. राधेश्यामधर द्विवेदी
क्र. १, अध्यापक निवास
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी– २२१००२ (उ. प्र.)

रवीन्द्रनाथ टैगोर के दर्शन में जीवन-देवता की अवधारणा

समकालीन भारतीय चिंतकों में रवीन्द्रनाथ टैगोर का एक विशिष्ट स्थान है। वे केवल कवि ही नहीं थे अपितु एक सुलझे हुए दार्शनिक तथा शिक्षाशास्त्री भी थे। उन पर वेद, उपनिषद्, वेदान्त, बौद्ध दर्शन आदि का बहुत अधिक प्रभाव था; साथ ही दादू, कबीर एवं रविदास की रहस्यात्मक कविताओं, वैष्णव संप्रदाय, ब्रह्म समाज एवं बंगाल के बाऊल संप्रदाय का प्रभाव भी स्पष्ट परिलक्षित होता है। इन्होंने अपने दर्शन में शंकर व रामानुज के बीच समन्वय करने की चेष्टा की है। यद्यपि रवीन्द्रनाथ के चिंतन पर प्राचीन एवं समकालीन दर्शन का प्रभाव रहा परन्तु उनका दर्शन केवल मात्र इन विचारधाराओं की पुनरावृत्ति नहीं है। उन्होंने अपने चिंतन में काव्य, धर्म एवं दर्शन का एक अनूठा समन्वय प्रस्तुत किया है जो भारतीय दर्शन की एक विशेषता है।

टैगोर ने अपने दर्शन में जीव, जगत् एवं ईश्वर के स्वरूप को समझाने का प्रयास किया है। वे इस जगत् को सृजनात्मक शक्ति का अविच्छिन्न प्रवाह मानते हैं। जगत् उनके लिए माया या भ्रम नहीं है। जीव जब एक सप्राण कोष का रूप ग्रहण करता है, तब वह अपने आपको चारों तरफ से अविजेय प्रतीत होने वाले जड़ प्रकृति से घिरा हुआ पाता है। परन्तु वह अपनी आत्मशक्ति के द्वारा इस पर विजय प्राप्त करता है; सृजनात्मक शक्ति का कोई अन्त नहीं है। और वह अमोघ गति से आगे बढ़ कर जड़ तत्त्व पर विजय प्राप्त करती है। इस गति में एक लय है, छंद है, और सौन्दर्य को अभिव्यक्त करने की क्षमता है। विकास की गति उद्देश्यहीन नहीं है। यह सत्य है कि कुछ हद तक आज भी मानव पशु के समान भौतिक जगत् पर निर्भर है। टैगोर अपनी पुस्तक पर्सनॅलिटी में लिखते हैं, "हम सबको इस विशाल जगत् का सामना करना पड़ता है एवं इस विश्व से हमारा संबंध बहुमुखी है। उसमें से एक अनिवार्यता

जीवित रहने की है, भोजन-सामग्री एकत्रित करने की है, अपने आपको आवृत्त करने की है। इस प्रकृति से ही हम इन सामग्रियों को एकत्रित करते हैं। हम लोग सदैव ऐसी वस्तुओं का निर्माण करते हैं जो हमारी आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करती हैं। इस संतुष्टि के लिए हम लोग सदैव इस विश्व से किसी न किसी रूप से जुड़े हुए हैं" [१]। मानव, पशु से श्रेष्ठ है। मानव इस भौतिक जगत् पर केवल मात्र अपनी प्राण की रक्षा करने के लिए आश्रित नहीं है क्योंकि केवल मनुष्य ही अपने सृजनात्मक शक्ति के रहस्य को जानता है और इस सृजनात्मक शक्ति से प्रेरित होकर वह अपनी उच्चतर उपलब्धियों को प्राप्त करने के लिए अपने प्राण, मन, बुद्धि का भी त्याग करने में झिझकता नहीं है, वह सदैव हर जोखिम को झेलने के लिए तत्पर रहता है और कदाचित् यही कारण है कि समस्त प्राणियों में केवल मात्र मानव ही जल, स्थल और नभ पर विजय प्राप्त करने में सफल हुआ है। मनुष्य ही समुद्र की गहराईयों में जाकर मोती प्राप्त करता है और पर्वत की चोटी में पहुंच कर अपनी विजय पताका फहराता है। टैगोर के अनुसार जीवन के सामान्य उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए बुद्धि, एवं शारीरिक शक्ति का विकास मानव एवं पशु दोनों के लिए आवश्यक है किन्तु मनुष्य की अद्वितीयता उस चैतन्य के विकास में सन्निहित है जिसके माध्यम से वह अपनी अमरता, पूर्णता एवं शाश्वत स्वरूप का बोध करता है। यह जगत् एक समग्रता है और इसकी विभिन्नता के बीच जो आन्तरिक एकता है वह एक रहस्य है जिसे केवल मानव ही समझा सकता है। जगत् जैसा प्रतीत होता है वह वास्तविक जगत् नहीं है; वह एक विच्छिन्न जगत् है जो केवल मात्र तथ्यों का समूह है। इसे स्पष्ट करते हुए टैगोर लिखते हैं "एक जगत् और भी है जो हम सब के लिए सत्य है। हम उसे देख सकते हैं, अनुभव कर सकते हैं, हमारा भावनात्मक सम्बन्ध उस जगत् से है। उसका रहस्य चिरंतन है, क्योंकि हम उसका विश्लेषण नहीं कर सकते हैं, उसे नाप नहीं सकते हैं। यह जगत् एकता है, जो सत्य है। वास्तव में सत्य, शुभ, सौंदर्य तथा स्वातंत्र्य मानव व्यक्तित्व में अन्तर्निहित हैं। यह दिव्यत्व की अभिव्यक्ति है।" [२] टैगोर के अनुसार यही वास्तविक मानवता है। व्यक्तिगत मानव सदैव विश्वात्मा के लिए अस्तित्ववान् है और वह स्वयं को अपने निष्काम कर्म, विज्ञान, दर्शन, साहित्य, कला, सेवा एवं आराधना के माध्यम से अभिव्यक्त करता है। यही उसका धर्म है। विश्व के समक्ष धर्म का आधार एक है, वे वास्तव में मानव व्यक्तित्व में अन्तरव्याप्त सत्य का उद्घाटन करते हैं जहां पर प्रकृति के भिन्न भिन्न रूप, रंग, ध्वनि एवं गति इत्यादि हमें

उस सत्य की ओर आकृष्ट करते हैं। अतः टैगोर इस भौतिक जगत् को, जो कि हमें सत्य ज्ञान की प्राप्ति के लिए आकृष्ट करता है, मात्र भ्रम या माया स्वीकार नहीं है। उनके अनुसार यह जगत् सत्य है क्योंकि यह एक एकता है जो दिव्य है, सत्य है। माया अज्ञानता है। इस जगत् के एकता के रहस्य को बौद्धिक ज्ञान के द्वारा नहीं जाना जा सकता है। तथा विज्ञान इस सत्य को उजागर करने में असमर्थ है। टैगोर के शब्दों में इस एकता के रहस्य को समझने के मार्ग में जो बाधा स्वरूप है वह सीमितता है जो इस एकता को खंडित करती है। यह निषेधात्मक विचार माया है[३]। "माया के संबंध में टैगोर का मत शांकर वेदान्तियों के मत से भिन्न है। वे माया को 'न है' और 'न नहीं है' कहते हैं। टैगोर माया को 'है और नहीं है' कहते हैं। टैगोर का विश्व, ईश्वर से अलग नहीं है। गीतांजलि में टैगोर लिखते हैं 'ईश्वर अपने को सृष्टि में खोजता है'[४]। यह ब्रह्माण्ड ईश्वर से पृथक् नहीं है अपितु उससे अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। ब्रह्माण्ड का अस्तित्व ईश्वर पर आश्रित है। सृजनता एक आनन्द है, जो परम सत्य को अभिव्यक्त करता है। सृजनता, सृष्टि एवं सृजनकर्ता के बीच एक दिव्य खेल है। टैगोर कहते हैं कि मनुष्य भी सृजनकर्ता के रूप में अपने आपको जान लेता है। जब वह अपने दैनिक भौतिक आवश्यकताओं की सीमा से ऊपर उठता है उस समय उसे अवकाश मिलता है और वह रचनात्मक कार्यों में व्यस्त हो जाता है। टैगोर दि रिलिजन ऑफ मैन में लिखते हैं " अवकाश उन्हीं के लिए है जिन्हें अपने रचनात्मक कार्यों में आनन्द मिलता है "[५]। मानव भी अपनी सृजनात्मक शक्ति के कारण देवत्व की कोटि में आ जाता है। मानसिक चेतना के उदय के साथ मनुष्य प्राणिमात्र की प्रकृति के प्रति गुलामी से उठकर एक सृजनकर्ता का स्थान ग्रहण करता है। वह स्वयं की आत्मा के रहस्य को जानने की चेष्टा करता है। अपने वास्तविक सत्य को आत्मसात् कर वह यह अनुभव करता है कि उसका सत्य एक पूर्णता एक असीम मानवीय जगत् के सबंध में निहित है। जिस विश्व से हम इंद्रिय-प्रत्यक्ष, बुद्धि, कल्पना द्वारा संबंधित हैं, वह वस्तुतः मानवीय विश्व है। मानवीय धर्म की अभीप्सा की प्रथम स्थिति में जो मनुष्य विश्व की पृष्ठभूमि में एक शक्ति के प्रदर्शन मात्र को सत्य मानता रहा है वही व्यक्ति धर्म की उच्चतर अवस्था में इस सत्य को मानवीय व्यक्तित्व में देखना प्रारम्भ कर देता है। यह एक ऐसी अवस्था है जहाँ पर मनुष्य को अपने वास्तविक धर्म की अनुभूति होती है। टैगोर मानव धर्म (दि रिलिजन ऑफ मैन) नामक पुस्तक में लिखते हैं, मनव का वास्तविक

धर्म वह है जहां उसे अपनी सत्ता का बोध असीम के परि-प्रेक्ष्य में होता है। धर्म केवल जड़ता तथा प्राण तक सीमित नहीं है। जड़ तथा प्राण की सीमाओं से मुक्त होकर अपनी वास्तविक स्वतंत्रता में मानव विश्व से अपने तादात्म्य की अनूभूति करता है। धार्मिक सत्य की सर्वोच्च अनुभूति हमें अद्वय तत्त्व से प्राप्त होती है। यहां पर सीमित तथा असीमित की एकता का पूर्ण बोध होता है। यह असीम तत्त्व विश्व में निहित है। टैगोर **गीतांजलि** में लिखते हैं 'सीमा के मध्य असीम की ध्वनि झंकृत हो रही है तभी तो यह ध्वनि इतनी मधुर है।' उनके अनुसार जीवन-देवता सर्वोच्च सत् है एवं वह अपने आपको जगत् के प्रत्येक वस्तु के रूप में अभिव्यक्त करता है। यह जगत् जो सीमित प्रतीत होता है वह अपने आप को असीम के प्रति उत्सर्गित करता है।

भौतिक विकास की एक सीमा है; पर आत्मा के विकास की कोई सीमा नहीं है। चैतन्य का विकास अन्तहीन है। केवल मात्र मानव ही आध्यात्मिक विकास के रहस्य को समझ सकता है। वह इस सृष्टि में अन्तर्निहित 'जीवन-देवता' के सौंदर्य को, दिव्यत्व को, अर्थ व उद्देश्य को जानता है। टैगोर कहते हैं कि यह ब्रह्माण्ड मानव का है जहां मानव अपनी समस्त संभावनाओं को साकार कर सकता है। इस जगत् में ही मानव अपने अर्थ को खोजता है। वह अपनी स्मृति व कल्पना शक्ति के द्वारा अपने जगत् का निर्माण करता है। वह केवल मात्र भौतिक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि से संतुष्ट नहीं होता है; वह और भी गहन अर्थ को जानने की चेष्टा करता है और इस प्रयास में वह जगत् की सीमाओं का अतिक्रमण कर आगे बढ़ता है। इस सत्य को जानने के लिए मानव अपना सर्वस्व त्याग करने को तत्पर रहता है। टैगोर ने **पर्सनैलिटी** में लिखा है, " वास्तव में पूर्ण सत्य यह है कि हमने असीम की गोद में जन्म लिया है। हमारा वास्तविक जगत् केवल मात्र प्राकृतिक नियमों और शक्तियों का जगत् नहीं है अपितु वह एक व्यक्तित्व है। जब हम इस सत्य को पूर्णतः आत्मसात् कर लेते हैं तब हमारी स्वतंत्रता उस समय पूर्ण संतुष्ट हो जाती है " [६] मानवीय संस्कृतियों का एक ही आधार है जो हम में दिव्य एकता की भावना के रूप में विराज-मान है। मानवीय सत्य का विकास किसी एक विशिष्ट काल में नहीं हुआ और न ही मानव की अभिव्यक्ति का कोई अन्त है। टैगोर ने दि रिलिजन ऑफ मॅन में स्पष्ट शब्दों में लिखा है, 'मानव का सत्य शाश्व-

तता के हृदय में विराजमान है'।[७] इससे स्पष्ट है कि व्यक्ति एवं परमतत्व, जिसे टैगोर 'जीवन-देवता' के नाम से भी सम्बोधित करते हैं, एक तादात्म्य संबंध है, जो दिव्य है एवं रहस्यात्मक है। व्यक्ति की पूर्णता इस बात पर निर्भर करती है कि उसके ज्ञान, प्रेम, अनुराग, आनंद की सीमाओं का विस्तार होता चला जाता है और एक ऐसी अवस्था आती है जब हमें जीवन देवता के रहस्यों का बोध होने लगता है। मनुष्य अपने आदर्श की एक कल्पना करता है और उसी के अनुरूप अपने आप को ढालने का प्रयास करता है। उसके अन्दर यह भावना विद्यमान रहती है कि उससे भी परे कोई शक्ति है। जितनी मनुष्य की चेतना व्यापक होती जाती है उतनी ही मात्रा में वह परमतत्त्व का समझने लगता है। अन्ततः मानव जीवन का चरम उद्देश्य 'मैं' क्या हूं' को जानना है। अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान मानव को तभी होता है जब ब्रह्म और जीवात्मा का तादात्म्य हो जाता है। यह संबंध केवल मात्र अन्तर्दृष्टि से ही जाना जा सकता है। जब मन और बुद्धि की सीमा से मुक्त होकर मानव दिव्यता की अनुभूति करता है तब उसका हृदय पूर्ण आनंद से प्रफुल्लित हो उठता है। टैगोर कहते हैं कि यह आनंद ही परमतत्त्व का वास्ततिक स्वरूप है तथा समस्त विश्व का आधार है। यह पूर्ण है, प्रेम-मय है। इस गहनतम सत्य को देश काल की सीमा के परे अपना आत्मा में जाना जा सकता है। यह जीवन-देवता है, जो असीम है, अद्वितीय है, एक है। डॉ. राधाकृष्णन् ने भी लिखा है कि "द्वैत से परे, सीमा तथा असीम के परे. परमत्त्व है, जिसे हमारी सीमित बुद्धि ग्रहण नहीं कर सकती है।"[८] वह आत्मा जिसने असीम को जाना है स्वय असीम हो जाता है। टैगोर ने इसे अपनी कविता 'जीवन-देवता' में अति सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है। 'जीवन-देवता' से हमारे संबध को जानने के लिये जो कड़ी है वह है प्रेम। टैगोर प्रेम को सर्वोच्च सत्य के रूप में स्वीकार करते हैं क्योंकि यही वह पवित्र माध्यम है जिसके द्वारा हमारी आत्मा समस्त बन्धनों से पूण रूप से मुक्त हो कर सत्य का साक्षात्कार कर उसे अपने जीवन में अवतरित कर लेती है। इस अनुभूति को शब्दों द्वारा नहीं समझाया जा सकता है। प्रेम के द्वारा ही मनुष्य सत्य और अमरता को प्राप्त करता है और यही अनुभूति संपूर्ण धर्मों का वास्तविक आधार है। टैगोर कहते हैं कि प्रेम के द्वारा ही धर्म के वास्तविक स्वरूप को जाना जा सकता है। प्रायः यह देखा जाता है कि मनुष्य अपने धर्म के प्रति ईमानदार न होकर धार्मिक-संप्रदाय के प्रति अधिक प्रतिबद्ध होते हैं। इसका कारण मानव

के हृदय में मानवता के प्रति जो प्रेम होना चाहिए उसका अभाव है। टैगोर कहते कि हैं मनुष्य का बहुकोशीय शरीर रोज जन्म लेता है और मृत्यु को प्राप्त हो जाता है पर जो इसमें अमर है वह है मानवता। वास्तव में मानवता को जानना ही मानव का धर्म है। मानव पशु से श्रेष्ठ इसलिये भी है क्योंकि केवल मानव का धर्म होता है; वह संपूर्ण विश्व को अपना सकता है। यह केवल प्रेम के कारण ही संभव है। टैगोर कहते हैं कि धर्म का वास्तविक रूप बाऊल के गीतों से स्पष्ट होता है। वे अपने गीतों के माध्यम से जीवन के सर्वोच्च सत्य को स्पष्ट करते हैं। बाऊल संप्रदाय के लोग किसी शिक्षण संस्था से शिक्षा व उपाधि प्राप्त किये हुए नहीं रहते हैं। पर सर्वोच्च सत्य को वे जानते हैं। अतः टैगोर की दृष्टि में परमतत्त्व को जानने के लिये बुद्धि नहीं, अन्तर्दृष्टि चाहिए। अपनी आत्मा में ही परमतत्त्व को जाना जा सकता है। बाऊल संप्रदाय ईश्वर को मानव के रूप में स्वीकार करते हैं। वे यह स्वीकार करते हैं कि ईश्वर न तो मंदिर में हैं न मस्जिद में, न गिरजाघर में है, न शास्त्रों और धर्माचार्यों से इसे जाना जा सकता है। जीवन-देवता की अनुभूति केवल मात्र अपनी आत्मा में ही हो सकती है। तुकाराम भी इस सत्य को स्वीकार करते थे। उनके शब्दों में 'अरे मनुष्य, क्यों तुम ईश्वर की खोज में एक स्थान से दूसरे स्थान में भटकते फिरते हो? जैसे कि हिरण इस सत्य से अनजान रहता है कि जिस अमूल्य सुरभि को खोजने के लिए वह भटक रहा है वह कस्तूरी उसके अंदर है। उसी प्रकार तुम भी नहीं जानते कि तुम्हारे अंदर क्या है। ईश्वर को अपने आप में खोजो। तुम्हें उसका साक्षात्कार अपनी आत्मा में ही होगा। ईश्वर हमसे दूर भी है और हमारे पास भी है। जब हम ईश्वर को अपने अन्दर खोजते हैं तब हम ईश्वर को अपने निकट अनुभव करते हैं। ईश्वर समस्त प्राणों का प्राण है, आत्माओं की आत्मा है, यह हृदयों का हृदय है।' टैगोर ने **पर्सनॅलिटी** में लिखा है: "मनुष्य सत्य है जहां वह अपने असीम को अनुभव करता है, जहां वह दिव्य है और दिव्यत्व ही उसके अंदर स्रष्टा के रूप में है। अतः अपने सत्य को उपलब्ध करके ही वह सृजनकार्य करता है। वह अपने द्वारा रचित विश्व में स्वतंत्र रूप से रहता है एव ईश्वर द्वारा रचित विश्व को वह स्वरचित जगत् के रूप में परिवर्तित कर देता है[१]।" मनुष्य सदैव पूर्ण बनने की चेष्टा करता है; वह अमर होना चाहता है। टैगोर मानव की कर्म-स्वतंत्रता एवं संकल्प स्वतंत्रता को स्वीकार करते हैं। मानव की स्वतंत्रता एक दिव्य उपहार है। मानव भूल करने के लिए स्वतंत्र है। टैगोर कहते हैं कि केवल मात्र मुक्त

आत्मा ही ईश्वरीय है, ईश्वर के निकट है। वास्तव में हम सब ईश्वर से जुड़े हुए हैं, परमतत्त्व से युक्त हैं, हम अमर हैं और पूर्ण से भी विच्छिन्न नहीं हैं। टैगोर कहते हैं मानव अपूर्ण नहीं है पर असम्पूर्ण है। मानव अपने इस स्वरूप को अपने इस जीवन की समस्त सीमाओं को अतिक्रमण करने के पश्चात् ही जान सकता है। मुक्ति का तात्पर्य संकीर्णता व कुण्ठाओं से मुक्ति है। अपनी सीमा को, संकीर्णता को, ज्ञान, प्रेम और सेवा के द्वारा समाप्त कर देना ही वास्तव में आत्म-साक्षात्कार है। यह तभी संभव है जब हम सीमित एवं असीम के बीच होने वाले तादात्म्य को जानें।

सीमित आत्मा एवं असीम के बीच एकता को प्राप्त करना योग का उद्देश्य है। योग वह सेतु है जिसके माध्यम से हम इस दिव्य एकता को आत्मसात् कर सकते है। अन्य भारतीय दार्शनिकों के समान टैगोर भी स्वीकार करते है कि योग के द्वारा अपने समस्त बन्धनों को तोड़ा जा सकता है। बन्धन-मुक्त होकर ही मानव अपने अन्तरात्मा में असीम का उपभोग करने लगता है। मानव को सबसे बड़ा आशीर्वाद प्राप्त है कि वह असीम से अपना मधुर संपर्क स्थापित कर सकता है। असीम में कुछ भी नष्ट नहीं होता है। सीमित और असीमित एक हैं, अद्वितीय है। परमतत्त्व को टैगोर ने एक परम पुरुष, एक पूर्ण व्यक्तित्व के रूप में स्वीकार किया है। अतः यह सृष्टि एक पूर्ण व्यक्तित्व, परम-पुरुष द्वारा रचित है, उद्देश्यपूर्ण है। परमपुरुष दिव्य तत्त्व है, विश्वकर्मा है, वह विराट् आत्मा है जो जीवन-देवता के रूप में समस्त मानव के हृदय में अवस्थित है। 'जीवन-देवता' एक सक्रिय शक्ति है। यह स्थिर नहीं है, अतः इसे परिभाषित नहीं किया जा सकता है। 'जीवन-देवता' वह प्रेरणा-स्त्रोत है, जो समस्त आत्माओं को सक्रिय एव सृजनशील बनाती है। जिस क्षण मानव इस दिव्य एकता के रहस्य से अवगत होता है वह अपनी समस्त सीमाओं को सहर्ष त्याग देता है। इसे जानने के पश्चात् मानव केवल मात्र अपने सुख के लिये कार्य नहीं करता है अपितु वह सबके लिए कार्य करता है। टैगोर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि असीम से साक्षात्कार होने के पश्चात् मानव विश्वकर्मा की भावना से प्रेरित होकर कार्य करता है। परिष्कृत एवं मुक्त आत्मा घृणा, द्वेष, वैमनस्य, छल, कपट जैसे निम्न विचारों से ऊपर उठ कर सेवा, सहानुभूति जैसे प्रकाशवान् वृत्तियों को अपनाता चला जाता है। टैगोर कहते हैं कि यह भावना प्रेम से

आती है। विश्वकर्मा के रूप में मानव संपूर्ण विश्व को अपना सकता है। इस संपूर्ण ब्रह्माण्ड को वह ब्रह्ममय मानता है। असीम मानव से परे नहीं है, यह अन्तरव्याप्त है। भक्ति और सेवा, शुभ और प्रेम के द्वारा ब्रह्म को जाना जा सकता है। इस परमतत्त्व का साक्षात्कार करना ही मानव जीवन का सर्वोच्च ध्येय है। टैगोर ने साधना में लिखा है कि "ब्रह्म है, वह असीम, पूर्ण, आदर्श स्वरूप है परन्तु हमारा यह वास्तविक स्वरूप नहीं है जो प्रतीत हो रहा है। हमें हमेशा सत्य बनना है, ब्रह्म" बनना है[१०]। यह एक शाश्वत दिव्य खेल है, प्रतीति एवं आदर्श के बीच प्रेम-मय संबंध है। इस अवस्था में पहुंच कर मानव यह अनुभव करता है जैसे वह ब्रह्म में ही है। इसे टैगोर ब्रह्म-विहार कहते हैं। टैगोर के अनुसार ऐसे जगत् में मुक्ति का प्रश्न ही नहीं उठता है। वास्तविक मुक्ति तो अपनी आत्मा को परमतत्त्व के परिप्रेक्ष्य में जानना है। हम अपनी व्यथा एवं बलिदान से ईश्वर के बहुत निकट आ जाते हैं। हम कामना करते हैं कि 'मुझे असत् से सत् की ओर ले चलो'। यह हमारा असीम के प्रति पूर्ण आत्मोत्सर्ग है। जिस प्रकार अन्ततः सभी नदियां सागर में विलीन हो जाती हैं, उसी प्रकार समस्त मानव के सामने भी कोई दूसरा विकल्प नहीं है। यह मानव की नियति है कि अन्ततः उसका मिलन उसके 'जीवन-देवता' के साथ हो। टैगोर कहते हैं कि इस महान् सत्य को, इस पुनर्मीलन को बुद्धि से नहीं जाना जा सकता है। न तो बुद्धि इस रहस्य को जान सकती है और न भाषा इसे स्पष्ट कर सकती है। 'जीवन-देवता' को केवल मात्र आनन्द और प्रेम के माध्यम से ही जाना जा सकता है।

टैगोर प्रेम को बहुत महत्त्वपूर्ण मानते हैं। हमारा सर्वोच्च आनंद प्रेम में है। प्रेम के माध्यम से ही मानव अपने व्यक्तित्व को अच्छी तरह जान सकता है, अपने व्यक्तित्व में निखार ला सकता है। प्रेम हमें त्याग करना सिखाता है; प्रेम हमारी आत्मा को परिष्कृत करता है। आत्मा को आनन्द से भर देता है। प्रेम-भावना से प्रेरित हो कर ही प्रेमी, अपनी प्रेयसी के लिए अपना सर्वस्व त्याग करने को तत्पर रहता है। यहां तक कि वह प्रेयसी के लिए अपना प्राणोत्सर्ग करने में भी दुविधा नहीं करता है। वह यह जानता है कि प्रेयसी के बिना उसका जीवन अधूरा है, निरर्थक है। अपने जीवन के अर्थ को पाने के लिए प्रेम-मार्ग में जितनी भी बाधायें आती हैं, प्रेमी उन्हें सहर्ष स्वीकार करता है, उस पर विजय प्राप्त करता है। कभी भी अपने पथ से विचलित नहीं होता है। यह एक ऐसा बंधन है जो शाश्वत है, कभी भी नहीं टूटता। अपने जीवन की व्यथा, वेदना व त्याग के द्वारा यह बन्धन और भी सशक्त होता चला जाता है। प्रेमी इस बन्धन से कभी भी मुक्त

होना नहीं चहता है। इस प्रेम-बंधन में ही आनन्द है, संतुष्टि है, दिव्यता है, जीवन की सार्थकता है। टैगोर कहते हैं कि जिस प्रकार एक प्रेमी अपनी प्रेयसी से निःस्वार्थ प्रेम करता है और जब तक उसे प्राप्त नहीं कर लेता उसे शान्ति नहीं मिलती है ठीक उसी प्रकार मानव अपने जीवन-देवता से प्रेम करता है। 'जीवन-देवता' को पाने के लिए मानव अपने शरीर, मन, प्राण, व आत्मा की भेंट चढ़ा देता है। इस त्याग के पीछे केवल मात्र आनंद की भावना रहती है। इसमें किसी भी प्रकार का पश्चात्ताप नहीं होता है। मानव अपना सर्वस्व जीवन-देवता को समर्पित कर प्रेम के शाश्वत बन्धन में बंध जाता है। टैगोर ने साधना में लिखा है 'प्रेम में जीवन की समस्त बाधायें समाप्त हो जाती हैं' [11]। प्रेम निरन्तर अपने को एक अन्तहीन उपहार के रूप में मानव के सामने पेश करता है। परन्तु यह मानव का दुर्भाग्य है कि वह इस अमूल्य उपहार को ग्रहण करने में समर्थ नहीं होता है। वास्तव में प्रेम ससीम और असीम के बीच सेतु है। प्रेम में हम यह नहीं सोचते कि मैंने क्या पाया और क्या खोया। यह भावना प्रेम में समाप्त हो जाती है। अतः प्रेम जीवन का सर्वोच्च सत्य है, यह पूर्ण चैतन्यता एवं आनंद है। टैगोर के अनुसार ससीम व असीम के बीच के इस मधुर संपर्क को जब मानव जान लेता है तब उसका जीवन पूर्ण हो जाता है। सार्थक हो जाता है। मानव एक दिव्य अनुभूती से आविर्भूत हो जाता है। इस सत्य को जानने के लिए जीवन-देवता मानव को प्रेरित करता रहता है। जीवन देवता से मानव का संबंध शाश्वत है। प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में जीवन-देवता का स्वर गुंजित होता रहता है, पर व्यक्ति अज्ञानता के कारण, सीमितता के कारण, अपने भौतिक सुखों की पूर्ति में इतना लिप्त रहता है कि वह कोलाहल के बीच जीवन-देवता के मधुर स्वर को सुन नहीं पाता है। परन्तु जिस क्षण वह इस मधुर झंकार को सुनता है वह अपने समस्त बंधन त्याग देता है। इस सत्य को जानने के साथ मानव अपने आपके रहस्य को भी जानने लगता है। यही मानव का धर्म है। इस अवस्था में आकर ही उसे पूर्ण संतुष्टि मिलती है। टैगोर कहते हैं कि जिस प्रकार विश्व के अस्तित्व को स्वीकार किए बिना रेत के एक कण के संबंध में विचार नहीं किया जा सकता है ठीक उसी प्रकार सीमित आत्मा को असीम आत्मा के परिप्रेक्ष्य में ही समझा जा सकता है। सीमित आत्मा का अस्तित्व असीम आत्मा की पृष्ठभूमि पर आधारित है।

टैगोर यह स्वीकार करते हैं कि मानव के पास अन्तहीन भविष्य है जिसका निर्माता वह स्वयं है। मानव अपने व्यक्तित्व में अपने अतीत को

समाये हुए है, अपने वर्तमान में वह रहता है और अपने भविष्य का निर्माण वह अपनी संकल्प-शक्ति के आधार पर करता है। मानव अपने स्वनिर्मित जगत् से पलायन नहीं कर सकता है। मानव को टैगोर एक कलाकार के रूप में स्वीकार करते हैं। मानव अपने आपको कला के माध्यम से अभिव्यक्त करता है। अपने सपनों को साकार करता है, अपनी इच्छाओं को सजीव करता है। मानव एक संगीतकार है और संगीत में ही उसे अपना अर्थ मिलता है। संगीत में छंद, लय एवं ताल की सामंजस्यता होती है। मानव उस संगीत की रचना करता है जिसमें ससीम व असीम, छंद, लय तथा ताल-बद्ध होकर एक पूर्ण सामंजस्य के रूप में रहता है। मानव की अभीप्सा अस्तित्व में रहने व अपने व्यक्तित्व का निर्माण करने की होती है। मानव का अस्तित्व उतना महत्त्व-पूर्ण नहीं है अपितु मानव जिस व्यक्तित्व का निर्माण करता है वह महत्त्वपूर्ण है। मानव जिस मानवता के लिए अपने व्यक्तित्व का निर्माण करता है उसके लिए वह स्वयं उत्तरदायी है। दिव्यता मानव की चेतना में सदैव उपस्थित रहता है। मानवता ही मानव का धर्म है। प्रत्येक धर्म में मोक्ष प्राप्ति के मार्ग बताये जाते हैं। मानव अपनी चेतना में चरम सत्य को, सार्वभौम पर-म पुरूष को समाये हुए हैं जो मानव का प्रेरणा-स्त्रोत है। टैगोर के अनुसार एकता सत्य है और इस समग्रता से विमुख होना अशुभ है, अज्ञानता है। मानव-जीवन का उद्देश्य संकीर्णता से मुक्त होकर अपने वास्तविक स्वरूप को जानना है। भारतीय दर्शन में इसे ही मोक्ष कहा जाता है। टैगोर कहते हैं कि मोक्ष की प्राप्ति आत्म-त्याग से नहीं अपितु आत्मसमर्पण से उपलब्ध होती है। सत्य की अभीप्सा से प्रेरित होकर मुमुक्षु अपने शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा को परमतत्त्व के चरणों में अर्पित कर वास्तविक ज्ञान तथा प्रेम के माध्यम से परमतत्त्व को जानने की चेष्टा करता है। अतः मुक्ति केवल मात्र आत्म-त्याग से नहीं अपितु परम चैतन्य से अपनी मूल एकता की अनुभूति में है। वास्तविक मुक्ति आत्मा के स्वरूप की उपलब्धि में है। टैगोर ने मोक्ष के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि हमारा धर्म, हमें इस सत्य से साक्षात्कार करवाता है। धर्म वह है जो हम सबको धारण करता है और एकता प्रदान करता है। वास्तविक धर्म वह है जो हमारे समस्त विरोधों को समाप्त कर तथा विश्व के मध्य, मानव का मानव के साथ एवं मानव का जीवन-देवता के साथ अन्तर्व्याप्त एकता की अनुभूति कराता है। टैगोर ने दि रिलिजन ऑफ मॅन में लिखा है कि " धर्म वैयक्तिक व्यक्तित्व की असीम व्यक्तित्व में मुक्ति है, जो वास्तव में मानव-आत्मा ही है"[१२]। धर्म सांसारिक जगत् के नैतिक, सौन्दर्यात्मक और धार्मिक रूढ़ियों तथा विरोधों से मानव चेतना को

मुक्त कर अपने जीवन की प्राप्ति असीम तत्त्व में खोकर कराता है। टैगोर कहते हैं कि अन्ततः मानव जीवन का उद्देश्य 'जीवन-देवता' के स्वरूप को जानना है जिसे टैगोर ईश्वर के रूप में भी स्वीकार करते हैं। मानव का व्यक्तित्व ईश्वर साक्षात्कार के पश्चात् ईश्वर में समाप्त नहीं होता। टैगोर के अनुसार मानव व्यक्तित्व अद्वितीय है। अतः वह ईश्वर में रहता है, ईश्वर में विचरण करता है परन्तु अपने व्यक्तित्व को खोता नहीं। मानव की नियति है कि उसे असीम होना पड़ता है। इस असीम व्यक्तित्व को प्राप्त करने के लिए मानव की 'जीवन-देवता' सहायता करता है, वह 'जीवन-देवता' ही मानव जीवन का मुक्ति-दाता है। अतः 'जीवन-देवता' ही मानव व्यक्तित्व का संचालक है। अन्य भारतीय दार्शनिकों की परम्परा का अनुशीलन करते हुये रवीन्द्रनाथ टैगोर योग व समाधि के महत्त्व को स्वीकार करते हैं तथा उनके अनुसार मानव तथा 'जीवन-देवता' की एकता 'योग' के द्वारा संभव है।

गायत्री सिन्हा

दर्शन विभाग
रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय
जबलपुर–४८२००१ (म. प्र.)

टिप्पणियाँ

१. रवीन्द्रनाथ टैगोर, पर्सनॅलिटी, पृष्ठ ४
२. वही
३. वही, क्रियेटिव युनिटी, पृष्ठ ५
४. वही, गीतांजलि, पृष्ठ २
५. वही, दि रिलिजन ऑफ मॅन, पृष्ठ ४३
६. वही, पर्सनॅलिटी, पृष्ठ ६७
७. वही, दि रिलिजन ऑफ मॅन, पृष्ठ २१
८. राधाकृष्णन्, दि फिलॉसफी ऑफ रवीन्द्रनाथ टैगोर, पृष्ठ २३
९. रवीन्द्रनाथ टैगोर, पर्सनॅलिटी, पृष्ठ ३१
१०. वही, साधना, पृष्ठ १५५
११. वही, पृष्ठ ११४
१२. वही, दि रिलिजन ऑफ मॅन, पृष्ठ १६३

ऐब्सर्डिटी बनाम समकालीन कविता

जीवन के व्यापार और उनके मूल्यों से सम्बन्धित सभी शब्द अनेकार्थक होते हैं। आई. ए. रिचर्डस ने तो "अर्थ" शब्द के ही अनेक सान्दर्भिक अर्थ गिना कर इस शब्द के सार्थक प्रयोग के दायरे का विवेचन किया है। [1] शब्दों की द्वयर्थकता तथा अनेकार्थकता को नॉवेल-स्मिथ ने "जानुस-सिद्धान्त" की सहायता से समझाने का प्रयास किया है। [2] "ऐब्सर्डिटी" भी एक ऐसा ही शब्द है; और जो लोग इस शब्द के मिज़ाज से बखूबी वाकिफ़ हैं उन्होंने इसका प्रयोग, भिन्न-भिन्न सन्दर्भों में बड़े ही सार्थक एवम् जीवन्त तरीके से किया है। किन्तु आश्चर्य तथा अफसोस तब होता है जब कोई "सक्षम" पण्डित ऐसे शब्दों के साथ बलात्कार कर बैठता है और परिणामस्वरूप न केवल अनर्थ हो जाता है अपितु शब्द की अस्मिता पर दाग लग जाने का खतरा भी पैदा हो जाता है, क्योंकि आम आदमी तो प्रायः पण्डितों का अनुसरण ही करता है। डॉ. रमेश कुन्तल मेघ ने "ऐब्सर्डिटी" का अनुवाद "फूहड़पन" किया है जो मेरी नज़र में एक नितान्त भ्रामक अनुवाद है और इस शब्द के अनर्थ का कारण बन सकता है। [3] इसलिए पहली ज़रूरत तो मुझे यह महसूस होती है कि फिर एक बार हम अपने आपको याद दिलाएं कि "ऐब्सर्डिटी" वस्तुतः कहते किसे हैं ताकि इस शब्द के प्रयोग का दायरा स्पष्ट होकर उभर सके।

मूलतः यह शब्द उस तत्त्व-मीमांसीय दृष्टि का द्योतक है जिसके अनुसार कहीं भी, कभी भी, और कुछ भी अन्ततोगत्वा शाश्वत, ठोस, निरपेक्ष, अथवा मूल्यवान् नहीं है। यह तात्त्विक स्थिति ही "ऐब्सर्ड" है। ध्यान देने की बात यह है कि परम्परागत भारतीय चिन्तन में इस प्रकार की दृष्टि कहीं भी उपलब्ध नहीं है; यहाँ तक कि नागार्जुन के माध्यमिक सम्प्रदाय में भी नहीं। नागार्जुन को शून्यवादी कहने का अर्थ यह नहीं है कि वे अन्तिम रूप से किसी भी सत्ता का निषेध करते थे; उनकी ऐसी व्याख्या नितान्त भ्रामक है। वे तो अन्तिम सत्ता के किसी भी प्रकार के वर्णन का आत्म-विरोधी मानते थे, और इस प्रकार लगभग

वही कह रहे थे जो शंकराचार्य ने माना। ऐब्सर्ड का प्रत्यय मूलतः पाश्चात्य चिन्तन की देन है। तत्त्व-मीमांसीय दृष्टि के अनुसार जीवन, जीवन के समस्त व्यापार, और जीवन से सम्बन्धित सभी मूल्य अन्ततोगत्वा निरर्थक, सारहीन, तथा निराधार हैं। यही वह दृष्टि है जिसके अन्तर्गत "विसंगति" और "बेतुकापन" आदि शब्द सार्थक हैं। पश्चिम के कुछ लब्धप्रतिष्ठ साहित्यकारों ने इस जीवन-दर्शन से प्रेरित होकर कुछ अत्यन्त प्रभावी एवम् सजीव साहित्य का सृजन किया। अल्बेअर कामू ने तो कॉरिन्थ के राजा सिसीफस की स्थिति का ऐसा सशक्त चित्रण किया है कि जैसे "ऐब्सर्डिटी" हमारे समक्ष सदेह खड़ी हो।[४] इस दृष्टि को साहित्यिक परिधान में प्रस्तुत करने वालों में पश्चिम के अस्तित्ववादी विचारक अग्रणी और प्रमुख रहे हैं। ज्यां-पॉल सार्त्र को इस सन्दर्भ में युग-पुरुष कहा जा सकता है।[५] बेकेट जैसे लोगों ने इस दृष्टि को जिया और ईमानदारी से इसकी अभिव्यक्ति की। कहने का तात्पर्य यह है कि हम भारतीय जब ऐब्सर्डिटी की बात करते हैं या करना चाहते हैं तो हमें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि यह मूलतः एक "पराई" दृष्टि है। पराई दृष्टि अपनाई तो जा सकती है पर उसी तरह जिस तरह कि पराए वस्त्र।

किन्तु इस बात का एक दूसरा पक्ष भी है जिसे एक उदाहरण की सहायता से समझा जा सकता है। कुछ साल हुए कि कोका-कोला नाम का एक पेय तथा-कथित सम्भ्रान्त और "मॉड" वर्ग की पहचान बन गया। "कोक" पीना एक ऐसा फैशन बन गया जो "ऐडवान्स्ड" होने का प्रतीक था। हुआ यह कि जिन्हें "कोक" बिलकुल भी नहीं भाता था वे भी इस आशंका से "कोक" पीने लग गये कि कहीं उन्हें पिछड़ा हुआ, हीन, दीन, अथवा त्याज्य न समझ लिया जाए। परन्तु यह भी देखा गया कि कुछ समय तक बार-बार और लगातार पीते रहने के कारण इन लोगों को भी कोका-कोला वाकई अच्छा लगने लगा। मजबूरी ने आदत डाली और आदत से रसास्वादन विकसित हुआ। कुछ ऐसी ही स्थिति हम भारतीयों के साथ इस ऐब्सर्डिटी की है। यहाँ के कुछ कवियों ने इसे एक मजबूरी अथवा फैशन के रूप में अपनाया। कुछ ही साल पहले तक अस्तित्व की निरर्थकता की बात न करना एक साहित्यिक अपराध बन गया था।

अब देखें कि इस सन्दर्भ में हमारी समकालीन कविता की क्या स्थिति है। ऐब्सर्डिटी के स्वर हमारी समकालीन हिन्दी कविता में भी गूंज रहे हैं, परन्तु चूंकि अकविता और नई कविता आदि से यह सायास और साग्रह भिन्न है इसलिए इसमें ये स्वर उतने तीव्र न होकर कुछ अधिक कोमल और परिष्कृत प्रतीत होते हैं। मैं इस लेख में जिन्हें समकालीन कवि मान रहा हूँ यदि उनमें से किसी

भी नाम के प्रति किसी को भी कोई आपत्ति हो तो कृपया उस नाम को नज़रन्दाज और मुझे क्षमा कर दें।

मेरी नज़र में इसकी एक अत्यन्त सशक्त अभिव्यक्ति डॉ. विश्वनाथप्रसाद तिवारी की "उससे भी मुश्किल" है—

"सबसे बड़ी मुश्किल है
चीज़ों को जानना
और उससे भी मुश्किल
उनके साथ
अपना सम्बन्ध मानना।" [६]

दरअसल मुश्किलें तो ये दो हैं ही नहीं, क्योंकि "जानने" और "सम्बन्ध मानने" में कोई मौलिक एवम् आधारभूत अन्तर शायद स्वयं तिवारी जी भी स्थापित नहीं करना चाहेंगे।

धूमिल ने 'मोचीराम' में कहा कि—
"इन्कार से भरी हुई एक चीख
और 'एक समझदार चुप'
दोनों का मतलब एक है।" [७]

कह सकते हैं कि अन्ततोगत्वा दोनों ही समान रूप से निरर्थक हैं।

कितने सीधे और सपाट लहजे में श्री गोविन्द माथुर कहते हैं कि—
"फर्क इतना ही है
कि कुछ फर्क नहीं पड़ता।" [८]

और,

"एक एक शब्द बदला लेगा
हवा को कैद करने की साज़िश का।" [९]

और,

"मैं अब भी, चल रहा हूं, इस आशा में, कि, मुझे अपनी, राह, कहीं तो, मिलेगी ही। नहीं भी मिले तो क्या, मैं, चल तो, रहा ही हूं।" [१०]

फर्क तो वास्तव में कुछ नहीं पड़ता। फिर, यदि शब्दों ने बदला ले भी लिया तो कोई फर्क पड़ जायेगा क्या ? श्री गोविन्द माथुर कह सकते हैं कि यहाँ

दो कविताओं को मिलाया जा रहा है पर यह तो उन्हें भी मानना पड़ेगा कि स्वयं उनका अहसास बदला हुआ है। तीसरी कविता में तो निश्चितता के प्रति उनकी दृष्टि स्पष्ट ही है।

अब श्री बलदेव वंशी की दो कविताएं—

" मुझ में तड़प रही है वाणीरहित होने की स्थिति।" [११]

और,

" मन्यु बंट रहा है, मन्यु घिर रहा है, मन्यु मर रहा है, मन्यु जी रहा है, मन्यु लड़ रहा है, मन्यु बर्फ सा गल रहा है, मन्यु पानी सा चल रहा है, मन्यु बाढ़ सा फैल रहा है, उद्दण्ड उच्छृंखल, मन्यु सीमाएँ तोड़ रहा है...।" [१२]

शायद ऐसा कुछ भी नहीं है जो मन्यु न कर रहा हो; " करना " सीमा के अन्तर्गत ही होता है; सीमा टूटी और वही निरर्थकता फिर सामने होगी। और वहीं तो वाणीरहित होने की स्थिति होगी।

" किसी वक्तव्य का कोई अर्थ नहीं ", कहा है (शायद) श्री चन्द्रकान्त देवताले ने— " मेरे वक्तव्य, बेवकूफ की तरह, मुझ पर हँस रहे हैं।" [१३]

और यही स्वर है श्री वेणुगोपाल का—

" जितनी कविता अनिवार्य और स्वाभाविक है
मेरी जिन्दगी में
उतना का उतना ही– यह ब्लैकमेलर भी तो है
रत्ती भर भी कम नहीं।" [१४]

अर्थात् " कुछ " कहना भी एक मजबूरी है और उस 'कुछ' को " कुछ नहीं " मानना भी उतनी ही बड़ी मजबूरी है।

अब श्री राजीव सक्सेना का एक " गीत " लें—

" नर्क न तो कोई अन्य है,
और न नर्क है स्वयं अपने अन्दर,
नर्क है वहाँ, जहाँ लघुत्तम समापवर्त्तक
आकांक्षा से वर्जना तुली बैठी है
पलड़ा बराबर किए।..." [१५]

"हेल इज़ दी अदर" सार्त्र की सर्वविदित बात है। किन्तु मुझे सन्देह है कि न तो हम सार्त्र को ही ठीक तरह समझते हैं और न ही अस्तित्ववाद को। यह बात इसलिए कह रहा हूँ कि श्री राजीव सक्सेना ने न सिर्फ सार्त्र की तत्त्व-मीमांसा समझे बगैर उसका तर्जुमा करने का प्रयास किया है बल्कि "अन्य ही नर्क है" को भी गलत ढंग से अपनाया है। सार्त्र के लिए प्रत्येक "मैं" प्रत्येक दूसरे "मैं" के लिए "अन्य" है, और "मैं" इसीलिए हूँ क्योंकि "अन्य" का अस्तित्व है, तथा "अन्य" इसीलिए है क्योंकि "मेरा" अस्तित्व है। इसलिए सार्त्र के लिए कोई अन्तर नहीं पड़ता। श्री सक्सेना ने सार्त्र की मूल तत्त्व-मीमांसीय अवधारणा का असफल प्रयास किया है इन पंक्तियों में– "आकांक्षा से वर्जना तुली बैठी है, पलड़ा बराबर किए।" सार्त्र ने "बीइंग" और "नथिंगनेस" को दो तत्त्व (आकांक्षा और बर्जना) नहीं माना है बल्कि एक ही स्थिति के दो पहलू माना है। इनमें से एक "होना" तथा दूसरा "न होना" है तथा दोनों ही एक दूसरे के लिए अनिवार्य हैं। इनका यह शाश्वत तनाव या दूरी ही उस "एंग्विश" का आधार है जिसे श्री सक्सेना ने "दमघोंटू नर्क" कहा है।

अधिक गहराई और समझबूझ का परिचय देते हुए श्री लीलाधर जगूड़ी कहते हैं–

"हर बार, तुम्हें खोजने की कोशिश में, लापता
हो जाता हूँ, और संशय की भाषा में
बड़बड़ाता हूँ, जो न क्रान्ति है, न नज़रिया,
न विचार...।" १६

न अपना ही "सार" मिल सकता है और न "तुम्हारा" ही; और नतीजा इस "सार" की खोज का यही होता है।

और अन्त में–

"तटस्थ रहना सम्भव नहीं
क्योंकि यहाँ युद्ध अनिवार्य है
और सबको
एक न एक पक्ष लेना ही होगा।" १७

श्री जगन्नाथ प्रसाद दास की ये पंक्तियाँ उस "कमिटमेण्ट" को अभिव्यक्त करती हैं जो अस्तित्ववादियों के "ऑथेण्टिक लाइफ" का द्योतक है। इस

निरर्थक संसार में यदि कुछ "सार्थक" हो सकता है तो वह है "पक्षधरता"; यह दूसरी बात है कि अन्ततोगत्वा यह पक्षधरता भी निरर्थक और सारहीन ही होगी।

उपर्युक्त विश्लेषण में कुछ दृष्टान्तों की सहायता से मैंने यह दिखाने का प्रयास किया है कि समकालीन कविता में ऐब्सर्डिटी का बोध निश्चित रूप से मौजूद है; किन्तु मेरा यह आशय कदापि नहीं है कि समकालीन कविता मात्र ऐब्सर्डिटी की कविता है। मेरा आग्रह केवल इतना है कि समकालीन कविता में ऐब्सर्डिटी-बोध को अस्वीकार करना (जैसा इस कविता के कुछ प्रमुख समर्थक करते रहे हैं) एक ऐसा दुराग्रह है जो न केवल आधारहीन है अपितु स्वयं समकालीन कविता के लिए घातक भी है। इसका कारण यह है कि, मेरी राय में, यह ऐब्सर्डिटी-बोध समकालीन कविता का एक सशक्त एवम् सुन्दर पक्ष है; इसके बिना, शायद यह कविता अपनी अस्मिता ही खो देगी। दूसरी बात जो मैंने रेखांकित करना चाही है यह है कि समकालीन कविता में ऐब्सर्डिटी के जो स्वर हैं वे अन्य कविताओं की तुलना में अधिक कोमल और अधिक मधुर हैं। ऐसा होना स्वाभाविक भी है क्योंकि साहित्य का भी, अन्य क्षेत्रों की भाँति, विकास होता है। समकालीन कविता और नयी कविता में समय का जो अन्तराल है उसने गत्यात्मक और सृजनात्मक भूमिका निभाई है। किन्तु यह दावा गलत है कि समकालीन कविता (कम से कम इस सन्दर्भ में) नयी कविता, अकविता आदि से प्रकारतः भिन्न है। वस्तुतः यह तो एक प्रवाह है और समकालीन कविता इस प्रवाह का अगला चरण मात्र है। तीसरा बिन्दु यह है कि जहाँ पहले की कविताओं में "निरर्थकता" और "विसंगति" ही मुख्य स्वर थे, वहाँ समकालीन कविता में इन स्वरों के अलावा इनके "अतिक्रमण" का स्वर भी उतना ही सशक्त है। समकालीन कविता अन्ततोगत्वा "अनिश्चय" की कविता नहीं बल्कि "निष्कर्ष" की कविता है। चौथी और अन्तिम बात यह कहना चाहता हूँ कि ऐब्सर्डिटी का बोध न तो किसी कविता का गुण हो सकता है और न ही दुर्गुण। कविता तो कविता ही होती है; उसका गुण अथवा अवगुण उसके कविता होने में ही निहित होता है। समकालीन कविता के कुछ हिमायती ऐब्सर्डिटी को शायद हेय अथवा पिछड़ेपन का प्रतीक समझते हैं और इसलिए समकालीन कविता में इसके बोध की उपस्थिति की जानबूझ कर अनदेखी करते हैं।

यह तो हुई समकालीन कविता "में" ऐब्सर्डिटी की बात। अधिक कठिन, और मेरी नजर में अधिक महत्त्वपूर्ण समस्या है समकालीन कविता की "समक्ष"

की। समकालीन कविता की 'पहचान", "समझ", "अस्मिता", "आत्मा" आदि के बारे में स्वयं समकालीन कविता के समर्थकों ने जो कुछ कहा है वह इतना अधिक भ्रान्त, असंगत, और कहीं कहीं आत्मविरोधी है कि उस "समझ" को समझ पाना लगभग असम्भव है। यहाँ मुझ से यह पूछा जा सकता है कि प्रस्तुत लेख में मैं इस विषय पर क्यों चर्चा कर रहा हूँ। मेरा उत्तर यह है कि समकालीन कविता की तथाकथित पहचान का विश्लेषण भी यह सिद्ध करता है कि समकालीन कविता वस्तुतः ऐब्सर्डिटी की ही कविता है। डॉ. बलदेव वंशी आदि की व्याख्याएँ मेरी दृष्टि का समर्थन ही करती हैं; यह दूसरी बात है कि स्वयं वे इसे स्वीकार करने में हिचकिचाते हैं।

इस सम्बन्ध में सबसे पहले समकालीनता की परिभाषा को लें। एक तरफ तो, "एक ही समय में विद्यमान रह कर रचना करना समकालीनता नहीं है",[१८] तथा, "तात्कालिकता के समस्त संगठन-तत्त्व समकालीन नहीं होते"[१९] और दूसरी तरफ, "समकालीनता में एक ही समय में रहने या होने का अर्थ निहित है।"[२०] मुझे लगता है कि समकालीनता के प्रत्यय में से समसामयिकता के प्रत्यय को निकाला नहीं जा सकता। डॉ. बलदेव वंशी ने समकालीनता के प्रत्यय को "परिष्कृत" करने का प्रयास किया है और उनका उद्देश्य समसामयिकता को इससे अलग करने का रहा है। श्री सुरेन्द्र चौधरी की यह बात बिल्कुल सही है कि सभी तात्कालिक तत्त्व समकालीन नहीं होते, परन्तु डॉ. बलदेव वंशी का समसामयिकता को पूरी तरह अस्वीकार करने का प्रयास असफल एवम् भोंडा ही प्रतीत होता है। समकालीनता के अर्थ को कितना भी उदार कर लें, समसामयिकता उसकी एक अनिवार्य शर्त रहती ही है। "समकालीन" की आत्मा ही "काल" है; इसके सन्दर्भ बिना यह शब्द तथा इससे इंगित प्रत्यय पूर्णतः बेमानी और निरर्थक हो जाता है। "समप्रवृत्ति" और "समकालीन" में एक सूक्ष्म भेद है जिसकी अनदेखी शायद किसी दबाव, किसी उद्देश्य, किसी साहित्येतर प्रयोजन के कारण की जा रही है। प्रवृत्तियों के आधार पर किया गया विभाजन कालिक नहीं होता, और काल के आधार पर किया गया विभाजन प्रवृत्ति से मूलतः सम्बन्धित नहीं होता है। इसका अर्थ यह भी नहीं है कि विभिन्न कालों में प्रवृत्तियों की पुनरावृत्ति नहीं होती है। परन्तु विसंगति यह है कि ये लोग इन दोनों विभाजनों में तादात्म्य समझ रहे हैं। एक ओर तो समकालीन कविता को आठवें दशक की कविता कहा जाता है, और दूसरी ओर इसकी पहचान काल से नहीं अपितु प्रवृत्तियों से दी है। सीधी सी बात है; बेचारे दुविधा में हैं। यदि "काल" तक ही सीमित हो जाएँ तो मुन्शी प्रेमचन्द से नाता टूट जाएगा, और

यदि "प्रवृत्तियों" को अपनाएँ तो प्रगतिवाद, जनवाद आदि से कैसे दामन बचा पाएंगे ?

दूसरी बात "विचार" की है। समकालीन कविता को "विचार कविता" कहलवाने के लिए कुछ लोगों ने एड़ी से चोटी तक का ज़ोर लगा रखा है। "समकालीन काव्यधारा की कविताओं का संकेतक 'विचार' है।"[२१] परन्तु इसी काव्यधारा के अन्तर्गत माने जाने वाले डॉ. रामदरश मिश्र का कहना है कि, "इसमें कोई सन्देह नहीं कि कविता का मूलभूत तत्त्व अनुभूति ही है।"[२२] विचार के प्रति एक पूर्वग्रह रखते हुए श्री राजीव सक्सेना कहते हैं कि, "वस्तुतः एक संवेदन विशेष का होना और उसकी तीव्रता भी मनुष्य के पूर्वज्ञान का फल होता है।"[२३] परन्तु स्वयं श्री सक्सेना भी यह मानेंगे कि यह पूर्वज्ञान भी तो आखिर किसी न किसी अन्य चीज़ का फल ही होगा। ऐसी स्थिति में या तो सब कुछ को किसी एक आदि कारण का परिणाम मानना होगा, या फिर ज्ञान और अनुभूति में से किसी एक को कार्य और दूसरे को कारण स्थापित करना असम्भव हो जायेगा। मात्र विचार को ही सही कविता का केन्द्र मानना एक बहुत बड़ी वैचारिक स्वप्रवंचना है। इसी अहंकार का परिणाम यह घोषणा है कि, "वह (समकालीन कविता) वास्तव में आज एक अघोषित विधायिका की स्थिति पर पहुँच कर अपनी ज़िम्मेदार भूमिका निभा रही है।"[२४] वास्तव में डॉ. हरदयाल की यह बात ठीक प्रतीत होती है कि अमानवीकरण के परिणामस्वरूप कवि की भावुकता का ह्रास हुआ है और "उसके स्थान पर उसकी विचारशीलता बढ़ी है।"[२५] विचार और अनुभूति को एक-दूसरे के विरोध में रख कर कोई सार्थक बहस सम्भव नहीं है। कौन सी काव्यधारा ऐसी थी जिसमें विचार नहीं था ? कौन सी कविता ऐसी है जिसमें अनुभूति नहीं है ?

तीसरी बात "विचार" और "विचारधारा" के भेद को लेकर करना चाहूँगा। समकालीन कविता को "विचार कविता" तो कहा जाता है किन्तु साथ ही यह भी स्पष्ट किया जाता रहा है कि यह विचारधारा को कविता नहीं है। दिलचस्प बात यह है कि समकालीन कविता को "विचार-कविता" मानने वाले एक ओर तो विचारधारा के घोर विरोधी हैं और दूसरी ओर, आवश्यकता पड़ने पर सहारा उन्हीं का लेते हैं जो स्पष्टतः किसी विशिष्ट विचारधारा से जुड़े हुए हैं। इससे भी अधिक दिलचस्प बात यह है कि खुले आम अपनी प्रतिबद्धता का डंका बजाने वाले लोग भी समकालीन कवियों को अपने खेमे से बाहर न होने देने के लिए एक ही साँस में विचारधारा (दृष्टिकोण कह देने से कोई अन्तर नहीं पड़ जाता) की स्थापना और खण्डन कर जाते हैं। "अगर द्वंद्वात्मक भौतिकवादी

दृष्टिकोण से इतिहास के विचारों की पहल ही नामंजूर कर दें तो विशुद्ध विचार अथवा अनुभववादी विचार वाला मोहभ्रम फैलेगा। ... विचारधारा का चरित्र वर्गीय होता है। ... विचारधाराएँ मिथ्या चेतनाएँ हैं। मार्क्सवादी दर्शन इस झूठेपन की चेतना से जागृत करता है।"[२६] दूसरी तरफ "प्रतिबद्ध विचार, कविता की स्वतंत्र प्रक्रिया को बाधित करता है।"[२७] किन्तु यदि यह जानना चाहें कि समकालीन कविता का जो "विचार" है और जो प्रतिबद्ध भी नहीं है, वह है क्या और उसका स्वरूप क्या है, तो उत्तर मिलेगा कि, "विचार कविता में एक साथ आंतरिक सत्य और सामाजिक यथार्थ का मिलनबिंदु उसे न तो कल्पना की अतिरंजना बनने देता है और न वस्तुवादिता बहिर्मुखता का प्रचार बनाता है।"[२८] यानी समकालीन कविता का "विचार" न तो "प्रतिबद्ध" है और न ही "शुद्ध"। इन लोगों की दुविधा यहाँ भी वही है। यदि "विचारधारा" को स्वीकार करें तो परिवर्तन को और कालक्रम को भी स्वीकार करना होगा, क्योंकि "कोई भी विचारधारा या सिद्धान्त अंतिम सत्य नहीं होता है, वह तो सत्य को समझने का एक 'कोण' होता है।"[२९] ऐसा स्वीकार कर लेने के बाद ये लोग अपनी बात को कैसे "सत्य" सिद्ध कर पाएँगे? दूसरी तरफ, यदि ये लोग "शुद्ध विचार" को स्वीकार करें तो "स्वतंत्रता", "मूल्यों का परिवर्तन", और अतिक्रमण" आदि प्रिय चीजों से हाथ धोना पड़ेगा। फलतः साँपछछूंदर जैसी स्थिति में पड़ कर कभी इधर और कभी उधर लुढ़कते हैं, और न इधर के रहते हैं न उधर के। श्री अजित कुमार ने ठीक ही कहा है कि, "विचार पर इतना अधिक जोर! लेकिन 'विचारधारा' से दामन बचाना! यह तो वही मसल हुई कि 'गुड़ खाये और गुलगुलों से परहेज'।"[३१]

समकालीन कविता की "पहचान" के उपर्युक्त विश्लेषण से मेरा आशय मात्र यह दिखाना है कि समकालीन कविता 'में' ही ऐब्सर्डिटी का बोध नहीं है, बल्कि उसकी 'समझ' में तो कहीं अधिक ऐब्सर्डिटी परिलक्षित होती है। यदि समकालीन कविता की इस 'पहचान' का विश्लेषण करके हम इसके सम्बन्ध में किसी निष्कर्ष पर पहुँचना चाहें तो मौत के अतिरिक्त और कोई अभिव्यक्ति शेष नहीं रहती।

— प्रकाश श्रीवास्तव

दर्शन विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय
जयपुर– ३०२००४
(राजस्थान)

टिप्पणियाँ

१. आई. ए. रिचर्ड्स् आदि : दि मीनिंग ऑफ मीनिंग ।
२. पी. एच. नॉवेल-स्मिथ : ऐथिक्स ।
३. डॉ. रमेश कुन्तल मेघ : " सर्जनात्मक विचारों के सन्दर्भ में मनुष्य और उसकी दशा "– समकालीन कविता : विचार कविता । सं. बलदेव वंशी । पृ. २९
४. अलबेअर कामू : दी मिथ ऑफ सिसीफस ।
५. विलियम बैरेट : इररैशनल मैन ।
६. विश्वनाथप्रसाद तिवारी : बेहतर दुनिया के लिए ।
७. धूमिल : " मोचीराम " ।
८. गोविन्द माथुर : शेष होते हुए ।
९, गोविन्द माथुर : तत्रैव ।
१०. गोविन्द माथुर : तत्रैव ।
११. बलदेव वंशी : ' दर्शक दीर्घा ' से ।
१२. बलदेव वंशी : उपनगर में वापसी ।
१३. चन्द्रकान्त देवताले; " दृश्य " ।
१४. वेणु गोपाल : " ब्लैकमेलर " ।
१५. राजीव सक्सेना : " अस्तित्व का गीत " ।
१६. लीलाधर जगूड़ी : ' इस व्यवस्था में " ।
१७. जगन्नाथ प्रसाद दास : " महाभारत " ।
१८. बलदेव वंशी : समकालीन कविता : वैचारिक आयाम । पृ. १८
१९. डॉ. सुरेन्द्र चौधरी : समकालीन कविता पर एक बहस । पृ. १७
२०. बलदेव वंशी : समकालीन कविता : वैचारिक आयाम । पृ. १७
२१. बलदेव वंशी : समकालीन कविता : वैचारिक आयाम । पृ. २१
२२. रामदरश मिश्र : " कविता में अनुभूति और विचार "– समकालीन कविता : विचार-कविता । स. बलदेव वंशी । पृ. ३८
२३. राजीव सक्सेना : " विचार-कविता और संवेदनशीलता "– समकालीन कविता : विचार-कविता । पृ. ७६

२४. बलदेव वंशी : समकालीन कविता : विचार-कविता । पृ. २३

२५. डॉ. हरदयाल : " विचार कविता का परिदृश्य "- समकालीन कविता : विचार-कविता । पृ. ५९

२६. डॉ. रमेश कुन्तल मेघ : " सर्जनात्मक विचारों के सन्दर्भ में मनुष्य और उसकी दशा "- समकालीन कविता : विचार-कविता । पृ. २६

२७. बलदेव वंशी : समकालीन कविता : वैचारिक आयाम । पृ. २१

२८. डॉ: विनय : विचार-कविता की भूमिका ।

२९. डॉ. वीरेन्द्र सिंह : " समकालीन कविता में विचार का रचनात्मक सन्दर्भ "- समकालीन कविता : विचार-कविता । पृ. ११९

३०. अजित कुमार : " विचार कविता : भावुक या रोमानी प्रवृत्ति का निषेध "- समकालीन कविता : विचार कविता । पृ. १४०

संस्कार-विज्ञान का सैद्धान्तिक विवेचन

— १ —

भारतीय धार्मिक जीवन में संस्कारों का महत्त्व सर्वोच्च माना गया है। इन संस्कारों का कोई वैज्ञानिक आधार है अथवा नहीं ? इस तरह के प्रश्न जिज्ञासु भारतीय मानस को उद्वेलित करते रहते हैं। प्रस्तुत निबन्ध में समाधान हेतु, आधारभूत सिद्धांतों को समझने का प्रयास किया गया है। दर्शन एवं विज्ञान का परस्पर घनिष्ठ संबंध है। दार्शनिक विवादों की आधार-भूमि में ही विज्ञान के बीज अनावृत होते रहते हैं। अर्थात् दर्शन ही विज्ञान का जन्मदाता है। इसलिये संस्कार-विज्ञान को जानने के लिए वैदिक दार्शनिक सिद्धांतों को समझना अनिवार्य है, क्योंकि उनको अवगत करने पर संस्कार-विज्ञान का स्वरूप स्पष्ट होता है।

यूनानदेशीय दार्शनिकों द्वारा स्वीकृत 'पदार्थ' की मान्यता के आधार पर आधुनिक विज्ञान का विराट् महल खड़ा है। पदार्थ एक भौतिक स्वरूप वाला तत्त्व है। अतएव पाश्चात्य परम्परा के वैज्ञानिकों ने भौतिक-समृद्धि में अतिशय सफलता प्राप्त की है। परन्तु वैदिक दर्शन में भौतिक तत्त्वों को प्रधान स्थान न देकर भाव को मुख्य माना गया है। भाव से ही भौतिक जगत् के पदार्थों की उत्पत्ति हुई है। वैदिक मान्यता के अनुसार इस चराचर जगत् का निर्माण 'शब्दसृष्टि' द्वारा हुआ है। सबसे पहले ईश्वर ने इच्छा की, फिर उस इच्छा के अनुसार शब्द का उच्चारण किया, जैसे-जैसे शब्दों का उच्चारण ईश्वर के द्वारा हुआ वैसे-वैसे ही जगत् के पदार्थ सृजित होने लगे। इसलिये कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं है जिसका शब्द द्वारा ज्ञान न हो। अतः यह निश्चित सिद्धांत स्थापित होता है कि शब्द (ब्रह्म) के तात्त्विक ज्ञान होने पर अर्थ (पदार्थ जगत्) भी ज्ञात हो जायेगा।' अर्थ ' अर्थात पदार्थ जगत् तो शब्द (ब्रह्म) का **विवर्त है।** इस शब्द तत्त्व का विवेचन करते हुए महान् भाषा वैज्ञानिक यास्क (८०० ई०पू)

ने सम्पूर्ण शब्दों को (पदों को) चार में भागों में विभाजित किया है – नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात। इन चारों में उपसर्ग तथा निपात मुख्य नहीं हो सकते, क्योंकि ये स्वतंत्र अर्थ न रख कर नाम या आख्यात के अर्थ को ही द्योतित करते हैं। इनकी गणना भी सीमित होने के कारण की जा सकती है। परन्तु नाम तथा आख्यात अनन्त हैं तथा इनका अर्थ भी परस्पर स्वतंत्र है। जगत् में जिस जिस अर्थ (पदार्थ) की सत्ता प्रत्यक्ष होती है वह सत्ता-प्रधान नाम है। इसे ही पाश्चात्य दार्शनिक पदार्थ कहते हैं। चतुर्थ प्रकारके पद वे हैं जिनमें भाव-प्रधान है। क्रिया वाचक शब्द आख्यात में भाव प्रधान होता है। वाक्य में अथवा जहां कहीं भी नाम एवं आख्यात दोनों का प्रयोग होवे वहां 'भाव' ही प्रधान होता है। अतः यह अच्छी तरह माना जा सकता है कि वैदिक दर्शन में भाव को मुख्य माना गया है। इस भाव को जानना दुर्गम है, क्योंकि यह प्रत्यक्ष ही नहीं होता है। केवल क्रिया में इसके छः विकार (जन्म, स्थित होना, विपरिणाम, वर्धन, अपक्षय एवं विनाश) दृष्टिगत होते हैं। इसी भाव को पदार्थ (नाम) से प्रधान माना गया है।[१] नाम (सत्ताप्रधान) का बोध तो हम किसी भी इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष कर सकते हैं लेकिन भाव (क्रिया में दृष्ट) का बोध अनुमान-गम्य है। क्योंकि क्रिया के सम्पूर्ण अवयवों का एक साथ प्रत्यक्ष संभव नहीं हैं। केवल क्षण प्रतिक्षणों में होने वाले सूक्ष्म अंशो का प्रत्यक्ष संभव होता है। क्रिया कभी भी पदार्थ (नाम) की तरह प्रत्यक्ष नहीं हो पाती है जैसे "गच्छति" (जाता है) इस क्रियावाचक शब्द का जो अर्थ हमें ज्ञात होता है वह पदार्थ की तरह सत्तावान् नहीं है जिसे हम अन्य को प्रत्यक्ष करवा दें। अपि च अनुमान, उपमान, अथवा शब्द प्रमाण का ही आश्रय लेना होगा।[२]

अब यहां शंका उत्पन्न होती है कि क्रिया क्यों नहीं प्रत्यक्ष होती? इसका कारण यह है कि क्रिया सर्वदा काल (समय) से अन्वित रहती है। क्रिया से काल को पृथक् नहीं किया जा सकता। काल को हम प्रत्यक्ष नहीं कर पाते अपितु सूर्य में होने वाली गति (क्रिया) को आधार मानकर काल का अनुमान करते हैं। इसलिए यह सिद्धांत निष्पन्न होता है कि पदार्थ कभी भी सत्तारहित नहीं होते हैं। सत्ता कभी क्रियारहित नहीं होती, क्रिया कभी काल रहित नहीं होती है। अर्थात् काल में ही पदार्थ विभिन्न विकारों को प्राप्त करते हैं। पदार्थ काल में ही उत्पन्न, स्थित तथा विनष्ट होते हैं। इसलिए काल की सत्ता सर्वोच्च है। इस सिध्दांत को भाषा के प्रयोग से समझा जा सकता है।[३] मनुष्य जिस भाषा को बोलते हैं उस भाषा की मूल इकाई वाक्य है। वाक्य में चारों पद (नाम,

आख्यात, उपसर्ग एवं निपात)या इनके समूह हो सकते हैं लेकिन वाक्य में यह आवश्यक है कि एक आख्यात (क्रियावाचक) शब्द हो, अन्यथा अर्थ की समाप्ति न होगी एवं वाक्य न बन पायेगा । वाक्य का एक पूर्ण अर्थ होना चाहिए जो बिना क्रिया वाचक शब्द के संभव नहीं है। अतः सभी शाब्दिक (नैरूक्त, वैया-करण एवं मीमांसक) संप्रदाय में भाव को मुख्य मानते हुए नाम अर्थात् पदार्थ को मुख्य नहीं माना गया है। समग्र भारतीय विज्ञान में क्रिया या भाव को मुख्य माना गया है। आयुर्वेद, गणित, ज्योतिष, व्याकरण एवं अन्य विज्ञानमूलशास्त्र इसमें प्रमाण हैं। क्रिया को मुख्य मानने का सिद्धान्त वैदिक संस्कारों से उद्भूत हुआ है।

— २ —

"संस्कार" का अर्थ है किसी का किसी कर्म में योग्यता-सम्पादन। योग्यता-सम्पादन से तात्पर्य है कि प्रत्येक कार्य की योग्यता तीन तरह के तत्वों से साधित होती है : १) दोष-शोधक तत्त्व, २) अतिशय कारक तत्त्व, ३) हीनांग के पूरक तत्त्व।

किसी अयोग्य वस्तु को संस्कृत करने के लिए तीन उपायों की आवश्यकता होती है। खान से निकला हुआ लोहा मलयुक्त होने से व्यवहार के योग्य नहीं होता है। यदि उससे तलवार बनानी हो तो पहले 'दोषमार्जन कर्म' अर्थात् अशुद्ध लोह को साफ करना होता है। तदनन्तर उसको आग में नियमित तपाकर इस्पात बनाना और उस इस्पात को तलवार के रूप में बनाना 'अतिशय कारक' कर्म है। अतिशयाधान द्वारा तलवार बनने पर इसे लकड़ी, सोने या चांदी से जड़ना या मूठ बनाना 'हीनांगपूर्ति' है। इसी प्रकार कपास के वृक्ष से प्राप्त मलिन कपास को साफ करना 'दोषमार्जन' है। उससे कपड़ा, कुर्ता बनाना 'अतिशयाधान' है और बटन आदि लगाकर पहनने योग्य बनाना 'हीनांगपूर्ति' है। अतः संस्कार मुख्यतः तीन तरह की क्रिया-विशेष है।

प्रथम प्रकार के 'संस्कार' वह क्रिया है, जिसके अभाव में स्वरूप होते हुए भी किसी अधम कार्य के कर्तृत्व संयोग से अयोग्यता मान ली जाती है। जैसे, ब्राह्मण निषिद्ध कर्मों के (सुरापान, ब्रह्महत्या इत्यादि) आचरण से अधमता को प्राप्त कर सकता है किन्तु अपने ब्राह्मणत्व को जन्म से प्राप्त होने के कारण नहीं छोड़ सकता है। यह संभव है की निषिद्ध-कर्मों के कार्यानुष्ठान से उसे किसी कर्म-विशेष में अयोग्य मान लिया जाये। इस तरह के अयोग्यता साधक कारणों को दूर करने वाले संस्कार को 'शोधक संस्कार' कहते हैं।

द्वितीय प्रकार के संस्कार वह क्रिया है जिसके अभाव में स्वरूप होते हुए भी उत्तमता को नहीं प्राप्त कर पाता है। जैसे ब्राह्मण होने पर भी वेदाध्ययनादि कर्मों के अनुष्ठानाभाव से किसी विशेष कर्म में अयोग्य मान लिया जाये। अतः इस तरह की अयोग्यता दूर करने के लिए उत्तम क्रिया का अनुष्ठान रूपी संस्कार विशेषता वा अतिशयता प्रदान करता है। उस संस्कार को विशेषक-संस्कार कहते हैं।

तृतीय प्रकार के संस्कार वह क्रिया है जो कार्य को शोधित अथवा विशेषित न करके, उत्पन्न ही करते हैं। दधि में घृत वर्तमान होने पर भी दधि घृत नहीं कहलाता। अर्थात् मंथन क्रिया से संस्कृत होने पर दधि, तक्र एवं घृत कहलाता है। अतः घृत को संस्कार रूपी क्रिया से ही उत्पन्न कहा जाता है। अतः ब्राह्मणत्व भी संस्कारजन्य है। "जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद्द्विज उच्यते" की उक्ति प्रसिद्ध है। अतः इस तरह के संस्कार को शास्त्रविद् भावक संस्कार कहते हैं।

— ३ —

उपरोक्त वर्गीकरण साधक तत्त्वों को दृष्टिगत करके माना गया है। विषय के आधार भी तीन तरह के संस्कार हैं – (१) नित्य, (२) नैमित्तिक, (३) काम्य।

१. नित्य संस्कार

नित्य संस्कार से तात्पर्य यह है कि जो संस्कार धर्मशुद्धि के लिये किये जाते है इन्हें शोधक-संस्कारों के अन्तर्गत मानना चाहिए। ये भी तीन तरह के हैं – दैनिक, मासिक एवं वार्षिक। दैनिक 'संध्या' तथा 'अग्निहोत्र-क्रिया' एवं पंच महायज्ञ का करना आता है। सन्ध्या तथा अग्निहोत्र की वैज्ञानिकता से तो सभी परिचित हैं। प्रत्येक मनुष्य पर 'ऋण पंचक' (देव, ऋषि, पितृ, मनुष्य एवं भूत) होने से यज्ञानुष्ठान में अयोग्यता रहती है। अतः दैनिक यज्ञ, पूजा, उपवास एवं व्रतादि से देवऋण, स्वाध्याय, अध्यापन एवं तपादि के द्वारा ऋषिऋण, श्राद्ध' तर्पण एवं प्रजोत्पादन के द्वारा पितृ ऋण, सरलता, प्राणिमात्र में दयाभाव एव अतिथि सेवा से मनुष्य ऋण और बलि, वैश्वदेव तथा पंचबलि (गौ, श्वान, काक, पिपीलिकादि) से भूत-ऋण से मुक्त होवे। ये दैनिक संस्कार हैं जो धर्मशुद्धि करते हैं। गृहस्थों के गृह में चूल्हे, चक्की, जल आदि में पांच तरह की जीव हिंसा होति है वह पंचसुना दोष भी इन पंच महायज्ञों से दूर होता है। ५ मासिक

संस्कार में पार्वणादि माने जाते हैं एवं वार्षिक संस्कार में आग्रायण, अष्टका, श्रावणी पूर्णिमा में उपाकर्म, मार्गशीर्ष पूर्णिमा में उत्सर्ग, आश्विन में पार्वण आदि संस्कार विशेष आते हैं जो वर्ष में केवल एक बार ही किये जाते है। [६]

२. नैमित्तिक संस्कार –

निमित्त के कारण ये संस्कार करने पड़ते हैं अतः ये नैमित्तिक कहलाते हैं। अब इसके विषय में चर्चा की जा रही है। गृहस्थ के लिए पितृ-ऋण मुक्ति के लिए प्रजोत्पादन अनिवार्य है। माता एवं पिता द्वारा किये जाने वाले संस्कार भी तीन तरह के हैं। पहला भावक-संस्कार 'गर्भाधान' है। यह अपत्य स्वरूप संपादन उद्देश्य से सहधर्मचारिणी क्षेत्र में शरीराग्नि के सान्निध्य में गर्भाशय में स्थापन क्रिया वाला होने से 'गर्भाधान' नाम से व्यवहृत होता है। द्वितीय विशेष संस्कार, 'पुंसवन' 'सीन्मतोन्नयन' एवं 'विष्णुपूजन' आदि हैं, जो गर्भ में ब्रह्म भाव योग्यता को अतिशय पुरुषता आदि विशेषता प्रदान करते हैं। इन संस्कारों को अधिकरण के आधार पर अन्तर्गर्भ संस्कार कहा जाता है। तृतीय शोधक संस्कार जातकर्म, नामकर्म, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, कर्णवेध, मुण्डण एवं स्नानादि हैं, जो कि गर्भ से जीव के बाहर आने पर बहिःशाला में शुक्रशोणित संयोग से उत्पन्न दोषों के परिमार्जन के लिए आयोजित होते हैं। मनुष्य 'पंचभूतों' (पृथिवी, आकाश, जल, वायु एवं तेज) से निर्मित होता है। जन्म के बाद वह पंचभूतों के ज्ञान को प्राप्त करता है। अतः उसके ज्ञान कर्मानुसार ही संस्कार किये जाते हैं। जन्म से ही शिशु रूपज्ञान वाला हो जाता है। अतः प्रथम संस्कार 'जातकर्म' किया जाता है, जिसका उद्देश्य है चक्षुग्राह्यरूप ज्ञान की योग्यता का सम्पादन। द्वितीय संस्कार 'नामकर्म' है। इसका उद्देश्य श्रावण प्रत्यक्ष की योग्यता-सम्पादन करना है। यथार्त् नामकरण होने पर उसे एक नाम-विशेष से पुकारा जाना शुरू हो जाता है। तृतीय संस्कार 'अन्नप्राशन' है जो रासन प्रत्यक्ष की योग्यता सम्पादित करवाता है। 'अन्नप्राशन' के बाद जिहवा से सभी भोज्य एवं पेय पदार्थों के प्रत्यक्ष की योग्यता प्राप्त हो जाती है। चतुर्थ संस्कार है 'चूड़ाकरण, इससे स्पर्श प्रत्यक्ष की योग्यता प्राप्त होती है। शिशु जब केशों के वपन के बाद अपने शीर्ष प्रदेश पर हाथ फेरता है तब उसे एक विशेष स्पर्श की प्रत्यक्षता अवगत होती है। पंचम संस्कार है 'स्नान' जो गंध प्रत्यक्ष की ोग्यता से सम्बन्धित है। स्नान के अननुष्ठान से शरीर दुर्गन्ध तथा मलयुक्त हो जाता है। इसलिये अष्टविध स्नानों का - गंध - शुध्दि के लिये विधान किया गया है। इस तरह सिद्ध होता है कि ये गर्भशुद्धि संस्कार हैं [७] जो कि

पांचभौतिक शरीर की शुद्धि के लिए हैं। ये मातृपितृकर्तृक हैं। इन संकारों के निष्पन्न होने पर अनुव्रतादि 'उत्तरसंस्कार' की योग्यता प्राप्त हो जाती है।

तत्पश्चात् नैमित्तिक संस्कार आचार्य कर्तृक होते हैं। आचार्य इस पांचभौतिक शरीर को ब्रह्ममय करता है। ब्रह्मनिष्ठता को प्राप्त करने लिए भी त्रिविध संस्कार करने होते हैं। प्रथम वर्णभावक 'उपनयन संस्कार' है। इसमें स्वरूप सम्पादन के उद्देश्य से सावित्रीक्षेत्र में ब्रह्मचर्यव्रतरूप में कर्माग्नि के समीप संस्कार्य की स्थापना की जाती है। इसके बाद द्विजत्व की प्राप्ति हो जाती है। तत्पश्चात् गुरुकुल में रहता हुआ विद्यार्थी, व्रतादेश, वेदारम्भ, वेदाध्ययन, गायत्री जप, अग्निहोत्र, महाव्रतोत्सर्ग, केशान्त एवं समावर्तन स्नानादि संस्कारों को आचार्य के निर्देश में करता है। इन संस्कारों से यज्ञ-क्रिया की योग्यता में अतिशय विशेषता प्राप्त होती है।[८] अतः ये विशेष संस्कार कहलाते हैं। इनसे संस्कार्य में उत्तमता सम्पन्न हो जाती है। इन्हें 'अनुव्रत संस्कार' भी कहा गया है। इनसे ब्रह्मनिष्ठता सम्पन्न हो जाती है। तदनन्तर विवाह संस्कार होता है। यह संस्कार गृहस्थाश्रम में प्रवेश कराता है। अब तक जो संस्कार बताये गये हैं वे माता पिता तथा आचार्य कर्तृक हैं। लेकिन विवाह संस्कार वर तथा कन्या के कर्तृत्व में होता है। बिना गृहिणी के मनुष्य का दैव, पित्र्य तथा नित्य कर्म में अधिकार नहीं है। स्त्रियों के द्वारा ही सभी ऋणों से मुक्त होता हुआ मानव स्वर्गादि लोकों को भोगता हुआ दुर्लभ मोक्ष प्राप्त करता है।[९] इस विवाह संस्कार के सम्पन्न होने पर गृहस्थ के कर्मवहन करने की क्षमता प्राप्त होती है। अतः यह भी 'भावक संस्कार' है। गृहस्थाश्रम में प्रवेश के बाद के 'ऋणपंचक' एवं 'पंचसूना' आदि दोषों के परिमार्जन के लिए नित्य (दैनिक, मासिक, वार्षिक) संस्कार पहले ही कहे जा चुके हैं। वे सब शोधक संस्कार हैं।

नित्य तथा नैमित्तिक संस्कारों के सम्पन्न होने पर मनुष्य संस्कृत होकर ब्राह्म पद को अधिगत कर लेता है। ब्राह्म पद से तात्पर्य यह है कि सर्वश्रेष्ठ अष्ट गुणों का वैशिष्ट्य प्राप्त होना। वे आठ गुण हैं धृति, क्षमा, दया, शौच, अनायास, अनसूया, अस्पृहता एवं अकामता।[१०] अब तक जितने संस्कार बताये गये हैं वह सब इस ब्रह्म प्राप्ति के लिए की हुई क्रिया-विशेष के नाम हैं। इन सभी ब्राह्म संस्कारों की क्रियाओं से संस्कृत होने पर ऋषियों की सामानता एवं सायुज्यता को प्राप्त किया जा सकता है। ये 'पूर्व संस्कार' कहलाते हैं।

अब 'उत्तर संस्कार' अर्थात् देवसंस्कारों की चर्चा की जायेगी। "अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि, वायो व्रतपते व्रतं चरिष्यामि, आदित्य व्रतपते व्रतं चरिष्यामि,

इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि" इत्यादिक वैदिक घोषणा द्वारा देव संस्कार की जिज्ञासा समुद्भूत हुई। स्वरूप संपादन उद्देश से सत्यक्षेत्र में देवव्रत रूप के लिये गार्हपत्य एवं आहवनीय अग्नि के समीप में संस्कार्य की स्थापना, इस व्रतोपनायन संस्कार में की जाती है अतः यह 'देवभावक' संस्कार है। इसके पश्चात् अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, पिण्डपितृयज्ञ आग्रायणेष्टि, चातुर्मास्य, निरूढपशुबंध तथा सौत्रामणी ये सात 'हविर्यज्ञसंस्था' नामक संस्कार यजमान में देवत्व योग्यता रूप अतिशय विशिष्टता के विधायक होने से 'देवविशेषक संस्कार' कहलाते हैं। सप्तपाक यज्ञ यजमान के सभी ऋणसम्बधादि दोषों का मार्जन करते हैं, अतः ये शोधक संस्कार होते हैं। सप्त पाकयज्ञ में सात कौन-कौन से इस पर कुछ विवाद है। इस विषय में तीन मत प्राप्त होते हैं। प्रथम मत से गृह्याग्निपरिग्रह, पंचयज्ञानुष्ठान, अष्टक पार्वण श्रावणी, आग्रहायणी, चैत्री एवं आश्वयुजी, द्वितीय मत से औपासन होम, वैश्वदेव, स्थालीपाक, आग्रायण, सर्पबलि, ईशानबलि एवं अष्टकान्वष्टका – इस तरह यह सात पाक यज्ञ स्वीकार किये जाते हैं। इनसे यजमान सौम्यादि काम्य संस्कार की योग्यता संपादित कर लेता है तथा कृतकर्मा कहलाता है एवं सबको प्राप्त करता हुआ सबको जीत लेता है। [११]

३. काम्य संस्कार

मनुष्य संकल्प-सिद्धि करना चाहता है। संकल्प का उदय पहले होता है, क्रिया-सृजन बाद में होता है। मनुष्य का जीवन प्रयोजन-रहित नहीं है अतः अपने सद्संकल्प को साधित करने के लिए संस्कार अमोघ ब्रह्मास्त्र माने गये हैं। अतः कामना-साधक होने से इन्हें काम्य संस्कार कहा जाता है। इनमें 'सप्त सोम यज्ञ' मुख्य हैं: परमाग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र एवं आप्तोर्याम। इसके अतिरिक्त भी बहुत से काम्य संस्कार हैं जो भिन्न भिन्न प्रयोजन को दृष्टिगत करके समनुष्ठित किये जाते हैं, जिनके नाम हैं – महाव्रत, राजसूय, कुरूवाजपेय, सर्वतोमुख, पौण्डरीक, अभिजित्, विश्वजित्, अश्वमेध, नरमेध, गोमेध, गवामयन, अंगिरसामयन, आदित्यानामयन, विश्वसृजामयन, सत्र, बृहस्पतिसव, आंगिरस तथा अष्टादशविधचयन। ये सभी संस्कार अदृष्ट का उत्पादन करने से भावक संस्कार' हैं एवं फलसिद्धि होने से अतिशयता को प्रदान करने से विशेषक भी हैं।

काम्य संस्कारों में भी शोधक संस्कार होते हैं जिन्हें प्रायश्चित्त के नाम से अभिहित किया है। पंच महापातकी (ब्रह्महत्या, सुरापान, सुवर्णस्तेय, गुरुस्त्री गमन करनेवाला एवं इन चारों से सम्पर्क) अतिपातकी एवं अभक्ष्यादि निषिद्ध

वस्तुओं के सेवन तथा इन्द्रियों के अनिग्रह से मनुष्य पतन को प्राप्त करता है। इन सभी दोषों के निरास के लिए कृच्छ्र, संतापन, चांद्रायण, प्राजापत्यादि व्रतों तथा नियमों का विधान किया गया है। प्रायश्चित्त संस्कार से पातकों की समाप्ति होकर शुद्धि प्राप्त होती है। अतः प्रायश्चित्त 'शोधक-संस्कार' हैं।

— ४ —

वैदिक साहित्य में यज्ञ की मान्यता को सर्वत्र सर्वोच्च प्रतिपादित किया है। यजुर्वेद ने कर्म करने को जीवन का मुख्य लक्ष्य सिद्धान्तित किया है।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जीजीविषेच्छतं समा।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥ —यजुर्वेद ४०/२

इस तरह यज्ञ को महर्षियों ने सूक्ष्मदृष्टि से परीक्षण किया एवं भाव-मुख्यता, का अलौकिक वैज्ञानिक सिद्धांत प्राप्त किया। उन्होंने पाया कि जितनी भी चर जगत् की क्रियाएं हैं उनके व्यापार के साथ एक फल भी पैदा होता है। कोई भी ऐसी क्रिया नहीं हो सकती जिसका फल न हो एवं ऐसा कोई भी फल नहीं हो सकता जो बिना क्रिया के संभव हो।[१२] अतः पदार्थों को मुख्य स्थान न देकर क्रिया (संस्कार) को मुख्य माना गया है। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि इसी सिद्धांत के बीज से भारतीय विज्ञान (व्याकरण, ज्योतिष, गणित, आयुर्वेद आदि) का वटवृक्ष खड़ा है। यह विज्ञान चेतन विज्ञान है। इसलिये अमर है। वटवृक्ष का जीवन एक बीज में भी होता है। बीज बचने पर पुनः अनुकूल संस्कार से वृक्ष उत्पन्न हो सकता है। लेकिन पश्चात्य पदार्थ-विज्ञान का महल नष्ट होने पर पुनः ऊसी प्रकार का फिर बनना असंभव है तथा इस पदार्थ-विज्ञान को काल (समय) समाप्त करता आया है। यह नित्य नहीं है। जबकि भारतीय विज्ञान क्रिया-मुख्यता के कारण किसी भी पदार्थ में कैसी भी योग्यता सम्पादित कर सकता है।

आज पाणिनीय व्याकरण की वैज्ञानिकता को विश्व के सभी बुद्धिजीवी स्वीकारते हैं। यह पाणिनीय व्याकरण वैदिक संस्कार-तत्त्व का उपजीवक है। आचार्य भर्तृहरि ने व्याकरण को शब्द-संस्कार कहा है तथा इससे ब्रह्मामृत की प्राप्ति को प्रतिपादित किया है।[१३] मनुष्य के शरीर को क्रिया के आधार पर तीन तरह का माना जाता है – काया, वाक् एवं बुद्धि। काया का संस्कार 'चिकित्साशास्त्र' है, वाक् (भाषा) का संस्कार 'लक्षण-शास्त्र' (व्याकरण, निरुक्त एवं छन्द) है,

एवं बुद्धि का संस्कार 'अध्यात्मशास्त्र' है। ये सभी संस्कार केवल शोधक हैं,[१४] भावक अथवा विशेषक नहीं हैं। इन शास्त्रों से केवल विशुद्धि होती है। मन एवं चक्षु आदि इन्द्रियों को संस्कार समाधान-कारक एवं अंजनादि हैं। उसी तरह विषय का संस्कार उनकी गन्धप्रतिपत्ति है। अर्थात् गन्धवती पृथ्वी है, लेकिन जलाभाव से गंध की प्राप्ति नहीं होती है। जैसे ही पृथ्वी पर जलसेचन संस्कार किया जाता है, वैसे ही गंध की प्राप्ति होने लग जाती है।[१५] इसलिए देववाणी को व्याकरणरूपी संस्कार क्रिया से संस्कृत होने पर ही 'संस्कृत' कहा जाता है। इसी संस्कार-विज्ञान के आधार पर गणित में भाव को प्रधान मानकर शून्य, ऋणांक, कर्णी एवं कलनविधि आदि के सिद्धांत को तात्त्विक रूप से स्वीकार किया है। इसी के अनुसार सूर्यादि ग्रहों में होने वाली क्रिया को मुख्य आधार मानकर घटी, दिन, अहोरात्र, मास, संवत्सर को तात्त्विक रूप से ज्योतिष में स्वीकार किया है। इसी क्रिया (भाव) के सम्पूर्ण शरीर को ध्यान में ले कर महर्षि चरक ने क्रिया से सम्बन्धित दस तत्त्वों के (कर्ता, कर्म, करण, कारण, कार्ययोनि, कार्यफल, अनुबन्ध, देश, काल एवं प्रवृत्ति) आधार पर चिकित्सा का विधान किया है जो सिद्धि प्रदान करता है।[१६] पाश्चात्य विज्ञान में परिमित आकार को सत्य माना जाता है, इस कारण से उनकी प्रगति भी परिमित विषयों में है। भारतीय विज्ञान अनन्त, अनिर्वचनीय एवं अपरिमित शक्तिमान् ब्रह्म की ओर उन्मुख है। अतः इसका विज्ञानदर्शन भी नित्य, सनातन तथा अनन्त-शक्तिसाधक है।

इस तरह अब हम समझ सकते हैं कि संस्कार जीवन को संस्कृत करने वाले एवं वैज्ञानिक आधार को भी सिद्ध करने वाले हैं। कर्म का बीज संस्कार में निहित है। जैसे बीज से वृक्ष की उत्पत्ति होती है वैसे ही संस्कार से कर्म और कर्मफल-भोग की उत्पत्ति होती है। अतः ये सर्वाभीष्ट साधक हैं तथा इनका आधार वैज्ञानिक है यह सिद्ध होता है।

राजेन्द्र प्रसाद शर्मा

राष्ट्रीय विज्ञान, औद्योगिकी एवं
विकास अध्ययन-संस्थान
हिल साईड रोड, नई दिल्ली–११००१२

टिप्पणियाँ

१. (अ) चत्वारि पद जातानि नामाख्यातोपसर्गनिपाताः। तत्रैतन्नामाख्यातयोर्लक्षणं प्रदिशन्ति भावप्रधानमाख्यातं सत्व-प्रधानानि

नामानि । तद्यत्रोभे भावप्रधाने भवतः । निरुक्त १.१
(आ) षड् भावविकारा भवन्तीति वार्ष्यायणिर्जायतेऽस्ति विपरिणमते वर्धतेऽपक्षीयते विनश्यतीति । निरुक्त १.२

(इ) क्रियावाचकमाख्यातं लिंगतो न विशिष्यते ।
त्रीनत्र पुरुषान् विद्यात् कालतस्तु विशिष्यते ॥ – निरुक्त, १.१, दुर्गवृत्ति, १.१, पृ० ३

२. (अ) क्रियानामेयमत्यन्ताऽपरिदृष्टा । अशक्या क्रिया पिण्डीभूता निदर्शयितुं, यथा गर्भो निर्लुठितः । साऽसावनुमानगम्या । महाभाष्यम् १.३.१.
(आ) विसंस्थ वाता इव दह्यमाना, न लक्ष्यते विकृति सनिपाते ।
अस्तीति तां वेदयन्ते त्रिभावाः सूक्ष्मो हि भावोऽनुमितेन गम्यः ॥

–महाभाष्यम्, ३.२.१२३.

३. (अ) न च सत्तां पदार्थो व्यभिचरति । –महाभाष्यम्, ५.२.९४.

(आ) येन मूर्त्तीनामुपचयाश्चापचयाश्च लक्ष्यन्ते तं कालमाहुः । महाभाष्यम्, २.२.५

(इ) एक तिङ् वाक्यम् – महाभाष्यम् २.१.१.

(ई) तस्यैव कयाचित् क्रियया युक्तस्याहरिति च भवति रात्रिरिति च । कया क्रियया आदित्यगत्या तयैवासकृदावृत्तया मास इति भवति संवत्सर इति च ।

–महाभाष्यम् २.२.५.

४. कस्यचित् कस्मिंश्चित् कर्मणि योग्यतासम्पादनं हि संस्कारः । छन्दःसमीक्षा मधुसूदन ओझा, पृ. २२.

५. पंचसूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः ।
कण्डनी चोदकुंभस्तु वध्यते यास्तु वाहयन् ॥
तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महात्मभिः ।
पंच क्लृप्ता महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम् ॥
अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्
होमो दैवो बलिर्भौतो, नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥ – इति मन्वादिस्मृतिकाराः

६. सप्तैवाग्रयणाद्याश्च संस्कारा वार्षिका मताः ।
मासिकं पार्वणं प्रोक्तमशक्तानां तु वार्षिकम् ॥
महायज्ञास्तु नित्या स्युः संध्यावदग्निहोत्रवत् । आश्वलायनस्मृतिः

७. (अ) रेतोरक्तगर्भोपघातः पंचगुणः जातकर्मणा प्रथममपोहति, नामकरणेन द्वितीयम्, तृतीयं प्राशनेन, चूडाकरणेन चतुर्थम्, स्नानेन पंचमं इति हारीतः ।

(आ) गार्भैर्होमैर्जातिकर्मचौडमौंजीनिबन्धनैः ।
बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते ।। –मनुस्मृति, २.२७.

८. स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया शुभैः ।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ।।– मनुस्मृति, २.२८

९. अशुचिः स्त्रीविहीनश्च दैवे पित्र्ये च कर्मणि ।
यदह्ना कुरुते कर्म न तस्यफलभाग् भवेत् ।। ब्राह्मस्मृतिः

१०. धृतिः क्षमा दया शौचमनायासोऽनसूयितम् ।
अस्पृहत्वमकामत्वं ब्राह्मणानाममी गुणाः ।।
संस्कारैः संस्कृतः पूर्वैरुत्तरैरपि संस्कृतः ।
नित्यमष्टगुणैर्युक्तो ब्राह्मणो ब्रह्मलौकिकम् ।।
ब्राह्मं पदमवाप्नोति यस्मान्न च्यवते पुनः । गौतम स्मृतिः

११. " स य एतानि सर्वाणि करोति सकृतकर्मा । तस्य सर्वमाप्तं सर्वं जितम् ।।' –शतपथब्राह्मण

१२. नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि ।
अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतंकर्म शुभाशुभम् ।।

१३. (अ) संस्कृत्य संस्कृत्य पदानि उत्सृज्यन्ते । –महाभाष्यम १.१.१.

(अ) तस्माद्यः शब्दसंस्कारः सा सिद्धिः परमात्मनः ।
तस्य प्रवृत्तितत्त्वज्ञस्तद् ब्रह्मामृतमश्नुते ।। – वाक्यपदीय, २.१३२.

१४. कायवाग्बुद्धिविषया ये मलाः समवस्थिताः ।
चिकित्सालक्षणाध्यात्मशास्त्रैस्तेषां विशुद्धयः ।। – वाक्यपदीय, १:१४७

१५. इन्द्रियस्येव संस्कारः समाधानंजनादिभिः ।
विषयस्य तु संस्कारस्तद् गंधप्रतिप्रत्तये ।। – वाक्यपदीय १.७९.

१६. चरकसंहिता, III, ८.७३.

आगमिक और तांत्रिक विश्वदृष्टि – गोपिनाथ कविराज का अवदान

(क) आगम पराशक्ति का ही नामान्तर है ।

(क) 'स्वच्छन्द तंत्र' के चतुर्थ पटल में 'आगम' का स्वरूप निर्देश करते हुए कहा गया है – " आ समन्ताद् गमयति– अभेदेन विमृशति पारमेशं स्वरूपमिति कृत्वा पराशक्तिरेवागमः, तत्प्रतिपादकस्तु शब्दः सन्दर्भस्तूपायत्यात् शास्त्रस्य" –अर्थात् 'आगम' का मूल स्वरूप वह 'शक्ति' ही है जिससे परासत्ता आत्म–विमर्श करती है । शब्द सन्दर्भ विशेष को तो आगम इसलिए कहा जाता है कि वह उस शक्ति का प्रतिपादन करता है और जब हम शास्त्रविशेष के अर्थ में आगम शब्द का प्रयोग करते हैं तब उसका आशय वहां उसके 'उपाय' से माना जाता है । याने आगम का मुख्य अर्थ 'शक्ति' है और गौण अर्थ शब्दसदर्भ विशेष तथा उसकी अवगति–निरूपक उपाय, बताने वाले शास्त्र विशेष । आगम पराशक्ति का ही मामान्तर है ।

(ख) शक्ति की यह अवधारणा वैदिक-अवैदिक दर्शनों में पल्लवित नहीं है :

(ख) आत्मविमर्शनी शक्ति के इस विशिष्ट के प्रतिपादन का प्रयास वैदिक और अवैदिक – किसी भी दर्शन में नहीं पाया जाता । वैदिक दर्शनों में न्याय तथा वैशेषिक की बात करें – उनमें तो 'शक्ति' नाम का कोई पदार्थ ही नहीं है – जड शक्ति के रूप भी नहीं । यथाकथंचित् शास्त्रार्थ से कुछ कह भी लें तो भी आगमसम्मत स्वतंत्र शक्ति के रूप में वह नहीं ठहरेगी । मीमांसा दर्शन जिस 'शक्ति' नामक पदार्थ की सत्ता मानता है वह जड़ है, आगमसम्मत चिन्मय नहीं। सांख्य और पातंजल दर्शनों में प्रकृति को यदि शक्ति माना भी जाय तो वह भी जड़ और परिणमित होने वाली तथा पुरुष के लिये केवल गुणमयी अर्थात् बंधन-

स्वरूपिणी ही है। सांख्य में 'प्रतिक्षण परिणमति हि भावा: ऋतेचितिशक्ति:' तथा पातंजल में 'चितिशक्ति रपरिणामिति' के रूप में 'चितिशक्ति' शब्द तो मिलता है परन्तु उसका अर्थ 'आत्मा या पुरुष' ही है - साक्षी और कूटस्थ - न कि अगमसम्मत संकोचप्रसारात्मिका आत्मविमर्शिनी चिदानन्दमयी शक्ति। निष्कर्ष यह कि 'निगम' में इस शक्ति का संकेत है, परन्तु 'निगम' मूलक दर्शनों में प्रयोजन के अभाववश इसका कहीं भी व्याख्यान नहीं है। अवैदिक दर्शनों में चार्वाक का तो सवाल ही नहीं है - जैन और बौद्धों के आरम्भिक आचार प्रधान धर्म दर्शन में भी नहीं है। बात यह है कि ये दोनों धर्म-दर्शनपरक धाराएं मूलत: 'राग' के विरोध में आविष्कृत हुई थीं - जैन दर्शन 'कषाय' के रूपमें और हीनयान 'तन्हा' के रूप में राग के दमन पर ही बल देती थीं - शोधन पर नहीं। 'राग' अपने असंशोधित रूप में त्याज्य है और शोधित रूप में ग्राह्य है। बौद्ध और जैन धाराएं राग-निवृत्ति पर ही बल देने के कारण निवृत्ति मार्गी मानी जाती हैं। शंकर सम्मत उत्तर मीमांसा में भी आगम सम्मत 'शक्ति' की सत्ता अथवा उसका प्रतिपादन नहीं मिलता। शांकर मतानुयायी संक्षेप-शारीरक कार सर्वज्ञात्म मुनि ने 'अचिनय शक्ति' का उल्लेख किया है - पर ध्यान देते ही स्पष्ट हो जाता है कि वह कूटस्थ और निर्विशेष पुरुष या ब्रह्म के लिये ही प्रयुक्त नामान्तर है। 'आगम' में 'परतत्त्व' को 'शक्ति' से चन्द्र और चन्द्रिका की भाँति 'भानु' और 'प्रभा' की भाँति भिन्न तथा अभिन्न माना गया है। आगम - सम्मत 'शक्ति' की परिकल्पना वैदिक धर्मों के समान अवैदिक धर्म साधनाओं में भी बाद में प्रविष्ट हो गई। डॉ. शशिभूषण दास गुप्त का अनुमान है कि शक्ति की यह विशिष्ट साधना पारम्परिक रूप में वैदिक साधना के समानान्तर किंवा पहले से ही (Esoteric Yogic process) चलती चली आ रही थी। महामहिम पं. कविराज जी की भी धारणा है कि परम्परा में जीने वाली यह धारा पर्याप्त प्राचीन है और आर्येतर जातियों का भी कहीं इसमें योगदान है।

(ग) राग का ऊर्ध्वगामी रूप अंतत: शक्ति ही है– फलत: वही साध्य और साधन है

आगमिक विश्वदृष्टि की दूसरी विशेषता है - राग को महत्त्व देना– उसका दमन नहीं; एक विशिष्ट पद्धति और प्रक्रिया से शोधन। आगम संवेदनशील-द्रवशील प्रकृति के लोक का विश्वदर्शन है; रुक्ष प्रकृति के उन आत्मलीन साधकों का नहीं, जो लोक को आत्ममंगल में बाधक मानते हैं–फलत: त्याज्य और गर्हित समझते हैं। आगम 'राग' को अन्तत: 'चिदानन्दमयी शक्ति' मानता है। अपने

अधोमुखी रूप में वह आवरक है -बन्धन है - पर शोधित होकर अपने ऊर्ध्व-मुखी रूप में वह मुक्ति है – साधन भी और अन्ततः साध्य भी। 'रागेण बध्यते लोको रागेणैव विमुच्यते' - में यही आगमिक चेतना मुखरित है। रागलोक-परक या लोकोन्मुख होकर 'सेना' और 'लोकातीतपरक' होकर 'भक्ति' संज्ञा पाता है - यही इसका साधन और साध्यगत उर्ध्वमुखी रूप है। लोकातीत रति-कल्पित द्वैत की भूमि पर 'भक्ति – पर रति' आराध्य विषयक 'रति' है और अद्वैत भूमि पर 'आत्मरति' जहां 'तुभ्यमहंच नमो नमः' कहा जाता है, आत्मवि-मर्शिनी पराशक्ति के रूप में राग एक ही है - वासना भेद से उसकी आत्मक्रीड़ा में वैविध्य सम्भव है। बात यह है कि ज्ञान वस्तु के और राग इच्छा के अधीन होता है। रुक्ष प्रकृति के लोगों में शुद्ध वासना होती ही नहीं और अशुद्ध का क्षय हो जाता है - अतः 'वस्तु' का पारमार्थिक रूप जैसा प्रकाशित हो जाता है - पर जहां संवेदनशील प्रकृति के लोगो में शुद्ध वासना है वहां वह अनन्त वैविध्य में चरितार्थ होती है। राग का यह अंशी रूप कविराज जी के अनुसार वैदिक साधना में नहीं है। उनका पक्ष है कि जब शंकराचार्य अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य में कहते हैं - चतुर्वेदेषु परं श्रेयो लब्ध्वा शण्डिल्य इदं शास्त्रं अधिगतवान् उक्तिरियं वेदनिन्दापरां - तब वह वस्तुस्थिति की ओर से गजनिमीलिका करते हैं। आचार्य शंकर से ही नहीं, आनन्द गिरि और रत्नप्रभाकार जैसे किसी अज्ञात स्रोत से निम्नलिखित उद्धरण प्रस्तुत करते हैं जिसमें 'राग' को अंगी या साध्य मानते हैं वाली भागवत की पांचरात्र धारा - जो आगमसमाधृत है– का यशोगान किया गया है, अर्थात् वेदों की अपेक्षा उनकी महिमा बढ़कर बताई गई है। आनन्दगिरि का उद्धरण है– 'स्वाध्यायमात्रा-ध्येतुः विशिष्यते भागवत क्षर-मक्षरस्याध्येता'। रत्नप्रभाकार उद्धृत करते हैं– 'एकस्यापितंत्राक्षरस्याध्येता'। कविराज जी का पक्ष है कि यह वेद की निन्दा नहीं है, वस्तुस्थिति है। कहा जाता है कि छांदोग्य में जिस 'एकायन' की चर्चा है - वह भी वेद की ही एक शाखा है और शाण्डिल्य ने इसका साक्षात्कार किया था– इसके वही ऋषि हैं। वृष्ण्यन्तरियों के इसी पुरोहित ने मधुवन में इसी मधुविद्या का साक्षात्कार कर उसे अवतीर्ण किया था। पांचरात्र और मात्रवत् जो बाद में चलकर एक हो गई - राग के इसी अंगी रूप का प्रतिपादन करती हैं। वैदिक-साधना में निष्कामभाव से सम्पादित कर्मकाण्ड हो– या सगुण की उपासना हो– अन्ततः 'ज्ञान' में ही पर्यवसित होती है, वहां राग के अंगीरूप का उन्मीलन नहीं है। कविराज जी कहते हैं कि आगमानुयायी पांचरात्र अथवा भागवत-धर्म भक्ति प्रधान है। वैदिक साहित्य में भक्ति की चर्चा अधिक नहीं है, यद्यपि कई लोग वैदिक उपासना का भक्ति के स्थान में ग्रहण करते हैं। किसी अंश में

यह ठीक भी है; तथापि 'भक्ति' शब्द का जो परवर्ती परम्परा में वाच्यार्थ निर्धारित हुआ (चित्त का भावमय प्रकाश-विशेष) वह वैदिक कर्मकाण्ड या उपासना-काण्ड में स्पष्ट रूप से नहीं मिलता। अन्यत्र वह पुनः कहते हैं- "यह कहना अनावश्यक है कि भक्ति-मार्ग में शक्ति का स्वीकार करना आवश्यक है। शक्ति विशुद्ध तथा निर्मल स्वरूप न स्वीकार करने से ईश्वर, जीव और जगत् तथा उनका परस्पर सम्बन्ध अज्ञात कल्पित होने के कारण हेय हो पड़ते हैं (तब) भक्ति, करुणा कर्म आदि का स्रोत ही सूख जाता है।" उनकी दृष्टि में भक्ति शक्ति का ही-(आगम सम्मत शक्ति का ही) नामान्तर है और यह शक्ति शक्तिमान् परतत्त्व का स्वरूपभूत और स्वाश्रित है। उपपत्ति में निगम का ही संकेत ढूंढ निकाला जाता है। कहा जाता है वही- श्रुति एक तरफ कहती है- 'स एकाकी न रमते; स द्वितीयमैच्छत्' और दूसरी और कहती है- 'द्वितीयाद्वैतं भवति'- इस विरोधाभास की प्रवृत्ति का एक ही रास्ता शेष रह जाता है और वह यह कि एक ही अपनी 'शक्ति' से 'अनेक' हो जाय ताकि 'द्वितीय' हो भी तो स्वाभिन्न होने से द्वित्व न बन सके। ठीक ही कहा है - 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते।' इससे पता चलता चलता है कि प्राचीनों में एक के बहु होने के मूल में इसी शक्ति की क्रिया मानी जाती थी- वस्तुतः वही परमेश्वर की अचिंत्य महिमा या स्वातंत्र्य है। उपनिषद् में कहा गया है-' एतावानस्य महिमा, अतोज्यायांश्च पुरुषः'। अर्थात् एक अनेक तभी हो सकता है जब उसमें अनेक सम्भावनात्मकता शक्ति के रूप में पहले से ही विद्यमान हो। यही स्वरूपभूता निजा शक्ति परवर्ती परम्परा में सुस्पष्ट रूप से ऊर्ध्वमुखी राग का शिखर 'भक्ति' मानी गई। स्वामी करपात्री जी ने भी भक्तिरसार्णव में लिखा है - 'यद्यपि भक्तिराह्लादिनी शक्तिरूपा, नित्या बिम्बाच्च तथापि सारश्रवणनमित्तद्रुतचित्तवृत्तावभिव्यज्यते इति तदर्थं वृत्तिरपेक्षिता'। अर्थात् तत्त्वतः भक्ति तो शक्तिमान् की ल्हादिनी शक्तिरूपा निजा शक्ति ही है - जो नित्य और व्यापक है - परन्तु उसकी अभिव्यक्ति बिना 'वृत्ति' अर्थात् अन्तःकरण की भगवदाकार तद्गुणश्रवणजनित चित्तवृत्ति के हो नहीं सकती। इसीलिये मधुसूदन सरस्वती जैसा अद्वैती भक्त भी कहीं-कहीं कहता है - 'भगवदाकाराकारितान्तःकरणवृत्तिरेव भक्तिः।' चित्त की वृत्ति रूपी निर्मल दर्पण में शक्ति रूपा भक्ति आत्मप्रकाश करती है - यह सत्य है। परन्तु वास्तव में वह स्वरूपतः चित्त की वृत्ति नहीं है। कविराज जी कहते हैं कि चित्त की वृत्ति तो होना दूर, माया अथवा महामाया की भी वृत्ति नहीं है। वह साक्षात् चित्-शक्ति का विलास है। सच्चिदानन्दमय की स्वरूपभूता यह सच्चिदानन्दमयी शक्ति ही स्वरूप शक्ति या चित् शक्ति है। ल्हादिनीरूपा

स्वरूप शक्ति के अतिरिक्त भगवत्-स्वरूप के आस्वादन का दूसरा कोई उपाय नहीं है– एक ही तत्त्व सब भेद से स्वयं आस्वादयिता और आस्वाद्य है । कविराज जी की धारणा है कि भक्ति के इस रूप का संकेत निगम में है– पर पल्लवन निगमूलक दर्शनों में नहीं - आगमों में हुआ है ।

(घ) आगम में अद्वय का अर्थ है– दो का नित्य सामरस्य

आगमिक विश्वदृष्टि का अन्य घटक है– चरमसत्ता का ऐसा अद्वयभाव– जहाँ दो का नित्य सामरस्य हो । एक है – स्थिति और दूसरा है–गति । गति का ही निष्क्रिय पक्ष 'स्थिति' है और 'स्थिति' का ही सक्रिय पक्ष 'गति'– एक शक्तिमान् है और दूसरी शक्ति- चरमसत्ता इन्हीं का 'समरस' रूप है । स्वामिवर्य प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती ने एक जगह कहा है कि ज्ञानज्ञेयात्मक जगत् में चाहे ज्ञान की ओर से देखें या ज्ञेय की ओर से– दोनों अन्त:गत्यात्मक ही ठहरते हैं– परमाणु की बाह्य और आन्तरिक संरचना गतिमय है और ज्ञान एक स्नायविक धक्का है– कुल मिलाकर जगत् गति का ही नामान्तर है । पर 'गति' क्या 'स्थिति'; के बिना समझ में आ सकती है ? वास्तव में 'गति' और 'स्थिति' एक ही पूर्ण सत्ता के दो पक्ष हैं । परासत्ता दोनों का समरस रूप है । वृषभाश्व न्यायेन प्रलय की ओर से देखने पर वह अन्त और सृष्टि की ओर से देखने पर 'गति' किसी पक्ष से न देखें तो न वह 'स्थिति' पदाभिधेय है और 'न गति' पदाभिधेय के साथ ही वह भी पूर्ण है- सब कुछ है– अत: स्थिति और गति एक साथ है । विरोधों का सह्रावस्थान ही उसकी सामर्थ्य है । फिर वह क्या-क्या है– बुद्धि से परे होने के कारण इदमित्थं कैसे कहा जाय ? विवशता यह है कि 'तदपि कहे बिनु रहा न कोई' ।

(ङ) परम सत्ता का विश्वात्मक रूपान्तरण और उसकी प्रक्रिया

तांत्रिक विश्वदृष्टि का अगला घटक यह मान्यता है कि विश्व अन्त:स्थित का ही बहि: प्रकाश है- शक्ति का ही रूपान्तर है और वह शक्ति 'माया' और 'प्रकृति' की भांति न तो अनिर्वाच्य और ज्ञान-विवर्त्य है , न ही परिणामशील त्रिगुणात्मक जड । वह चिदानन्दमयी, स्वातंत्र्यात्मा और संकोच-प्रसार-रूपा है । संकोच-प्रसार शक्ति का स्वभाव है– अत: विश्वावभास 'स्वभाव' का खेल है– 'अभाव' का नहीं । 'अभाव' है भी तो स्वभाव का ही एक रूप । जिस प्रकार मेघखण्ड आवरक होकर प्रकाशस्वरूप सूर्य का विरोधी जान पड़ता है– पर तत्त्वत: सूर्य की किरणों या प्रभाव का ही वह एक रूपान्तरण है– ठीक वही स्थिति सृष्टि में अभाव की है । अभाव और विरोधी 'भाव' 'स्वभाव' के ही

खेल है– क्रीड़ा है। क्रीडा आनन्दमय स्वभाववश होती है– उसका अतिरिक्त निमित्त नहीं होता– वह स्वयं प्रयोजन है– 'लीलायाः प्रयोजनं लीलैव'। विश्व आनन्दमय स्वभाव की छलकन है– उसी का रूपान्तरण है– तदात्मना ही उसकी स्थिति है और पुनः उसी में विलयन। वह अव्यक्त की अभिव्यक्ति है और पूर्ण का स्वेच्छया अपूर्णभास–आभास। असीम क्रीड़ा के लिए वह स्वेच्छया सीमा ग्रहण करता है— 'स्वातंत्र्य' और 'बोध' का सामरस्य भंग हो जाता है– विषमता फूट पड़ती है। यही आत्मगोपन, अख्याति या स्वेच्छया कल्पित आत्मसंकोच आणवमल है। असीम का सीमा-ग्रहण है, कंचुकाच्छादन है– माया का कंचुक धारण कर प्रकृति-पुरुष भाव में आभासित होना है। आणवमल से आत्मगोपन, मायीय मल से भेद-सर्जन और कार्म मल से शरीर धारण की प्रक्रिया सम्पन्न होती है। आगम विश्व को षट्त्रिंशत् तत्त्वात्मक मानता है।

(च) जीव की सहज आकांक्षा-स्वरूप विश्रान्ति है, स्वर्थ रागशोधन अपेक्षित है।

तांत्रिक विश्वदृष्टि का अतिरिक्त घटक इस मान्यता में निहित है कि समस्त चराचर जीव-जगत्-रूप विश्व पुनः स्वभाव में विश्रान्त होना चाहता है– देश और काल की सीमा लांघकर पुनः स्वरूप-विश्रान्त होना चाहता है। 'रस' और 'सौन्दर्य' पर कविराज जी लिखते हैं— —" आनन्दमय-स्वभाव में विश्रान्त होने की आकांक्षा कालप्रवाह में तृप्त हो नहीं सकती। आनन्द चाहे जितना ही क्यों न बढे, सौन्दर्य चाहे जितना छलछला उठे, तृप्ति तब भी बहुत दूर की वस्तु है क्योंकि और भी विकास हो सकता है एवं कभी भी इस क्रम विकास की संभावना में दूर होगी नहीं। इससे ज्ञात हो जाएगा कि हृदय जिसकी आकांक्षा करता है वह ससीम सौंदर्य अथवा परिमित आनन्द नहीं है। यदि ऐसा होता तो एक न एक दिन क्रम-विकास से उसकी तृप्ति हो जाती। वस्तुतः यह असीम सौन्दर्य, अनन्त प्रेम निरवच्छिन्न आनन्द है। पूर्ण सौन्दर्य का सम्भोग पहले हुआ है इसीलिए पूर्ण सौन्दर्य की आकांक्षा होती है– विच्छिन्न (खण्ड) सौन्दर्य से तृष्णा मिटती नहीं। जिसका विरह है उसे पाए बिना व्याकुलता का अवसान हो नहीं सकता।"

(छ) सिद्ध राग की विश्वदर्शन में परिणति

तांत्रिक विश्वदृष्टि में इस प्रयोजन को सम्पन्न करने का मार्ग 'त्याग' मार्ग नहीं है - 'रागमार्ग' है - राग ग्रहण की ओर जाता है। इस विश्वदृष्टि में त्याज्य कुछ है ही नहीं–लगता है Nor it is, but it seems। इस लगने के मूल

में शक्ति का संकोच है। विश्व आनन्दोच्छिन्न शक्ति की आत्माभिव्यक्ति है - यह त्याज्य हो ही नहीं सकती—किसी कारण से लग सकती है - वह कारण आत्म-संकोच है— आवश्यकता उसके हटाने की है। संवेदनशील साधक अपना संवेदनशील रागात्मक स्वभाव छोड़कर साधना-पथ पर कैसे आरूढ होगा ? आगम रूक्ष प्रकृति वालों को दमनमार्गी मानता है; वह मानता है कि उनमें शुद्ध राग या शुद्ध वासना है ही नहीं। इसलिये आगमिक विश्वदृष्टि तो यह भी जानती है कि सच पूछो तो विराग-मार्गी ज्ञान से मल का अत्यंतिक शोध होता ही नहीं। अस्तु, आगम 'रागमार्गी' है, ग्रहणशील है—विराग मार्गी और त्यागशील नहीं। वह अपनी राग-साधना से विष को अमृत, त्याज्य को भी ग्राह्य बना लेता है। कविराज जी कहते हैं – जगत् सौन्दर्यसार है। सभी वस्तुएं सुन्दर हैं, सभी रसमय हैं किन्तु चित्त में मल और चांचल्य रहने से देखने के समय वह अनुभूत नहीं होता है। रस तब सुख और दुःख के रूप में और सौन्दर्य सुन्दर और कुत्सित के रूप में विभक्त हो पड़ता है। काल का स्रोत वेग से बहता है एवं हम लोगों को बहा ले जाता है। तब श्रेय और प्रेय से विभाग होता है, नियम के जगत् में हम उतर पड़ते हैं, पाप और पुण्य का आविर्भाव होता है एवं राग और द्वेष की सम्भावना फूट पड़ती है। जिस ओर ताकें उसी ओर यदि हम सौन्दर्य न देख पावें, जिसको देखें, उसी को यदि प्यार न कर सकें, तो इस साधना या राग-साधना की सिद्धि नहीं हुई— यह जानना होगा। सौन्दर्य को खोजकर बाहर निकालना नहीं पड़ता, प्रेम का कोई हेतु नहीं होता। पूर्ण सौन्दर्य और पूर्ण प्रेम के साथ स्वाभाविक मिलन पुनः होने पर जगत् की संपूर्ण वस्तुओं के साथ ही स्वाभाविक मिलन फूट उठता है। योग प्रतिष्ठित होता है। तब कोई भी पर नहीं रहता, कुछ भी कुत्सित नहीं रहता। मनुष्य के जीवन में सौन्दर्य-साधना— यानी राग-साधना का यही यथार्थ परिणाम है।

(ज) आगमसम्मत साधना

आगमिक विश्वदृष्टि में चरम सत्ता विश्वात्मक भी है 'विश्वातीत' भी। आगमसम्मत 'रागसाधना' उसके विश्वात्मक रूप के प्रति 'सेवा' और 'विश्वात्मक' तथा 'विश्वातीत' के प्रति भक्ति है। तत्त्वतः सेवा और भक्ति एक ही हैं, भिन्न वस्तु नहीं हैं। निष्काम भाव से किया गया कर्म मात्र सेवा ही है। निष्काम का अर्थ कामना मात्र से ही नहीं - कर्मजन्य फल विषयक कामना विशेष से हीन है। वास्तव में कामनापूर्वक ही कर्म सम्पन्न होता है - पर यह कामना लोकमंगल, लोक-सेवा की होती है - यही शुद्ध वासना है। कामनामात्र वर्जित

नहीं है - लोकविरोधी स्वार्थसम्पादक कामना वर्जित है - वह अधोमुखी राग है; लोकसेवा की कामना ऊर्ध्वमुखी राग है। यही राग-साधना आगम-निर्दिष्ट साधना है जो रूक्ष साधकों में नहीं होती। उनकी साधना-यात्रा अधोमुखी राग का दमन है; शुद्ध वासना उनमें होती ही नहीं - अतः उसे चरितार्थ करने की कामना का सवाल नहीं उठता।

(झ) शांकर मत में बोधमय स्वरूप विश्रान्ति और स्वातंत्र्य का अननुसंधान

इस आगमिक विश्वदृष्टि ने वैदिक और अवैदिक -- सभी धाराओं को प्रभावित किया और सबमें अनुप्रविष्ट हुई। नैगमिक साधना का शिखरगामी रूप वेदान्त है - जो अद्वैत वेदान्त के रूप में जाना जाता है। इसके अनुसार सर्वोच्च पुरूषार्थ 'मुक्ति' है, कैवल्य है और तदर्थ ज्ञानमार्ग पुष्कल मार्ग है। आगमिक प्रस्थान ने अध्यात्म के क्षेत्र की सम्भावना में 'ज्ञान' की अपेक्षा 'भक्ति' को महत्त्व दिया और उसे पंचम पुरुषार्थ के रूप में प्रतिष्ठापित किया। आगमिक विश्वदृष्टि ने बताया कि अद्वैत वेदान्त में 'शक्ति' का अनुसंधान नहीं हो पाया था– चरमसत्ता निर्गुण ब्रह्म माना गया। ज्ञानोपयोगी साधना से आवरण (माया) की निवृत्ति होती है और जीव स्वरूप विश्रान्त अर्थात् 'बोधमय' हो जाता है– पर उसे अपनी स्वातंत्र्य शक्ति का अनुसंधान नहीं है। फलतः वह अपना आस्वाद नहीं ले पाता। आगम 'स्वातंत्र्य' का अनुसंधान कर एक तरफ अपने आनन्दमय रूप का आस्वाद करता है और दूसरी ओर उसमें अन्तर्हित विश्व का अभिव्यंजन भी लीलार्थ करता है। अद्वैत वेदान्त का ब्रह्म शक्ति-शून्य है। इसीलिए उसमें आगमसम्मत ब्रह्म की भाँति कृत्यकारिता भी नहीं है, पंचकृत्यकारिता का स्वातंत्र्य कौन कहे?

(ञ) परवर्ती धर्मदर्शनों में इस साधना और दृष्टि का संक्रमण

परम्परा में गुप्त-प्रकट भाव से प्रवाहित आगमिक विश्व-दृष्टि और साधना मध्यकाल में अनुरूप मनोभूमि प्राप्त कर पलुहा उठी और वैदिक-अवैदिक सभी प्रभावित हो उठे। वेदान्त की इस दृष्टि से वैष्णव आचार्यों ने नई व्याख्या की और साध्य चरमसत्ता को 'सविशेष' अर्थात् - शक्ति सम्पन्न बताया। अवैदिक दर्शनों में आचार प्रधान हीनयान में तो नहीं पर महायान के पारमिता नय में आगमिक विश्वदृष्टि संक्रान्त हुई जो परवर्ती 'मन्त्रनय' में और मुखर हो उठी। फिर चाहे वैष्णवों की राधाश्रयी या कृष्णाश्रयी धारा हो या संतों तथा सूफियों की पीरयानी धारा हो– सर्वत्र मूल सत्ता को शक्ति-समन्वित अर्थात् 'सविशेष' कहा गया। नाथ धारा में भी चरम पद को पिंड और पद का 'समरस'

रूप निरूपित किया गया। शक्तिवाद वहां भी अपने ढंग से संक्रान्त हुआ। एक समय तो ऐसा आया कि निरामिष जैन धारा भी इस धारा में मुखर हो उठी। 'पाहुड़ दोहा' में जैन मुनि रामसिंह कहते हैं ..

सिव विणु सत्ति न वावहूई, सिव पुण सत्ति विहीणु।
दोहि मि जाणउ समग्र जगु, बुज्झई मोह विलीणु॥

अथवा ......

मणु मिलियउ परमेसर हो, परमेसरु जि मणस्स।
विण्णि वि समरसि हुई रहिय पुज्जु चडावउ कस्स॥

(ट) आगमिक विश्वदर्शन की चिरन्तनता

उस अन्तराल का साहित्य तंत्र-मंत्र से भर उठा है। मध्यकाल की यह आगमिक चेतना - रागसाधना—नवजागरण के विश्वकवि रवीन्द्रनाथ के माध्यम से युगानुरूप स्वर में बज उठी। हिन्दी के छायावादी काव्यान्दोलन में भाव के स्तरपर यही राग और दृष्टि के स्तरपर शक्तिवाद के रूप में मुखरित है। कविराज जी ने रवीन्द्रनाथ की कविता 'बलाका' की अद्भुत मार्मिक व्याख्या की है और वह दृष्टि दी है जिससे छायावादी काव्य प्रवाह को भारतीय सांस्कृतिक आगमिक जीवन-दर्शन के आलोक में संगत ढंग से आकलित किया जा सकता है। छायावादी साहित्य शक्ति का साहित्य है— यह उद्घोष पदार्थवादी डॉ. रामविलास शर्मा का है - जिन्होंने छायावादी काव्यान्दोलन की शिखर उपलब्धि निराला को माना है। निराला 'शक्ति' के कवि हैं, जो आगमिक जीवन-दर्शन का मेरुदण्ड है। आज आवश्यकता है इस जीवन-दृष्टि से पुनः जुडने की और सक्रिय होकर अपनी राष्ट्रीय अस्मिता की पहचान ताजी करने की। विज्ञान भी 'शक्ति' को प्रतिष्ठा देकर शाक्त धारा से जुडने जा रहा है; अन्तर इतना ही रह गया है कि वह जड़ शक्तिवादी है—आगमिक विश्वदर्शन चेतन शक्तिवादी। आशा है यह अन्तराल भी दूर होगा और भारत अपनी गरिमा पुनः प्राप्त करेगा। इस प्रकार कविराज जी को इस आगमिक जीवन दर्शन का आरम्भ से लेकर रवीन्द्र की 'बलाका' के माध्यम से अद्यावधिक व्याख्यान प्रस्तुत करने का एकमात्र श्रेय जाता है।

देवास रोड, उज्जैन (म. प्र.)

– राममूर्ति त्रिपाठी

बिम्ब : व्यक्तिकृत एवं सामान्य

बिम्ब वस्तुजगत् का वैचारिक चित्र है। वह लेखक की सचेतना में यथार्थ का साँस लेता हुआ एक काव्यात्मक चित्र है और पाठक या श्रोता, पढ़कर या सुनकर, अपने मन में उसका प्रत्यक्षण करता है। काव्य-बिम्ब जीवन की घटना का संघटित लक्षण-वर्णन है जो स्वयं में पूर्ण, तथा कृति में सन्निहित काव्य-विचार से संबद्ध होता है। यह काव्य-बिम्ब ऐन्द्रियरूप से मूर्त और काव्य दृष्टि से महत्त्वपूर्ण रूप में प्रस्तुत होता है।

काव्य-बिंब की मुख्य विशेषता यह होती है जो उसे वैयक्तिक पहचान प्रदान करती है। वास्तव में लेखक एक शास्त्री की भाँति सिद्धान्त वाक्यों में बात नहीं करता। वरन् यह यथार्थ को जीवन्त चित्रों में प्रस्तुत करता है। लेखन सदा ही आदमी के सम्मुख जीवन से लिए गए तथ्यों को, घटनाओं को, अनुभूतियों को प्रस्तुत करता है। प्रत्येक बिंब या तो यथार्थ जीवन से ली गई विशेष घटना का मूर्त अंकन होता है, या मनुष्य के भावात्मक जीवन की किन्हीं विशिष्ट घटनाओं की अभिव्यक्ति होता है। वह कभी इन दोनों का अन्तर्गुम्फन कर सकता है और कभी इनका अन्तर्सम्बन्धन।

बिंब न केवल जीवन-घटनाओं की विशेष और वैयक्तिक विशेषताओं को प्रस्तुत करता है, वरन् वह उनमें निहित सामान्य नियमों और आवश्यक गुणों को भी उद्घाटित करता है। बिंबों से यथार्थ की इन गहन और अनिवार्य विशेषताओं को उनमें निहित नियमों का उद्घाटन ठीक इसी प्रकार नहीं होता जैसा कि युक्तियुक्त धारणाओं में होता है। विज्ञान जीवन को अपने शुद्ध रूप में चित्रित करता है, वह सिद्धान्तों की खोज करता है और बनाता है; लेखन जीवन के सिद्धांतों को अलग से प्रस्तुत नहीं करता वरन् जीवन में सक्रिय मूर्त नियम-बद्ध प्रक्रिया के रूप में चित्रित करता है। उदाहरणार्थ, यदि लेखक " शोषण " के संबंध में अपनी व्याख्या प्रस्तुत करना चाहता है तो वह शोषण की धारणा का विश्लेषण नहीं करेगा या कि उसकी प्रकृति के युक्तियुक्त प्रमाण प्रस्तुत नहीं करेगा, वरन् वह

'होरी' की रचना करेगा जिसका जीवन के हर क्षेत्र में जमींदार, पटवारी, कारकून, साहूकार, पंडित आदि द्वारा निरन्तर शोषण होता है। साथ ही, इसके द्वारा वह समाज-व्यवस्था एवं वर्ग-संघर्ष की अभिव्यक्ति करता है।

जीवन की घटनाएँ शुष्क सिद्धांतों की अपेक्षा अधिक जीवंत और समृद्ध होती हैं, क्योंकि उनमें निश्चित वैयक्तिकता निहित है, उनमें, केवल उनमें ही, अनेक विशेषताएँ अन्तरस्थ होती है। जब कि सिद्धांत इन घटनाओं के समग्र समूह में अन्तरस्थ सामान्य और अनिवार्य पक्षों को ही अभिव्यक्त करता है। काव्य-बिंब में चित्रित घटना की मूर्त और सवेदी समग्रता समाविष्ट होती है, जो उसकी निजी विशेषता है। वैसे बिम्ब की इस वैयक्तिकता में और जीवन की मूर्त घटना में एक खास समानता भी दृष्टिगोचर होती है। फिर भी जीवन में 'एक ही' और लेखन में 'वैयक्तिक' दोनों समानरूप धारणाएँ नहीं हैं। जीवन के यथार्थ में और लेखन के यथार्थ में एक गहरा गुणात्मक अन्तर है।

जीवन की प्रत्येक घटना में अनेक हर तरह के संभाव्य तत्त्व परस्पर गुँथे हुए होते हैं। ये तत्त्व अनिवार्य और सांयोगिक, अपरिहार्य और आकस्मिक, सार्व-जनीन और विशिष्ट, आन्तरिक और बाह्य आदि-आदि होते हैं, और ये तत्त्व इस तरह परस्पर गुम्फित होते हैं कि उन्हें अलग करना अत्यंत कठिन होता है। कभी कभी तो इन घटनाओं के तत्त्व इस गुम्फन में कुछ इस तरह दबे होते हैं कि उन्हें खोजना कठिन हो जाता है, यह गुम्फन स्वयं बाधा बन जाता है। और लेखक को बिम्ब-विधान में इस बाधा को पार करना ही होता है। यदि यथार्थ का चित्रण इसी रूप में करता है जिस रूप में वह वास्तविक जीवन में मिलता है, अर्थात् वह उसकी एक यंत्रवत् प्रतिलिपि उतारता है, तो निश्चय ही वह पाठक के अनुभवों में कोई नई वृद्धि नहीं करेगा। ऐसी रचना पाठक को आकर्षित नहीं कर सकेगी। प्रसिद्ध लेखक बालज़क इसी बात को इस प्रकार कहता है—"कलाकार की छैनी हाथ के जीवन को अभिव्यक्त करती है जबकि एक प्लास्टिक सांचा उसी हाथ को एक निर्जीव वस्तु में बदल देता है।"

इसी निर्जीव बिम्बन से बचने के लिए लेखक चयन के सिद्धांत का आश्रय लेता है। वैसे तो जीवन के किसी भी यथार्थ तथ्य में अत्यावश्यक और आवश्यक पक्ष परस्पर गुम्फित मिलते हैं, और जब वस्तुतः यथार्थवादी लेखन का प्रश्न आता है तो इन तथ्यों में से किसी को भी छोड़ा नहीं जा सकता। लेकिन लेखक उस घटना को, जिसमें उसकी रुचि है, उन आकस्मिक एवं विशेष विशिष्टताओं से अलग करता है जो उसके उस तत्त्व को, जिसका चित्रण उसे अभिप्रेत है, आच्छा-दित किए रहती है। वह जीवन की घटना को उसकी वास्तविक समग्रता में प्रस्तुत

नहीं करता, बल्कि उन महत्त्वपूर्ण विशिष्टताओं को प्रस्तुत करता है जो उसकी जीवन्त आत्मा होती है। लेखक जितना ही प्रतिभाशाली होगा, उसका जीवन-सामग्री से चयन भी उतना ही कड़ाई से होगा।

यह चयन लेखक की सहायता मात्र ही नहीं करता, वरन् उसके सामने अनेक नई समस्याएँ भी उत्पन्न कर देता है। यथार्थ जीवन में तो प्रत्येक घटना अपने में संपूर्ण होती है, लेकिन लेखक द्वारा चयन के फलस्वरूप वह खण्डरूप है। उसमें जो भी आकस्मिक और बाह्य होता है, उसे त्याग दिया जाता है। फलतः वह जीवन की सत्यता से विहीन हो जाता है। एक तरह से वह निर्जीव ढाँचा मात्र रह जाएगी और यह किसी को भी विश्वसनीय नहीं लगेगा। और तब लेखक के सामने समस्या आती है उस चयनित सामग्री को काव्य-सत्य रूप प्रदान करने की, उसे विश्वसनीय रूप प्रदान करने की।

अतः लेखक को जीवन से चयन की गई सामग्री को पुनः सर्जनात्मक ढंग से पुनर्रूपित करना होता है, अपनी कल्पना-शक्ति से समृद्ध करना होता है तथा उसे नए तात्पर्य और साहचर्य प्रदान करने होते हैं। और ऐसा करते समय लेखक को मौलिक घटना के कुछ विशिष्ट तत्त्वों को, उसका व्यापक रूप प्रदान करने के लिए फिर से उसमें गुम्फित करना होता है। अर्थात् लेखन में बिम्ब यथार्थ जीवन से ली गई सामग्री की प्रतिलिपि नहीं होता, वरन् लेखक की कल्पना द्वारा पुनर्रचित नया तथ्य होता है।

श्रीकृष्णलाल ने **रागदरबारी** में आज के भारतीय समाज का ईमानदार इतिहास प्रस्तुत किया है। इस उपन्यास में सैकड़ों-हजारों स्त्री-पुरुष अपने को विभिन्न पात्रों के रूप में पाते हैं, यद्यपि वे सब लेखक की कल्पना के प्रतिफल हैं। इस उपन्यास के अनेक पात्र अपने आदिप्ररूपों से समरूपता रखते हैं, किन्तु उनकी प्रतिलिपि नहीं हैं। नागार्जुन के **दुःखमोचन** उपन्यास के दुःखमोचन तथा अन्य पात्र वास्तविक जीवन से नहीं लिए गए हैं, फिर भी वे वास्तविक व्यक्तियों पर आधारित हैं। दूसरी ओर **मानस का हंस** की घटनाएँ यथार्थ घटनाओं पर आधारित हैं, फिर भी उसमें चित्रित बिम्ब और चरित अपने स्वयं की पहचान और अपना एक जीवन रखते हैं।

लेखन में सब से महत्त्वपूर्ण और व्यापक भूमिका लेखक की कल्पना निभाती है। वह यथार्थ जीवन से ली गई सामग्री को रूपान्तरित करती है, तथा यथार्थ तथ्यों और परिस्थितियों से नवीन बिम्बों की रचना करती है।

काव्य-बिम्ब की स्पष्ट और अद्वितीय वैयक्तिकता ही निश्चित करती है कि लेखन का प्रभाव पाठक पर कितना गहन और कितना व्यापक पड़ता है। और

विलोमतः वस्तुओं की कोई भी अमूर्त योजना, कोई प्रचलित सिद्धांत, मनुष्य के मन को प्रेरित नहीं कर सकता, उसकी कल्पना को सक्रिय नहीं बना सकता। लेखन में व्यक्तिकृत तत्व 'अधिक सारवान्' का पूरक नहीं होता, वस्तु-सामग्री का उपांग नहीं होता, वरन् जीवन के काव्यात्मक बोध का एक ढंग होता है, जो संसार की सच्ची रंग-संपदा को मनुष्य के निकट संबंध के संदर्भ में उद्घाटित करना संभव बनाता है। ऐसी पहुँच 'लेखन' की ही विधा के लिए प्रासंगिक है। यह भी कहा जा सकता है कि व्यक्तिकरण लेखन में शब्दाडंबर, रूपरेखा-वाद और मात्र उदाहरणवादी शिल्प पर विजय पाने का शक्तिशाली साधन है।

किसी भी रचना में चरित्र उभरे हुए, पूर्णतः पारिभाषित, परस्पर भिन्नता दर्शाते हुए होने चाहिए–उनका व्यक्तित्व किसी अमूर्त सिद्धांत में लुप्त न हो जाए बल्कि पूर्ण स्पष्टता के साथ प्रतिपादित हो। उनका चित्रण स्पष्ट व्यक्तित्व लिए तथा स्वयं की गत्यात्मकता को लिए होना चाहिए। प्रेमचंद को ही लीजिए। उन्होंने कितना लिखा है, फिर भी उनकी कहानियों या उपन्यासों का एक भी ऐसा पात्र नहीं मिलता जो किसी भी रूप में, किसी दूसरे से मिलता हो। उनका प्रत्येक पात्र, अपने व्यक्तित्व के सूक्ष्म से सूक्ष्म अन्तर को निरन्तर उजागर करता है। अमृतलाल नागर के अमृत और विष उपन्यास से छोटे–बड़े सब मिलाकर सौ से अधिक पात्र हैं और उनमें प्रत्येक निराला ही इन्सान है। वास्तव में, सारी विशेषता उनकी निजी परिस्थितियों में, और विशिष्ट प्ररूप के मनोविज्ञान और उनके चरित्र के विश्लेषण में है। लेखन में एक ही प्ररूप अथवा सामाजिक सत्य को विभिन्न प्रकारों से अभिव्यक्त किया जा सकता है।

मोहन राकेश ने अँधेरे बन्द कमरे में कितने प्ररूपी पात्रों की रचना की है, लेकिन साथ ही साथ, वे एकदम वैयक्तिक भी हैं। ये सभी पात्र एक सी ही आवश्यक विशेषताएँ लिए हैं, जीवन का एक सा ही सामान्य लक्ष्य बनाए हैं तथा प्रयोजन लिए हैं। फिर भी लेखक ने प्रत्येक को कुछ ऐसी वैयक्तिकता प्रदान की है जो केवल उनकी ही है– जैसे कि प्रत्येक अपना स्पष्ट और उभरा चरित्र रखता है, उनकी अपनी आदतें हैं, अपने व्यवहार के ढंग हैं, रुझान हैं, शरीर की रचना है, ऊँचाई है, यहाँ तक कि आँखों की अपनी चमक है। वे सब उपन्यास में एक सी ही जिन्दगी जीते हैं, लेकिन जो अपने आप में व्यक्ति हैं और जिसे भूल से भी दूसरा नहीं समझा जा सकता। इस कृति के सभी पात्र जीवन से लिये गये हैं, जो पाठक पर अपना स्थाई प्रभाव छोड़ते हैं, तथा थोड़े से ही संदर्भ में स्मरण हो आते हैं।

यथार्थवादी चरित्र अथवा बिम्ब, जिसे एक वैयक्तिकता प्रदान की गई है, अपने में यथार्थ जीवन की घटनाओं से लिया गया एक सामान्यीकरण भी सन्निहित किए रहता है और जो उनके आन्तरिक तथ्य को उद्घाटित करता है। वह उन विशेषकों की भी अभिव्यक्ति करता है जो समग्र सामाजिक समूहों, वर्गों और लोगों की विशेषताएँ होते हैं। इस प्रकार काव्य-बिम्ब न केवल घटनाओं को ही चित्रित करते हैं वरन् घटनाओं की मूल प्रकृति का भी उद्घाटन करते हैं। प्रत्येक चरित्र या बिम्ब अपना एक जीवन लिए होता है, फिर भी चरित्र समूह-जीवन के अन्य क्षेत्रों में समान घटनाओं के साथ सहमूल रखते हैं, जो दूसरे वैयक्तिक रूपों में भी अभिव्यक्ति पा सकते हैं। और इन मूलों को स्पष्ट करना लेखक का कार्य है।

यथार्थवादी लेखन में इस सामान्यीकरण की उपलब्धि का साधन प्ररूपीकरण है। प्ररूपीकरण की तात्त्विक विशेषता चरित्रों को विशेष-विशेष प्रकार के लोगों के समग्र समूहों के प्रतिनिधियों में परावर्तित कर देने में ही है।

यह पहले ही स्पष्ट कर दिया गया है कि लेखन में व्यक्ति ठीक वही नहीं होता जैसा कि ठोस जीवन में होता है; लेखन में उसकी पुनर्रचना की जाती है। लेखक अपनी कल्पना द्वारा इसे और समृद्ध बनाता है। इतना ही नहीं कुछ और भी होता है। लेखन में वैयक्तिकता का वास्तव में जीवन से संचयन किया जाता है, और साथ ही साथ जैसे लेखक द्वारा उसका कुछ इस तरह परिमार्जन किया जाता है कि अनावश्यक विवरण मौलिक और तात्त्विक की समझ को आच्छादित न कर लें। वास्तव में, विशेषीकृत से ही सामान्य का उद्घाटन होता है। किसी भी काव्य-बिम्ब में हम विशेष और अनुपम में सामान्य और सारभूत का केन्द्रीकरण पाते हैं। और यही केन्द्रीकरण प्ररूप-निर्माण का मूलाधार है। लेखन में प्ररूपीकरण, सामान्यीकरण और व्यक्तिकरण की ऐकता है।

यथार्थ आदि प्ररूपों पर आधारित प्ररूपीकरण के लिए यह अत्यंत आवश्यक है कि लेखक को अपने आदि प्ररूपों के जीवन की गहन समझ हो, तथा वह बाह्य विशेषताओं एवं पक्षों के अंकन तक ही सीमित न हो, जो कि प्रायः आकस्मिक ही होते हैं। वास्तव में प्ररूपीकरण केवल यथार्थ आदि प्ररूपों से ही नहीं जुड़ा रहता है, अक्सर लेखक एक विशेष सामाजिक समूह के समान प्रतिनिधियों अथवा समान घटनाओं की तात्त्विक विशेषताओं एवं गुणों का चयन करता है, जिनके आधार पर वह उनका सामान्यीकरण करता है और उनकी नए जीवन-चित्र के अंग के रूप में, सर्वथा नए वैयक्तिक मानव चरित्र के रूप में पुनर्रचना करता है। और इस तरह एक साहित्यिक प्ररूप प्रस्तुत करता है।

प्रसिद्ध समीक्षक बेलिंस्की ने काव्य-बिम्ब के इस पक्ष की परिभाषा करते हुए कहा है कि 'प्ररूप' एक 'परिचित अनजान' होता है। 'परिचित' इसलिए कि वह उन गुणों और विशेषताओं का उद्घाटन करता है जो जीवन की वास्तविक घटनाओं में पाए जाते हैं। 'अनजान' इस अर्थ में कि ये गुण और विशेषताएं एक नए वैयक्तिक चरित्र में या जीवन के नए चित्र में समाविष्ट की जाती हैं जो रचनात्मकता का परिमाण होता है। यह कहा जाता है कि काव्य-बिम्ब एक साथ अनेक जीवन का सार होता है। उसमें एक स्थिति का दिग्दर्शन होता है, लेकिन उसमें समान स्थितियों का अनंत बाहुल्य भी होता है। लेखन में बिम्ब एक मूर्त व्यक्तित्व का ऐसा चित्र होता है, जो अपने में प्रतिदिन जीवन में मिलने वाले चरित्रों को समाविष्ट किए रहता है।

ऊपर कहा जा चुका है कि व्यक्तिकरण लेखक को योजनाबद्धता और मुखर उपदेशवाद से बचाता है। और अब यह भी कहा जा सकता है कि प्ररूपीकरण उसकी प्रकृतवादी और चित्रोपमवादी पहुँच से रक्षा करता है। बेलिन्स्की के अनुसार रचनात्मक की सर्वप्रमुख विशेषता है 'प्ररूपवाद' जो लेखक का प्रमाणक होता है। एक प्रतिभाशाली लेखक के लिए हर पात्र 'प्ररूप' होता है। प्ररूप-चित्रण की गहनता यथार्थवादी लेखक की पूर्णता की एक कसौटी है। उसके चरित्र जितने प्ररूपी होंगे उतना ही गहन उसका यथार्थवाद होगा।

एल-९८, कोटरा सुल्तानाबाद,
भोपाल (म. प्र.) ४६२००३

– श्याम भटनागर

रस-सिद्धान्त और सौन्दर्य-शास्त्र

रस सिद्धांत मूलत: नाटय-शास्त्र का सिद्धांत है जिसका लक्ष्य नाटक से उपलब्ध होनेवाले 'आस्वाद' या आनंद के घटक तत्त्वों एवं उनकी संयोजन-प्रक्रिया का विवेचन करना है। यद्यपि प्रारंभ में इसकी स्थापना नाटक की दृष्टि से ही हुई थी किन्तु आगे चलकर उसे काव्य या साहित्य के भी विभिन्न रूपों के संदर्भ में लागू किया गया, इतना ही नहीं संगीत, चित्र एवं नृत्य आदि कलाओं में भी इसे प्रतिष्ठित करने का प्रयास हुआ है। अत: इसमें संदेह नहीं कि रस का संबंध केवल एक ही कला - काव्य-कला-- से ही नहीं है, वह सभी कलाओं का आधार बन सकता है। या यों कहिए कि उसे विकसित करके बनाया जा सकता है। संक्षेप में वह भारतीय चिन्तकों का एक महत्त्वपूर्ण कला–सिद्धांत है।

'एस्थेटिक्स' या 'सौंदर्य-शास्त्र' की भी विभिन्न परिभाषाएँ की गई हैं। सौंदर्य-शास्त्र के संस्थापक बाउमगार्टन ने उसे 'सौन्दर्य बोध का एक ऐसा विज्ञान कहा है जिसमें संवेदनाओं का विश्लेषण होता है।'[1] यद्यपि यहाँ संवेदनाओं का क्षेत्र निश्चित नहीं किया गया किन्तु व्यावहारिक रूप में इसके अन्तर्गत कलागत सौन्दर्य संबंधी संवेदनाओं का ही विश्लेषण होता है–अत: कहा जा सकता है कि सौन्दर्य-शास्त्र कलाजन्य संवेदनाओं का शास्त्र है।

इसी तथ्य को और भी स्पष्ट करते हुए हीगल ने 'सौन्दर्य-शास्त्र' को ललित कलाओं का दर्शन मानते हुए इसका लक्ष्य कलाओं के सामान्य गुण–सौन्दर्य की मीमांसा करना बताया।[2] बोसांके ने भी इसी का अनुमोदन करते हुए 'एस्थेटिक्स' या सौन्दर्यशास्त्र को सौन्दर्य का दर्शन माना है।

उपर्युक्त विवेचन से सौन्दर्य-शास्त्र के केवल एक ही पक्ष का बोध होता है, वह है कलागत सौन्दर्य। निश्चय ही सौन्दर्य-शास्त्र का मूल विवेच्य विषय कलागत सौन्दर्य ही है किन्तु इसके स्वरूप का सम्यक् रूप में बोध नहीं होता।

इस दृष्टि से हेरॉल्ड आस्बोर्नी का प्रयास स्तुत्य है, जिन्होंने सौन्दर्य-शास्त्र की एक सर्वांगीण परिभाषा प्रस्तुत करते हुए उसके सभी महत्त्वपूर्ण पक्षों को समन्वित किया है। उनके शब्दों में–'एस्थेटिक्स या सौन्दर्य-शास्त्र ज्ञान की वह शाखा है जिसका मुख्य कार्य यह खोजना है कि सौन्दर्य का वास्तविक अर्थ क्या होता है ? इसका संबंध सौन्दर्य संबंधी धारणाओं के तर्क-बद्ध विवेचन, कलाओं के विशिष्ट तत्वों के विश्लेषण एवं सौन्दर्य संबंधी समस्त निर्णयों के लिए उपयुक्त सिद्धांतों के निर्धारण से है।'[३]

वस्तुतः अब 'सौन्दर्य-शास्त्र' का क्षेत्र इतना व्यापक हो गया है कि उसके अन्तर्गत न केवल कला के आधारभूत तत्व–सौन्दर्य– का अपितु उसके सभी अंगों, पक्षों, रूपों एवं पद्धतियों का समावेश किया जाता है। सामान्यतः कला के स्वरूप–विवेचन के साथ-साथ उसकी विभिन्न क्रिया–प्रक्रियाओं – सर्जन–प्रक्रिया, आस्वाद–प्रक्रिया – का भी विश्लेषण इसमें होता है। याने कलाओं की प्रायः सामान्य समस्याओं को इसके अन्तर्गत लिया जाता है।

यदि 'सौन्दर्य-शास्त्र' के उपर्युक्त स्वरूप को ध्यान में रखते हुए विचार किया जाय तो यह स्पष्ट होगा कि रस-सिद्धान्त भी अपने व्यापक रूप में सौन्दर्य-शास्त्र के बहुत निकट है। वह भी कलाओं के आधारभूत तत्त्व, उनके आस्वाद या बोध तथा उनकी आस्वादन-प्रक्रिया की मीमांसा सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक तत्त्वों के आधार पर प्रस्तुत करता है। इस दृष्टि से कुछ विद्वानों ने 'रस सिद्धांत' को 'रस-शास्त्र' की संज्ञा देते हुए उसे कला-शास्त्र या सौन्दर्य-शास्त्र के समकक्ष प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया है। यह दूसरी बात है कि यह प्रयास बहुमान्य नहीं हो पाया। फिर भी इतना तो स्वीकार किया ही जा सकता है कि रस-सिद्धांत भारतीय कला-दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है जो कि आधुनिक सौन्दर्य-शास्त्र की भी अनेक समस्याओं–विशेषतः आस्वादन प्रक्रिया संबंधी समस्याओं– के समाधान में गहरा योग दे सकता है। इस दृष्टि से सौन्दर्य-शास्त्र एवं रस-सिद्धांत का निकट संबंध स्थापित होता है।

२१ : सौन्दर्य शास्त्र की दृष्टि में–जब हम सौन्दर्य शास्त्रीय दृष्टि से रस-सिद्धांत का अध्ययन आरंभ करते हैं तो सबसे पहला यह प्रश्न उपस्थित होता है कि सौन्दर्य-शास्त्र की शब्दावली में 'रस' को क्या कहा जाय ? इसके सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों के विभिन्न मत उपलब्ध हैं जिसमें प्रो. ए. सी. शास्त्री, डॉ. कांतिचंद्र पांडेय, डॉ. सुरेन्द्र बारलिंगे प्रभृति का नाम उल्लेखनीय है। प्रो. शास्त्री ने

अपने ग्रंथ स्टडीज इन संस्कृत एस्थेटिक्स में सौन्दर्य-शास्त्रीय दृष्टि से रस का विवेचन करते हुए लिखा है—"अब हमें यह देखना चाहिए कि 'रस' से क्या तात्पर्य है ? यह हमें एकाएक स्पष्ट कर लेना चाहिए कि पूर्व में जिसे हम 'रस' कहते हैं उसी को पश्चिम में 'ब्यूटी' या 'सौन्दर्य' के नाम से पुकारा जाता है। इस दृष्टि से रस सौन्दर्य का पर्यायवाची सिद्ध होता है।" किन्तु प्रो. शास्त्री ने अपने इसी मत को खंडित करते हुए आगे लिखा है – "जब सौन्दर्य का अर्थ रस-ग्रहण किया जाता है तो इसका तात्पर्य यह है कि सौन्दर्य की अनुभूति एक अतीन्द्रिय अनुभूति है। वह आत्मा के अस्तित्व एवं चैतन्य के पूर्ण एवं अखंड रूप की आनंदानुभूति है, अतः रस सौन्दर्य की अनुभूति का आधार है। जो भी सुन्दर है वह इसलिए सुन्दर है क्योंकि उसका मूलाधार रस है। [४]

इस प्रकार हम देखते हैं कि शास्त्री जी के उपर्युक्त दोनों निष्कर्षों में परस्पर अंतर हैं। पहले निष्कर्ष के अनुसार 'रस' सौन्दर्य का पर्यायवाची है तो दूसरे के अनुसार 'रस' सौन्दर्य का आधारभूत तत्त्व है। ऐसी स्थिति में उनके किस निष्कर्ष को स्वीकार किया जाय—यह समस्या है।

डॉ. कांतिचंद्र पांडेय ने भी अपने प्रसिद्ध ग्रंथ **इंडियन एस्थेटिक्स** में उपर्युक्त समस्या पर विचार किया है। इस संबंध में उनके निष्कर्ष इस प्रकार हैं—'सौन्दर्य-सास्त्र के संदर्भ में यह (रस) सौन्दर्यात्मक वस्तु को सूचित करता है'।[५] यहाँ डॉ. पांडेय ने रस को 'सौन्दर्यात्मक वस्तु' का पर्याय माना है किन्तु आगे चलकर उन्होंने यह भी प्रतिपादित किया है कि रस 'सौन्दर्यात्मक पदार्थ' या एक 'सौन्दर्यात्मक कलात्मक रचना' है।[६] इसी संदर्भ में उन्होंने अन्यत्र रस को एक विशेष प्रकार की 'भावात्मक स्थिति' के रूप में भी स्वीकार किया है। इस प्रकार वे रस की कोई एक सुस्पष्ट व्याख्या नहीं कर पाये। कहीं उसे सौन्दर्यात्मक वस्तु का पर्याय मान लिया गया तो कहीं कलात्मक रचना का या भावात्मक स्थिति का। इससे स्थिति के स्पष्टीकरण में सहायता नहीं मिलती।

डॉ. सुरेन्द्र बारलिंगे ने अपनी पुस्तक **सौन्दर्य-तत्त्व और काव्य-सिद्धांत** में रस की सौन्दर्य-शास्त्रीय दृष्टि से व्याख्या करते हुए यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया है – "रस तो सौन्दर्य की प्रतिमा है, सौन्दर्य नहीं है। इसी कारण रस और सौन्दर्य शब्द एक दूसरे के पूरक हैं।" [७] डॉ. बारलिंगे ने यहाँ 'प्रतिमा' शब्द का प्रयोग अँग्रेजी के 'इमेज' के अर्थ में किया है जबकि आजकल इसके लिए

हिन्दी में 'बिम्ब' शब्द अधिक प्रचलित है। हम कह सकते हैं कि डॉ. बारलिंगे के मतानुसार 'रस' सौन्दर्य का बिम्ब है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि विभिन्न विद्वानों ने रस को सौन्दर्य या सौन्दर्यानुभूति का आधार या कलात्मक संरचना, भावात्मक स्थिति, सौन्दर्यात्मक बिम्ब आदि का पर्याय बताया है किन्तु हमारे विचार से इनमें से कोई भी रस का यथार्थ रूप में पर्यायवाची नहीं कहा जा सकता। अतः इस में पुनर्विचार की आवश्यकता है।

रस का मूल अर्थ—रस की सौन्दर्य पूर्व शास्त्रीय व्याख्या करने से इस बात की आवश्यकता है कि पहले रस का मूल अर्थ भली भांति स्पष्ट कर लें। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि भारतीय आचार्यों में भी रस के मूल अर्थ के संबंध में परस्पर मतभेद रहा है। जहाँ आचार्य भरत ने रस को नाटक या कला का 'आस्वाद्य' माना है वहाँ परवर्ती आचार्यों ने इसे 'आस्वाद' के रूप में ग्रहण किया है। इस 'आस्वाद्य' और 'आस्वाद' के अन्तर को हमें भली-भाँति स्पष्ट कर लेना चाहिए। यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि आचार्य भरत ने रस का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए एक सुस्वाद व्यंजन या खाद्य पदार्थ का दृष्टांत प्रस्तुत किया है। जब हम किसी मिष्टान्न को चखते हैं तो उससे हमें मधुर स्वाद की अनुभूति होती है। यह मधुर स्वाद उस मिष्टान्न का परिणाम या फल है जो कि भोक्ता की जिह्वा के द्वारा अनुभूत होता है। स्पष्ट है कि जब हम उसे आस्वाद के रूप में ग्रहण करते हैं तो वह मिष्टान्नगत माधुर्य न रहकर भोक्तागत आस्वाद का पर्यायवाची बन जाता है। किन्तु यदि हम रस को आस्वाद के स्थान पर आस्वाद्य मानें तो उस स्थिति में उसका अस्तित्व स्वयं पक्वान्न में ही विद्यमान होगा। आस्वाद्य के आस्वाद से हमें माधुर्य की अनुभूति होगी।

यदि उपर्युक्त उदाहरण को हम पाक-शास्त्र के स्थान पर कला-शास्त्र पर लागू करें तो स्पष्ट होगा कि रस को आस्वाद मानने पर वह सामाजिक की अनुभूति का पर्याय सिद्ध होगा जबकि आस्वाद्य मानने पर इसे कलागत विशेषता के रूप में स्वीकार करना होगा।

यद्यपि प्रारंभ में यह आस्वाद और आस्वाद्य का मतभेद चलता रहा, किन्तु आगे चल कर रस को 'आनंद' का पर्याय मान लिया गया तो यह भेद स्वतः ही दूर हो गया क्योंकि आनन्द वस्तुगत न होकर व्यक्तिगत तत्त्व है। किसी भी सुन्दर एवं मधुर वस्तु के आस्वादन से ही आनन्द की उपलब्धि होती है। आधुनिक आचार्यों, जिनमें रामचंद्र शुक्ल एवं डॉ. नगेन्द्र का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय

है, ने रस का स्वरूप आनन्द स्वीकार करते हुए उसे कलाजन्य आनन्द या कला के माध्यम से उपलब्ध आनन्द की कोटि में स्थान दिया है। अतः यदि प्रचलित शब्दावली में कहें तो रस वस्तुगत माधुर्य या सौन्दर्य न होकर उसके आस्वाद से उपलब्ध होने वाला एक विशेष अनुभव है जिसे आस्वाद कहा जा सकता है।

रस : सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि से – यदि उपर्युक्त निष्कर्ष को ध्यान में रखते हुए सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि से रस पर विचार किया जाय तो स्पष्ट होगा कि रस कलागत सौन्दर्य न होकर उससे उपलब्ध होने वाला सौन्दर्यानुभव है जिसे दूसरे शब्दों में 'सौन्दर्यानुभूति' या 'कलानुभूति' भी कहा जा सकता है। ऐसी स्थिति में रस को 'सौन्दर्य' का पर्यायवाची मानना ही अपने आप में त्रुटिपूर्ण है क्योंकि वह सौन्दर्य के आस्वाद से उपलब्ध होने वाली अनुभूति है जो कि काव्य के संदर्भ में पाठक को या सामाजिक को उपलब्ध होती है। इसीलिए भट्टनायक, अभिनव गुप्त, रामचंद्र शुक्ल, डॉ नगेन्द्र आदि आचार्यों ने रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया का विवेचन करते हुए सदा पाठक या सामाजिक की विभिन्न स्थितियों, परिस्थितियों, अनुभूतियों, क्षमताओं एवं भावाभिव्यंजनाओं का विवेचन-विश्लेषण किया है। इस बात में कोई संदेह नहीं कि रस 'सौन्दर्य' न होकर 'सौन्दर्यानुभूति' है। वह कला न होकर 'कलानुभूति' है।

रस को सौन्दर्य का पर्यायवाची मान लेने के कारण ही आधुनिक युग के कतिपय विद्वानों को इसकी सौन्दर्य-शास्त्रीय व्याख्या करने में सफलता प्राप्त नहीं हुई। जब हम किसी वस्तु के मूल स्वरूप को ही पहचानने में भूल कर देंगे तो ऐसी स्थिति में उसका विवेचन-विश्लेषण कैसे सम्भव है। इस सन्दर्भ में डॉ. गणपति चन्द्र गुप्त का मत उल्लेखनीय है। उन्होंने अपने रस-सिद्धांत का पुनर्विवेचन में उपर्युक्त स्थिति का विश्लेषण करते हुए लिखा है[८] —"रस सौन्दर्य का पर्याय न होकर सौन्दर्य की अनुभूति है जिसे सौन्दर्यशास्त्र के क्षेत्र में सौन्दर्यानुभूति (एस्थेटिक एक्सपीरियन्स) कहा जाता है। वस्तुतः अब तक रस की सौन्दर्य-शास्त्रीय दृष्टि से सम्यक् व्याख्या न हो पाने का मूल कारण भी यही है कि उसे सौन्दर्यानुभूति के स्थान पर 'सौन्दर्य', सौन्दर्यात्मक पदार्थ', 'सौन्दर्य प्रतिमा' आदि का पर्याय मान लिया गया है। अवश्य ही सौन्दर्यानुभूति, सौन्दर्य से बहुत पृथक् नहीं है क्योंकि अन्ततः सौन्दर्य से ही उसकी अनुभूति प्राप्त होती है; किन्तु फिर भी 'सौन्दर्य' कारण है तो 'सौन्दर्यानुभूति' उसका कार्य है। अतः कारण को ही कार्य या साधन को ही साध्य मान लेने से जो असंगति उत्पन्न हो सकती है वह इन पूर्ववर्ती प्रयासों से हुई है।"[९]

रस-सिद्धांत और सौन्दर्यशास्त्र का भाव-सिद्धांत— रस-सिद्धांत मूलतः काव्य, नाटक या कला में स्थायी भाव को सर्वोपरि महत्त्व प्रदान करता है क्योंकि इसके अनुसार कला से रस या आनन्द की निष्पत्ति कला के माध्यम से प्रस्तुत स्थायी भाव की ही देन है। दूसरे शब्दों में रस-सिद्धांत भाववादी सिद्धांत है जो कि कला में भावों के चित्रण एवं उनकी व्यंजना को सर्वोपरि महत्त्व प्रदान करता है। यद्यपि यह सिद्धांत कला के अन्य तत्त्वों—विषय-वस्तु, पात्र, संभाषण, अभिनय-शैली, भाषा-शैली आदि को भी स्वीकार करता है किन्तु ये सब स्थायी भाव के ही अंग या साधन के रूप मे ग्रहण किये जाते हैं, साध्य-रूप में नहीं। जिस प्रकार एक मिष्टान्न विक्रेता के लिए दुग्ध, चीनी, मैदा, घृत आदि पदार्थों का महत्त्व है क्योंकि उनके द्वारा वह मिष्टान्न का निर्माण करता है फिर भी इसका साध्य मिष्टान्न है जबकि अन्य सब पदार्थ साधन रूप में ही होते हैं। यही स्थिति रस सिद्धांत के अनुसार काव्य एवं अन्य कलाओं मे स्थायी भाव और उसके घटक या साधक तत्त्वों की है। इस प्रकार कहा जा सकता है रसवादी दृष्टिकोण के अनुसार कला का आधारभूत तत्त्व स्थायी भाव है। कवि या कलाकार का लक्ष्य है इसी स्थायी भाव को विषय वस्तु एवं शैलीगत तत्त्वों के माध्यम से प्रस्तुत कर देना, चित्रित कर देना या व्यंजित कर देना। यहाँ यह ध्यान रहे कि सब क्रियाओं के स्थान पर 'उल्लिखित कर देना' कह देने से काम नहीं चलेगा क्योंकि रस सिद्धांत के अनुसार स्थायी भाव का उल्लेख करना काव्य का सबसे बड़ा दोष माना गया है। क्यों? इसलिए कि यदि हम स्थायी भाव का उल्लेख कर देंगे तो फिर उनके चित्रण या व्यंजन के लिए कहाँ अवकाश रहेगा। एक सामान्य व्यक्ति में और कलाकार में यही अन्तर है। जहां सामान्य व्यक्ति अपने स्थायी भाव का स्पष्ट शब्दों में उल्लेख कर देता है वहीं कवि या कलाकार उसे अस्पष्ट या अप्रत्यक्ष ढंग से विभिन्न बिंबों, चित्रों या प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त करता है। उदाहरण के लिए हम कह सकते हैं, 'मैं बहुत दुःखी हूं' 'मैं भयभीत हूं', 'मुझे तुम पर बहुत क्रोध आ रहा है', 'आपके प्रति बहुत सहानुभूति है' आदि। किन्तु ऐसा कह देने से दुःख (शोक) से भय, क्रोध, करुणा आदि भावों का चित्रण नहीं हो पाएगा और बिना चित्रण के हमारा कथन 'कला' की संज्ञा से विभूषित नहीं हो पाएगा और यदि हम बलपूर्वक उस पर 'कला' का शीर्षक आरोपित करने में सफल भी हो जाएं तो भी उससे पाठक को उस तत्त्व की अनुभूति नहीं उपलब्ध होगी जिसे रस या आनंद कहा जाता है। जब कोई व्यक्ति सामान्य भाषा में हमें कहता है कि वह बहुत दुःखी है तो इससे हमारे मन में उसके दुःख का कोई बिंब, चित्र या अनुभव प्रस्तुत नहीं होता। इससे हमें तथ्य का तो ज्ञान होता है किन्तु उसका

बोध या अनुभूति प्राप्त नहीं होती जो कि कला का सर्वोपरि लक्ष्य है और जिससे सामाजिक को रसानुभूति प्राप्त होती है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि रस एक भाववादी सिद्धांत है। सौन्दर्य—शास्त्र के क्षेत्र में भी विभिन्न विद्वानों एवं चिंतकों ने भाववादी सिद्धांतों की स्थापना की है किन्तु उनकी धारणाओं, मान्यताओं एवं स्थापनाओं में परस्पर सूक्ष्म अंतर है।[१०] कुछ भाव को कला का लक्ष्य मानते हुए उसकी सफलता भावोद्दीपन या भावोत्तेजना में मानते हैं। अर्थात् उनके विचार से यदि कलाकार अपनी रचना के द्वारा पाठक के भावों को उद्दीपित करने में या उन्हें उत्तेजित करने में सफल हो गया तो उसका लक्ष्य पूरा हो गया। इस मत को भावोद्दीप्ति मत कहा गया है।

कला में भाव-तत्त्व को प्रमुखता प्रदान करनेवाले सौन्दर्य शास्त्रियों का एक अन्य वर्ग न केवल भावोद्दीप्ति को आवश्यक मानता है अपितु उसके विचार से स्वयं कलाकृति में भी भावों का संयोजन या चित्रण होना चाहिए जिससे कि वह अपने लक्ष्य में सफल हो सके।

तीसरा वर्ग ऐसे विद्वानों का है जो पहली दोनों स्थितियों को तो स्वीकार करते ही हैं किन्तु साथ ही वे इस बात को भी आवश्यक मानते हैं कि काव्य या कला में चित्रित भाव पाठक या सामाजिक को संप्रेषित भी होने चाहिए। इनके अतिरिक्त एक चौथा वर्ग उन विद्वानों का है जो प्रारंभिक तीनों प्रक्रियाओं को स्वीकार करते हुए अंत में कला का लक्ष्य भावाभिव्यक्ति मानते हैं। अर्थात्, उनके विचार से कला में भावों का स्फुरण या जागरण अथवा कलागत भावों का सामाजिक तक संप्रेषण ही पर्याप्त नहीं है अपितु इनके अतिरिक्त कला के माध्यम से कवि और पाठक, या कलाकार और सामाजिक इन दोनों के भावों की अभिव्यक्ति भी होनी चाहिए। यही कला का चरम लक्ष्य है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पाश्चात्य सौन्दर्य-शास्त्र के क्षेत्र में भाव-सिद्धांत का विकास अनेक चरणों में हुआ। पहले उसे भावोद्दीप्ति तक सीमित रखा गया तथा उसके अनंतर वह क्रमशः भावावलम्बन, भाव-संप्रेषण, भावाभिव्यक्ति तक विकसित हो गया। वस्तुतः ये चारों चरण भाव-सिद्धांत के ही विकास के चार सोपान हैं जो निश्चय ही एक से दूसरे की उच्चता के सूचक हैं। इन चारों सोपानों के माध्यम से भाव-सिद्धान्त अपने चरमविकास की सीमा तक पहुँच गया है। यह दूसरी बात है कि इन चारों वर्गों में परस्पर सहयोग, समन्वय एवं सामंजस्य न होने के कारण वे अब भी एक दूसरे की उपेक्षा करते हैं। किन्तु फिर भी यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि सौन्दर्य-शास्त्र के क्षेत्र में जितनी अधिक मान्यता भावाभिव्यक्ति सिद्धांत को प्राप्त हुई संभवतः उतनी अन्य किसी भी सिद्धांत को

प्राप्त नहीं हुई। इस सिद्धान्त के उन्नायकों में जार्ज सान्तायना, ई. एफ. कैरिट्ट, आर. जी. कालिंगवुड जैसे विद्वानों का नाम उल्लेखनीय है।

अब यदि पाश्चात्य भाव-सिद्धांत के चारों सोपानों के विकास-क्रम को ध्यान में रखते हुए भारतीय रस सिद्धांत के विकास पर विचार किया जाय तो उनमें यह एक विचित्र साम्य दृष्टिगोचर होगा कि रस-सिद्धांत का विकास भी क्रमशः विभिन्न सोपानों में ही हुआ है। रस-सिद्धांत के प्राथमिक व्याख्याता भरत मुनि ने रस को नाटक का आस्वाद्य मानते हुए सामाजिक की भावोद्दीप्ति को ही विशेष रूप से लक्षित किया है यह दूसरी बात है कि उन्होंने इसके साथ-साथ लक्ष्य की पूर्ति के साधनों का भी विवेचन सांगोपांग रूप में कर दिया। उन्होंने पाठक की भावोद्दीप्ति के लिए रचना में जिस प्रकार से विभाव, अनुभाव के संयोजन का विधान किया वह न केवल कला-शास्त्रीय दृष्टि से अपितु मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। अतः कहना चाहिए पाश्चात्य भाव सिद्धांत के दूसरे चरण में जिन भावावलंबनवादी विचारों, धारणाओं या मतों का विकास हुआ वे भी सुसंगत एवं सुव्यवस्थित रूप में भरत के रस-शास्त्रीय विवेचन में उपलब्ध हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि जो यात्रा पश्चिम के भाव सिद्धांत ने दो चरणों में समाप्त की उसकी पूर्ति भरत मुनी ने एक ही चरण में कर ली क्योंकि उनकी विवेचना में भावोद्दीप्तिवाद और भावावलंबन इन दोनों के ही आधारभूत तत्त्व उपलब्ध हैं।

रस-सिद्धांत के विकास क्रम में नये चरण का सूत्रपात तब हुआ जबकि भट्टनायक ने रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया का विवेचन करते हुए उसके लिए साधारणीकरण के व्यापार को अनिवार्य माना। 'साधारणीकरण' का अर्थ है कि जिन भावों से नाटक या काव्य का नायक आन्दोलित है उन्हीं भावों से सामाजिक या पाठक भी आन्दोलित हो जाय। दूसरे शब्दों में, कलागत भावों का पाठक या सामाजिक तक प्रेषित या संप्रेषित होना ही साधारणीकरण है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि भाव-सिद्धांत के तीसरे चरण की पूर्ति भट्टनायक के द्वारा हुई और आगे चलकर अभिनव गुप्त ने साधारणीकरण की प्रक्रिया को स्वीकार करते हुए भी अन्ततः उसे काव्य या कला का साध्य न मानकर साधन ही घोषित करते हुए उसका चरम लक्ष्य भाव की अभिव्यंजना या अभिव्यक्ति को सिद्ध किया। अभिनव गुप्त के अनुसार कला का लक्ष्य भावाभिव्यक्ति है। इस प्रकार हम देखते हैं कि भाव संबंधी धारणाओं के विकास क्रम की दृष्टि से पाश्चात्य भाव सिद्धांत और भारतीय रस-सिद्धांत में परस्पर गहरा साम्य है किन्तु उनमें अन्तर इस बात का है कि जहाँ पाश्चात्य विद्वान् अपने-अपने मतों की अलग अलग रूपों में स्थापना करते रहे वहाँ भारतीय आचार्यों ने भरतमुनि के मूल सूत्र को ही

आधार बनाकर एक ही सिद्धांत के साथ जुड़े रहे । उन्होंने उसके अन्यान्य पहलु स्पष्ट किये, जिसके फलस्वरूप उनके मत परस्पर समन्वित हो सके हैं। इसीलिए जहाँ सभी भारतीय आचार्यों के भाव संबंधी विचार, मत या सिद्धांत एक ही शीर्षक " रस-सिद्धांत " में समाविष्ट हो जाते हैं जहाँ पाश्चात्य भाव सिद्धांत में ऐसा नहीं है। वहाँ पूर्वोक्त चारों प्रकार के मत एक दूसरे से विच्छिन्न एवं अव्यवस्थित रूप में प्रचलित रहे हैं जिससे उन्हें किसी एक संज्ञा से विभाषित करना संभव नहीं हो पाया । फिर भी यदि इन सभी पाश्चात्य विचारों को भारतीय रस सिद्धांत के आलोक में व्यवस्थित एवं समन्वित करने का प्रयास किया जाय तो इसके कला के भाव-पक्ष को तथा उसमें प्रस्तुत या चित्रित भावों, संवेदनाओं एवं अनुभूतियों के विवेचन-विश्लेषण में सहायता मिल सकती है । साथ ही कला सम्बन्धी भाव-सिद्धांत को विकसित किया जा सकता है ।

कला की आस्वादन-प्रक्रिया एवं रस-सिद्धांत– रस-सिद्धांत का महत्त्व न केवल कलागत भावों के विवेचन–विश्लेषण की दृष्टि से है, कला की आस्वादन–प्रक्रिया के स्पष्टीकरण में भी वह पर्याप्त सहायक सिद्ध हो सकता है । यहाँ यह उल्लेखनीय है कि सौन्दर्य-शास्त्र के क्षेत्र में आस्वादन-प्रक्रिया एक महत्त्वपूर्ण विवेच्य विषय रहा है । रस-सिद्धांत के आचार्यों ने इस संदर्भ में साधारणीकरण के जिस सिद्धान्त की स्थापना की है वह आधुनिक सौन्दर्य-शास्त्र के भी अनुकूल है । जिसे भारतीय आचार्यों ने ' साधारणीकरण की प्रक्रिया ' कहा है, उसी को पाश्चात्य सौन्दर्य-शास्त्रियों ने विभिन्न संज्ञाओं से विभूषित करते हुए निर्वैयक्तिकता का सिद्धांत या समानानुभूति का सिद्धांत कहा है । [11] सौन्दर्य-शास्त्र के क्षेत्र में समानानुभूति के सिद्धांत से एक बहुत बड़ी क्रान्ति आ गई है, क्योंकि इसके पूर्व विद्वान् कलानुभूति के संदर्भ में सहानुभूति या आत्मानुभूति की ही चर्चा करते थे किंतु समानानुभूति शब्द का आविष्कार ही नहीं हुआ था । इससे कलाकार और सामाजिक का पारस्परिक भावात्मक संबंध स्पष्ट नहीं हो पाता था, क्योंकि सहानुभूति में व्यक्ति अपने को दूसरे से थोड़ा पृथक् रखता है जबकि आत्मानुभूति में दूसरे व्यक्ति का अस्तित्व ही नहीं रहता; किंतु समानानुभूति ऐसा शब्द है जिससे कलाकार और सामाजिक इन दोनों की समानता या तादात्म्य का बोध होता है । [12] कहना न होगा कि यह समानानुभूति–सिद्धांत रस–सिद्धांत के साधारणीकरण सिद्धांत के बहु निकट है जिसकी स्थापना भट्टनायक ने शताब्दियों पूर्व की थी ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय रस–सिद्धांत अपने आधारभूत तत्त्व एवं प्रयोजन की दृष्टी से सौन्दर्य-शास्त्रीय धारणाओं, अवधारणाओं एवं सिद्धांतों के बहुत निकट सिद्ध होता है । अतः यदि हम रस सिद्धांत की सम्यक् विवेचना

आधुनिक सौन्दर्य-शास्त्र के आधार पर करें तो इसका स्वरूप और भी विकसित हो सकता है तथा ऐसी बहुत सी गुत्थियां जो कि अभी तक नहीं सुलझी हैं उन्हें भी सुलझाया जा सकता है, तो दूसरी ओर रस-सैद्धान्तिक आचार्यों की सूक्ष्म विवेचनाओं एवं स्थापनाओं के आलोक में सौन्दर्य-शास्त्र की भी अनेक समस्याओं का समाधान स्पष्टता-पूर्वक किया जा सकता है। विशेषतः कला के भाव पक्ष, एवं कला की सृजन प्रक्रिया एवं आस्वादन-प्रक्रिया के विश्लेषण में रस-सैद्धांतिक स्थापनाएँ महत्वपूर्ण एवं उपयोगी सिद्ध हो सकती हैं। अतः मेरे विचार में रस-सिद्धांत और सौन्दर्य-शास्त्र दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। अब तक हिन्दी एवं संस्कृत के विद्वानों ने इस दिशा में अनेक प्रयास किए हैं जिन्हें और आगे बढ़ाने की आवश्यकता है।

– चन्द्रकला माटा

एम्. टी. एच्. २०
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय कैम्पस
कुरुक्षेत्र – १३२११९
(हरियाना)

टिप्पणियाँ

१. बोसांके; ए हिस्ट्री ऑफ ऐस्थेटिक्स पृ. १८३
२. डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय; वेस्टर्न एस्थेटिक्स, पृ. २
३. हेरॉल्ड ऑस्बोर्नी; एस्थेटिक्स एण्ड क्रिटिसिजम, पृ. २४
४. प्रो. ए. सी. शास्त्री; स्टडीज इन संस्कृत एस्थेटिक्स, पृ. ३
५. डा. के. सी. पाण्डेय; इण्डियन एस्थेटिक्स, पृ, २०
६. वही, पृ. ३६
७. डॉ. सुरेन्द्र बारलिंगे; सौन्दर्य– तत्त्व एवं काव्य-सिद्धांत, पृ. ११२
८–९. डॉ. गणपति चन्द्र गुप्त; रस-सिद्धांत का पुनर्विवेचन, पृ. १४१-२
१०. वही, पृ. ७१
११. डॉ निर्मला जैन; रस-सिद्धांत और सौंदर्य-शास्त्र, पृ. १८२
१२. वही, पृ. १९०

स्याद्वाद, नय और सप्तभंगी

स्याद्वाद जैन दर्शन का भाषा के प्रयोग से सम्बन्धित एक विशिष्ट सिद्धांत है। सामान्यतः किसी वाक्य की अर्थ-वाचकता के लिये पदों का उद्देश्य-विधेय रूप से संयोजित होना पर्याप्त माना जाता है। इस सिद्धांत के अनुसार किसी भी वाक्य की सत्यता की अनिवार्य शर्त उसमें इन पदों के अतिरिक्त 'स्यात्' का प्रयोग है। यह पद उद्देश्य को सीमित या विशिष्ट करने का काम करता है तथा साथ ही इस बात का भी द्योतक है कि यह कथन अपने आप में सत्य न होकर एक पूरे संदर्भ में सत्य है।

'स्यात्' पद का अर्थ

संस्कृत भाषा में स्यात् पद के शायद, सम्भवतः, प्रश्न-सूचक, कथंचित्, आदि कई अर्थ हैं। जैन दार्शनिक इस पद का प्रयोग 'कथंचित्'- किसी अपेक्षा के अर्थ में करते हैं। यह कथंचित् अर्थ के प्रतिपादक के साथ ही साथ अनेकान्त का द्योतक भी है। इसे परिभाषित करते हुए अमृतचन्द्र कहते हैं, "स्यात् एक अव्यय पद है जो सर्वथात्व का निषेधक, अनेकांत का द्योतक तथा कथंचित् अर्थ का प्रतिपादक है"। [१] समन्तभद्र कहते हैं, "वाक्यों में स्यात् अनेकान्त का द्योतक तथा गम्य अर्थ के प्रति विशेषण है"। [२] 'गम्य अर्थ के प्रति विशेषण' का अर्थ स्पष्ट करते हुए अकलंक कहते हैं, "किसी वाक्य में प्रयुक्त त्यात् पद जाने जा रहे अर्थ के प्रति विशेषण के रूप में उसके अवयव का" सूचक है। [३]

जैन दार्शनिकों के अनुसार कोई भी वाक्य सर्वथा सत्य न होकर एक निश्चित अपेक्षा से ही सत्य तथा अन्य अपेक्षा से असत्य भी होता है। उस अपेक्षा को स्पष्ट कर दिये जाने पर अथवा उस अपेक्षा के प्रतीक के रूप में 'स्यात्' का प्रयोग किये जाने पर वह सत्य ही होता है, असत्य नहीं होता। 'कथंचित्' या 'किसी अपेक्षा से' पद न तो व्यक्तिगत दृष्टिकोण के सूचक हैं और न ही पदार्थ के अनिश्चित स्वरूप के सूचक हैं, अपितु ये पदार्थ के उस विशिष्ट अंश या पक्ष के

सूचक हैं जिसकी अपेक्षा से ही वर्णित धर्म का अस्तित्व है। इस प्रकार कथंचित् अर्थ के प्रतिपादक के रूप में 'स्यात्' उद्देश्य के प्रति परिमाणक है। वह यह बताता है कि विधेय उद्देश्य के प्रति असीमित रूप से उसके सभी भेद-प्रभेदों तथा सभी पक्षों के प्रति सत्य न होकर एक निश्चित सीमा में ही उसके किसी विशेष भेद के प्रति ही अथवा किसी विशेष पक्ष की अपेक्षा से ही सत्य है।

'स्यात्' जाने जा रहे पदार्थ के प्रति विशेषण के साथ ही साथ अनेकान्त का द्योतक भी है। किसी एक अकेले धर्म का अस्तित्व नहीं होता अपितु उसका अस्तित्व अन्य अनेक धर्मों के होने पर ही सम्भव है। 'स्यात्' सामान्य रूप से से पदार्थ के अनेक धर्मों का द्योतक तथा विशेष रूप से एक धर्म की अपेक्षा का प्रतिपादक है। वह यह बताता है कि वस्तु में इस धर्म के अतिरिक्त भी अन्य अनेक धर्म हैं जो अपनी अपनी सीमाओं में विद्यमान हैं तथा यह धर्म अपने अस्तित्व के लिये उनकी अपेक्षा करता है।

भाषा के माध्यम से वस्तु-स्थिति को यथार्थतः तभी समझा जा सकता है जबकि भाषा वस्तुस्थिति के अनुरूप हो। इसलिये स्याद्वाद की आवश्यकता पर विचार करने से पूर्व हम यह देखें कि वस्तु का स्वरूप किस प्रकार का है।

वस्तु का स्वरूप—अनेकांत

जैन दर्शनिकों के अनुसार जो भी सत् है वह अनेकान्तात्मक है। 'अनेकान्त' शब्द अनेक और अन्त धर्म पदों के योग से निर्मित हुआ है तथा इसका शाब्दिक अर्थ है एक वस्तु की अनेक धर्मात्मकता। जैन दार्शनिक धर्मी को कुछ धर्मों में सीमित न मान कर अनन्त धर्मात्मक मानते हैं।[४] हमारे शब्द-प्रयोग के लिये पदार्थ की अनेक धर्मात्मकता ही प्रासंगिक है क्योंकि एक पदार्थ के अनन्त धर्म हमारे ज्ञान के विषय नहीं बन सकते। धर्म वस्तु के अंश होते हैं, संघटक तत्त्व होते हैं, स्वभाव होते हैं तथा वस्तु अपने धर्मों या विशेषताओं के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

अनेकान्त वाद के अनुसार कोई भी पदार्थ पूर्णतया निरंश तथा एक रूप न होकर अनेक धर्मों तथा अनेक रूपों से व्याप्त होता है। प्रत्येक पदार्थ अनेक सह-भावी अंशों-गुणों, अवयवों तथा उनके काल क्रम से होने वाले पर्यायों में व्याप्त होता है। एक सांश पदार्थ में एक ही धर्म का सद्भाव तथा अभाव दोनों होते हैं। वह अपने भिन्न--भिन्न अंशों से भिन्न - भिन्न स्वरूप लिये हुए होता है। इसके अतिरिक्त वह अन्य अनन्त पदार्थों के परिप्रेक्ष्य में अनन्त शक्तियाँ रखता है, जो एक विशेष पदार्थ के परिप्रेक्ष्य में सत् तथा अन्य पदार्थों

के परिप्रेक्ष्य में असत् होती हैं। किसी भी वस्तु में ऐसी कोई विशेषता नहीं होती जो उसके सम्पूर्ण अस्तित्व में पूर्णतया अपरिवर्तित रूप से विद्यमान रहे। यद्यपि जो भी सत् है उसमें कुछ ऐसी अनिवार्य विशेषताएँ होती हैं जिनके आधार पर उसे पहचाना जाता है, एक विशेष नाम दिया जाता है तथा जो उसके अस्तित्व के प्रत्येक क्षण में विद्यमान रहती हैं, लेकिन ये विशेषताएँ भी पूर्णतया अपरिवर्तनीय नहीं होतीं, इनका अस्तित्व सामान्य रूप से वही रहते हुए तथा देश, काल और परिस्थितियों के अनुसार पूर्ववर्ती विशेष रूप का परित्याग कर उत्तरवर्ती विशेष रूप को प्राप्त करते हुए ही हो सकता है। उदाहरणार्थ, ज्ञान आत्मा का अनिवार्य धर्म है। इसका अर्थ है कि जानना आत्मा का शाश्वत स्वरूप है। लेकिन जानना अपने आप में कुछ नहीं होता, अपितु सदैव किसी विषय को जानना होता है। विषय निरन्तर परिवर्तित होते रहते हैं। इसलिये ज्ञान की निरन्तरता तभी हो सकती है जबकि वह सामान्य रूप से वही रहता हुआ भी विशेष रूप से निरन्तर परिवर्तित होता रहे।

जैन दर्शन में पदार्थ के सामान्यरूप से शाश्वत स्वरूप को गुण तथा उसकी दिक्कालिक स्थिति को पर्याय कहा गया है। जो भी सत् है वह गुणपर्यायात्मक तथा उत्पादव्यय-ध्रौव्यात्मक होता है।[५]

एक वस्तु अपने अनेक धर्मों का समूह अथवा आधार मात्र न होकर उनकी एकता है। वह अपने सहभावी अंशों, गुणों तथा अवयवों के पारस्परिक सम्बन्ध से उत्पन्न एक जटिल संरचना है। गुण-गुणी तथा अवयव-अवयवी में शरीर और उसके अवयवों के समान भेदा-भेद सम्बन्ध है। शरीर तथा उसके अवयवों में संज्ञा, संख्या, लक्षण, प्रयोजन आदि की अपेक्षा भेद होते हुए भी तादात्म्य सम्बन्ध होता है। शरीर के अभाव में हाथ, पैर आदि अंगों का तथा इन अंगों के अभाव में शरीर का अस्तित्व नहीं हो सकता। शरीर के विभिन्न अवयवों का स्वरूप तथा प्रयोजन भिन्न-भिन्न होते हैं लेकिन वे अपना यह स्वरूप शरीर अर्थात् सभी अंगों की पारस्परिक सम्बद्धता से उत्पन्न एक जटिल संरचना के रूप में ही रखते हैं। शरीर से पृथक् हो जाने पर उनका उस रूप में अस्तित्व नहीं हो सकता। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि शरीर ही अपने भिन्न भिन्न अंगों से भिन्न-भिन्न स्वरूप लिये हुए होता है। उसके एक अंग की स्थिति अन्य अंगों से निरपेक्ष न होकर उनसे प्रभावित होती है। इसके अतिरिक्त शरीर की स्थिति को खान, पान, मौसम, जलवायु आदि अनेक बाह्य कारण प्रभावित करते हैं।

शरीर के समान ही द्रव्य और गुण में भेदाभेद सम्बन्ध होता है। द्रव्य रहित गुण तथा गुण रहित द्रव्य नहीं हो सकता। एक गुण के पर्याय- विशेष की

उत्पत्ति अन्तरंग आदि के कारण तथा पूर्ववर्ती पर्यायों से द्रव्य के अन्य गुणों की स्थितियाँ तथा बहिरंग कारणों से होती हैं। उदाहरण के लिये ज्ञान विशेष की उत्पत्ति के अन्तरग कारण व्यक्ति की जानने की क्षमता, दर्शन, सुख तथा वीर्य गुण की अवस्थाएँ तथा बहिरंग कारण शारीरिक और मानसिक स्थिति है। ज्ञान की विशेष स्थिति व्यक्ति में अन्य अनेक धर्मों के सद्भाव की अपेक्षा रखती है तथा वह उनसे निरपेक्ष रूप से अस्तित्व नहीं रख सकती।

गुणपर्यायात्मक द्रव्य एक-अनेक, भेद-अभेद, सामान्य-विशेष आदि धर्म-युगलों में व्यवस्थित होकर ही अस्तित्व रख सकता है। कोई भी पदार्थ सर्वथा एक रूप नित्य ही अथवा अनित्य ही, एक ही अथवा अनेक ही, सामान्य ही अथवा विशेष ही नहीं हो सकता।[6] इस प्रकार की सर्वथा एक-रूपता का निषेध ही अनेकांत है। अकलंक कहते हैं, "सत्, असत्, नित्य, अनित्यादि सर्वथा एकांत का निषेध ही अनेकांत का लक्षण है।"[7] अमृतचंद्र कहते हैं, "जो एक है वही अनेक है, जो सत् है वही असत् है जो नित्य है वही अनित्य है। इस प्रकार एक वस्तु के वस्तुत्व के निष्पादक परस्पर विरुद्ध शक्तिद्वय के प्रकाशन का नाम अनेकांत है।"[8] ये धर्म-युगल परस्पर विरोधी न होकर अविनाभावी हैं। जिस प्रकार एक मूर्त वस्तु में पूर्व और अपर भाग अनिवार्यतया होते हैं, एक सिक्के के दो पहलू चित् और पुट अवश्यंभावी हैं, उसी प्रकार एक पदार्थ भी इन धर्मयुगलों के अभाव में अस्तित्व नहीं रख सकता। ये दोनों धर्म अपनी अपनी अपेक्षाओं में स्थित हैं तथा एक दूसरे का अतिक्रमण नहीं करते।

ये धर्म अपने प्रतिपक्ष धर्म से स्वरूप की अपेक्षा निरपेक्ष होते हुए भी अस्तित्व की अपेक्षा परस्पर सापेक्ष हैं तथा वस्तु इन उभय रूपों में स्थित होकर ही अस्तित्व रखती है। विद्यानन्दि कहते हैं– एक वस्तु परस्पर निरपेक्ष सर्वथा भेद तथा सर्वथा अभेद से विजातीय– परस्पर सापेक्ष– एक दूसरे की अपेक्षा के सहित— कथंचित् भेदाभेद उभय रूप-- जात्यन्तर स्वरूप होती है।

इस प्रकार अनेकांत का अर्थ अनेक धर्मों तथा रूपों का होना ही नहीं अपितु परस्पर सापेक्ष अनेक धर्मों तथा अनेक रूपों का होना है। न्यायवैशेषिक दर्शन को, जिसमें परस्पर निरपेक्ष एक धर्मी और अनेक धर्मों, सामान्य और विशेष, नित्य और अनित्य की सत्ता स्वीकार की गई है, जैन दार्शनिक उभय एकांत कहते हैं। इसी प्रकार परस्पर निरपेक्ष अनेक धर्मों की सत्ता स्वीकार करना अनेकांत न होकर अनेक एकान्त है। अनेक धर्मात्मक एक धर्मी की सत्ता धर्मों की परस्पर सापेक्षता पूर्वक ही संभव है।

एक अनेकान्तात्मक वस्तु की कथन पद्धति ऐसी होनी चाहिए जो वस्तु की इस जटिल संरचना को अभिव्यक्त कर सकें, जो यह बता सके कि वर्णित धर्म का क्षेत्र वस्तु में कहाँ पर है तथा वह वहाँ अन्य किन किन विशेषताओं के होने पर ही हो सकता है। इन दोनों कार्यों के सम्पादनार्थ ही जैन दार्शनिकों ने स्याद्वाद का प्रतिपादन किया है। अब हम 'स्यात्' के कार्यों-- गम्य अर्थ के प्रति विशेषण तथा अनेकांत का द्योतन पर क्रम से विचार करेंगे।

स्यात्- गम्य अर्थ के प्रति विशेषण

भाषा विधि–निषेधात्मक स्वरूप लिए हुए होती है। एक धर्म का विधान उसके विरोधी धर्म का निषेध कर देता है। उद्देश्य का सामान्य रूप से उल्लेख करते हुए विधान करने वाले वाक्य से यह बोध होता है कि जाने जा रहे पदार्थ में विवक्षित धर्म का सदैव सद्भाव ही होता है, अभाव कभी नहीं होता। उदाहरण के लिए यह वाक्य 'द्रव्य नित्य है' द्रव्य की अनित्यता का निषेध कर देता है। उसे 'एक' कहने पर अनेक नहीं कहा जा सकता।

अनुभव द्वारा वस्तु के एकानेकात्मक, सामान्य-विशेषात्मक, परिवर्तनशील स्थायी स्वरूप का बोध होता है जिसमें भाषा द्वारा विरोध उत्पन्न कर दिये जाने पर अनुभव के एक पक्ष को भ्रमात्मक मानना पड़ता है। जैन दार्शनिक कहते हैं कि अनुभव का स्वरूप भ्रमात्मक न होकर भाषा का स्वरूप भ्रमात्मक है तथा इस भ्रम का निराकरण विभिन्न अपेक्षाओं से पदार्थ का स्वरूप स्पष्ट करते हुए ही किया जा सकता है।

स्याद्वाद की आवश्यकता को स्पष्ट करने के लिए जैन दार्शनिक प्रायः अस्तित्व-धर्म का दृष्टान्त देते हैं। वे कहते हैं कि कोई भी पदार्थ पूर्णतया सत् अथवा असत् न होकर कथंचित् सत् असत् होता है।[९] उसे स्व-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से सत् तथा पर द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से असत् कौन नहीं मानेगा?[१०] उसके भावाभावात्मक स्वरूप का वर्णन 'द्रव्य है' रूप से नहीं किया जा सकता, क्योंकि तब उसके प्रति किसी भी प्रकार का निषेधात्मक कथन असंभव होगा। उसके अस्तित्व का विधान द्रव्य के प्रति विशेषण के रूप में उसके द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को स्पष्ट करते हुए तथा निषेध अन्य द्रव्य-क्षेत्र काल-भाव को स्पष्ट करते हुए ही किया जा सकता है।

इसी प्रकार सर्वत्र वस्तु का वर्णन विभिन्न अंशों तथा पक्षों से उसका स्वरूप स्पष्ट करते हुए ही किया जा सकता है। उसे सर्वथा एक, अनेक, स्थाई, परिवर्तनशील कहने के स्थान पर वस्तु की अपेक्षा एक, विशेषताओं की अपेक्षा अनेक

सामान्य स्वरूप अथवा गुणों की अपेक्षा स्थायी, विशेष स्वरूप अथवा पर्यायों की अपेक्षा परिवर्तनशील कहने पर ही उसका निर्विरोध तथा यथार्थ वर्णन किया जा सकता है। जैसा कि हम देख चुके हैं किसी भी वस्तु में ऐसी कोई विशेषता नहीं होती जो उसके संपूर्ण अस्तित्व में पूर्णतया एक-रूपता से विद्यमान रहे तथा जिसका किसी भी रूप में अभाव नहीं हो। इसलिए ऐसा कोई भी वाक्य कभी सार्थक नहीं हो सकता जिसमें उद्देश्य के प्रति असीमित रूप से विधान किया गया हो। हर कथन में उद्देश्य को विशिष्ट करने वाला स्यात् पद होना आवश्यक है।

आनुभविक क्षेत्र में किये जाने वाले भाषा के प्रयोग में व्यक्ति के बौद्धिक विकास के अनुसार स्याद्वाद अन्तर्निहित होता है। लोक-व्यवहार तथा विज्ञानों का विषय पदार्थ का दिक्कालिक स्वरूप है तथा उसकी उत्पत्ति के निश्चित कारणात्मक नियम होते हैं। इसलिए वहाँ पदार्थ का सामान्य रूप से उल्लेख होने पर भी व्यक्ति अपनी समझ के अनुसार उसे विशिष्ट करते हुए ही समझता है। "यह दवा लाभ-प्रद है" इसका अर्थ कोई भी यह नहीं लगाता कि इस दवा से हर स्थिति से लाभ ही होगा, हानि कभी नहीं हो सकती; अपितु इसका अर्थ यह लगाया जाता है कि विशेष रोग में, निश्चित मात्रा में लेने पर ही यह दवा लाभ-प्रद है तथा अन्यथा हानि भी हो सकती है। यदि कभी अज्ञानवश किसी धर्म को पदार्थ के सम्पूर्ण देशिक और कालिक विस्तार में व्याप्त भी मान लिया जाता है तो अनुभव में वृद्धि के साथ यह भ्रम समाप्त भी हो सकता है। जैसे कोई व्यक्ति अपने अब तक के अनुभवों के आधार पर यह कहता है कि "जहर खाने से सदैव मृत्यु हो जाती है" तो उसका औषधि के रूप में प्रयोग के दृष्टांत मिलने पर उसका यह भ्रम दूर भी हो सकता है। वह यह मान सकता है कि जहर में जीवन समाप्त करने के साथ-साथ ही जीवन प्रदान करने की सामर्थ्य भी है तथा ये दोनों शक्तियाँ भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में अभिव्यक्त होती हैं।

अनुभव का विषय पदार्थ का आंशिक स्वरूप होता है। इसलिए इस क्षेत्र में स्याद्वाद की आवश्यकता को सभी स्वीकार कर सकते हैं। लेकिन दर्शन का विषय सत्ता की मूलभूत कोटियों के समस्त दिक्कालिक रूपों में अनुस्यूत अनिवार्य स्वरूप है। यह समग्र सत्ता के स्वरूप पर विचार करता है इसलिए इसकी भाषा को स्याद्वाद की सीमा से परे माना जाता है। वास्तव में स्याद्वाद का सर्वाधिक महत्व दार्शनिक क्षेत्र में ही है। इस क्षेत्र में स्याद्वाद का प्रयोग नहीं किये जाने पर पदार्थ के प्रति भाषा का प्रयोग ही असंभव हो जाता है।

प्रत्येक पदार्थ अनेक अनिवार्य विशेषताओं से युक्त होता है जिनका विश्लेषण उनका क्रमिक रूप से उल्लेख करते हुए ही किया जा सकता है। जब यह कहा जाता है कि "ज्ञान आत्मा का गुण है" तो 'स्यात्' के अभाव से यह ज्ञान और आत्मा के पूर्ण भेद का सूचक है; लेकिन यदि ज्ञान आत्मा से पूर्णतया भिन्न है तो वह उसका स्वरूप किस प्रकार हो सकता है ? यदि वह उसका स्वरूप नहीं है तो कोई अन्य विशेषताएँ उसका स्वरूप होंगी क्योंकि निःस्वभाव वस्तु की सत्ता नहीं हो सकती। उनका भी इसी प्रकार वर्णन करने पर यही समस्या उत्पन्न होगी तथा भाषा के माध्यम से पदार्थ के स्वरूप को जानना असंभव होगा। यदि यह कहा जाय कि आत्मा ज्ञानस्वरूप हैं तो यह कथन 'स्यात्' के अभाव में ज्ञान और आत्मा के पूर्ण तादात्म्य का सूचक है। यदि आत्मा पूर्णतः ज्ञान रूप है तो वह अन्य गुण-रूप किस प्रकार हो सकता है ? फिर इन दोनों में पूर्णतः अभेद होने पर इनमें उद्देश्यविधेय भाव भी किस प्रकार स्थापित किया जा सकता है ?

इन समस्याओं के कारण बौद्ध तथा अद्वैत वेदांती सत्ता को अनिर्वचनीय मानते हैं। वे कहते हैं कि भाषा के माध्यम से एक अखण्ड पदार्थ को उसमें भेद आरोपित करके ही समझा जा सकता है। शब्दात्मक ज्ञान आरोपित भेद पर आधारित होने के कारण कभी यथार्थ नहीं हो सकता। सविकल्पक ज्ञान भी विशेषण-विशेष्य-भाव-रूप भेद से युक्त होने के कारण, जिस पर कि वाक्य की उद्देश्य-विधेयात्मकता आधारित है, मिथ्या है।

जैन दार्शनिक कहते हैं कि यह भेद आरोपित न होकर वास्तविक है। एक वस्तु अनेक धर्मों में व्यक्त होकर अस्तित्व रख सकती है। जो भी सत् है वह जड़ होगा अथवा चेतन होगा, नित्य, अनित्य अथवा नित्यानित्य होगा, ज्ञेय अथवा अज्ञेय होगा। एक वस्तु के सत्त्व, ज्ञेयत्व, चेतनत्व, नित्यत्व आदि अनेक धर्म परस्पर पूर्णतया भिन्न-भिन्न न होकर संज्ञा, लक्षण आदि से भिन्न होते हुए भी एक वस्तु है तथा वस्तु अपने इस भेदाभेद स्वरूप के कारण ही ज्ञान तथा भाषा का विषय होती है।

वास्तव में ज्ञान और भाषा को भ्रमात्मक कहकर समस्या का समाधान नहीं किया जा सकता। जो है उसे जाना जा सकता है तथा जिसे जाना जा सकता है उसके बारे में कहा भी जा सकता है बशर्ते कि भाषा का उचित रूप से प्रयोग किया जाय।

वस्तु के भेद और अभेद के पक्ष परस्पर व्यापक न होकर अविनाभावी हैं। वह सर्वथा भेद तथा सर्वथा अभेद से विजातीय-कथंचित् भेद अभेद उभय रूप जात्यन्तर रूप

होती है। एक वाक्य में एक ही पक्ष से वस्तु का स्वरूप स्पष्ट किया जा सकता है। वह धर्म अन्य अपेक्षा से स्थित प्रतिपक्षी स्वरूप का अविनाभावी है। उसका अन्य धर्मों से समन्वित रूप से ही अस्तित्व रख सकने के कारण 'स्यात्' विशेष रूप से विवक्षित धर्म की अपेक्षा का बोध कराता हुआ भी यह बताता है कि इस पदार्थ में इस धर्म के साथ ही साथ अन्य धर्म भी हैं जिनके होने पर ही इस धर्म का अस्तित्व हो सकता है।

स्यात्--अनेकान्त का द्योतक

वाक्य में स्यात् पद का कार्य मात्र यही नहीं है कि वह वस्तु के आंशिक स्वरूप को आंशिक स्वरूप के रूप में प्रतिपादित करे अपितु वह इस बात का भी द्योतक है कि उस अंश का यह स्वरूप वस्तु से निरपेक्ष रूप से अस्तित्व नहीं रख सकता; अपितु वस्तु के एक अंश के रूप ही उसका यह स्वरूप हो सकता है। एक वस्तु का अर्थ है परस्पर अविनाभावी अनेक धर्मों की कथंचित् एकता। कभी किसी एक अकेले धर्म की सत्ता नहीं होती। एक धर्म अन्य अनेक धर्मों के होने पर ही अस्तित्व रख सकता है। 'स्यात्' का प्रयोग होने पर वाक्य-विशेष रूप से वस्तु के एक धर्म का तथा सामान्य रूप से उससे सम्बन्धित अन्य धर्मों का बोध कराता है। इस पद के प्रयोग से यह बोध होता है कि उद्देश्य अपने इस अंश या पक्ष से यह विशेषता लिये हुए है तथा उसमें अन्य अनेक धर्म भी हैं जिनके होने पर ही इस विशेषता का अस्तित्व हो सकता है। इस प्रकार स्यात् पद उद्देश्य की अनेकांतात्मकता को द्योतित करता है।

सामान्य भाषा में अनेक धर्मात्मक एक वस्तु की जटिल संरचना को अभिव्यक्त कर सकने की सामर्थ्य नहीं है। उसकी सभी विशेषताओं को एक साथ जाना जा सकता है लेकिन उसका वर्णन एक-एक विशेषता का क्रम से उल्लेख करते हुए ही किया जा सकता है। यदि भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से स्थित सभी धर्मों का वर्णन कर दिया जाय तथा उनकी पारस्परिक सापेक्षता के सूचक 'स्यात्' का प्रयोग नहीं किया जाय तो उन वाक्यों के समूह से परस्पर निरपेक्ष अनंत धर्मों का ही ज्ञान होगा, परस्पर सापेक्ष अनेक धर्मात्मक एक वस्तु का नहीं।

एक पदार्थ के सभी धर्म परस्पर पूर्णतया समान रूप से सम्बद्ध न होकर भिन्न-भिन्न रूप से सम्बद्ध होते हैं। 'स्यात्' पद सामान्य रूप से उन धर्मों का द्योतक है जो विवक्षित धर्म के लिये अव्यवहित रूप से अपरिहार्य हैं। उदाहरण के

लिये पदार्थ की स्व-चतुष्टय से सत्ता पर-चतुष्टय से असत्ता होने पर ही हो सकती है। "स्यात् द्रव्य है" में स्यात् पद सामान्य रूप से विवक्षित धर्म स्वद्रव्य-क्षेत्रकाल-भाव में अस्तित्व के अविनाभावी धर्म 'परद्रव्य-क्षेत्रकाल-भाव में नास्तित्व' का ही द्योतक है, नित्य, अनित्य आदि का नहीं। सामान्य रूप से अन्य धर्मों को जानने मात्र से यह बोध नहीं हो सकता कि वे कौन-कौन से धर्म हैं जो विवक्षित धर्म के अस्तित्व के लिये अपरिहार्य हैं और इसलिए उस धर्म के स्वरूप को भी यथार्थत: नहीं समझा जा सकता। अत: स्याद्वाद के द्वारा वस्तु के अनेकान्तात्मक स्वरूप की अभिव्यक्ति नैगम, संग्रह आदि नयों तथा सप्तभंगी नय के माध्यम से परस्पर अपरिहार्य सभी धर्मों का क्रम से उल्लेख करते हुए होती है।[११]

स्याद्वाद्वाद अनेकान्तात्मक वस्तु की कथन-पद्धति है।[१२] उसकी शैली को स्पष्ट करते हुए अमृत चंद्र कहते हैं, "जिस प्रकार दधि मन्थन करने वाली गोपी मथाने की रस्सी के एक छोर को खींचती है तथा दूसरे छोर को ढीला छोड़ देती है तथा रस्सी के आकर्षण और शिथिलीकरण द्वारा दधि का मन्थन करके इष्ट तत्त्व घृत को प्राप्त कराती है उसी प्रकार स्याद्वाद नीति भी एक धर्म के आकर्षण और शेष धर्मों के शिथिलीकरण द्वारा अनेकान्तात्मक अर्थ को सिद्ध करती है।[१३] समंतभद्र कहते हैं : स्याद्वाद मुख्यगौण भाव से वस्तु के सभी धर्मों का वर्णन करता है। एक वाक्य में जिस धर्म के प्रतिपादन का प्रयोजन होता है वह मुख्य तथा शेष गौण हो जाते हैं। इस प्रकार मुख्य-गौण भाव से सभी धर्मों को जानकर उनके पारस्परिक समन्वय पूर्वक एक वस्तु ज्ञात होती है।[१४]

स्याद्वाद और नय

स्याद्वाद अनेकांत का वाचक है तथा इसकी अभिव्यक्ति नयों के माध्यम से होती है। स्याद्वाद से प्रविभक्त अर्थ—अनेकांतात्मक अर्थ—के एक विशेष अंश के व्यंजक को नय कहा जाता है।[१५] जैन दार्शनिकों के अनुसार हर कथन एक नय है।[१६] प्रमाण से गृहीत अर्थ का प्रयोजन के अनुसार एक-देश-ग्रहण नय कहलाता है[१७] प्रमाण का विषय समग्र अर्थ तथा नय का विषय उसका एक अंश होता है।[१८] कभी किसी एक अकेले धर्म की सत्ता नहीं होती। उसका अस्तित्व अन्य अनेक धर्मों के होने पर ही हो सकता है। इसलिए उसको विषय करने वाला नय भी नयान्तर सापेक्ष होने पर सम्यक् तथा नयान्तर निरपेक्ष होने पर मिथ्या होता है।[१९]

ज्ञान और वचन का विषय-आर्थिक, सामाजिक, नैतिक किसी भी प्रकार का हो, अनेकधर्मात्मक ही होता है। उसके संबंध में कोई भी कथन तभी यथार्थ हो सकता है जबकि वह उसके सभी संबद्ध पक्षों को जानने के उपरान्त कहा गया हो। यदि उसके कुछ ही पक्षों के ज्ञान को पूर्ण मान कर अथवा कुछ पक्षों की स्वीकृति मानकर तथा अन्यों की अस्वीकृति पूर्वक कोई बात कही जाय तो वह मिथ्या ही होगी; क्योंकि तब वक्ता विवक्षित धर्म को समग्र में व्यवस्थित करके नहीं जानता। इसलिए वह उसके समग्र में स्थान तथा सीमाओं से परिचित नहीं है। किसी भी ज्ञान और कथन की सत्यता का निर्धारण प्रवृत्ति-साफल्य के आधार पर किया जा सकता है तथा आंशिक ज्ञान को पूर्ण मान कर प्रवृत्त होने पर अवांछित परिणामों की प्राप्ति होगी।

भाषा के माध्यम से अर्थ-बोध तभी सम्भव है जबकि व्यक्ति यह ध्यान रखे कि जो कहा जा रहा है वह एक नय-आंशिक ज्ञान है। उसका विषय संपूर्ण वस्तु न होकर उसका आंशिक स्वरूप है। इसलिए यह नय अपने आप में सत्य न होकर सत्यांश है तथा कई अन्य नयों से समन्वित होकर ही सत्य--वस्तु के अनुरूप ज्ञान हो सकता है तथा अन्य नयों से निरपेक्ष होने पर वह असत्य ही होता है। उदाहरण के लिए प्रस्तुत लेख में भाषा की अर्थ-वाचकता के सन्दर्भ में स्याद्वाद का विवेचन किया जा रहा है। लेकिन इसका मात्र यही पक्ष नहीं है, बल्कि दूसरा पक्ष भी है -श्रोता की विषय--ग्रहण सामर्थ्य। इस निबन्ध में हमारा प्रयोजन स्याद्वाद के स्वरूप को समझना है इसलिए इस दूसरे पक्ष को गौण कर दिया गया है तथा भाषा के स्याद्वादमय प्रयोग का ही वर्णन किया गया है। लेकिन भाषा की अर्थ-वाचकता के इस पक्ष को ही पर्याप्त समझ लिया जाय तब यह ज्ञान मिथ्या ही होगा, क्योंकि दूसरे पक्ष-श्रोता की वाक्यार्थ-ग्रहण-सामर्थ्य के अभाव में अर्थ वचनीय न होकर अनिर्वचनीय ही होगा। उसकी वचनीयता इन दोनों विशेषताओं के सद्भाव में ही संभव है।

भाषा की अर्थवाचकता की विशेषता के रूप में स्याद्वाद का ज्ञान आंशिक ज्ञान है लेकिन स्वयं स्याद्वाद को ही ज्ञान के विषय के रूप में लिये जाने पर इस निबंध से हो रहा ज्ञान प्रमाण है क्योंकि इसमें क्रमिक रूप से स्याद्वाद के सभी पक्षों पर विचार किया है।

स्याद्वाद और सप्तभंगी

स्याद्वाद वस्तु के द्वन्द्वात्मक स्वरूप को सप्तभंगी के माध्यम से अभिव्यक्त करता है। जैन दार्शनिकों के अनुसार एक ही पदार्थ एक-अनेक, सत्-असत्

सामान्य-विशेष आदि अनेक सत्प्रतिपक्षी स्वभावों से युक्त होता है। हीगल भी सत्ता को द्वन्द्वात्मक स्वरूप से युक्त मानता है लेकिन उसके अनुसार इसकी अभिव्यक्ति काल क्रम में होती है। प्रथम क्षण में वस्तु एक स्वरूप को लिये हुए होती है, द्वितीय क्षण में उसके विरोधी स्वरूप को तथा तृतीय क्षण में इन दोनों के पूर्ण समन्वय को। जैन दार्शनिकों के अनुसार प्रत्येक समय में इन विरोधी प्रतीत होने वाले धर्म-युगलों का सहअस्तित्व होता है। ये अपने स्वरूप को लिये हुए ही परस्पर समन्वित रूप से अस्तित्व रखते हैं। कोई भी पदार्थ एक विशेष द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में उसका अभाव भी हो। उसका जो स्वरूप एक वर्ग की वस्तुओं से विलक्षणता रखने के कारण सामान्य है वही विजातीय वर्ग की वस्तुओं से विलक्षणता रखने के कारण विशेष भी है। वस्तु सामान्यात्मक होने पर ही विशेषात्मक तथा विशेषात्मक होने पर ही सामान्यात्मक हो सकती है। ये धर्म अस्तित्व की अपेक्षा परस्पर सापेक्ष होते हुए भी लक्षण तथा प्रयोजन की अपेक्षा परस्पर निरपेक्ष हैं।[20]

पदार्थ के द्वन्द्वात्मक स्वरूप की अभिव्यक्ति के लिए सप्तभंगी नय का सहारा लिया जाता है। प्रश्न के अनुसार वस्तु में प्रमाण से अविरुद्ध विधिनिषेध कल्पना (विचार) सप्तभंगी है।[21]

सप्तभंगी के तीन भंग, विधेयात्मक, निषेधात्मक तथा अवक्तव्य, प्रमुख हैं तथा इनके अधिक से अधिक सात ही संयोजन हो सकते हैं।[22] एक वस्तु में अनंत धर्म-युगल हैं तथा उन्हें लेकर अनंत सप्तभंगियों का निर्माण किया जा सकता है।[23] सप्तभंगी का सुप्रसिद्ध दृष्टान्त है–

१. स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से कथन किया जाने पर द्रव्य है।

२. पर द्रव्य-क्षेत्र–काल-भाव की अपेक्षा कथन किया जाने पर द्रव्य नहीं है,

३. क्रमिक रूप से स्वद्रव्य–क्षेत्रकाल–भाव तथा पर द्रव्यक्षेत्रकाल भाव की अपेक्षा कथन किया जाने पर द्रव्य है और नहीं है,

४. युगपत् स्व-पर द्रव्य–क्षेत्रकाल–भाव की अपेक्षा कथन किया जाने पर द्रव्य अवक्तव्य है;

५. क्रमिक रूप से स्वचतुष्टय तथा युगपत् स्वपरचतुष्टय की अपेक्षा कथन किया जाने पर द्रव्य है और अवक्तव्य है।

६. क्रमिक रूप से पर चतुष्टय तथा युगपत् स्वपरचतुष्टय की अपेक्षा कथन किया जाने पर द्रव्य नहीं है और अवक्तव्य है।

७. क्रमिक रूप से स्वचतुष्टय, पर चतुष्टय तथा युगपत् स्वपरस्वचतुष्टय की अपेक्षा कथन किया जाने पर द्रव्य है, नहीं है तथा अवक्तव्य है।[२४]

सप्तभंगी का प्रत्येक भंग एक नय होने के कारण आंशिक ज्ञान है तथा ये सभी मिलकर प्रमाण बनते हैं।

द्रव्य का स्वचतुष्टय से सद्भाव ही परचतुष्टय से अभाव है। फिर भी इन दोनों के लक्षण भिन्न भिन्न होने के कारण एक के ज्ञान से दूसरे का ज्ञान नहीं हो सकता। इसीलिए प्रथम दो भंगों द्वारा इन दोनों धर्मों का प्रतिपादन किया जाता है। इनसे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि ये भिन्न भिन्न अपेक्षाओं से स्थित होने के कारण परस्पर अविरोधी और असंकीर्ण हैं। ये अपनी अपनी सीमाओं में विद्यमान हैं तथा एक दूसरे का अतिक्रमण नहीं करते। तीसरा भंग इस बात पर जोर देता है कि क्रमिक रूप से इन दोनों का वर्णन किया जा सकता है।

उपर्युक्त तीनों भंग इन धर्मों के परस्पर निरपेक्ष पक्ष को ही उद्घाटित करते हैं। इनके द्वारा इन धर्मों के सहअस्तित्व तथा परस्पर समन्वित स्वरूप का बोध नहीं हो सकता। ऐसा कोई शब्द भी नहीं हैं जो इन दोनों का एक साथ वर्णन कर उनके परस्पर समन्वित स्वरूप को अभिव्यक्त कर सके। चौथे भंग में इस अपेक्षा से उसे अवक्तव्य प्रतिपादित किया जाता है। इस भंग के बारे में डॉ सागरमल जैन कहते हैं कि इस भंग का मात्र यही अर्थ नहीं है अपितु इसका अर्थ वस्तु की अनंत धर्मात्मकता के कारण अवक्तव्यता तथा शब्दों का अनुभव अगोचर होने के कारण अवक्तव्यता भी है।[२५] मेरे विचार से सप्तभंगी के सन्दर्भ में, जो बात दो सत्प्रतिपक्षी धर्मो को लेकर चलती है, ये अर्थ अप्रासंगिक हैं। सप्तभंगी का उद्देश्य इन दो धर्मों से व्याप्त वस्तु के स्वरूप को अभिव्यक्त करना है। ये धर्म परस्पर समन्वित रूप से ही अस्तित्व रखते हैं तथा इन्हें पृथक्–पृथक् जान लेना ही इनके स्वरूप का पूर्ण बोध नहीं है। भाषा विश्लेषण ही कर सकती है, संश्लेषण नहीं कर सकती। अवक्तव्य भंग भाषा की सीमा बताता हुआ बुद्धि द्वारा इन दोनों धर्मों के संश्लेषण पूर्वक एक वस्तु को जानने के लिए प्रेरित करता है।

पांचवा, छठा और सातवाँ भंग पुनःपुनः इस बात पर जोर देते हैं कि अपने परस्पर सापेक्ष-निरपेक्ष स्वरूप के कारण वस्तु का द्वन्द्वात्मक स्वरूप वक्तव्य और अवक्तव्य दोनों ही है।

फिलिटा भरुचा तथा आर. वी. कामथ ने अपने लेख "Syadvada Theory of Jainism in Terms of Devient Logic" में सप्तभंगी की त्रिमूल्यात्मक तर्क-शास्त्र के रूप में व्याख्या करने की चेष्टा की है। उन्होंने विधेयात्मक भंग को 'सत्य', निषेधात्मक भंग को 'न सत्य' तथा अवक्तव्य भंग को 'अनिश्चित' (Indeterminate) मूल्य दिये हैं जिनके प्रतीक के रूप में क्रमशः 'T', 'F', 'I' का प्रयोग किया गया है।[२६] उनके प्रयास में सबसे पहली कमी तो यही है कि सप्तभंगी के अलग-अलग भंगों को विभिन्न सत्यता-मूल्य दिया है जो भ्रामक है। सप्तभंगी के भिन्न-भिन्न भगों को भिन्न भिन्न सत्यता मूल्य देना पूर्णतया दोष-पूर्ण है। जैन दार्शनिकों द्वारा किये गये प्रमाण और नय के विवेचन के अनुसार सप्त-भंगी के प्रत्येक भंग का सत्यता मूल्य है 'सत्यांश' तथा संपूर्ण सप्तभंगी का सत्यता मूल्य है- 'सत्य'। उसके विधेयात्मक भंग को 'सत्य' तथा निषेधात्मक भंग को असत्य नहीं कहा जा सकता। विधेयात्मक भंग का विषयभूत धर्म पूर्ण वस्तु न हो कर वस्तु का आंशिक स्वरूप है तथा अपने अस्तित्व के लिये निषेधात्मक भंग के विषय बने रहे धर्म की अपेक्षा करता है। वस्तु अनित्य नहीं होने पर नित्य भी नहीं हो सकती; अनेक नहीं होने पर एक भी नहीं हो सकती; असत् नहीं होने पर सत् भी नहीं हो सकती। उसके ये दोनों स्वरूप समान महत्त्व रखते हैं तथा एक वस्तु का अस्तित्व इन दोनों रूपों में व्याप्त होने पर ही हो सकता है। सप्त-भंगी का प्रत्येक भंग वस्तु के द्वन्द्वात्मक स्वरूप को आंशिक रूप से ग्रहण करने के कारण सत्यांश है तथा सम्पूर्ण सप्तभंगी उसे पूर्णतया ग्रहण करने के कारण 'सत्य' है, यदि किसी भंग में वस्तु के धर्म-विशेष का यथार्थतः प्रतिपादन नहीं किया गया हो तो वह भंग तथा सम्पूर्ण सप्तभंगी दोनों ही मिथ्या होंगे।

अवक्तव्य भंग को 'अनिश्चित' मूल्य देना पूर्णतया अनुचित है। वस्तु संशय के कारण अवक्तव्य न होकर भाषा की सीमा के कारण अवक्तव्य होती है। वह अपने दोनों धर्मों को विषय बनाये जाने पर अवक्तव्य होती है। यदि इसका अर्थ यह हो कि एक धर्म-युगल संशयात्मक रूप से ही ज्ञान का विषय बन सकता है, निश्चयात्मक रूप से नहीं तो क्रमिक रूप से भी उनके बारे में निश्चय पूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता। शब्दों की प्रवृत्ति विषय-बोध के उपरान्त होती

है। अवक्तव्य भंग यह बताता है कि दोनों धर्मों को एक साथ जाना जा सकता है, लेकिन कहा नहीं जा सकता।

वास्तव में जैन दार्शनिक कहीं भी अनिश्चित शब्दावली का प्रयोग नहीं करते। वे वाक्यों को पूर्णतया सुनिश्चित बनाने के लिये 'स्यात्' के साथ आवश्यकतानुसार 'एवं' या 'ही' का प्रयोग भी अनिवार्य मानते हैं। [२०] वे यह कहने के स्थान पर कि 'स्वद्रव्य क्षेत्रकाल भाव में द्रव्य का अस्तित्व है' यह कहते हैं कि 'स्वद्रव्यक्षेत्र काल भाव में द्रव्य का अस्तित्व ही है।' जो इस अपेक्षा से द्रव्य में अस्तित्व के विरोधी धर्म का पूर्णतया निषेध कर देता है। 'ही' का प्रयोग आवश्यकतानुसार अपेक्षा, या विधेय के साथ किया जा सकता है जो क्रमशः अन्य अपेक्षाओं, अनुद्देश्य तथा अविधेय की व्यावृत्ति कर देता है। [२७] इस प्रकार स्याद्वाद एक वस्तु की जटिल संरचना को पूर्णरूपेण सुनिश्चित तथा निभ्रान्ति रूप से अभिव्यक्त करने के उद्देश्य से प्रतिपादित कथन–पद्धति है।

दर्शन विभाग
राजकीय महाविद्यालय
करौली– ३२२२४१
(राजस्थान)

राजकुमारी जैन

टिप्पणियाँ

१. पंचास्तिकाय संग्रह, पृष्ठ–३२
२. आप्त मीमांसा, गाथा १०३, पूर्वार्ध
३. तत्र क्वचित् प्रयुज्यमानः स्यात् शब्दः तद्विशेषणतया प्रकृत– अर्थतत्त्वं अवयवेन सूचयति। अष्ट साहस्री, पृष्ठ– २८६
४. धार्मिणो अनन्त धर्मा। आप्त मीमांसा– २२
५. पंचास्तिकाय, गाथा– १०
६. आप्त परीक्षा, पृष्ठ ८९
७. अष्ट साहस्री, पृष्ठ– २८६
८. समयसार, पृष्ठ– ६४८
९. आप्तमीमांसा– १४

१०. वही, श्लोक– १५
११. आप्त मीमांसा, श्लोक– १०४ उत्तरार्द्ध
१२. लघीयस्त्रय– ३/६२
१३. पुरुषार्थ सिद्धि उपाय; श्लोक– २२५
१४. युक्त्यानुशासन; श्लोक– ४६
१५. अष्ट साहस्त्री, पृष्ठ– २९०
१६. सन्मति तर्क, ३/४७
१७. न्याय दीपिका, पृष्ठ– २२५
१८. राज वार्तिक, भाग १, पृष्ठ ३७
१९. आप्त मीमांसा, श्लोक १०८ उत्तरार्द्ध
२० अष्ट साहस्त्री, पृष्ठ २३३
२१. राज वार्तिक, भाग १, पृष्ठ ३५
२२. युक्त्यानुशासन– श्लोक ४५
२३. अष्ट साहस्त्री, पृष्ठ १२५
२४. पंचास्तिकाय संग्रह; पृष्ठ ३२
२५. महावीर जयंती स्मारिका; सन् १९७७, खंड १, पृष्ठ ४९
२६. Indian Philosophical Quarterly, vol. ११ No. २, April १९८४, पृष्ठ १८२–१८३
२७ युक्त्यानुशासन, श्लोक ४१–४२
२८. न्याय कुमुदचन्द्र, भाग २, पृष्ठ ६९३–६९४

सामान्य प्रतिज्ञप्तियाँ : नव्य-न्यायीय तथा आधुनिक तर्कशास्त्रीय दृष्टिकोण

सामान्य प्रतिज्ञप्तियाँ – जैसे, सब प्राणी नश्वर हैं, कोई मानव सर्वज्ञ नहीं होता – तथा विशेष प्रतिज्ञप्तियाँ – जैसे, कुछ प्राणी स्तनपायी होते हैं, कुछ मानव चतुर नहीं होते – जिस प्रकार आधुनिक पश्चिमी तर्कशास्त्र में विश्लेषित की जाती हैं तथा प्रतीकों के द्वारा चिन्हांकित या प्रतीकित की जाती हैं उससे बिलकुल भिन्न प्रकार से नव्य-न्याय में वे विश्लेषित की जाती हैं और प्रतीकों का उपयोग किये बिना ही पारिभाषिक शब्द-घटित परिष्कार के द्वारा यह विश्लेषण प्रस्तुत किया जाता है। नव्य-न्याय किसी भी तथ्य को अन्यूनातिरिक्त ढंग से प्रस्तुत करने का पक्षपाती है। उसकी दृष्टि से विचार करने पर आधुनिक तर्कशास्त्रियों का प्रतीकीकरण न अन्यून प्रतीत होगा न अतिरिक्त। अरस्तू के पारंपरिक तर्कशास्त्र में भी सामान्य, विशेष प्रतिज्ञप्तियों का आधुनिक तर्कशास्त्र से भिन्न तरीके से ही विश्लेषण प्रस्तुत किया जाता है। किन्तु वह भी नव्य-न्याय के विचार में सही नहीं है। इस निबन्ध में केवल आधुनिक तर्कशास्त्र सम्मत सामान्य प्रतिज्ञप्ति के विश्लेषण की तथा उनके प्रतीकीकरण के प्रक्रिया की कुछ गंभीर त्रुटियों की चर्चा तथा नव्य-न्याय-कृत विश्लेषण या परिष्कार में निर्दोषता की संक्षिप्त मीमांसा की जायगी। विशेष प्रतिज्ञप्तियों की तुलनात्मक चर्चा इस लघु निबन्ध में सम्भव न होने से उसे एक अन्य निबन्ध के लिये छोड़ दिया जायगा। विशेष प्रतिज्ञप्तियों के अपने ही कई विचारणीय प्रश्न हैं जिनका स्वतन्त्र विचार ही उपयुक्त होगा।

'सब मनुष्य नश्वर हैं' जैसे 'सब', 'प्रत्येक', 'हरेक' आदि सामान्यता-बोधक विशेषण से युक्त उद्देश्यपद वाले विधिरूप या निषेध-रूप प्रतिज्ञप्तियों का शब्दगम्य स्वरूप निरपेक्ष (Categorical) है, किन्तु इस स्वरूप को बदल कर हेतु हेतुमद्भावात्मक या सापेक्ष विधि-निषेधात्मक बना देना आधुनिक तर्कशास्त्र में

आवश्यक समझा जाता है। उक्त प्रतिज्ञप्ति का बदला हुआ रूप यह होगा– 'यदि कोई मनुष्य हो तो वह नश्वर होगा'। निषेधरूप सामान्य प्रतिज्ञप्ति–जैसे, 'कोई मनुष्य सर्वज्ञ नहीं' का सापेक्ष रूपान्तरण होगा –'यदि कोई मनुष्य हो तो वह सर्वज्ञ नहीं'। यह विश्लेषण अन्तिम नहीं है। वस्तुनिष्ठ आपाद्यापादक–भाव (Material Implication) के नियमानुसार उक्त विधि-निषेध वाक्यों से प्रकट होने वाले आपाद्यापादक भाव को विश्लेषित कर उन वाक्यों का अन्तिम विश्लेषण क्रमशः इस प्रकार प्रस्तुत करना होगा–'या तो कोई मनुष्य नहीं है या, नश्वर प्राणी है, 'या तो कोई मनुष्य नहीं या, असर्वज्ञ व्यक्ति है'। अरस्तू के तर्कशास्त्र के अनुसार दोनों प्रकार की उक्त सामान्य प्रतिज्ञप्तियों में 'सब' या 'कोई' पद उद्देश्य मनुष्य पद के अर्थ की समग्रता (Distribution) प्रतिपादित करते हैं। 'कोई' के साथ 'नहीं' इस विधेयगत प्रत्यय को जोड़ने से निषेध उद्देश्यांतर्गत प्रत्येक व्यक्ति को लागू है ऐसा अर्थ निकलता है। यह बात केवल. व्याकरण के लिए महत्त्व रखती है कि विधिवाक्य में ही 'सब' जैसे पद से समग्रता का बोध होता है। निषेधवाक्य में सब का उद्देश्य के साथ प्रयोग उद्देश्य की समग्रता को बोधित न कर 'सभी नहीं' अर्थात् 'कुछ नहीं' इस प्रकार के विशेष निषेध को प्रायः बोधित करता है।

क्या कारण है कि सामान्यप्रतिज्ञप्ति-बोधक वाक्यों के शब्दगम्य सीधे सार्वजनीन अर्थ का परित्याग कर उनका आपाद्यापादक-भावात्मक या विकल्पात्मक अर्थ लिया जाय? संभव है कि ये अर्थ इन वाक्यों से कभी-कभी सूचित होते हों। तथापि केवल इसी कारण उन्हें शब्द-गम्य अर्थ में समाविष्ट करना उचित नहीं होगा। यही नहीं, शब्द-गम्य अर्थ का अपलाप या विरोध (ही) इन अर्थों के द्वारा होता हो तो उनको शब्द-गम्य मानना ठीक नहीं होगा। हाँ, यदि शब्द-गम्य अर्थ यथावत् स्वीकारार्ह न हो तब सूचित अन्यविध अर्थ का पुरस्कार करना उपयुक्त होगा। जैसे, 'मैं सदा झूठ बोलता हूँ' यह वाक्य अपने सरल शब्दार्थ के कारण दार्शनिकों के लिये बड़ी उलझन पैदा करता है जिसके अर्थ के स्पष्टीकरणार्थ तरह-तरह के सिध्दान्त प्रस्तुत किये गये हैं।

एक कठिनाई सामान्य प्रतिज्ञप्तियों के शब्दार्थ-स्वीकार में यह प्रतीत होती है कि इन प्रतिज्ञप्तियों के उद्देश्य की समग्रता का शाब्दबोध काल में आकलन नहीं हो सकता। (अन्य काल में भी यह सम्भव नहीं।) 'सब मनुष्य' जो उपर्युक्त वाक्यों के उद्देश्यभूत पदार्थ हैं वे एक तो अनन्त हैं और दूसरे वे सब ईश्वर के सामने भी उपस्थित नहीं हो सकते। कोई भी मनुष्य भूत, भविष्य, वर्तमान सभी मानव प्राणियों के सम्बन्ध में कल्पना भी यदि न कर सके तो उन

सब को अन्तर्भावित कर सामान्य विधान करना उनके लिये कैसे सम्भव हो ? इस प्रकार के वाक्य सुननेवाले को भी कैसे सामान्य वाक्यों से अर्थबोध हो ?

इसी कठिनाई से सम्बध्द एक कठिनाई यह है कि यदि सब मनुष्य एक ही समय उपस्थित न हों तो उनके सम्बन्ध में कोई अर्थपूर्ण प्रकथन सम्भव नहीं और यदि उनकी किसी प्रकार उपस्थिति सम्भव मान ली जाय तो उनके बारे में नश्वरता का विधान नहीं किया जा सकता। एक अन्य दुविधा भी उक्त कठिनाई से उत्पन्न होती है। वह यह कि यदि सब मनुष्य (किसी भी अर्थ या रूप में) विद्यमान माने जायें तो उन्हें नश्वर कैसे कहा जा सकता है ? नश्वरता विनाश नहीं विनाशशीलता है ऐसा समझने पर भी भूत मनुष्य जो नष्ट हो गये उनकी तथा भावि मनुष्य जो पैदा भी नहीं हुए उनकी नश्वरता एक समान कैसे होगी ? एक और बात यह भी है कि 'है' यह वर्तमानकालिक क्रियापद उक्त वाक्य के विधेय मे अन्तर्गत है जिससे नश्वरता मनुष्यों में विद्यमान है ऐसा अर्थ निकलता है। क्या भूत और भावि से किसी धर्म का सम्बन्ध विद्यमान हो सकेगा ?

उक्त कठिनाइयों में से दो-एक का समाधान इस प्रकार किया जाता रहा है। भूत, भविष्य, वर्तमान कालिक सभी मनुष्य एक साथ कहीं उपस्थित होने की, उनके 'सब' पद से निर्देश के लिए, आवश्यकता नहीं। न देखते हुए भी मनुष्यों की कोई भी कल्पना कर सकता है। (अनदेखे मनुष्यों और उनकी अनन्त संख्या की कल्पना भी कैसे की जाय यह प्रश्न ही है।) 'है' इस क्रियापद के अर्थ से विद्यमानता के अंश को निकाल कर केवल 'सत्ता' रूप उसका अर्थ लिया जाय तो, नश्वरता रूप धर्म सब कल्पना-विषय भूत, भविष्य और वर्तमान मनुष्यों में वृत्तिमान है ऐसा उक्त सामान्य-वाक्य से अर्थ निकलेगा जो सही मान लिया जा सकता है।

किन्तु इस कठिनाई का सन्तोष-जनक समाधान नहीं प्राप्त होता कि भूत, भावि मनुष्य जब हैं ही नहीं तब उनमे नश्वरता की सत्ता भी कैसे होगी ? यदि धर्मी नष्ट हो गया तो धर्म भी उसके साथ नष्ट हो जाना चाहिये। और यदि धर्म की सत्ता हम मानते हैं तो उसके धर्मी को भूत या भावि नहीं कह सकते। सब मनुष्यों को समान रूप से सत् मानें तो उनके धर्मों को भी सत् (उसी अर्थ में) ही मानना होगा। तब मनुष्यों की नश्वरता के विधान से यह अर्थ निकलेगा कि जो (भूत, भावि, वर्तमान) मनुष्य सत् हैं वही असत् भी हैं। जो कठिनाइयाँ सामान्य प्रतिज्ञप्तियों के शब्दार्थ के सम्बध में उपस्थित होती हैं लगभग वैसी ही कठिनाइयाँ केवल सामान्य शब्दों के अर्थ के सम्बन्ध मे भी उपस्थित होती हैं।

'सब मनुष्य' या केवल 'मनुष्य' इस सामान्य पद का अर्थ क्या लिया जाय ? भूत, भावि, वर्तमान मनुष्य भी न कहीं कभी प्रस्तुत होते हैं न किसी की कल्पना के विषय ही होते या हो सकते हैं। कोई इस पद का उल्लेख किस अर्थ के विचार से करता है या सुननेवाला भी यह शब्द सुन कर क्या अर्थ ग्रहण करता है ? शब्दकोष से इन प्रश्नों का उत्तर मिल सकता है। वहाँ 'मनुष्य' शब्द के अर्थ के स्पष्टीकरण में कुछ मनुष्यमात्र-गत गुणधर्मों का निर्देश किया हुआ रहता है। इन गुणधर्मों से मनुष्य की, वह किसी देश, काल, परिस्थिति का हो, पहचान होती है। यदि मनुष्य के विशेष गुणधर्म-समुच्चय का 'मनुष्यत्व' शब्द से निर्देश करें तो, 'जो मनुष्यत्व-युक्त है' वह मनुष्य है ऐसा 'मनुष्य' शब्दार्थ का शब्दकोषीय स्पष्टीकरण होगा। यहाँ यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि मनुष्य भूत, भावि, वर्तमान होने पर भी 'मनुष्यत्व' अविनाशी है ऐसा हम मानते हैं। यह बात असंभव नहीं कि किसी समय पृथ्वी पर जितने मानव हों वे अणुयुद्ध या किसी अन्य आकस्मिक आपत्ति से नष्ट हो जायें। ऐसी स्थिति में भी मनुष्य-सृष्टि पुनः उत्पन्न होने की संभावना बनी ही रहेगी। अतः विद्यमान मनुष्य नष्ट हो जाने से मनुष्यत्व भी नष्ट हो गया ऐसा नहीं माना जाता। सभी सामान्य शब्द इस प्रकार धर्म-युक्त किसी भी भूत, भावि, वर्तमान विशेष वस्तु का निर्देश करते हैं और यह निर्देश अतीत या भावि (या दूरस्थित) विशेष वस्तु की प्रयोक्ता या श्रोता के सम्मुख प्रस्तुती की अपेक्षा नहीं करता। जैसा अतीत का स्मरण तथा भावि की अपेक्षा संभव है वैसे ही इनका सामान्य शब्दों से निर्देश भी संभव है।

तथापि 'सब मनुष्य', 'प्रत्येक मनुष्य' इन पदों के संबंध में सामान्य शब्दार्थ-स्पष्टीकरण पर्याप्त नहीं है। 'मनुष्यत्वयुक्त प्राणी' यह अर्थ मनुष्य-विशेष का निर्देशक होते हुए भी मनुष्यमात्र का निर्देश नहीं करता। इस कारण ''मनुष्यत्व-युक्त सब प्राणी' ऐसा उक्त पद का अर्थ लिया जाय तो 'सब' शब्द भूत, भावि, वर्तमान मनुष्यों का अलग से निर्देशक होने से पुनः पूर्व प्रस्तुत आपत्ति ही उपस्थित हो जाएगी। मनुष्यत्व भूत, भावि, वर्तमान का जरूर समुच्चय करता है, लेकिन वह सब मनुष्यों के एकसाथ समुच्चित निर्देश के लिए उपयुक्त नहीं है। 'सब' यह शब्द मात्र है जिस के प्रयोग मात्र से मनुष्यों का समुच्चय गृहीत नहीं होता। मान भी लें कि मनुष्यों का समुच्चय या समूहता जैसा कोई धर्म है जिसका 'सब' शब्द ('मनुष्य' शब्द के साथ प्रयुक्त होने पर) निर्देश करता है तो भी इस समुच्चय रूप धर्म का किसी को कैसे ज्ञान होगा यह प्रश्न अनुत्तरित ही रहेगा। एक-एक मनुष्य को देख कर मनुष्य मात्र गत समुच्चय रूप धर्म का कदापि ज्ञान नहीं हो सकता।

इस प्रश्न के आधुनिक तर्कशास्त्र तथा नव्य-न्याय ने जो उत्तर दिये हैं उनकी चर्चा करने के पूर्व सामान्य शब्दार्थ के सम्बन्ध में एक स्पष्टीकरण करना उपयुक्त होगा। जैसे भूत, भावि मनुष्य विद्यमान न होने पर भी 'मनुष्य' शब्द से उनका निर्देश हो सकता है वैसे ही मनुष्यमात्र के नष्ट हो जाने पर भी 'मनुष्य' शब्द से मनुष्य का निर्देश हो तो कोई आश्चर्य नहीं। इसका कारण यह है कि 'मनुष्य' शब्द का भावार्थ जो 'मनुष्यत्व' है वह इस शब्द के वाच्यार्थ (भूत सब मनुष्यों) का निर्धारण करता है। जनसाधारण वाच्यार्थ को प्रधान तथा भावार्थ को गौण मानते हैं। वस्तुस्थिति यह है कि वाच्यार्थ का पूर्णतया निर्धारण भावार्थ के द्वारा ही होने से भावार्थ को ही प्रधान या मुख्यार्थ मानना तर्कसंगत होता है।

इस सम्बन्ध में भारतीय मीमांसा दर्शन का विचार बहुत ही सुलझा हुआ है। इसके अनुसार जाति या वस्तुगत धर्म ही वस्तुबोधक शब्द का अर्थ होता है। 'मनुष्य', 'पशु' आदि सामान्य शब्द मनुष्यत्व, पशुत्व आदि जातियों के ही वाचक होते हैं। मनुष्य व्यक्तियों का इन शब्दों से होने वाला बोध पाष्ठिक अर्थात् शब्दार्थबोध-पृष्ठभावी होता है। 'मनुष्य नश्वर है' ऐसा वाक्य सुनने पर श्रोता को मनुष्य पद से मनुष्यत्व का बोध होता है। किन्तु मनुष्यत्व में नश्वरता न होने से अर्थापत्ति प्रमाण द्वारा वह इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि मनुष्य से युक्त मनुष्य नश्वर है। इस मत में वाच्यार्थ के अन्यन्ताभाव की स्थिति में भी वाचक शब्द को निरर्थक मानने की आपत्ति नहीं उपस्थित होती। अन्य दर्शन वाच्यार्थ की किसी समय (या प्रकार की) सत्ता वाचक शब्द की सार्थकता के लिए पर्याप्त मानेंगे। नरसिंह शब्द मीमांसा की दृष्टि से अर्थवान् होगा यदि नरत्व सहकृत सिंहत्व कोई वास्तविक धर्म हो। 'मॅमथ' (प्रागैतिहासिक काल का हाथी) शब्द अन्य दर्शनों के अनुसार सार्थ होगा क्यों कि इस जाति के हाथी आज नामशेष हो जाने पर भी एक जमाने में वे पाए जाते थे।

अब हमें देखना है कि आधुनिक तर्कशास्त्र किस प्रकार उद्देश्य पद की सामान्यता से निर्मित कठिनाई का प्रतिकार करता है। चूंकि मनुष्य अनंत हैं तथा वे एक-साथ विद्यमान नहीं होते, अतः 'सब मनुष्य' जैसे सामान्य उद्देश्य पदों से युक्त प्रतिज्ञप्तियों को हेतुहेतुमद्भावात्मक या आपाद्यापादक-भावात्मक प्रतिज्ञप्तियों में परिवर्तित करना आधुनिक तर्कशास्त्री आवश्यक समझते हैं। उक्त सामान्य प्रतिज्ञप्ति रूपान्तरित होने पर 'यदि कोई मनुष्य है तो वह नश्वर है' ऐसी बनेगी। क्या इस परिवर्तन से सामान्य की समस्या हल हो जाती है? यदि हाँ तो 'यदि कोई' इन पदों में से 'कोई' यह पद किस प्रकार का माना जायगा?

क्या 'सब' के समान वह भी सामान्य पद नहीं है? कह सकते हैं कि 'कोई' वस्तुमात्र का बोधक है, मनुष्य सामान्य का नहीं जिससे सामान्य ज्ञान के संबंध में प्रश्न उपस्थित हो। विचार करने पर यह प्रतिवाद हास्यास्पद प्रतीत होगा। मनुष्य-सामान्य के निर्देश में (या बोध में) जिसे कठिनाई प्रतीत होती है उसे 'वस्तुमात्र' के निर्देश या बोध में कितनी कठिनाई प्रतीत होगी यह कहने की आवश्यकता नहीं। वस्तुत्व भी एक सामान्य ही है और मनुष्यत्व की तुलना में तो वह महासामान्य है। रूपान्तरित वाक्य में दूसरा भी सामान्य सन्निविष्ट है: "यदि कोई...... 'वह' नश्वर है" इस वाक्य के उत्तरार्ध के 'वह' पद के रूप में, जो व्यक्ति-विशेष का निर्देशक न हो कर 'कोई' से निर्देशित का निर्देश करता है। आधुनिक तर्कशास्त्री सामान्य प्रतिज्ञप्ति के इस तरह के रूपान्तर को तार्किक (कम-से-कम अंशतः) समझते हैं क्योंकि इसमें वस्तु-सामान्य के संबंध में आपाद्यापादकभाव का प्रतिपादन है। नव्य-नैयायिकों के विचार में तो यह बिलकुल अतार्किक रूपान्तरण होगा क्योंकि इसमें 'कोई', 'वह' जैसे अनिर्धार्य (अननुगता)र्थक पद समाविष्ट हैं।

सामान्यता का विश्लेषण या स्पष्टीकरण करने के प्रयास में आधुनिक तर्क-शास्त्र ने एक और समस्या भी खड़ी कर दी है। निरपेक्ष विधि (या निषेध) वाक्य को अकारण उन्होंने आपाद्यापादक-भावात्मक वाक्य में परिवर्तित कर दिया है। जब मूल वाक्य में सब मनुष्यों की सत्ता (पीछे बताये अर्थ में) तथा उनमें नश्वरता-रूप धर्म की विद्यमानता बतलाई गई है तब रूपान्तरित वाक्य में इन दोनों बातों का न तो विधान है न निषेध। यदि संसार में मनुष्य ही न हो, अतः उनके नश्वर होने का प्रश्न ही न उठे तो भी रूपान्तरित वाक्य के अर्थों के सूक्ष्म भेद की ओर ध्यान देना आवश्यक है। जैसा कि पीछे स्पष्ट किया जा चुका है यदि सब मनुष्य-सृष्टि अकस्मात् नष्ट हो गई तो अतीत मनुष्यों को लक्ष्य कर 'सब मनुष्य नश्वर हैं' इस वाक्य की सत्यता प्रमाणित हो सकती है। लेकिन जिस वस्तु का अत्यन्ताभाव है याने जो असत् है— जैसे घोडे के सींग— उसे लक्ष्य कर 'सब घोड़ों के सींग लंबे होते हैं' ऐसा विधान कदापि अर्थवान् नहीं माना जायगा। उद्देश्य ही असत् हो तो उसे लक्ष्य कर न विशेष न सामान्य ही विधान संभव है। आपाद्यापादक-भावात्मक रूपान्तरित वाक्य में यह अवश्य संभव है। संसार में मनुष्य कभी पैदा ही न हुआ तब भी 'यदि कोई मनुष्य हो तो वह नश्वर होगा' यह वाक्य आधुनिक तर्क के लिए सत्य ही होगा।

यही नहीं, कल्पना करें कि 'मनुष्यता' नामक कोई धर्म ही नहीं है; वैसे ही 'नश्वरता' नामक धर्म असत् है। ऐसी स्थिति में उक्त रूपान्तरित वाक्य को

पुनः रूपान्तरित करना होगा। अब अन्तिम परिणत वाक्य इस प्रकार होगा – 'यदि कोई वस्तु है, यदि 'मनुष्यता' नामक धर्म है, यदि 'नश्वरता' नामक धर्म है, और यदि कोई वस्तु मनुष्यता–युक्त है (या मनुष्य है) तो वह नश्वरता-युक्त (नश्वर) भी होगी।' इतने पर भी मूल वाक्य का पूर्ण रूपान्तरण हो गया ऐसा मानना कठिन है। वस्तु तथा मनुष्यता का संबंध तथा वस्तु का नश्वरता से संबंध इसको भी सत् मान कर नहीं चल सकते। 'यदि ऐसे दो प्रकार के संबंध हों तो .....' यह हेतुवाक्य-खंड उक्त रूपान्तरित वाक्य में और जोड़ना होगा।

किन्तु इस प्रकार सीधे-साधे निरपेक्ष सामान्य विधान का अनावश्यक विस्तार हेतुहेतुमद्वाक्य के रूप में कर सामान्यता के स्पष्टीकरण में क्या सहायता मिलती है? ऊपर स्पष्ट किया जा ही चुका है कि एक सामान्य स्पष्टीकरण की प्रक्रिया में दूसरे अनेक सामान्य पदों का प्रयोग रूपान्तरित वाक्य में कर दिया गया है। वैसे ही मूल वाक्य में प्रतिपादित तथ्य का रूपान्तरण से शत प्रतिशत विपर्यास हो जाता है। सामान्य तथा विशेष प्रतिज्ञप्तियों या वाक्यों का जो अनुभव–सिद्ध सामान्य-विशेष-भाव-संबंध है उसका भी उक्त रूपान्तरण से पूर्ण विपर्यास हो जाता है। आधुनिक तर्कशास्त्र के अनुसार विशेष वाक्य में उद्देश्य की सत्ता पूर्वगृहीत होती है, जब कि सामान्य वाक्य की सत्यता उद्देश्य की असत्ता से भी भंग नहीं होती। इस कारण सामान्य प्रतिज्ञप्ति में विशेष प्रतिज्ञप्ति यह प्रतिपाद्य तथ्य अन्तर्भूत नहीं हो पाता।

आपाद्यापादक–भावात्मक वाक्य का रूपान्तर वस्तुनिष्ठ आपाद्यापादकभाव (material conditional) नियमानुसार एक वैकल्पिक वाक्य में होता है यह पूर्वोक्त बात एक अन्य आपत्ति हमारे सामने उपस्थित करती है जिसे पीछे सूचित किया जा चुका है। 'यदि कोई मनुष्य है तो वह नश्वर है' इसका रूपान्तरित वैकल्पिक वाक्य 'या तो कोई मनुष्य नहीं या कुछ नश्वर है' ऐसा होगा। 'सब घोडों के सींग लंबे होते हैं' इस वाक्य का भी प्रथम 'यदि कोई घोडे का सींग हो तो वह लँबा होगा' इस वाक्य में और तदनंतर इस दूसरे वाक्य का 'या तो (किसी भी) घोडे का सींग नहीं, या (कुछ) लंबा होता है' इस वाक्य में होगा। अब प्रश्न है कि कैसे उक्त दो प्रकार के वाक्यों में से प्रथम को सत्य तथा अर्थपूर्ण तथा दूसरे को असत्य ही नहीं असंबद्ध प्रलापरूप ठहराया जाय? प्रसिद्ध दार्शनिक स्ट्रॉसन् ने असत् उद्देश्य-युक्त ऐसे ही एक सामान्य वाक्य की अपने "on Referring" नामक निबंध के अन्त में चर्चा की है। एक निःसन्तान व्यक्ति यदि कहे 'मेरे सब बच्चे सोये हुए हैं' तो उक्त रूपान्तरण प्रक्रिया के अनुसार इस कथन का

अर्थ यह होगा—'या तो कोई मेरा बच्चा नहीं है, या वे सोये हुए हैं' (यह बिलकुल सही रूपान्तर नहीं, अँग्रेजी के (X) संकेत के लिए यहाँ 'कोई' का प्रयोग किया है। इस वैकल्पिक वाक्य का प्रथम विकल्प सत्य होने से पूरा वाक्य सत्य ही होगा। अब एक प्रश्न यह है कि 'सब मनुष्य नश्वर होते हैं' जैसे सामान्य वाक्यों में और 'सब घोडों के सींग लंबे होते हैं' जैसे सामान्य वाक्यों में किञ्चित् भी सादृश्य है कि दोनों का एक ही तरह का विश्लेषण स्वीकार किया जाय और दोनों को ही सामान्य रूप से सत्य समझा जाय? 'सब घोडों के सींग लंबे होते हैं' जैसे वाक्यों को सत्य मानना नितान्त अनुभव-विरुद्ध (counter-intuitive) है।

एक और अनुभव-विरोध भी इस संबंध में विचारणीय है। मूल सामान्य वाक्य में उद्देश्य में विधेय की सत्ता प्रतिपादित होती है। इस वाक्य के अन्तिम वैकल्पिक वाक्यात्मक रूपान्तरण में उद्देश्य की असत्ता एक विकल्प होता है। उद्देश्य असत् होने पर भी शेष विकल्प सत्य होने से वैकल्पिक वाक्य सत्य होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि उद्देश्यगत विधेयसत्ता-बोधक वाक्य ही उद्देश्य में विधेय की असत्ता बोधक वाक्य में रूपान्तरणीय है। यह सरासर अनुभव-विरोधी बात है। वक्ता को जो अर्थ विवक्षित है और जिसे उसके शब्द सामान्यतः प्रतिपादित करते हैं उसी को विपर्यस्त कर उसके विरुद्ध अर्थ को वक्ता या उसके वाक्यों पर थोंपना तर्कसंगत कैसे हो सकता है?

सामान्य वाक्यों के उक्त रूपान्तरण के पक्ष में एक महत्त्वपूर्ण तर्क दिया जा सकता है जिसकी कुछ विस्तार से चर्चा करना आवश्यक है। वह तर्क यह है कि सामान्य वाक्यों में उद्देश्य-विधेय का जो सम्बन्ध प्रतिपादित होता है वह सामान्यवृत्तिता-रूप नहीं होता। जैसे, मेज पर पुस्तक पड़ी हो तो पुस्तक का मेज के साथ वृत्तिता (या संयोग-रूप) संबंध होगा। जब 'सब मनुष्य नश्वर हैं' ऐसा सामान्य विधान किया जाता है तब मनुष्यों में नश्वरता रूप धर्म की वृत्तिता मात्र अभिप्रेत नहीं होती। ऐसे वाक्यों से यह सूचित या प्रतिपादित किया जाता है कि इसके उद्देश्य और विधेय का संबंध बाह्य (External) न हो कर आन्तरिक (Internal) या तार्किक (conceptual) है। अतः 'सब मनुष्य अनिवार्यतया नश्वर होते हैं' ऐसा उक्त वाक्य का अर्थ करना चाहिए। इस वाक्यार्थ-गर्भ अनिवार्यता के अर्थ को स्पष्ट करने के लिये ही आपाद्यापादकभाव का आश्रयण किया जाता है। इससे यह अर्थ निकलता है कि 'न केवल सब मनुष्य वस्तुगत्या नश्वर हैं बल्कि वे मनुष्य होने के कारण ही नश्वर हैं।'

इस तर्क के संबंध में दो-एक बातें विचारणीय हैं। पहली बात यह है कि सामान्य उद्देश्य तथा विधेय के संबंध अनिवार्य ही हों ऐसी कोई अनिवार्यता नहीं है। जैसे, 'सब हबशी काले होते हैं।' इस वाक्य से प्रतिपाद्य उद्देश्य-विधेय संबंध अनिवार्य है ऐसा कोई नहीं मानेगा। हबशी होने से ही कोई काला नहीं हो जाता। कोई हबशी अन्य वर्णीय भी हो सकता है। यदि ऐसा हुआ तो उक्त वाक्य असत्य सिद्ध होगा। लेकिन असत्यता के कारण इस वाक्य की निरपेक्ष विधि-रूपता को आंच आने का कोई कारण नहीं है। यही नहीं तार्किक संबंधों से अन्य भी कार्यकारण-भाव-सदृश आन्तरिक संबंध हुआ करते हैं। सामान्य वाक्यों में उद्देश्य-विधेयों के ऐसे संबंधों का भी प्रतिपादन हो सकता है। जैसे, 'सभी सुवर्णालंकार सुवर्ण हैं' इस वाक्य में सुवर्णालंकार-रूप उद्देश्य तथा सुवर्ण-रूप विधेय का संबंध कार्यकारण-भावात्मक है। अन्य भी साहचर्य उत्तरोत्तरता जैसे आन्तरिक संबंध हो सकते हैं। ये तार्किक या आपाद्यापादक-भावात्मक नहीं होते।

उक्त कथन पर यह प्रतिवाद संभव है कि वस्तुतः जो सामान्य वाक्य (या प्रतिज्ञप्तियाँ) हैं, जिनकी सत्यता का कोई अपवाद नहीं होता, उनमें उद्देश्य-विधेय संबंध तार्किक ही होना चाहिए। यदि 'सब हबशी काले होते हैं' जैसे आपाततः सामान्य वाक्य के अपवाद की संभावना हो तो वह सामान्य ही नहीं होगा। ठीक है। तब प्रश्न होगा कि 'किस तथाकथित सामान्य वाक्य के अपवाद की संभावना ही नहीं है?' 'सब मनुष्य नश्वर हैं' यह वाक्य भी भविष्य में गलत साबित हो सकता है। वैज्ञानिक सिद्धांत भी प्रायः गलत साबित होते हैं।

दूसरी उक्त तार्किक संबंध के बारे में विचारणीय सीधी-सादी बात यह है कि किसी तर्कशास्त्री को यह अधिकार नहीं है कि वह गलत या सही अतार्किक-संबंध-प्रतिपादक सामान्य विधान करने से किसी को रोके। यदि कोई निन्दा करने के ही हेतु कहे कि 'सब अश्वेतवर्णीय मनुष्य असभ्य होते या पाये जाते हैं' तो यह कोई अनिवार्यता नहीं है कि वक्ता अश्वेतवर्णीयता तथा असभ्यता को तार्किक रूप से सम्बद्ध माने। हाँ, 'सब' के स्थान में 'सभी', या 'होते हैं' के स्थान में 'होते ही हैं' ऐसा वाक्य में प्रयोग किया जाय तो उसकी तार्किकता स्पष्ट हो सकती है।

एक और भी बात तार्किकता के संबंध के विषय में ध्यान देने योग्य है। सामान्य-प्रतिज्ञप्ति-गत उद्देश्य वाक्य तथा विधेय वाक्य का संबंध तार्किक होने के लिए विधेय (वाक्य)-रूप आपाद्य का उद्देश्य (वाक्य)-रूप आपादक में या तो समावेश आवश्यक है, या सामान्य वाक्य परिभाषात्मक होना चाहिए। आपादक

वाक्य के विश्लेषण से ही आपाद्य निर्गत हो या आपादक वाक्य में आपाद्य वाक्य गतार्थ हो तो इन दोनों में तार्किक संबंध होना संभव है। सामान्य वाक्य उद्देश्य पद की परिभाषा या लक्षण का ही प्रतिपादक हो तब भी उद्देश्य वाक्य तथा विधेय-वाक्य के बीच तार्किक संबंध स्वीकारार्ह है। 'सब मनुष्य नश्वर हैं' यह सामान्य वाक्य न परिभाषात्मक है न इसका उद्देश्य 'मनुष्य' विधेय 'नश्वरता' का समावेशी है। मनुष्य नश्वर अवश्य है, लेकिन 'एक विचारशील प्राणी' इस मनुष्य शब्द के रूढ अर्थ में नश्वरता समाविष्ट नहीं है। 'प्राणी' शब्द में भी 'नश्वरता' को समाविष्ट मानना आवश्यक नहीं है। इसका मतलब यह नहीं कि कि मनुष्य या अन्य प्राणी अमर भी होते हैं या हो सकते हैं। पीछे बतायें मुताबिक प्राणित्व तथा नश्वरता के बीच कार्यकारणभाव, अविनाभाव जैसे भी संबंध—जो आधुनिक तर्कशास्त्र-सम्मत तार्किक संबंधों से भिन्न हैं - संभव हैं। मान भी लें कि उक्त संबंध तार्किक ही है तब एक और आपत्ति यह होगी कि सब सामान्य वाक्यों को पुनरुक्त्यात्मक मानना पड जायगा। जैसे, 'सब त्रिकोण त्रिभुज होते हैं' इस वाक्य में त्रिकोणता से त्रिभुजता निष्कृत्य है, अतः त्रिभुजत्व त्रिकोणत्व में अन्तर्भूत है। इस कारण इस वाक्य के सांकेतिक रूप "सब 'क्षय' क्ष हैं" इस तरह होगा। मनुष्यत्व में नश्वरता अन्तर्भूत हो तो 'सब मनुष्य नश्वर हैं' इसका भी उक्त सांकेतिक रूप उक्त जैसा ही होगा।

आधुनिक तर्कशास्त्रीय सामान्य-वाक्य के विश्लेषण के पक्ष में एक बात अवश्य कही जा सकती है। वह यह है कि सामान्य-वाक्य गत सामान्य उद्देश्य पद का प्रयोग उद्देश्य (वर्ग) के घटक सभी व्यक्तियों की सत्ता या प्रस्तुति की अपेक्षा नहीं करता। भूत, भावि मनुष्य वर्तमान में नहीं हैं, वर्तमान में जो हैं उनमें से कुछ ही का वक्ता को ज्ञान हुआ करता है। यह असंभव नहीं कि वक्ता को अपने से भिन्न मानव का प्रत्यक्ष ज्ञान ही न हो। ऐसी स्थिति में भी यदि वक्ता 'सब मनुष्य नश्वर हैं' ऐसे वाक्य का प्रयोग करता है तो उस प्रयोग को असत्य मानने का कोई कारण नहीं है। यह तो पार्यन्तिक स्थिति हुई। लेकिन सामान्य उद्देश्यांतर्गत सभी व्यक्तियों की प्रस्तुति सामान्य वाक्य की सत्यता के लिए कभी भी आवश्यक नहीं समझी जाती। अतः यह सोचा जा सकता है कि सामान्य वाक्यों का ऐसा विश्लेषण किया जाय जो उद्देश्यों की सत्ता तथा असत्ता इन दोनों स्थितियों में लागू हो। इस विचार का प्रतिवाद पहले ही कर दिया गया है। कुछ उद्देश्य व्यक्तियों की प्रस्तुति (या सत्ता) न होने पर भी उद्देश्य मात्र की अप्रस्तुति साधारण सामान्य वाक्यों को 'सब घोडों के सींग लंबे होते हैं' ऐसे वाक्यों की पंक्ति में ला बैठाएगी जो नितांत अक्षम्य है।

एक बात और। किसी भी अनुमान के निष्कर्ष-वाक्य और आधार-वाक्य आपाद्यापादक-भावात्मक होते हैं। जैसे, 'यदि सब वस्तुएँ म हैं तो वे प हैं।' इन दो आपाद्यापादक-भावात्मक वाक्यों के ही आधार पर कोई अनुमान नहीं निकृष्ट होता। इसके लिए 'सब स म है' ऐसे अतिरिक्त विध्यात्मक निरपेक्ष विधान की आवश्यकता होती है। इस प्रकार के विधान को आपाद्यापादकभाव विलयन (Resolution of implication) कहा जाता है। इसके बिना आपाद्यापादकभाव के चक्र से निकल कर किसी निरपेक्ष निष्कर्ष तक पहुँचा ही नहीं जा सकता। अब यदि सामान्य वाक्यों को अनिवार्यतया आपाद्यापादकभावात्मक वाक्यों में ही रूपान्तरणीय माना जाय तो विधि-निषेधात्मक आनुमानिक निष्कर्ष कैसे प्राप्त हो सकेंगे ?

अब सामान्य वाक्य के सांकेतिक रूप की तर्क-संगति का कुछ विचार करेंगे। 'सब मनुष्य हैं' इस वाक्य में वस्तुमात्र के लिए 'क्ष', मनुष्य के लिए 'म', नश्वर के लिए 'न' तथा सब के लिए 'ϕ (क्ष)', आपाद्यापादकभाव के लिए '$\supset$' संकेत निर्धारित कर उक्त वाक्य को इस प्रकार संकेतित किया जाएगा—ϕ (क्ष) (म क्ष $\supset$ न क्ष)। इसको पढने का तरीका यह होगा : किसी भी वस्तु को लें तो यदि उनमें से कोई मनुष्य होगी तो वह नश्वर होगी'। इस संकेतन प्रक्रिया में अनेक आपत्तियाँ उठाई जा सकती हैं। प्रथम, 'किसी भी' इस सामान्य पद की सामान्यता का ϕ (क्ष) इस विशिष्ट संकेत से क्या स्पष्टीकरण हुआ है यह विशद नहीं होता। मूल 'सब' पद के और इस संकेत के अर्थ में क्या फर्क है ? यदि 'सब' शब्द का अर्थ स्पष्ट हो तो 'किसी भी वस्तु' या 'कोई भी वस्तु' इसका भी अर्थ लगभग वही होने से उतना ही स्पष्ट या अस्पष्ट होगा। किन्तु विवाद 'सब' शब्द के अर्थ के बारे में ही है जिसकी पीछे चर्चा की जा चुकी है। 'सब' को केवल संकेतित कर देने से यह विवाद समाप्त नहीं हो जाता। ϕ (क्ष) को कोष्ठक के बाहर रखने का मतलब यह है कि कोष्ठक के भीतर के मक्ष और नक्ष घटक 'क्ष' से वस्तुमात्र ग्रहण किया जाय। इससे यह अर्थ निकलेगा कि "कोई भी वस्तु 'म' हो तो वह 'न' भी होगी।" अत्र 'मक्ष', 'नक्ष' का जो सामान्यतः अर्थ होगा वह यहाँ सही-सही नहीं होता क्योंकि यहाँ आपाद्यापादकभाव न 'म' युक्त क्ष तथा 'न' युक्त क्ष के बीच में है न 'म' या 'न' के बीच में है। क्ष या वस्तुमात्र का 'म' होना ही वस्तुमात्र के 'न' होने का आपादक है। यह बात निर्दिष्ट संकेत से स्पष्ट नहीं होती। ϕ (क्ष) संकेत का प्रयोग न कर केवल '(क्ष) म $\supset$ (क्ष) न' संकेत के द्वारा भी जो भी मनुष्य है वह नश्वर है यह बात बतलाई जा सकती है। आपाद्यापादकभाव-घटक आपाद्यता तथा आपाद-

कता के निर्धारक क्या हैं यह महत्त्वपूर्ण बात भी उक्त संकेत से स्पष्ट नहीं होती। 'क्ष' यदि द्रव्य हो तो वह मनुष्य भी हो सकता है। द्रव्य होने में मनुष्य होना अन्तर्भूत है। किन्तु 'द्रक्ष', 'मक्ष' का आपादक नहीं हो सकता। मतविशेषानुसार कुछ द्रव्य अविनाशी भी होते हैं। आपाद्यापादकभाव का विशेष धर्मों के द्वारा निर्धारण किए बिना यह बात स्पष्ट नहीं होती कि 'स' के द्रव्य होने में और 'स' के मनुष्य होने में द्रव्यत्व, मनुष्यत्व-रूप धर्मकृत अन्तर है।

'(क्ष)' को (पूर्ण) सामान्यता-निदर्शक (universal Quantifier) कहना भी तर्कसंगत नहीं है। 'सब मनुष्य नश्वर हैं' यह वाक्य कुछ ही वस्तुओं या प्राणियों की मनुष्यता तथा नश्वरता प्रतिपादित करता है। संसार की सभी वस्तुएँ न मनुष्य होती हैं न नश्वर। अतः यदि सभी वस्तुएँ मनुष्य हों तो वे नश्वर भी होंगी यह कथन ही असंगत या असत्य सिद्ध होता है। 'यदि कोई वस्तु मनुष्य हो' ऐसा कहें तो इस वाक्य में असत्यता नहीं आयेगी। लेकिन तब 'कोई' का अर्थ 'सभी' से भिन्न होने से उसके लिए अन्य संकेत का प्रयोग करना होगा। 'सभी क्ष' के लिए 'ϕ (क्ष)' संकेत हो तो 'कोई क्ष' के लिए— जिसका कोष्ठकान्तर्गत क्ष से निर्देश अभिप्रेत है— अन्य ही संकेत रूढ करना होगा। संकेतों के द्वारा जिस अर्थ को व्यक्त करना है उसका विशद रूप इस प्रकार होगा— 'संसार की सब वस्तुओं में से जो कोई वस्तु मनुष्य है वह नश्वर भी है'। 'क्ष' या वस्तुमात्र की (जो मनुष्य है) अनेकता का विचार करने पर, जो 'क्ष' मनुष्य हैं वे ही नश्वर हैं, इस तथ्य का प्रतिपादन करने के लिए वे ही का (क्ष के साथ) संकेतक चिन्ह भी प्रयोग में लाना आवश्यक होगा। सभी वस्तुओं में से हमें उन वस्तुओं का चयन करना है जो मनुष्य हैं और फिर यह बतलाना है कि ये ही वस्तुएँ नश्वर भी हैं। अतः वस्तुमात्र के लिए यदि 'क्ष' संकेत हो तो उनमें से चयन किए हुए वस्तुओं के लिए 'क्षा' जैसा कोई संकेत हो सकता है। इसी संकेत को 'म' और 'न' के साथ प्रयोग करने पर 'वे ही' का अर्थ उस से प्रकट हो सकता है। ऐसा करने में आपत्ति यह है कि कोष्ठक के भीतर जो 'क्षा' संकेत दो बार प्रयुक्त हुआ है वह बाहर के शुद्ध 'ϕ क्ष' (वस्तुमात्रनिर्देशक) संकेत के स्कोप या विस्तार में समाविष्ट नहीं हो सकता।

अब तक पर्याप्त विस्तार से सामान्य प्रतिज्ञाप्तियों या वाक्यों के आधुनिक तर्कशास्त्रीय रूपान्तरण तथा संकेतन के दोषों तथा न्यूनताओं पर प्रकाश डाला गया।

अब हम भारतीय तर्क या नव्य-न्याय के द्वारा सामान्य प्रतिज्ञप्तियों का कैसा विश्लेषण किया जाता है इसको विशद करेंगे। पहली बात जो नव्य-न्याय तथा अर्वाचीन विश्लेषणों को अलगाती है वह उद्देश्य सत्ता की सामान्य प्रतिज्ञप्ति के लिए पूर्वापेक्षा (Existetial Import) है। 'सब मनुष्य नश्वर हैं' यह वाक्य तभी सत्य हो सकता है जब मनुष्य सत् हों, कभी-न-कभी विद्यमान हों। अत्यन्तासत्, काल्पनिक घोडे के सींग जैसे अलीकों के संबंध में कभी सामान्य विधान संभव नहीं। किन्तु यह आवश्यक नहीं कि सब मनुष्य एक ही समय (या एक ही स्थान में) प्रस्तुत हों।

नव्य-न्याय के विश्लेषण की दूसरी भिन्नता यह है कि इसके अनुसार उद्देश्य-विधेय का संबंध (निरपेक्ष) सत्त्व-रूप (विधेय का उद्देश्य में) ही होता है, आपाद्यापादकभावात्मक नहीं। अतः यह संबंध तार्किक मानने की कोई आवश्यकता नहीं।

इस विश्लेषण की तीसरी भिन्नता इस के द्वारा किए जाने वाले सामान्यता के स्पष्टीकरण की है। मनुष्य मात्र वृत्ति मनुष्यत्व मनुष्यों की नश्वरता का निर्धारक या अवच्छेदक (नव्य-न्याय की परिभाषा में) है। इस कथन का सीधे शब्दों में यह अर्थ है कि कोई भी प्राणी मनुष्य होने के कारण नश्वर है। (इससे यह अर्थ नहीं निकालना चाहिए कि 'नश्वरता' 'मनुष्य की परिभाषा का अंग है।) जैसे सभी मनुष्य मनुष्य होने के कारण नश्वर हैं वैसे ही एक मनुष्य व्यक्ति भी मनुष्यता से युक्त होने कारण ही नश्वर कहेलाएगा। कोई विशेष व्यक्ति होना मनुष्य व्यक्ति की नश्वरता का निर्धारक नहीं है। व्यक्तिविशेष की नश्वरता हो, कुछ मानव-समूहों की वह हो या मनुष्यमात्र की हो, मनुष्यगत नश्वरता का निर्धारक या अवच्छेदक मनुष्यत्व ही होगा। यदि कहें कि मनुष्य प्राणि होने के कारण ही नश्वर है, समझदार या बुद्धिमान् होने के कारण नहीं तो प्राणित्व को ही मनुष्य की नश्वरता का निर्धारक समझना उचित होगा। तब 'सब मनुष्य नश्वर हैं' इस कथन का अर्थ 'मनुष्यत्वव्यापक नश्वरता है' ऐसा होगा।

इस विश्लेषण के अनुसार सामान्यता का संबंध मनुष्य व्यक्तियों से नहीं है। ऐसा समझने के कारण ही आधुनिक तर्क का सामान्यता का विश्लेषण तथा संकेतन दोनों असंगत तथा निरर्थक भी (ऊपर बताये मुताबिक) साबित होते हैं। मनुष्यत्व जैसा मनुष्यमात्रनिष्ठ सामान्य धर्म उक्त सामान्य वाक्य में उद्देश्यता का अवच्छेदक होने के कारण ही इस वाक्य को सामान्यता प्राप्त हुई है। उद्देश्य असत् होने पर

भी सामान्य विधान की सत्यता मानने के पीछे आधुनिक तर्कशास्त्रियों की वस्तुनिष्ठ आपाद्यापादक–भाव संबंधी विचित्र धारणा है। (यह भी आक्षेपार्ह है किन्तु इसकी चर्चा करने का यहाँ अवसर नहीं है।) तथापि सामान्य उद्देश्य के अन्तर्गत सभी उद्देश्य वस्तुओं की सत्ता सामान्य वाक्य की सत्यता के लिए अपेक्षित नहीं इतनी बात के संबंध में नव्य-न्याय तथा आधुनिक पश्चिमी तर्कशास्त्र में मतैक्य हो सकता है। उद्देश्य अत्यन्तासत् होने पर भी सामान्य विधान की सत्यता भंग नहीं होती इस सर्व जनानुभव–विरुद्ध मत को ही नव्य–न्याय अस्वीकार करता है।

अवच्छेद्यावच्छेदकभाव के द्वारा सामान्यता का कैसे स्पष्टीकरण होता है इस बात को विशद करने के लिए दो-एक उदाहरण लें। जैसे, 'सब मनुष्य चतुर होते हैं' यह भी सामान्य वाक्य है किन्तु असत्य है। इसकी असत्यता का वास्तविक कारण सब मनुष्य चतुर न होना यह जरूर है। (किन्तु सब मनुष्य कभी एक साथ संसार में नहीं रहते इससे कुछ मनुष्यों का चतुर न होना शायद सामान्यता का बाधक न माना जाय।) नव्य-न्याय की परिभाषानुसार इस बात का वर्णन इस प्रकार होगा — 'चातुर्य रूप जो विधेय है उसकी कुछ ही मनुष्यों में विद्यमान जो उद्देश्यता है उसका अवच्छेदक मनुष्यत्व रूप सामान्य धर्म नहीं है। या बुद्धिमत्व सहकृत मनुष्यत्व ही इस उद्देश्यता का अवच्छेदक है क्योंकि बुद्धिमान् होने के कारण ही मनुष्य चतुर होते हैं।

आधुनिक तर्कशास्त्रियों ने सामान्यता का सांकेतिक स्पष्टीकरण ϕ (क्ष) क्ष जैसे 'सब' इस शब्द के अर्थ को ही संकेत के द्वारा दुहरा कर (ϕ (क्ष) को universal operator/Quantifier कहने का मतलब 'सब वस्तुएँ' इतना ही है। यह 'सब' का स्पष्टीकरण नहीं है।) तथा आपाद्यापादकभाव संबंध को अस्तित्व (copula) के लिए प्रयुक्त कर किया। सामान्यता न वस्तु–साकल्य पर निर्भर करती है न धर्मों के आपाद्यापादकभाव पर। सामान्य धर्म उद्देश्यतावच्छेदक होने के कारण ही वाक्य सामान्य हुआ करता है। सामान्य वाक्यों में जो उद्देश्य-विधेय-भाव विवक्षित होता है तथा सामान्यतया प्रतीत होता है उसका अपलाप करने का कोई कारण नव्य-न्याय नहीं मानता। आधुनिक तर्कशास्त्र इस उद्देश्यभाव को तो आपाद्यापादकभाव में बदल देता है किन्तु 'मक्ष' 'नक्ष' के रूप में उसी उद्देश्य–विधेय–भाव को बनाए भी रखता है। मनुष्यों के संबंध में सामान्य विधान अस्वीकार करते हुए वस्तुमात्र के संबंध में ऐसा विधान स्वीकार करने में आधुनिक तर्कशास्त्र को कैसे हिचकिचाहट नहीं होती यह समझ में नहीं आता।

नव्य-न्याय का सामान्यता का विवेचन बहुत कुछ उसके विशेष प्रतिज्ञप्तियों के विवेचन से सम्बद्ध है। इस निबंध में केवल सामान्य प्रतिज्ञप्तियों या वाक्यों की तुलनात्मक चर्चा ही प्रस्तुत थी। विशेष कर हमें आधुनिक तर्कशास्त्रीय सामान्यता का विश्लेषण तथा संकेतन की त्रुटियों पर ही प्रकाश डालना था। यह भी दर्शाना हमारा उद्देश्य था कि संकेतों के प्रयोग से विचार-विश्लेषण या प्रतिपादन में अन्यूनानतिरिक्तता नहीं आती। नव्य-न्याय की परिभाषा का प्रयोग करते हुए 'सब मनुष्य नश्वर हैं' इस कथन को 'मनुष्यत्वावच्छिन्न उद्देश्यता निरूपित विधेयतावत् नश्वरम्' इस परिष्कृत रूप में जैसे अन्यूनानतिरिक्त या नपेतुले ढंग से प्रस्तुत करना संभव है वैसा पीछे बताए मुताबिक ϕ क्ष (मक्ष $\supset$ नक्ष) इस सांकेतिक प्रक्रिया से कदापि संभव नहीं।

'ॲफेक्शन'
४७४-अ, प्रोफेसर्स कालोनी
हनुमान नगर
नागपुर- ४४०००९

नारायणशास्त्री द्राविड

नव्य-न्याय के पारिभाषिक पदार्थ (७)

अभावीय प्रतियोगिता

पूर्व लेख में व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिता की चर्चा की गयी थी। सोन्दड उपाध्याय व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न अभाव स्वीकार करते हैं तो गंगेशोपाध्याय उसका खण्डन यह कह कर करते हैं कि प्रतियोगि में न रहने वाला धर्म (तत्त्व) प्रतियोगिता का नियामक (अवच्छेदक) नहीं होता है।[१] इसलिये घटत्वेन अर्थात् घटत्व के रूप से पट का अभाव कोई वस्तु नहीं है। घटत्व पट में रहने वाली प्रतियोगिता का व्यधिकरण धर्म होने से उसका (याने पट में रहने वाली प्रतियोगिता का) अवच्छेदक नहीं होता है। इस तरह आचार्य गंगेश के द्वारा उक्त प्रतियोगिता का खण्डन होने पर भी दीधिति-कार रघुनाथ शिरोमणि ने यह कह कर कि "यदि लोगों का 'घटत्वेन पटो नास्ति' यह अनुभव यथार्थ अनुभव से सम्बन्धित है तो उसका खण्डन गीर्वाण-गुरु के लिये भी सम्भव नहीं है"[२] उक्त अभावीय प्रतियोगिता के ऊपर प्रामाणिकता का ठप्पा लगा दिया है। अतः प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या सोन्दड उपाध्याय, गंगेशोपाध्याय तथा रघुनाथ शिरोमणि में व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिता के बारे में कोई ऐसा मौलिक मतभेद है कि जिसका संगत रीति से विचार ही किया न जा सके? इस प्रश्न को ले कर अभावीय प्रतियोगिता के कुछ पहलुओं की चर्चा इस लेख में प्रस्तुत की है।

यद्यपि गंगेशोपाध्याय ने व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिता वाले अभाव का खण्डन किया है तथापि व्यधिकरण-सम्बन्ध से नियमित प्रतियोगिता के बारे में वे मौन हैं। प्रतियोगिता जिस प्रकार धर्म से नियमित होती है उसी प्रकार सम्बन्ध से भी नियमित होती है यह पहले ही बताया जा चुका है। सामान्य रूप से किसी का अभाव कहीं नहीं होता है। किसी न किसी सम्बन्ध से वस्तु हर जगह होती है। अतः अभाव को किसी सम्बन्ध से ही स्वीकार करना पड़ता है,

और जिस सम्बन्ध से वस्तु का अभाव होता है उस सम्बन्ध से प्रतियोगिता नियमित होती है। अतः सोन्दड मत में प्रतियोगिता जैसे प्रतियोगि में न रहने वाले धर्म से नियमित होती है उसी प्रकार रघुनाथ शिरोमणि [3] आदि के मत में प्रतियोगि जिस सम्बन्ध से नहीं रहता है उस सम्बन्ध से भी प्रतियोगिता नियमित हो सकती है। उदाहरणार्थ, जिस प्रकार समवायित्व रूप से वाच्यत्व का अभाव व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव है उसी प्रकार समवाय सम्बन्ध से वाच्यत्व का अभाव व्यधिकरण सम्बन्ध से नियमित प्रतियोगिता का अभाव है। वाच्यत्व जो कि नैयायिक मत में ईश्वरेच्छा विषयत्व रूप है समवाय सम्बन्ध से कहीं पर भी नहीं रहता है। विषयता आदि पदार्थ स्वरूप सम्बन्ध से ही आश्रित होते हैं, ऐसा नैयायिकों का मत है। (स्वरूप सम्बन्ध की चर्चा आगे यथास्थान की जायेगी।) अतः समवाय सम्बन्ध वाच्यत्व की दृष्टि से व्यधिकरण सम्बन्ध है। जो वस्तु कभी कहीं भी जिस सम्बन्ध से नहीं रहती वह उसका व्यधिकरण सम्बन्ध होता है। इस दृष्टि से समवाय यह वाच्यत्व का व्यधिकरण सम्बन्ध है। उस सम्बन्ध से वाच्यत्व रूप प्रतियोगि कहीं पर भी न रहने के कारण समवायेन वाच्यत्व का अभाव व्यधिकरण सम्बन्ध से अवच्छिन्न प्रतियोगिता वाला अभाव है। यह अभाव भी समवायित्वेन वाच्यत्वाभाव के समान ही सर्वत्र विद्यमान होने वाला केवलान्वयि अभाव है।

गंगेश ने 'प्रतियोग्यवृत्तिश्च धर्मो न प्रतियोगितावच्छेदकः' कह कर व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव का खण्डन किया है, परन्तु व्यधिकरण-सम्बन्धावच्छिन्नाभाव का खण्डन नहीं किया। (यदि उन्होंने ऐसा किया होता तो उनके मत में व्यधिकरणाभाव नाम की कोई चीज ही शेष नहीं रह जाती।) इससे उनके टीकाकारों और उपटीकाकारों ने व्यधिकरणसम्बन्धावच्छिन्नाभाव का समर्थन किया है ऐसा प्रतीत होता है। जगदीश [4] ने व्यधिकरण के प्रथम लक्षण में "जिस सम्बन्ध से व्यापकता (बतायी गयी है) उसी सम्बन्ध से प्रतियोगि-सामानाधिकरण्य न कहने पर व्यधिकरणसम्बन्धावच्छिन्नाभाव को लेकर व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव को लिये बिना ही व्याप्ति का लक्षण समन्वित हो जाने से गंगेश के 'प्रतियोग्यवृत्तिश्च' इस ग्रन्थांश की दूषकता समाप्त हो जाती है" ऐसा कह कर व्यधिकरणसम्बन्धावच्छिन्नाभाव का समर्थन किया है। इसका तात्पर्य यह है कि व्यधिकरणसम्बन्धावच्छिन्नाभाव मान्य होने पर भी व्याप्ति के उक्त पारिभाषिक लक्षण के सन्दर्भ में उसका ग्रहण मान्य नहीं है। समानाधिकरण सम्बन्ध से प्रतियोगिता नियमित होती है यह मानना अनिवार्य है, अन्यथा बाध-बुद्धि के साथ प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक-भाव नहीं बनेगा। बाध-ज्ञान में जो प्रति-

बन्धकता होती है वह सम्बन्ध-विशेष से नियमित होती है। अन्यथा एक सम्बन्ध से होने वाला अभाव का ज्ञान भी संयोग समवायादि सभी सम्बन्धों से प्रनियोगि-ज्ञान का प्रतिबन्ध होने लगेगा और यह अनुभव के विरुद्ध होगा। अतः प्रति-योगिता को सम्बन्ध-विशेष से नियमित माना जाता है। तथापि प्रतियोगिता को व्यधिकरण सम्बन्ध से नियमित मानने में क्या युक्ति है? कहा जाता है कि "प्रतियोग्यभावान्वयौ तुल्ययोगक्षेमौ" जिसका तात्पर्य यह है कि जिस सम्बन्ध से जिस स्थान पर जिस रूप में जो वस्तु निषेध वाचक शब्द के न रहने पर प्रतीत होती है उसी स्थान पर निषेध की अवस्था में उसी सम्बन्ध से नियमित तथा उसी धर्म से नियमित प्रतियोगिता वाला उस वस्तु का अभाव प्रतीत होता है।[५] जैसे, भूतल पर संयोग सम्बन्ध से घट रहने पर भूतल पर घट की प्रतीति होती है और भूतल पर संयोग से घट के न रहने पर घटाभाव की प्रतीति होती है। तात्पर्य यह है कि जिस सम्बन्ध से घटवत्ता प्रतीत होती है उसी सम्बन्ध से नियमित प्रतियोगिता वाला अभाव जब प्रतीत होता है तभी उन प्रतीतियों में प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक भाव होता है। परन्तु अब यहाँ प्रश्न यह है कि क्या किसी को समवाय सम्बन्ध से वाच्यत्व का अस्तित्व प्रतीत होता है? यदि नहीं तो वाच्यत्वाभाव का प्रतियोगिता को समवाय सम्बन्ध से नियमित क्यों माना जाय? इस सम्बन्ध में नैयायिकों का कथन है कि 'घटत्वेन वाच्यत्वं नास्ति' इस प्रतीति के अनुरोध से जैसे व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव स्वीकार किया जाता है उसी तरह 'समवायेन वाच्यत्वं नास्ति' इस प्रतीति के आधार पर समवायेन वाच्य-त्वाभाव को स्वीकार करना चाहिये। जिस प्रकार 'भूतलं संयोगेन घटवत्' ऐसी बुद्धि होने पर 'भूतलं संयोगेन घटाभाववत्' ऐसी बुद्धि नहीं होती है वैसे ही 'घटः समवायेन वाच्यत्ववान्' यह बुद्धि होने पर 'घटः समवायेन वाच्यत्वा-भाववान्' इस प्रकार की बुद्धि नहीं होती है। यह बात दूसरी है कि 'घटः समवायेन वाच्यत्ववान्' यह बुद्धि प्रमा है या अप्रमा इसका विचार यहाँ अप्रस्तुत है। बुद्धि चाहे भ्रमात्मक हो या प्रमात्मक (याने अभ्रमात्मक), प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक-भाव में कोई अन्तर नहीं पड़ता है। इसलिये प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक-भाव के अनुरोध से व्यधिकरण सम्बन्ध से नियमित प्रतियोगिता मानना आवश्यक है। केवलान्वयि अभाव के सन्दर्भ में तद्वत्ता-बुद्धि भ्रमात्मक लेने पर प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक-भाव में कोई बाधा नहीं उत्पन्न होती है। जैसे, "घटत्वेन वाच्यत्वं अस्ति" इस बुद्धि के होने पर "घटत्वेन वाच्यत्वन्नास्ति" यह बुद्धि नहीं होती है[६] उसी प्रकार "समवायेन वाच्यत्वं अस्ति" यह बुद्धि होने पर "समवायेन वाच्यत्वंनास्ति" यह बुद्धि उत्पन्न नहीं होती है। अतः उक्त अनुभव के आधार

पर वहाँ उक्त प्रकार का प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक-भाव मानना आवश्यक है। यही कारण है कि जगदीश [७] ने "धनी द्रव्यत्वात्" इस स्थल में व्यधिकरण-सम्बन्धावच्छिन्नाभाव को ले कर अतिव्याप्ति प्रदर्शित की है। व्याप्ति के स्थल में साध्याभाव को साध्यतावच्छेदक सम्बन्ध से नियमित प्रतियोगिता वाला कहने पर "धनी चैत्रत्वात्" में अव्याप्ति होती है क्योंकि वृत्त्यनियामक स्वामित्व सम्बन्ध से प्रतियोगिता अप्रसिद्ध होती है। वृत्यनियामक सम्बन्ध प्रतियोगिता का अवच्छेदक नहीं होता है यह पहले ही बतलाया जा चुका है। इसलिये साध्याभाव को साध्यतावच्छेदक सम्बन्ध से भिन्न समानाधिकरण सम्बन्ध से अनवच्छिन्न प्रतियोगिता वाला कहने पर उपर्युक्त "धनी द्रव्यत्वात्" में व्यधिकरण सम्बन्ध से नियमित प्रतियोगिता वाला अभाव ले कर अतिव्याप्ति होती है।

सिद्धान्त-व्याप्ति के सम्बन्ध-धार्मिक उभयाभाव-घटित लक्षण में "यादृश प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न प्रतियोगित्वम्" तथा "हेत्वधिकरणीभूत यत्किञ्चिद्-द्व्यक्त्यनुयोगित्वम्" इन दोनों का जो उभयाभाव लेना है वह स्वरूप सम्बन्ध से लिया जाना चाहिये, क्यों कि समवाय सम्बन्ध से उक्त प्रतियोगित्व और अनुयोगित्व का अभाव सम्बन्ध मात्र में होने से सद्हेतु मात्र में अव्याप्ति होती है। [८] तात्पर्य यह है कि समवाय सम्बन्ध से प्रतियोगित्व तथा अनुयोगित्व का अभाव व्यधिकरणसम्बन्धावच्छिन्नाभाव होने से वह केवलान्वयी है; प्रतियोगित्व तथा अनुयोगित्व समवाय सम्बन्ध से कहीं नहीं रहते, उनका अभाव सर्वत्र होता है।

इस प्रकार व्यधिकरणसम्बधावच्छिन्नाभाव का समर्थन प्रायः सभी नैयायिकों ने किया है। व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव के खण्डन में जो तर्क गंगशोपाध्याया ने प्रस्तुत किया है वह यहाँ लागू नहीं होता। अभाव के ज्ञान के लिये प्रतियोगितावच्छेदक प्रकारक प्रतियोगि-ज्ञान कारण होने से व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिता वाले अभाव-ज्ञान के पूर्व उक्त प्रतियोगि का ज्ञान न होने से (घटत्वेन पटो नास्ति) घटत्व के रूप में पट नहीं है यह प्रतीति सम्भव नहीं है, परन्तु "समवायेन वाच्यत्वं नास्ति" यह प्रतीति होने में कोई बाधा नहीं है। क्योंकि उसके पूर्व प्रतियोगितावच्छेदक वाच्यत्वप्रकारक प्रतियोगि का ज्ञान विद्यमान है। 'समवायेन वाच्यत्व नहीं है' यहाँ भ्रम रूप से वाच्यत्व समवाय सम्बन्ध से रहता है यह तद्वत्ता ज्ञान होने में कोई बाधा नहीं है। ऐसी परिस्थिति में व्यधिकरण-सम्बन्धावच्छिन्नाभाव स्वीकार करने में भी कोई बाधा दृष्टिगोचर नहीं होती है। अतः उक्त अभाव का निषेध गंगेश आदि ने किया है ऐसा मानना ठीक नहीं है। माथुरी के व्याप्तिपञ्चक में मथुरानाथ ने भी इसे स्वीकार किया है।

व्यधिकरणसम्बन्धावच्छिन्नाभाव के समान ही प्रतीति के आधार पर व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नावच्छेदकताक प्रतियोगिताक अन्योन्याभाव भी सिद्ध होता है।[९] समवायितया वाच्यत्ववान् का भेद पक्षधर मिश्र ने स्वीकार किया है। जैसे, धूमवान् में वह्नित्वेन घट नहीं है यह प्रतीति होती है उसी प्रकार धूमवान् वह्नित्वेन घटवान् नहीं है यह भी प्रतीति होती है। एक प्रतीति में प्रतियोगिता व्यधिकरण धर्म से नियमित है तो दूसरी प्रतीति में प्रतियोगितावच्छेदकता (जिसका विवेचन आगे किया जायगा) व्यधिकरण धर्म से नियन्त्रित है।

व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव की प्रतियोगिता अतिरिक्त है; वह प्रतियोगी रूप या प्रतियोगितावच्छेदक रूप नहीं है यह बात पहले कही जा चुकी है। व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव के सम्बन्ध में विवाद है वह भी उसकी अतिरिक्त प्रतियोगिता को ले कर ही है। इसलिये कुछ लोगों ने 'अतिरिक्त प्रतियोगिताक अभावत्वम्' यह व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव का लक्षण किया है।[१०] व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव की प्रतियोगिता अतिरिक्त होने पर भी सभी प्रतियोगियों में वह एक नहीं है, अपितु वह स्वाश्रय-प्रतियोगियों के भेद से भिन्न-भिन्न है।[११]

यह पहले कहा जा चुका है कि ध्वंस और प्रागभाव की प्रतियोगिता व्यधिकरण या समानाधिकरण संबंध से नियमित नहीं होती है। इसलिए व्यधिकरणसंबंधावच्छिन्नाभाव हमेशा अत्यन्ताभाव ही होता है। अन्योन्याभाव की प्रतियोगिता हमेशा तादात्म्य संबंध से नियन्त्रित होती है। इसलिए व्यधिकरणसंबंधावच्छिन्न अन्योन्याभाव भी नहीं होता है। परंतु अत्यन्ताभाव संसर्गाभाव का एक प्रकार है और संसर्गाभाव का लक्षण है 'स्वीय प्रतियोगिता के नियंत्रक संबंध से जो प्रतियोगि का आरोप होता है उस आरोप से उत्पन्न प्रतीति का विषय होने वाला अभाव'[१२]। इस लक्षण में उक्त संबंध तादात्म्य से भिन्न संबंध लेना चाहिए। परंतु प्रश्न यह है कि यह लक्षण प्रागभाव तथा ध्वंस में कैसे घटित होगा? क्योंकि ध्वंस की या प्रागभाव की प्रतियोगिता का कोई नियामक संबंध होता ही नहीं है। इस विषय में प्राचीन नैयायिकों का कथन है कि ध्वंस और प्रागभाव के संदर्भ में उत्तर-काल और पूर्व-काल ही क्रमशः प्रतियोगिता के नियामक संबंध हैं, और उन्हीं संबंधों से प्रतियोगियों का आरोप प्रागभाव और ध्वंस के प्रत्यक्ष का कारण होने से संसर्गाभाव के उक्त लक्षण की उनमें अतिव्याप्ति नहीं होती है।[१३] 'यह इस समय यदि स्वाश्रयोत्तर कालिक संबंध से घटवान् होता तो घटवान् के रूप में उपलब्ध होता' इस प्रकार का प्रतियोगि का आरोप ध्वंस के प्रत्यक्ष में कारण होता है, और उसी प्रकार 'यह इस समय स्वाश्रयपूर्वकालिक संबंध से घटवान् होता तो घटवान् के रूप में उपलब्ध होता' इस प्रकार का प्रतियोगि का आरोप

प्रागभाव के प्रत्यक्ष में कारण होता है। इस प्रकार उत्तरकाल और पूर्वकाल उक्त संबंधों के घटक होने से क्रमशः ध्वंस और प्रागभाव की प्रतियोगिता के अवच्छेदक संबंध होते हैं। अतः ध्वंस और प्रागभाव की प्रतियोगिता संबंधावच्छिन्न होती है। उक्त संबंधों से उक्त प्रतियोगिताएँ अवच्छिन्न होने पर भी वे व्यधिकरणसंबंधावच्छिन्न नहीं होती हैं यह सत्य है। दूसरी बात यह है कि उक्त प्रकार का संसर्गाभाव का लक्षण सभी नैयायिकों को मान्य नहीं है। वे अभावबुद्धि में प्रतियोगि के आरोप को कारण नहीं मानते। इसलिए संसर्गाभाव का उक्त लक्षण उन्हें मान्य नहीं है। वे भेदभिन्नाभाव यही संसर्गाभाव का लक्षण करते हैं और उसमें जो नित्याभाव है वह अत्यन्ताभाव है। भेद तादात्म्य संबंधावच्छिन्न प्रतियोगिता वाला अभाव या अनुयोगिता-विशेष है।[१४] अनुयोगिता-विशेष को अन्योन्याभाव मानने का कारण स्पष्ट किया जा चुका है। अतः ध्वंस और प्रागभाव की प्रतियोगिता किसी भी संबंध से अवच्छिन्न नहीं होती है यही मानना उचित है।

प्रतियोगिता के संबंध में इस प्रकार के विवेचन के पश्चात् एक प्रश्न पर विचार करना आवश्यक हो जाता है कि क्या प्रतियोगिता यह धर्म है, या संबंध है, या दोनों हैं? इसका तात्पर्य यह है कि प्रतियोगिता का संसर्गतया भान होता है या प्रकारतया? नैयायिक प्रतियोगिता आदि को संबंध के रूप में भी स्वीकार करते हैं। जब हम कहते हैं कि "भूतल पर घट का अभाव है" तो घट और अभाव के बीच में 'का' इस शब्द का प्रयोग करते हैं जो कि 'षष्ठी' विभक्ति का प्रत्यय है तथा वह संबंध का वाचक होता है। अतः 'घट का अभाव' से घट और अभाव इनके बीच में होने वाले संबंध का बोध होता है। लेकिन वह संबंध कौनसा है? प्रसिद्ध संयोग आदि में से कोई संबंध वहाँ नहीं है। अतः वहाँ एक अतिरिक्त सम्बन्ध माना जाना चाहिए। चूँकि घट अभाव का प्रतियोगी है अतः घट के साथ अभाव का सम्बन्ध प्रतियोगिता सम्बन्ध है तथा अभाव के साथ घट का सम्बन्ध अनुयोगिता संबंध है। यदि प्रतियोगिता आदि को सम्बन्ध न स्वीकार करें तो "घटो नास्ति" इस वाक्य से शब्द-बोध ही नहीं होगा।

शब्द-बोध दो प्रकार का होता है: अभेद सम्बन्ध विषयक तथा भेद संबंध विषयक। भेद संबंधों में आधार-आधेयभाव, प्रतियोगी— अनुयोगीभाव और विषय-विषयीभाव इत्यादि होते हैं।[१५] आधाराधेय भाव से आधारता तथा आधेयता, प्रतियोगी—अनुयोगीभाव से प्रतियोगिता तथा अनुयोगिता आदि प्रत्येक का संबंध के रूप में ग्रहण किया जाता है। इस 'विशिष्टबुद्धिनियामकत्व" यह जो सम्बन्ध

का लक्षण है वह वहाँ घटित होने से प्रतियोगिता, अनुयोगिता आदि को सम्बन्ध माना जाता है।

परन्तु प्रश्न यहाँ यह उपस्थित होता है कि प्रतियोगिता में द्विष्ठत्व उत्पन्न नहीं होता है जो कि हरेक सम्बन्ध की प्राथमिक शर्त है। घटाभाव की प्रतियोगिता केवल घट में रहती है, अभाव में नहीं रहती। अतः दो में न रहने से उसे सम्बन्ध कैसे कहा जाय? इस विषय में नैयायिकों के नवीन मत में अनुयोगी-निष्ठ-धर्म ही संसर्ग है, उसे द्विष्ठ होने की आवश्यकता नहीं है। [१६] परन्तु नैयायिकों के प्राचीन मत में आधारता निरूपित आधेयता, अनुयोगिता निरूपित प्रतियोगिता आदि सम्बन्ध होते हैं। अतः उनके द्विष्ठ होने में कोई आपत्ति नहीं है। [१७]

'भूतले न घटः', 'घटो न पटः' यहाँ नञर्थ अभाव के साथ घट का प्रतियोगिता सम्बन्ध से ही अन्वय होता है। भूतल पर प्रतियोगिता सम्बन्ध से घट-युक्त अभाव है इस प्रकार का शाब्दबोध उक्त प्रथम वाक्य से होता है, तथा 'घटो न पटः' इस वाक्य से घट का प्रतियोगिता सम्बन्ध से भेद में तथा भेद का स्वरूप सम्बन्ध से घट में अन्वय होता है। इसके फलस्वरूप 'प्रतियोगिता सम्बन्ध से घटविशिष्ट भेदवान् पट है' इस प्रकार का शाब्दबोध उक्त वाक्य से उत्पन्न होता है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि ऐसा एक नियम है जिसके अनुसार 'नञ्' (निषेध) के न रहने पर जिस स्थान में जिस सम्बन्ध से जिस वस्तु की आश्रयता प्रतीत होती है उसी स्थान में 'नञ् (निषेध) के रहने पर उसी सम्बन्ध से उस वस्तु का अभाव प्रतीत होता है। [१८] "भूतले घटः" कहने पर यदि "भूतलवृत्तितावान् घटः" यह बोध होता है तो "भूतले न घटः" कहने पर प्रतियोगिता सम्बन्ध से "भूतलवृत्तिताविशिष्टाभाववान् घट है" यह बोध होगा।

सादृश्य के साथ भी प्रतियोगिता सम्बन्ध होता है। 'मुखचन्द्रः' यहाँ चन्द्र सदृश मुख यह बोध होने से चन्द्र का प्रतियोगिता सम्बन्ध से सादृश्य के साथ अन्वय हो कर प्रतियोगिता संबंध से चन्द्रविशिष्ट सादृश्य-युक्त मुख का बोध होता है। [१९] सादृश्य का प्रतियोगी चंद्र होने से उसके साथ चंद्र का प्रतियोगिता संबंध है तथा सादृश्य का अनुयोगी मुख होने से उसके साथ चंद्र का अनुयोगिता संबंध है।

प्राचीन नैयायिक प्रकारता आदि को सम्बन्ध नहीं मानते। उनके मत में प्रतियोगिता आदि जितने पदार्थ हैं वे संबंध नहीं हैं क्योंकि विशिष्ट बुद्धि का

नियामक ही संबंध कहलाता है। उनका कथन है कि जो संबंध होगा उससे विशिष्ट बुद्धि अवश्य उत्पन्न होगी। विशिष्ट बुद्धि मत्वर्थक प्रयोग से जानी जाती है, जैसे, 'पर्वतः वन्हिमान्' या 'रूपवान् घटः' इत्यादि। कोई भी 'वह्निमत् ज्ञान' या 'वन्हिमान् अभाव' इत्यादि प्रकार का प्रामाणिक प्रयोग नहीं करता। इसलिए विषयता और प्रतियोगिता आदि संबंध नहीं हैं। हमें जो 'वह्निं जानामि' अर्थात् 'मैं वन्हि को जानता हूँ', या "पर्वते वन्हिर्नास्ति" याने 'पर्वत पर अग्नि नहीं है' इस प्रकार का अनुभव होता है उन प्रतीतियों के आधार पर प्रतियोगिता और विषयता आदि के संबंध होने का प्रमाण नहीं मिलता है। द्वितीया (जैसे, वह्निं जानामि) या प्रथमा (जैसे, अग्निर्नास्ति) विभक्तियाँ संबंध की बोधक नहीं होती हैं। ज्ञान और अभाव का जो प्रत्यक्ष होता है वहाँ विषयता और प्रतियोगिता प्रकार के रूप में ही भासित होती है, संसर्ग के रूप में नहीं।[२०]

परन्तु प्राचीन नैयायिकों का यह मत आधुनिक नव्य-नैयायिकों को मान्य नहीं है। उनका कथन है कि प्रतियोगिता, विषयता आदि को प्रकारता के रूप में मानें तो जहाँ उनकी उपस्थिति नहीं है वहाँ विषय (घट) विशिष्ट ज्ञान प्रतियोगिविशिष्ट अभाव का प्रत्यक्ष नहीं होना चाहिए।[२१] तात्पर्य यह है कि विषयता और प्रतियोगिता को प्रकार (विशेषण) के रूप में स्वीकार करने पर जो विशिष्ट बुद्धि होगी उसके पूर्व उनकी उपस्थिति आवश्यक है, क्योंकि विशिष्टबुद्धि में विशेषण का ज्ञान कारण है। जब तक घट का ज्ञान नहीं होगा तबतक घटविशिष्ट भूतल यह ज्ञान उत्पन्न नहीं होगा। ऐसी स्थिति में विषयता और प्रतियोगिता को विशेषण के रूप में स्वीकार करने पर जहाँ उनकी पूर्वोपस्थिति नहीं है वहाँ घट-विशिष्ट ज्ञान और घटविशिष्ट अभाव का प्रत्यक्ष नहीं होगा। प्रतियोगिता और विषयता आदि को संबंध के रूप में स्वीकार करना ही उचीत प्रतीत होता है। जैसा कि स्पष्ट रूप में गदाधर ने कहा है "एक पदार्थ का अपर पदार्थ के साथ संबंध संसर्ग-मर्यादा के द्वारा स्पष्ट होता है। वह कहीं अभेद है तो कहीं उससे भिन्न ही होता है- आधाराधेय, प्रतियोगि- अनुयोगि, विषय-विषयीभाव के रूप में।"

यदि प्रतियोगिता पदार्थ को न स्वीकार करें तो अभावत्व का निर्वचन करना संभव नहीं होगा।[२२] अभावत्व का अर्थ भावभिन्नत्व करने से उसका परिष्कृत रूप होता है 'भावत्व से नियन्त्रित प्रतियोगिता वाला भेद'। प्रतियोगिता पदार्थ को स्वीकार किए बिना उक्त परिष्कार संभव नही है। परंतु उक्त परिष्कृत भावभिन्नत्व अभाव का लक्षण करने पर अन्योन्याश्रय दोष होता है कि अभाव के

लक्षण में अन्योन्याभाव प्रविष्ट है, क्योंकि तादात्म्य संबंधावच्छिन्न प्रतियोगिता वाला अभाव अन्योन्याभाव कहलाता है। इस अन्योन्याश्रय दोष का परिहार करने के लिए अभावत्व को अखण्डोपाधि या स्वरूप संबंध-विशेष मानने पर उक्त परिष्कार की आवश्यकता न होने से प्रतियोगिता पदार्थ की स्वीकृति अनावश्यक हो जाती है। तथापि प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक-भाव के संदर्भ में प्रतिबंधकता का निर्वचन प्रतियोगिता के उपयोग के बिना संभव नहीं है। एकदा एकत्र वर्तमानत्व से नियमित प्रतियोगिता का अभाव ही प्रतिबंधकता है। उदाहरण के लिए, 'घटवत् भूतलम्' इस बुद्धि के लिए 'घटाभाववत् भूतलम्' यह ज्ञान प्रतिबंधक होता है। जब घटवत्ता-ज्ञान रहता है उस समय वहीं पर घटाभाववत्ताज्ञान नहीं होता है। अर्थात्, घटाभाववत्ताज्ञान उसी समय वहीं पर वर्तमान न होने से उक्त वर्तमानत्व से नियमित प्रतियोगिता वाला अभाव वहाँ है। अतः उक्त ज्ञान पूर्व ज्ञान का प्रतिबंधक है। उसी प्रकार कारणीभूत अभाव के प्रतियोगी को प्रतिबंधक कहा जाता है। सामान्य नियम यह है कि सामग्री के रहने पर भी प्रतिबन्धक की उपस्थिति में कार्य नहीं होता है। अतः नैयायिक प्रतिबंधक के अभाव को कार्यमात्र के लिए कारण मानते हैं। इस तरह कार्यमात्र में कारणीभूत अभाव प्रतिबंधक का अभाव होता है। उसका प्रतियोगित्व प्रतिबंधक में आने से वही प्रतिबंधक स्वरूप है।[२३] उसी प्रकार अभावीय प्रतियोगिता को स्वीकार किए बिना व्याप्ति का सार्वभौमिक स्वरूप सिद्ध करना अत्यन्त कठिन है। सार्वभौमिकता को व्यतिरेक के माध्यम से ही व्यक्त किया जाता है। अन्वय के माध्यम से व्याख्यात व्याप्ति सार्वभौम स्वरूप को नहीं प्राप्त कर सकती। इसके सम्बन्ध में विशेष विवेचन हमने हमारी पुस्तक **अनुमान प्रमाण**[२४] में किया हुआ होने से उसे दुहराना नहीं चाहते। व्यतिरेक के आधार पर व्याप्ति का विवेचन प्रतियोगिता के समावेश के बिना संभव नहीं है। इस प्रकार कारणत्व, नित्यत्व, प्रकारत्व आदि अनेक पारिभाषिक पदार्थ हैं जो शास्त्रों के व्यवहार में अनेक बार प्रयुक्त होते हैं और उनके निर्वचन के लिए अभाव पदार्थ का सहारा लेना पड़ता है। उसके बिना उनका सर्वशुद्ध विवेचन संभव ही नहीं है और अभाव का सहारा लेने पर प्रतियोगिता का उपयोग आवश्यक हो जाता है। और जैसा कि कहा गया है अभाव का ज्ञान प्रतियोगिता से विशिष्ट प्रतियोगी के ज्ञान के बिना संभव नहीं है क्योंकि अभाव-बुद्धि विशिष्ट के वैशिष्ट्य की मर्यादा को छोड़ नहीं सकती है। अतः प्रतियोगिता को एक पदार्थ मानना आवश्यक है। वह पदार्थ अतिरिक्त है, या प्रतियोगी-रूप है, या अवच्छेदक है या कहीं स्वतंत्र है, तो कहीं प्रतियोगी-रूप तो कहीं प्रतियोगितावच्छेदक-रूप है इसके सम्बन्ध में विवेचन पिछले लेखों में किया जा चुका है। इसके कुछ अन्य भी पहलू हो सकते हैं। जैसे, प्राचीन नव्यनैयायिक

अत्यन्ताभाव के तीन प्रतियोगी मानते हैं : ध्वंस, प्रागभाव और वस्तु। उदाहरणार्थ, उनके मत में घट का अत्यन्ताभाव जहाँ रहता है वहाँ उसका ध्वंस, प्रागभाव और घट ये तीनों नहीं रहते। इसलिए ये तीनों भी घटाभाव के प्रतियोगी हैं, और इसलिए इन तीनों में प्रतियोगिता है।[२५] उसके संबंध में भी कई प्रश्न विवेचनीय हो सकते हैं। एक प्रश्न यह है कि ये प्रतियोगिताएँ भिन्न-भिन्न हैं या एक ही हैं? अगर अभिन्न हैं तो क्या आपत्ति है, तथा भिन्न-भिन्न होने पर क्या दोष है? या तीनों में प्रतियोगिता मानने में क्या गौरव है या लाघव है? आदि कई विचारणीय प्रश्न हो सकते हैं। उसी प्रकार अभावाधिकरणक और अभाव-प्रतियोगिक अभावों की प्रतियोगिता के संबंध में विचारणीय कुछ पहलू हैं। लेकिन विस्तार-भय के कारण इस दिशा में अत्यधिक अनुसंधान के लिए उनका उल्लेख मात्र कर प्रतियोगिता के संबंध में किए जा रहे विवेचन को यहाँ विराम देते हैं।

अगले लेख में अनुयोगिता की चर्चा का आरंभ करेंगे।

दर्शन विभाग — बलिराम शुक्ल
पुणे विश्वविद्यालय
पुणे-- ४११००७

टिप्पणियाँ

१. प्रतियोग्यवृत्तिश्च धर्मो न प्रतियोगितावच्छेदकः। तत्त्वचिन्तामणि, व्यधिकरणप्रकरणे

२. यदि पुनरनुभवविलोकानां स्वरसवाही घटत्वेन पटो नास्तीत्यादिरनुभवः, तदा तादृशाभावनिवारणं गीर्वाणगुरूणामप्यशक्यमिति मन्तव्यम्। व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभावस्य दीधितौ

३. व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नस्येदभावः प्रामाणिकः तदा तस्यैकस्यैव प्रतियोगिता सर्वैरेव व्यधिकरणधर्मैः सर्वैश्च समानासमानाधिकरणैश्च संबंधैरवच्छिद्यताम्। दीधिति, सामान्याभावप्रकरणे

४. किंच व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभावस्याऽसत्वेऽपि व्यधिकरणसंबंधावच्छिन्नाभावमादायैव केवलान्वयिस्थले लक्षणसमन्वयात् प्रतियोग्यवृत्तिश्चेति मूलस्य इषकत्वानुपपत्तिः। जागदीशी, व्यधिकरणप्रकरणे

५. एवं सति नञ्पदं विना यादृशसमभिव्याहारस्थले यत्र धर्मिणि येन सम्बन्धेन यस्य विशेषणतया भानं तत्र नञ्समभिव्याहारे तत्र धर्मिणि तत्सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक तदभावः प्रतीयते । गदाधर-व्युत्पत्तिवादे

६. अन्यथा भूतलं संयोगेनपटत्वावच्छिन्नं घटवदित्येवं निर्णयसत्वेऽपि भूतले संयोगेन पटत्वेन घटो नास्तीति प्रत्ययापत्तेः । जागदीशी, व्यधिकरण-प्रकरणे

७. धानी द्रव्यत्वादित्यादौ व्यधिकरणसंबंधावच्छिन्न साध्याभावस्यैव तादृशत्वे नातिव्याप्तिप्रसङ्गात् । वहीं

८. (क) तादृशोभयाभावश्च स्वरूपसम्बन्धेन बोध्यः, तेन समवायादिना तदुभयाभावस्य सम्बन्धमात्रे सत्वेऽपि सद्हेतौ नाव्याप्तिः । जागदीशी, सिद्धान्तलक्षणे

(ख) स्वरूपसम्बन्धावच्छिन्न-प्रतियोगिताको बोध्यरित्यर्थः । तदुभयाभावस्य हि व्यधिकरणसंबंधावच्छिन्न प्रतियोगिताकतयेतिशेषः । जागदीशी, सिद्धान्तलक्षणस्य गंगाव्याख्यायाम्

९. वस्तुतो धूमवति वह्नित्वेन घटो नास्तीतिवद् धूमवान् न वह्नित्वेन घटवान् किन्तु घटत्वेनेति प्रतीतिबलाद् व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नावच्छेदकताक प्रतियोगिकान्योन्याभावोऽव्याप्तिः अत एव समवायितया वाच्यवद् भेदो घटादौ पक्षधारमिश्रैः स्वीकृतः । जागदीशी, व्यधिकरण-प्रकरणे

१०. यत्तु अतिरिक्त प्रतियोगिताकाभावत्वं तत् व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभावत्वमिति– जागदीशी, व्यधिकरणप्रकरणस्य गंगाव्याख्यायाम्

११. अतिरिक्तापि प्रतियोगिता स्वाश्रयभेदान्नानैवेति ध्येयम् । जागदीशी, सामान्याभावप्रकरणे

१२. न च संसर्गाभावविशेषोऽत्यन्ताभावः, संसर्गाभावस्य संसर्गारोपजन्यप्रतीतिविषयाभावत्वरूपं जन्यताघटकनियमघटितमिति वाच्यम् । दीधिति, सिद्धान्तलक्षणे

१३. ध्वंसप्रागभावयोरपि उत्तरकालपूर्वकालावेव प्रतियोगितावच्छेदकसंबंधाविति ताभ्यामेव सम्बन्धाभ्याम् प्रतियोग्यारोपः प्रागभावध्वंसयो प्रत्यक्षहेतुरतस्तयोर्नाव्याप्तिरिति प्राचामाशयः । जागदीशी, सिद्धांतलक्षणे

१४. भेदाभिन्नाभावत्वं संसर्गाभाववत्वं सदानत्वविशिष्टं च तदेवात्यन्ताभावत्वम्, भेदत्वं तु संसर्गाविधया तादात्म्यावच्छिन्न प्रतियोगिताकाभावत्वमनुयोगिताविशेषो वेत्याशयः । वहीं

१५. स च क्वचिदभेदः क्वचिच्च तदतिरिक्त एवाधाराधेय प्रतियोग्यनुयोगिविषयविषयिभावादिः । गदाधर– व्युत्पत्तिवादे
१६. नवीनमतेऽनुयोगिनिष्ठधर्मस्यैव सम्बन्धत्वात् । शिवदत्त मिश्र व्युत्पत्तिवाददीपिकायाम्
१७. प्राचीनमते आधारतानिरूपिताधेयत्वादि संसर्गः । तत्रैव
१८. यादृश समभिव्याहारस्थले येन सम्बन्धेन यत्र धर्मिणि येन रूपेण यद्वत्वं नञसत्वे प्रतीयते तादृशस्थले नञा तद्धर्मिणि तादृश सम्बन्धावच्छिन्न तादृशधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिताक तदभावस्य व्युत्पत्तिसिद्धत्वात् । गदाधर, व्युत्पत्तिवादे
१९. मुखं चन्द्रमित्यादौ मुखचन्द्रादीनामिवार्थसादृश्यादिना... । वहीं
२०. प्रकारित्वादौ संबंधत्वाभावात् विशिष्टधीनियामकस्यैव तथात्वादिति ध्येयम् । जागदीशी, सिद्धान्तलक्षणे
२१. सच विषयित्वप्रतियोगित्वाद्यनुपस्थितिदशायां विषयविशिष्टज्ञान-प्रतियोगिविशिष्टाभावादि प्रत्यक्षाद्यनुत्पत्तिरिति । जागदीशी, सिद्धान्त-लक्षणस्य गंगाव्याख्यायाम्
२२. अभावप्रतिबन्धकत्वयोः प्रतियोगिताघटितत्वात् तथाविध व्यवहार-गोचरस्यापि विना प्रतियोगितां निर्वक्तुमशक्यत्वात् च । तत्रैव
२३. कारणीभूताभावप्रतियोगित्वम् । गादाधरी, सामान्य-निरुक्ति प्रकरणे
२४. शुक्ल, बलिराम; अनुमान प्रमाण, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, १९८६
२५. अत्र ध्वंसप्रागभावाधिकरणेऽत्यन्ताभावासत्वे ध्वंसप्रागभावयोरत्यन्ताभावविरोधस्यार्थसिद्धत्वेन एकस्यैवात्यन्ताभावस्य प्रतियोगिध्वंसप्राग-भावत्रितय प्रतियोगिकत्वे लाघवम् । जागदीशी, व्यधिकरण-प्रकरणस्य गंगाव्याख्यायाम्

प्रतिक्रिया

परामर्श (हिंदी) के खण्ड ९, अंक २ में प्रो. राम जी सिंह द्वारा प्रस्तुत निबंध "क्या गांधीवादी, साम्यवादी और धर्मवादी प्रवंचक हैं ?" बहुत ही शिक्षाप्रद है। दर्शन के विद्वानों ने पूर्वपक्ष एवं उत्तरपक्ष के रूप में अपने विचारों को प्रस्तुत कर जन मानस को उद्वेलित किया है। तथापि दोनों पक्षों ने अपने-अपने दृष्टिकोणों से ही समस्या के सम्बध में विचार किया है। संपूर्ण निबंध के अध्ययन के उपरान्त भी पाठक संतोषप्रद उत्तर के बिना ही रह जाता है।

यहाँ पर पूर्वपक्ष एवं उत्तर पक्ष के विचारों पर अलग अलग विश्लेषण की आवश्यकता प्रतीत होती है। सर्व प्रथम पूर्व पक्ष का विचार करना चाहिए। "आज औसत गांधीवादी, साम्यवादी एवं धर्म का गुणगान करनेवाले व्यक्ति सामान्य लोगों की अपेक्षा प्रवंचना-मूलक जीवन व्यतीत करते है। उन्होंने कहा कि इसमें अपवाद हो सकते हैं लेकिन अपवाद तो नियम को सिद्ध ही करते हैं।" इस उद्धरण से स्पष्ट होता है कि (१) सामान्य लोक (भी) प्रवंचना-मूलक जीवन व्यतीत करते हैं। (२) गांधीवादी, साम्यवादी, एवं धर्मवादी अत्यधिक प्रवंचक हैं। (३) अपवाद के तौर पर ही चर्चित तीनों वादी प्रवंचक नहीं हैं।

अब, प्रश्न हो सकता है कि क्या साम्यवादी, गांधीवादी और धर्मवादी सामान्य लोग नहीं है। यदि वे सामान्य नहीं हैं तो निश्चित रूप से वे क्या हैं, कहा नहीं जा सकता। वे असामान्य हो सकते हैं। असाधारण हो सकते हैं। इन श्रेणियों से भी कोइ अलग श्रेणी हो सकती है। पूर्वपक्षी ने इसकी परिभाषा नहीं बतलाई है। जब सामान्य जन जीवन ही प्रवंचना मूलक है तो आम लोगों को प्रवंचना रहित जीवन व्यतीत करने के लिए इस संसार को छोड़ देना पड़ेगा। विद्वान् विचारक कहते हैं कि अपवाद के तौर पर ही साम्यवादी, गांधीवादी और धर्मवादी प्रवंचना से रहित हैं। यह बात सही है और वर्तमान शासन एवं अर्थ-

व्यवस्था में अपवाद के रूप में ही प्रवंचना रहित जीवन व्यतीत करने में सफल हो सकते हैं। कुछ लोग जानबूझकर प्रवंचक हैं और कुछ लोक लाचार होकर प्रवंचक बने रहते हैं, क्योंकि प्रवंचना के प्रपञ्चों को दूर करने की क्षमता उनमें नहीं है। इसे उदाहृत करने के लिए सामान्य जीवन से अनेकों उदाहरण लिए जा सकते हैं। सामान्य निर्वाचन में बहुत से निरीह लोगों को पोलिंग बुथों पर प्रतिनियुक्त कर दिया जाता है। उसमें कुछ लोग चाहते हैं कि प्रतिनिधि का चुनाव निष्पक्ष रूप से हो, सामान्य जनता अपना मत ऐसे व्यक्ति को प्रदान करे जो निष्पक्ष एवं ईमानदार हों, पर क्या ऐसा होता है ?

दूसरा विचार यह हो सकता है कि सच्चे गांधीवादी, साम्यवादी और धर्मवादी कौन हैं ? इसका मापदंड क्या है ? किन-किन लक्षणों की उपस्थिति में हम उन्हें उपर्युक्त संज्ञाओं से अभिहित कर रहे हैं ? अगर गांधी टोपी एवं खद्दरधारी को गांधीवादी कह दिया जाय, गरीबों का पक्ष लेकर जोशीले भाषण देने वाले को साम्यवादी कह दिया जाय और धर्म के सूत्रों का उच्चारण करने वाले कर्मकाण्डियों को धर्मवादी कह दिया जाय तो हम निश्चित रूप से प्रवंचकों को ही गांधीवादी, साम्यवादी और धर्मवादी कह रहे होते हैं। इस प्रकार के लोग गांधीवाद, साम्यवाद एवं धर्मवाद के ओट में अपना उल्लु सीधा करने वाले हैं। मन, वचन एवं कर्म से इस वादों का आचरण करनेवाला व्यक्ति ही सच्चा गांधीवाद, साम्यवाद एवं धर्मवाद का अनुयायी होने का दावा कर सकता है। अतः इनकी संख्या तो कम ही होगी।[1]

अतः स्पष्ट है कि सामान्य जन प्रवंचना-मूलक जीवन व्यतीत कर रहा है क्योंकि परिस्थितियाँ वैसी ही हैं। द्वितीयतः अत्यधिक प्रवंचक लोग दिखावे के लिए गांधीवादी, साम्यवादी एवं धर्मवादी हैं। वे सिंह के खाल में गदहे के समान हैं।

पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत निम्न पंक्तियाँ भी विचार के योग्य हैं। "सर्वोदय-समाज के अन्दर सत्ता-संघर्ष की ओर संकेत करते हुए उन्होंने कहा कि विनोबा जैसे व्यक्ति पं. नेहरू एवं उनकी सरकार की आलोचना तक से मुकरते रहे, सक्रिय विरोध तो दूर रहा। भूदान के दान-पत्र या अन्य समारोहों में सर्वोदय वाले बड़े राजकीय नेताओं को ही आमंत्रित करते रहे, कभी यह नहीं सोचा कि विद्वानों, वैज्ञानिकों एवं दार्शनिकों को भी इसके लिए कष्ट दिया जाय"। इन पंक्तियों पर विचार करते हुए कहा जा सकता है कि यदि आचार्य विनोबा पं. नेहरू एवं उनकी सरकार की आलोचना करते ... उनमें और सामान्य विपक्षी

में कोई अन्तर नहीं रह जाता, क्यों कि वे पक्के गांधीवादी एवं सर्वोदय समाज के प्रवर्तक थे। केवल आलोचना के माध्यम से ही सरकार विरोध नहीं किया जा सकता है। इसके अन्य तरीके भी हो सकते हैं। क्या क्रोध को क्रोध से दूर किया जा सकता है ? यह तरीका संतों का नहीं असंतों का होगा। मैंने ऊपर कहा है कि सच्चे गांधीवादी, साम्यवादी एवं धर्मवादियों की संख्या उंगली पर गिनने लायक ही है और आचार्य विनोबा को उसी श्रेणी में रखा जाना चाहिए। विद्वानों, वैज्ञानिकों एवं दार्शनिकों के स्थान पर भूदान के दान पत्रादि समारोहों में राजकीय नेताओं का आमंत्रण ही हमारी दृष्टि से सही है, क्योंकि स्वामित्व के हस्तांतरण में इन नेताओं के रहने से गड़बड़ी की संभावना कम रहती है क्योंकि उनका संबंध सीधे सरकार से रहता है। इसके अतिरिक्त विद्वानों, वैचारिकों एवं दार्शनिकों का कार्य-क्षेत्र भिन्न है। यदि उन्हें इस प्रकार के सामाजिक-राजनैतिक कार्यों में लगाया जाय तो उनके विद्या-अर्जन, वैज्ञानिक प्रयोग एवं दार्शनिक चिंतन में निश्चित रूप से बाधा उत्पन्न होगी। विद्वान्, दार्शनिक एवं वैज्ञानिक अपने क्षेत्र से ही समाज को अधिक लाभ पहुँचा सकते हैं।

साम्यवादियों की आलोचना करते हुए पूर्वपक्षी विद्वान् ने कहा "विवाह शादी में दहेज नहीं लेने की पार्टी की बन्दिश केवल दिखाने की है।" इसके सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि दहेज एक सामाजिक समस्या है। इसके लिए संपूर्ण समाज दोषी है। अगर किसी बेटे का बाप दहेज न भी लेना चाहे तो क्या वह ऐसा कर सकता है ? क्योंकि, इस क्षेत्र में विवाहित होने वाला लड़का, उसकी माँ, बहनें, भाई एवं परिवार के अन्य सदस्य एवं कभी-कभी कन्यादान करने वाले पिता भी शामिल होते हैं। अब समस्या उत्पन्न होती है कि किन्हें खुश रखा जाय और किन्हें नाराज किया जाय ? शादी-विवाह में इन सबों का सहयोग आवश्यक है। सहयोग के अभाव में शादी विवाह होना संभव नहीं है। एक बात हो सकती है: 'कोर्ट मैरेज'। पर प्रश्न है कि क्या इस प्रकार की विवाह पद्धति हमारे समाज को स्वीकार्य है ? इस प्रकार के कुछ विवाहों के परिणामों को देखने से यह निष्कर्ष निकलता है कि इन शादियों के द्वारा प्रणय सूत्र में आबद्ध लोगों को अनेक प्रकार की सामाजिक यातनाओं का शिकार होना पड़ता है। दहेज रहित शादी-विवाह की संभावना तभी हो सकती है जब संपूर्ण समाज की मानसिकता में परिवर्तन हो। इसके बिना दहेज की सुरसा दिना दुना रात चौगुना अपना बदन तो बढ़ाती रही है और आगे भी बढ़ाती ही रहेगा। यह समस्या आज की ही नहीं; यह परंपरा प्राचीन काल से ही चली आ रही है। कन्या का पिता होना कष्टकारक माना गया है।[२]

पूर्वपक्षी विद्वान् के निष्कर्षात्मक परिच्छेद में कहा गया है 'अच्छा आदमी होने के लिए गांधीवादी, साम्यवादी या धर्मवादी होने की जरूरत नहीं"। इस पर विचार करने से पता चलता है कि विद्वान् विचारक के अनुसार अच्छे आदमी होने के कुछ लक्षण हैं। सबसे पहले "अच्छा" क्या है ? अगर सामान्य रूप स अच्छा आदमी स्वीकार किया जाय तो प्रसंगानुकूल उसकी परिभाषा बदलती रहेगी। इसमें दो मत नहीं हो सकते। गांधी, बर्टेण्ड रसेल, सार्त्र, शेखोरोव आदि सभी संसार के मनीषियों ने जो कुछ भी किया है, वे माननीय हैं। उनके जीवन से हमें सीख मिलती है। गांधीवाद, साम्यवाद एवं धर्मवाद विशिष्ट जीवन पद्धतियाँ हैं। यदि उन्हें बिना ढोंग के साथ अपनाया जाय तो उससे समाज का हित ही होगा। ये वाद तो दोष रहित ही हैं; परंतु ढोंगी लोगों ने इन्हें दूषित कर दिया है।

उत्तर-पक्षीय विद्वान् चितक ने प्रवंचना के कारणों की चर्चा करते हुए इसकी परिभाषा प्रस्तुत की है। यह परिभाषा मुझे संकीर्ण प्रतीत होती है। लेकिन कभी-कभी यह कहना बहुत मुश्किल हो जाता है कि अन्दर का क्या है और बाहर का क्या है। कभी-कभी जानबुझकर प्रवंचना करनी पड़ती है जो समाज के लिए आवश्यक है। कभी-कमी नग्न सत्य का पता लगाने के लिए घूसखोरी, गुंडागर्दी एव बेईमानी की सहायता लेने की भी आवश्यकता पड़ती है। जिन लोगों ने 'कौन कितने पानी में' शीर्षकवाला फिलम देखा है उन्हें यह निष्कर्ष निकालते देर नहीं लगेगी कि दूसरे एस. पी. का आन्तरिक हृदय वास्तव में निष्कलुष था, परंतु उन्हें तस्करी का पर्दाफाश करने के लिए स्वयं अनेक प्रकार के अमानवीय कार्यों को भी करना पड़ा।

उत्तर पक्षी दार्शनिक के द्वारा उनके उत्तर के द्वितीय परिच्छेद में अभिव्यक्त विचार से मैं पूर्णतः सहमति प्रकट करता हूँ। 'गांधीवादी, साम्यवादी-धर्मवादी के आदर्श औसत से कुछ इतने ऊंचे होते हैं... सामान्य स्थिति में उनपर आरूढ रहना आसान भी नहीं होता है"। "फिर मानवीय दुर्बलताएं होती हैं और व्यक्ति विरले ही गांधी का तरह होता है... जो सार्वजनिक रूप में स्वीकार करने की हिम्मत करता हो। फिर तो प्रवंचना आ ही जाती है।" इसके अनन्तर विद्वान् चिंतक ने गांधीवादी, साम्यवादी एव धर्मवादीयों के आदर्श और आचरण के भेद के कारण का सम्यक् विवेचन प्रस्तुत किया है।

उत्तर-पक्षी चिंतक के तीसरे परिच्छेद में अभिव्यक्त विचार सत्यानुकूल हैं। यहाँ आपत्ति की गुंजाइश नहीं दिखलाई पड़ती।

"गांधी न तो गुरू–निष्ठ, या न ग्रंथ–निष्ठ था; वह तो केवल सत्यनिष्ट था।" प्रस्तुत पंक्ति आपत्ति के योग्य है। गांधी जी गुरूनिष्ठ थे। इस सम्बन्ध में उनकी आत्मकथा (सत्य के प्रयोग) की कुछ पक्तियों को उद्धृत किया जा सकता है। इन पंक्तियों में वे अपने हाई स्कूल के संस्कृत शिक्षक के बारे में बतलाते हुए कहते हैं " मैं शर्माया। शिक्षक के प्रेम की अवहेलना न कर सका। आज मेरी आत्मा कृष्णशंकर मास्टर की कृतज्ञ है; क्योंकि जितनी संस्कृत उस समय मैंने पढ़ी यदि उतनी भी न पढ़ी होती तो आज मैं संस्कृत शास्त्रों में जो रस ले सकता हूँ वह न ले पाता।" [3] प्रश्न है, क्या गुरू के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करना गुरुनिष्ठ होना नहीं है? इस संबंध में दूसरा उद्धरण भी प्रस्तुत किया जा सकता है। इस उद्धरण मे राष्ट्रपिता ने एक ही वर्ष में दो दर्जे पास करने की घटना का उल्लेख किया है। "पर इसमें मेरी लाज जाने के साथ ही जिस शिक्षक ने मेरी श्रमशीलता पर विश्वास करके दर्जा चढ़ाने की सिफारिश की थी, उसकी भी लाज जाती। इस डर से नीचे उतरने का विचार त्याग दिया।" [4] प्रश्न है, किसी शिक्षक की लाज रखना क्या गुरुनिष्ठ होना नहीं है? इसके अतिरिक्त वे मां के प्रति भी निष्ठावान् थे। विलायत जाने के पूर्व मां के सामने उन्होंने जो प्रतिज्ञा की थी उसका निर्वाह किया। "मां भी गुरु होती है क्योंकि नागरिकता के प्रथम पाठ माता पिता से ही सीखे जाते हैं।" सारगर्भित है। गांधी ग्रंथ–निष्ठ भी थे। उन्होंने गीता के विचारों से प्रभावित होकर The Message of the Gita नामक एक संक्षिप्त पुस्तिका की रचना की है। उन्होंने आत्मकथा के लेखन में यत्र तत्र गीता के श्लोकों को उद्धृत भी किया है।

गीता के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है– "गीता अमूल्य ग्रथ है। . . . आज मैं तत्त्वज्ञान के लिए उसे सर्वोत्तम ग्रंथ मानता हूँ। निराशा के समयों में उस ग्रंथ ने मेरी अमूल्य सहायता की है।" वे आगे बुद्ध चरित का भी उल्लेख करते हैं जिसे उन्होंने चाव के साथ पढ़ा। क्या इन प्रमाणों के आधार पर भी गांधी का ग्रथ–निष्ठ नहीं कहा जा सकता है?

मेरे विचार से गांधी सत्यनिष्ठ के साथ ही गुरु एवं ग्रथनिष्ठ भी थे। उन्होंने सद्ग्रथों एवं सद्गुरुओं की प्रशंसा ही की है।

उत्तरपक्षीय चिंतक की अंतिम पंक्ति निश्चयतः सत्य प्रतीत होती है, क्योंकि सामान्य जन और गांधीवादी, साम्यवादी एव धर्मवादियों के लिए एक प्रकार के मापदण्ड से न्याय नहीं किया जा सकता।

प्रस्तुत निबन्ध में, मुझे ऐसा प्रतीत होता है, नागार्जुनीय शैली का ग्रहण किया गया है पर नागार्जुन की संपूर्ण शैली का इसमें समावेश नहीं हो पाया है।

प्रभाकर मिश्र
दर्शन विभाग
नव नालन्दा महाविहार
नालन्दा– ८०३१११
(बिहार)

टिप्पणियाँ

१. सिंहन के नहीं लेहडे, हंसन की नहीं पात ।
लालों की नहीं बोरियाँ, साधु न चलै जमात ।

–कबीर

२. पुत्रीति जाता महतीह चिन्ता
कस्मै प्रदेयेति महान् वितर्कः ।
दत्ता सुखं प्राप्स्यति वा न वेति
कन्यापितृत्वं खलु नाम कष्टम् ॥
विष्णुशर्मा; पञ्चतन्त्रम्, मित्रभेदे, २०५

३. सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा, मोहनदास करमचन्द गान्धी, अनुवादक : महावीर प्रसाद पोद्दार, पृ. २८.

४. वही, पृ. २७

ग्रंथ-समीक्षाएँ

— १ —

दास, (डॉ.) रामप्रकाश; मीमांसा प्रमेय; सुकृति प्रकाशन (मर्यादित), नई दिल्ली, १९८८, पृ. ३१६; मूल्य : रु. १३५ (अजिल्द), रु. १५० (सजिल्द),

प्रस्तुत ग्रन्थ दिल्ली विश्वविद्यालय के द्वारा पीएच्. डी. उपाधि हेतु स्वीकृत *A Comparative Study of Prameyas According to Kumarila Bhatta and Prabhakara Mishra* नामक शोध-प्रबन्ध का परिष्कृत रूप है। यह स्पष्ट रूप से नहीं बताया गया है कि शोध-प्रबन्ध मूलतः हिन्दी में प्रस्तुत किया था कि अगरेजी में, और अगर वह मूलतः हिन्दी में ही प्रस्तुत किया गया हो तो उसका अंगरेज़ी शीर्षक क्यों बताया गया है। इस गौण बिन्दु को छोड़ देते हुए इतना तो स्वीकार करना पड़ेगा कि अपने देश के कई विश्वविद्यालयों में आज-कल जिस प्रकार के और जिस स्तर के शोध-प्रबन्ध स्वीकृत किये जाते हैं और कालांतर में प्रकाशित किये जाते हैं उनकी तुलना में प्रस्तुत शोध-प्रबंध बड़े परिश्रम के साथ प्रस्तुत किया हुआ प्रतीत होता है। इस ग्रन्थ का अन्य एक दृष्टि से भी महत्त्व है और वह यह कि पूर्व-मीमांसा के द्वारा स्वीकृत विविध प्रमेयों के यथार्थ रूप की तथा उनके बारे में उसके दो प्रमुख प्रस्थानों के पक्षधरों में कौनसे मतभेद के बिन्दु थे इसकी हृदयंगम चर्चा किसी एक ग्रन्थ में दुर्भाग्य-वशात् उपलब्ध नहीं होती, और इस प्रकार की चर्चा विस्तृत रूप से काफी सावधानी के साथ तथा अपसिद्धान्त का उद्भव न होने देते हुए प्रस्तुत ग्रन्थ ने सम्भवतः प्रथमतः हिन्दी में प्रस्तुत की है। सम्भवतः संस्कृत में भी इस प्रकार का कोई ग्रन्थ नहीं है। इस प्रकार की स्थिति के कारण जिज्ञासु विद्यार्थियों, पाठकों तथा अनुसन्धानकर्ताओं को जिस तरह की कठिनाइयों का सामना अब तक करना पड़ता था उनकी ओर से प्रस्तुत होने वाला वैचारिक अवरोध इस ग्रन्थ के अध्ययन से काफी परिमाण में कम

होगा और उक्त प्रकार के जिज्ञासुओं का अध्ययन का रास्ता सुकर बनेगा। इस बात को ध्यान में लेते हुए यह स्वीकार करना पड़ेगा कि डॉ. दास का प्रस्तुत प्रयास साधुवाद के पात्र है। इस ग्रन्थ का इस प्रकार का महत्त्व उसे अध्येताओं तथा ग्रन्थालयों के द्वारा उपादेय बनाता है।

तथापि यह स्वीकार करते हुए भी दीन-तीन बिन्दुओं की ओर विनम्रता से लेखक महोदय का तथा सुविद्य पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं। प्रथमतः आरम्भ से अन्त तक सारे ग्रन्थ का स्वरूप परिचायक रहा है और मीमांसा के द्वारा स्वीकृत अन्यान्य प्रमेयों के शास्त्रीय समीक्षात्मक अध्ययन की ओर प्रकर्षतः कहीं भी मुख्य रूप से ध्यान नहीं दिया गया है। इस स्थिति को ध्यान में लेते हुए दो प्रश्न प्रस्तुत होते हैं : एक, यह ग्रन्थ अगर पीएच. डी. उपाधि के हेतु स्वीकृत शोध-प्रबंध का परिष्कृत रूप है तो परिष्कार का संस्कार मीमांसा के द्वारा स्वीकृत प्रमेयों के परिचयात्मक पक्ष तक ही क्यों सीमित रखा गया और उसे समीक्षात्मक पक्ष तक क्यों नहीं विकसित किया गया ? ग्रन्थकर्ता प्रस्तुत ग्रन्थ में नूतनत्व का दावा नहीं करते। परन्तु उनके परिश्रम संकलनात्मक तथा परिचायक पक्ष तक ही सीमित न रहे होते तो ग्रन्थ का महत्त्व वृद्धिगत होता। दूसरे, प्रमेय-विचार को प्रमाण विचार से निःशेषतः स्वतन्त्र रूप से प्रस्तुत करना अनुसन्धानकर्ता की सुविधा के लिये भले ही स्वीकार किया गया हो, परंतु अगर मीमांसक 'मानाधीना मेयसिद्धिः' इस दृष्टि के पक्षधर हैं (जैसा कि विद्वान् लेखक महोदय ने स्वीकार किया है— देखिये पृ. ख — पुरावाक्) तो मीमांसकों के द्वारा स्वीकृत अन्यान्य प्रमेयों की चर्चा उनके प्रमाण-विचार को सर्वथा छोड़ कर प्रस्तुत करना पद्धति-शास्त्रीय दृष्टि से ठीक नहीं लगता। प्रस्तुत ग्रन्थ में मीमांसा के प्रमेय-विचार और प्रमाण-विचार में स्वीकृत इतना अलगाव अजीब सा लगता है।

द्वितीयतः, ग्रन्थ-कर्ता का उद्दिष्ट है मीमांसा के द्वारा स्वीकृत प्रमेय-विचार को मीमांसा के मूल ग्रन्थों को आधार बना कर प्रस्तुत करने का। तथापि अन्यान्य प्रमेयों के अन्यान्य पहलुओं को प्रस्तुत करने के उपरान्त पादटिप्पणियों में जो संदर्भ दिये हैं वे कई बार न्याय, या वैशेषिक या वेदान्त ग्रन्थों के हैं, मीमांसा के ग्रन्थों के नहीं। मीमांसा के पक्षधरों के द्वारा तत्-तत् प्रमेय के तत्-तत् पहलुओं को शायद उसी प्रकार स्वीकार किया गया हो जिस प्रकार उन्हें न्याय, वैशेषिक या वेदान्त दर्शन में स्वीकार किया गया है। परंतु इस साम्य के आधार पर मीमांसकों के द्वारा स्वीकृत

प्रमेयों का समर्थन न्याय, वैशेषिक या वेदान्त ग्रन्थ के आधार पर करना ठीक नहीं लगता।

तृतीयतः, ग्रन्थ-कर्ता ने अपने प्राक्कथन में यह दावा किया है कि "प्रस्तुत शोध-क्रम में . . . मूल ग्रन्थों को आधार बना कर प्रमेय-सम्मत पूर्व और उत्तर-पक्षों की प्रस्थानद्वय की दृष्टि से तुलनात्मक स्थापना दी गयी है" (प्राक्कथन-पृ. ग.) लेकिन तुलनात्मक स्थापना का मतलब मत-मतान्तरों की आसत्ति या आनुपूर्वी मात्र नहीं हो सकता। इस प्रकार की उनकी आसत्ति या आनुपूर्वी उनकी अपनी-अपनी स्थापनाओं के आकलन की सामग्री हो सकती है, लेकिन स्वयं तुलनात्मक स्थापना भी नहीं और तुलनात्मक आकलन भी नहीं। इस संदर्भ में उक्त मतान्तरों की उनके दार्शनिक पक्षों के आधार पर तुलना की होती तो तुलनात्मक स्थापना का आनुसन्धानिक महत्त्व बढ़ता। तुलनात्मक स्थापना प्रस्तुत करने का उद्देश ठीक है, लेकिन उसे हासिल करने का तरीका पद्धतिशास्त्र की दृष्टि से त्रुटिपूर्ण है।

कहीं-कहीं मुद्रण की अशुद्धियाँ है : जैसे, विद्यार्णव (विद्यारण्य, पृ. ७), Absojote (Absolute, पृ ५७), परिणाम (परिमाण, पृ. ३८) आदि। वैसे ही कहीं कहीं पादटिप्पणियों में दिये हुए सन्दर्भ सावधानी के साथ दिये हुए प्रतीत नहीं होते— उदाहरणार्थ, पृष्ठ २५, टिप्पणी क्र. २। कुछ स्थानों पर पादटिप्पणियाँ उलटे अनुक्रम से दी हुई हैं, जैसे पृ. ३५, ७०, २०३ आदि। कतिपय स्थानों पर इस प्रकार की वाक्य-रचना या वाक्यांश आये हुए हैं जिनका एक तो अर्थ स्पष्ट नहीं हैं या तो उनमें विसंगति है— जैसे, पृ. १३ (परिच्छेद ४), पृ. ३१ (परिच्छेद १/५), पृ. ३२ (परिच्छेद ५), पृ. ३७ (परि. २) आदि। पूरे ग्रन्थ में इस प्रकार के दोष अत्यंत अल्प मात्रा में हैं और इसलिये उन्हें शुद्धिपत्र के व्दारा हटाया जा सकता था। ग्रन्थ को नाम-सूचि तथा विषय-सूचि से अलंकृत किया होता तो उसका आनुसन्धानिक महत्त्व बढ़ता।

इस प्रकार की कुछ त्रुटियों के बावजूद प्रस्तुत ग्रन्थ का अध्ययन तथा अनुसन्धान की दृष्टि से महत्त्व है और इसलिये वह विद्यार्थियों, अध्यापकों तथा अनुसन्धानकर्ताओं के व्दारा उपादेय भी है।

दर्शन विभाग
पुणे विश्वविद्यालय
पुणे- ४११००७

मो. प्र. मराठे

— २ —

आचार्य, (डॉ.) नन्दकिशोर; संस्कृति का व्याकरण, वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर (राजस्थान), १९८८; पृ. १३१; मूल्य : ५० रुपये (सजिल्द)

हिंदी में विचार–प्रवर्तक, चिन्तनशील और किसी विषय का गंभीर अध्ययन एक पैनी, सजग तथा विवेकशील दृष्टि से प्रस्तुत करने वाले ग्रन्थों की आज-कल इतनी कमी है कि इस प्रकार का ग्रंथ देखने–पढ़ने को मिलना बड़े सौभाग्य की बात बनी है। ऐसी स्थिति में डॉ. नंदकिशोर आचार्य के द्वारा लिखी प्रस्तुत पुस्तक इसकी आश्वासक है कि इस प्रकार की अपेक्षा फलद्रूप होना सर्वथा असंभव नहीं है, यद्यपि इस प्रकार के उदाहरणों की प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। इसलिए डॉ नन्द-किशोर जी साधुवाद के पात्र हैं और भविष्य में उनसे इस प्रकार की चिन्तनशील पुस्तकों की अपेक्षा करना निरर्थक नहीं होगा ऐसा हमें विश्वास हैं। यह पुस्तक मात्र पाठकों के द्वारा अध्ययन किए जाने के लिए महत्त्वपूर्ण नहीं है, अपितु अध्ये-ताओं, अध्यापकों तथा अनुसंधानकर्ताओं द्वारा उसका अभ्यास, (पौनःपुन्यं अभ्यास) मनन और चिंतन के लिए अध्येष्य विषय की ऐसी सामग्री एवं उसके अध्ययन की ऐसी सजग दिशा प्रस्तुत करती है जिसे नज़रअंदाज करना एक बौद्धिक अधःपतन होगा। इसलिए इसका अध्ययन हम सारे सुधी पाठकों के लिए सानंद संस्तुत करते हैं।

प्रस्तुत पुस्तक में कुल तीस बिंदुओं की संक्षिप्त लेकिन बड़ी महत्त्वपूर्ण चर्चा है जो हमारे सामने मानवी जीवन-विषयक विचार के अन्यान्य पहलु इस प्रकार प्रस्तुत करती है कि मानवी संस्कृति का कोई गरिमामय और प्रतिष्ठित पक्ष हमारे विचार से छूट न जाए। उसमें मानवत्व, संस्कृति, स्वतंत्रता, अहिंसा, इतिहास की प्रक्रिया, लोकतंत्र, सत्ता का विकेन्द्रीकरण, आर्थिक प्रक्रिया के मानवीय आधार, प्रौद्योगिकी, धर्म तथा धार्मिकता, वैवाहिक तथा विवाहेतर संबंध, शिक्षा का प्रयो-जन एवं उसकी सार्थकता, सांस्कृतिक केंद्रीकरण की आवश्यकता, भारतीय सांस्कृ-तिक संदर्भ में उद्‌भूत होने वाले कुछ प्रश्न आदि बातों की चर्चा इस प्रकार प्रस्तुत की है कि मानवी संस्कृति के परिधि में मानवी जीवन से संबंधित अन्यान्य पहलुओं की सार्थक व्याख्या हो पाए। डॉ. नंदकिशोर जी ने इन बातों की ओर सांस्कृतिक दृष्टि से देखने का ऐसा परिवर्तनवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है जो उनकी गति-मय सांस्कृतिक नवजागरण विषयक गंभीर समझदारी का परिचायक है! उनके द्वारा प्रस्तुत व्याकरण प्राधान्यतः संस्कृति का न हो कर संस्कृति विषयक हमारी सार्थक समझदारी का है।

इस प्रकार के ग्रंथों के बारे में यह आवश्यक नहीं कि उसमें प्रस्तुत हर बात पर पाठक लेखक से निःसन्दिग्धतया सहमत हो। किसी भी वैचारिक दृष्टिकोण की श्रेष्ठता तथा स्वीकार्हता उसके बारे में होने वाली सार्वजनीन सहमति पर निर्भर नहीं हुआ करती। उसका महत्त्व उसने अध्येय विषय के कौनसे अविसंवादि तथा अनधिगत बिंदु उद्घाटित किए और उनकी सहायता से उक्त विषय की हमारी धारणा में किस प्रकार का मौलिक परिवर्तन लाया जाने की संभावना उसमें निहित है इस पर तय किया जाना चाहिए। दार्शनिक दृष्टि से अत्यधिक महत्त्व उपस्थित किए गए नए महत्त्वपूर्ण सवालों का होता है, न पहले से ही प्रस्तुत सवालों के पूर्वाग्रह-दुष्ट उत्तरों का भी, और न ही इस प्रकार के उत्तरों के समर्थनों का भी।

ग्रंथ में यत्र-तत्र ऐसे कुछ बिंदु आए हैं जिनके समर्थन के लिए वास्तविक आधार नहीं है, जैसे, "शंकराचार्य जैसे प्रकाण्ड बौद्धिक व्यक्तित्व ने भी श्रुति को ही अन्तिम प्रमाण की प्रतिष्ठा दी" (पृ. ११२)। यहाँ ध्यानतव्य है कि शंकराचार्य के द्वारा लिखित भाष्यों में इसके लिए कोई आधार नहीं है, भले ही शांकर-दर्शन पर लिखित ग्रंथों में इस मत का समर्थन किया गया हो। तथापि इस प्रकार के स्थल नगण्य होने से या उन्हें छोड़ देने के बावजूद मुख्य चर्चासूत्र को बाधा या क्षति न पहुँचने से उनकी उपेक्षा करना ही ठीक होगा।

ग्रंथ की भाषा सरल तथा परिमार्जित है। इन सारे बिंदुओं की चर्चा अलग-अलग समय पर की हुई थी या इसी ग्रंथ के लिए की हुई है इसका भी पता नहीं चलता, क्यों कि ग्रंथकर्ता की ओर से इसका कोई स्पष्टीकरण नहीं उपलब्ध किया गया है। ऐसी बातों के बावजूद ग्रंथ अभ्यसनीय है और इसलिए ग्रंथकर्ता अभिनंदन के पात्र हैं।

— मो. प्र. मराठे

— ३ —

राय, एम्. एन्.; इस्लाम की ऐतिहासिक भूमिका : अनुवाद : चन्द्रोदय दीक्षित; वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर (राजस्थान), पृ. ७९; मूल्य : २५ रुपये (सजिल्द)

प्रस्तुत पुस्तक श्री. मानवेन्द्रनाथ राय द्वारा लिखित तथा १९३९ में अंग्रेजी में प्रकाशित पुस्तक का हिंदी में अनुवाद है। इसमें इस्लाम का लक्ष्य, इस्लाम की सामाजिक और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, इस्लाम की विजय के कारण, मुहम्मद औ

उनकी शिक्षाएं, इस्लाम का दार्शनिक पक्ष तथा इस्लाम का भारत पर हुआ परिणाम इन बातों की एच्. ए. एल्. फिशर, गिबन, जे. डब्ल्यू ड्रॉपर, एफ्. ए. लांगे, हॉवेल आदि जाने-माने इतिहासकारों के ग्रंथों के आधार पर ऐसी चर्चा प्रस्तुत की है कि उसकी सहायता से इस्लाम के इतिहास एवं उसकी वस्तुगत समझदारी के संबंध में कई लोगों के मन में होने वाली गलतफहमियों का यथासंभव निराकरण हो सके। आज-कल अपने देश में दुर्भाग्यवशात् पनपने वाले सांप्रदायिक तनाव तथा रूढिवादिता के समर्थन के वातावरण में अध्येष्य विषय का वास्तविक स्वरूप प्रस्तुत करने वाले इस प्रकार के ग्रन्थों का अपना महत्त्व है और इस दृष्टि से अनुवादक तथा प्रकाशक का इस प्रकार का सक्रिय सहयोग श्लाघ्य है।

अनुवाद या भाषान्तर करते समय कई बार आज-कल इस बात के बारे में कई लोगों की पर्याप्त सतर्कता नहीं दिखाई देती कि ग्रीक तथा लैटिन से उद्भूत युरोपीय भाषाएं और संस्कृत से उद्भूत भारतीय भाषाओं के वाक्य-रचना के ढांचे में कुछ मौलिक भेद हैं और उन्हें नजरअंदाज कर किसी युरोपीय भाषा में प्रस्तुत वाक्य को वाक्य-रचना के अनुरूप अगर भारतीय भाषा में अनुवादित वाक्य की भी वाक्य-रचना रखी तो स्पष्ट अर्थनिष्पत्ति के बजाय अर्थहानि होने की ही संभावना अधिकतर है। आज-कल लिखित या मौखिक रूप से प्रयुक्त भारतीय भाषाओं पर विदेशी भाषाओं की वाक्य-रचना का इतना अतिक्रमण और आक्रमण हो रहा है, और उसे जिस प्रकार और जिस हद तक बर्दाश्त किया जा रहा है उसे देख कर मन व्यथित होता है और संस्कृत से उद्भूत भारतीय भाषाओं की वाक्य-रचना का ढाँचा शुद्ध रूप में जीवित रहेगा या नहीं इसके बारे में गंभीर आशंका दिखाई देती है। यद्यपि आम तौर पर प्रस्तुत पुस्तक में अनुवाद सुवाच्य तथा अस्खलित रहा है तथापि उसमें कुछ ऐसे भी स्थल हैं जिन्हें देख कर हमने ऊपर जिस बिंदु की ओर पाठकों का ध्यान विनम्रता से आकृष्ट करना चाहा है उसकी पुष्टि होती है। उदाहरणार्थ, "उसने खलीफा उमर को अपनी रिपोर्ट भेजी, उसमें एक स्थल पर कहा गया है, 'इस देश के पशुपालकों की, जो जमीन की सतह को काला किए हुए हैं, तुलना मेहनती चींटियों के समूह से की जा सकती है और उन लोगों के अलस को उनके मालिकों के कोड़ों से दूर किया जाता है। लेकिन वे लोग, जो संपत्ति अथवा धन उत्पन्न करते हैं, उसका बँटवारा मजदूरों और मालिकों के बीच समान रूप से नहीं किया जाता है।" (पृ. २२) आज-कल इस प्रकार के उदाहरण पुस्तकों, ग्रंन्थों, शोध-प्रबंधों, उत्तर-पत्रिकाओं आदि में इतने परिमाण में देखने को मिलते हैं कि उन्हें देख कर ऐसा लगता है

कि विदेशी भाषाओं की वाक्य-रचना क ढांचे का हमारी भाषाओं की वाक्य-रचना के ढांचे पर होने वाले अतिक्रमण का संस्कार मानों हमने स्वाभाविक रूप में ग्रहण किया हो। उदाहरणार्थ, हम इस बात को शायद ठीक तरह से समझ ही नहीं पाए हैं कि संस्कृत से उद्भूत भारतीय भाषाओं की वाक्य-रचना के ढांचे में नाम या संज्ञा को विशेषित करने वाला विशेषणात्मक खंड-वाक्य (adjectival clause qualifying the noun) नाम की कोई चीज ही नहीं है। वस्तुत: भारतीय भाषाओं में एक तो सरल वाक्य होगा या तो यौगिक, लेकिन खंड-वाक्य नहीं। संस्कृतोद्भव भाषाओं की वाक्य-रचना की इस प्रकार की विशेषताओं की उपेक्षा कर किया हुआ अनुवाद अध्येष्य विषय के महत्त्व के बावजूद लाभप्रद नहीं होगा। आशा है भविष्य में अनुवादकर्ता इस प्रकार के बिंदुओं की ओर पर्याप्त और उचित मात्रा में ध्यान देंगे।

दर्शन विभाग
पुणे विश्वविद्यालय
पुणे- ४११००७

मो. प्र. मराठे

आजीवन सदस्य (व्यक्ति)

१६७. डॉ. वसिष्ठ नारायण सिन्हा
दर्शन विभाग
काशी विद्यापीठ
वाराणसी– २२१००२
(उ. प्र.)

१६८ डॉ. मिथिलेश पाण्डेय
प्राचार्य,
श्री रामकृष्ण महाविद्यालय
पेड्डापल्ली– ५०५१७२
(आं. प्र.)

१६९. श्री. राजकुमार छाबड़ा
दर्शन विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय
जयपुर– ३०२००४
(राजस्थान)

क्या ईश्वरकृष्ण निरीश्वरवादी थे ?

कम से कम सांख्यकारिका में कहीं ऐसा संकेत नहीं है कि ईश्वरकृष्ण निरीश्वरवादी थे। इसके विपरीत परमात्मा के सत्ता की स्वीकृति तथा महत्त्व का उल्लेख अवश्य है। ईश्वरकृष्ण स्पष्ट रूप से स्वयं को उस प्राचीन सांख्य परम्परा से जोड़ते हैं जिसके बारे में निर्विवादतः यह कहा जा सकता है कि वह असंदिग्धतः वेदोक्त त्रैतवाद को (अनादि तत्त्वों के त्रैत) स्वीकार करती है। यह भी भारतीय इतिहास की प्राचीन परम्परा है कि सांख्य संस्थापक महर्षि कपिल हैं। वार्षगण्य और उनके दो एक अनुयाई अवश्य निरीश्वर वादी कहे जा सकते हैं लेकिन इन्हें सांख्य के प्रतिनिधि के रूप में पारम्परिक महत्ता प्राप्त नहीं हुई। किन कारणों से कारिकाओं में भाष्यकारों को परमात्मा के 'दर्शन' नहीं हुए यह ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक शोध का विषय है। लेकिन एक तथ्य बिलकुल सुनिश्चित है कि ईश्वरकृष्ण कपिल–सांख्य की परम्परा में ही स्वयं को रखते थे। ऐसे में हमें यह अधिकार प्राप्त नहीं है कि हम उन्हें प्राचीन सांख्य परम्परा से पृथक् रखें।

सांख्यकारिका के भाष्यों और विवेचनाओं में भ्रान्त मत इतने अधिक और इतने प्रचलित हैं कि अब उनके विपरीत कुछ समझना एक जटिल कार्य हो गया है। अतः हम यह मान लेते हैं कि कारिकाओं के दर्शन के बारे में हम (लेखक) ही भ्रम में हैं और भ्रम–निवृत्ति हेतु विद्वानों के समक्ष कुछ बिन्दु प्रस्तुत हैं। पहले हम उन कारणों का उल्लेख करना चाहेंगे जिन्हें हमारे भ्रम को उत्पन्न करने वाले कहा जा सकता है।

१. प्राचीन भारतीय दर्शन के सम्मानित सम्प्रदाय वेदों से स्वयं को संबंधित मानते हैं।

२. प्राचीन भारतीय समाज में, विद्वत्वर्ग में ईश्वर को न मानना, सम्मान जनक नहीं रहा है और सांख्य अत्यन्त सम्मानित दर्शन रहा है (अपवाद हो सकते हैं)।

परामर्श (हिन्दी), वर्ष ९, अंक ४, सितम्बर, १९८८

३. सांख्य की सभी परम्पराएँ कपिल को अपना संस्थापक गुरु स्वीकार करती हैं।

४. ईश्वरकृष्ण स्वयं को कपिल परम्परा में ही रखते हैं।

५. सांख्यकारिका कपिल दर्शन का ही संक्षिप्त रूप है।

६. माठरवृत्ति सांख्य कारिका की उपलब्ध टीकाओं में प्राचीनतम मानी जाती है। सत्रहवीं कारिका की वृत्ति में उन्होंने स्पष्टतः अधिष्ठातृत्व "परमात्मा" का ही स्वीकार किया है। बाद के भाष्यकारों ने इसका क्यों अनुकरण नहीं किया– यह कहना तो कठिन है, लेकिन एक बात स्पष्ट है कि माठर के समय सांख्य दर्शन परमात्मवादी अवश्य रहा होगा। अन्यथा निरीश्वरवादी दर्शन की रचना पर वृत्ति में परमात्मा की स्वीकृति की असंगतता को माठर भी ध्यान में अवश्य रखते।

उपर्युक्त मान्यताओं के प्रकाश में कोई कारण नहीं दिखता कि हम ईश्वर-कृष्ण को निरीश्वर वादी मानें।

सांख्यकारिका का दर्शन जैसा हमने समझा है, उसे हम इस प्रकार रखते हैं– तीन तत्त्व जानने योग्य हैं– व्यक्त, अव्यक्त और ज्ञ– जिन्हें जानकर समुचित तत्त्वाभ्यास द्वारा दुःखों से अप्रभावित हुआ जा सकता है। उक्त तीन तत्त्वों का उल्लेख प्रतिज्ञा रूप में कारिका– २ में किया गया है। बिना किसी विशेषण या उपसर्ग के "ज्ञ" पद का उपयोग "सर्वज्ञत्व" के अर्थ में ही हो सकता है। वह परमात्मा ही है। व्यक्त और अव्यक्त जड़ प्रकृति मात्र नहीं है, जैसा कि स्वीकार किया जाता है। व्यक्त–अव्यक्त सापेक्ष पद हैं जिन्हें अचेतन प्रकृति और चेतन जीवात्मा के इन दो अवस्थाओं के लिए रखे जा सकते हैं। चूंकि परमात्मा स्वयं व्यक्त नहीं होता अतः उसे अव्यक्त कहने की भी आवश्यकता नहीं है। फलतः उसके लिए "ज्ञ"= सर्ववित् सर्वज्ञ के अर्थ में प्रयुक्त है। व्यक्त के अंतर्गत न केवल अचेतन पदार्थ है अपितु प्रकृति में व्यक्त चैतन्य– 'जीवात्मा' भी है; इसी तरह अव्यक्त भी समझा जाना चाहिए। प्राचीन परम्परा से प्राप्त सांख्य मत में "व्यक्त" का लक्षण महाभारत में इस प्रकार दिया गया है —

प्रोक्तं तद् व्यक्तमित्येव जायते वर्धते च यत्।
जीर्यते म्रियते चैव चतुर्भिर्लक्षणैर्युतम्।। शां. प. २३६/३०

प्रस्तुत चार लक्षण चेतन व्यक्त (जीव जन्तुओं) पर भी उसी तरह घटित होते हैं, जिस प्रकार अचेतन व्यक्त पदार्थों पर। इसके विपरीत जिसमें जन्म

वृद्धि, जीर्णत्व और मृत्यु नहीं है वह अव्यक्त है । जीवात्मा, परमात्मा और प्रकृति तीनों ही अव्यक्त हैं ।

अतः हमारा अनुरोध है कि कारिकाओं में जब तक स्पष्टतः जड़, अचेतन ही अभिप्रेत न हो तब तक कार्य और कारण अथवा व्यक्त, अव्यक्त के व्युत्पत्त्यर्थ को ही ग्रहण करना चाहिए ।

अब हम उन पाँच कारिकाओं की व्याख्या प्रस्तुत करेंगे जिनमें हमें परमात्मा के दर्शन हुए । प्रतिज्ञा (कारिका– २) में कहे गए तीन तत्त्वों का स्पष्ट निर्वचन दसवीं और ग्यारहवीं कारिका में किया गया है ।

व्यक्त– कारणयुक्त, अनित्य, अव्यापि, सक्रिय, अनेक, आश्रित, कारणानुमापक, अवयवयुक्त और परतंत्र है । अव्यक्त व्यक्त के विपरीत है । त्रिगुणत्व, अविवेकित्व विषयत्व, सामान्यत्व, अचेतनत्व और प्रसवधर्मिता, व्यक्त और प्रधान में समान लक्षण हैं । पुरुष व्यक्त के समान भी है और विपरीत भी ।

भाष्यकारों ने व्यक्त और अव्यक्त शब्दों को जड़ प्रकृति के ही अर्थ में ग्रहण किया है; अव्यक्त को प्रकृति का पर्यायवाची ही बना दिया गया ।

प्रस्तुत कारिकाओं को ध्यान से देखने पर एक बात जो प्रथम दृष्टया स्पष्ट होती है, वह है ग्यारहवीं कारिका में " प्रधान " शब्द का उपयोग । " प्रधान " की जगह " अव्यक्त " शब्द रख देने पर भी कुल मात्राओं की संख्या अपरिवर्तित रहती और छन्द-भंग नहीं होता । और यदि " अव्यक्त " से प्रकृति का ही अभिप्राय था तो उसका उपयोग ही उचित था क्योंकि दसवीं कारिका में व्यक्त-अव्यक्त वैधर्म्य बताकर ग्यारहवीं " कारिका " में व्यक्ताव्यक्त साधर्म्य निरूपण हो जाता और शंका की अथवा अन्यथा व्याख्या की गुंजाइश भी नहीं रह जाती । लेकिन " प्रधान " शब्द के उपयोग से कारिकाकार ने अव्यक्त और प्रधान में स्पष्ट भेद दर्शाना चाहा है । दसवीं कारिका में अव्यक्त का प्राप्त लक्षण प्रकृति पर जितना सार्थक है उतना ही परमात्मा पर भी है । नपुंसक लिंगी शब्द " अव्यक्तम् " के प्रयोग से अभिव्यंजित अर्थ का कारण छिपा हुआ, अप्रकट होना चाहिए ।

विवेच्य कारिकाओं के परम्परागत भाष्य गलत हैं– ऐसा कह पाने की क्षमता मुझमें नहीं है । अतः सम्प्रति यही कहूँगा कि एक अन्य विकल्प ही मैं प्रस्तुत करना चाहता हूँ ।

(१) हेतुमत्— कारणयुक्त जगत् कारण युक्त है यानि कार्य है। हेतु दो प्रकार के हो सकते हैं, उपादान और निमित्त। समस्त जड़ व्यक्त के लिए प्रधान उपादान कारण है। जीवात्मा के व्यक्त होने में यही प्रधान निमित्त कारण कहा जा सकता है। प्रधान के नाना रूपों में नर्तन की वजह से जीवात्मा संसार में खींचा जाता है।

(२) अनित्य— सत्कार्यवाद में अनित्य का अर्थ तिरोभाव के अर्थ में ही हो सकता है। इसका सीधा अर्थ यह लिया जा सकता है कि जो सदा एक सा न रहे एक अवस्था में न रहे वह अनित्य है। व्यक्त जड़ जगत् तो सदा परिवर्तन-शीलता दीखता ही है। जीवात्मा भी जन्म, मृत्यु आदि ग्रहण करता हुआ अपनी अवस्था बदलता रहता है।

(३) अव्यापि— जो व्यापक न हो या जो एकदेशीय हो। जड़ वस्तुएं सर्व-व्यापक नहीं होती उसी तरह जीवात्मा भी सर्वव्यापक नहीं होता। जिस तरह कोई जड़ पदार्थ एक ही समय में एक से अधिक स्थानों पर नहीं रहता उसी तरह जीवात्मा भी अव्यापि है, सीमित है।

(४) सक्रिय :— बुद्धि, अहंकार, इंद्रिय जीवात्मा को निरंतर लुभाते और अपने पाश में बांधते और मुक्त करते हैं। यह जड़ सक्रियता है। जीवात्मा अल्प-ज्ञता भोक्तृभाववश एक शरीर से दूसरे शरीर में संसरण करता है। यह चेतन सक्रियता है।

(५) अनेक :— जीवात्मा की अनेकता तो सांख्याभिमत के रूप में विख्यात है ही। प्रत्येक जीवात्मा के लिए त्रिगुण परस्पर क्रिया द्वारा अनेक शरीरों का निर्माण करते हैं, नानाविध भौतिक पदार्थ हैं— ये सब व्यक्त जड़ की अनेकता दर्शाते हैं।

(६) आश्रित :— कार्य हमेशा अपने कारण पर आश्रित रहता है। व्यक्त जड़ तो कार्य है ही जो प्रधानाश्रित है। जीवात्मा भी अपनी अभिव्यक्ति के लिए प्रकृति और परमात्मा पर आश्रित है। परमात्मा की "प्रेरणा" के बिना प्रकृति में गुण विक्षोभ नहीं होता और गुण विक्षोभ के बिना जीवात्मा भोग प्राप्त नहीं करता। जन्म, मृत्यु, बन्ध, मोक्ष - सभी प्रकृत्याश्रित हैं।

(७) लिंग :— कारणानुमापक जो अपने कारण का अनुमान करावे। समस्त भौतिक पदार्थ, बुद्धि आदि जड़ कारणभूत अव्यक्त प्रधान की सत्ता के अनुमान में चिह्न, लिंग बनते हैं। "लिंग" शब्द का अर्थ "लीन होने वाला" (माठर,

गौड़पाद) मानें तब भी व्यक्त जड़ त्रिगुणात्मक प्रधान में लीन हो जाने वाला होने से लिंग कहा जा सकता है।

समस्या तो तब आती है, जब हम चेतन की ओर ध्यान देते हैं। अव्यक्त जड़ का अनुमान तो प्रत्यक्षतः उपलब्ध जड़ या अचेतन के आधार पर किया जा सकता है। लेकिन जीवात्मा का अनुमान किस आधार पर होगा? यदि चेतन क्रियाएँ ही न होतीं तो क्या स्थूल पदार्थ, व्यक्त जड़ तत्त्व किसी चेतन के अनुमान में आधार बन सकते हैं? जीवात्मा की भोगार्थ क्रियाएं ही उसे यह बोध कराती हैं कि वह जड़ पदार्थों का भोक्ता होने से स्वयं जड़ नहीं अन्य कुछ है; उसे ही हम "चेतन" शब्द से व्यक्त करते हैं। अतः जड़ तत्त्वों में जीवात्मा की क्रियाशील अवस्था है– जो उसकी व्यक्त अवस्था है (सर्गकाल में) जड़ से भिन्न व पृथक् चेतन सत्ता का आनुमापक है। "लीन होने वाला"– इस अर्थ को भी जीवात्मा पर घटित किया जा सकता है। बुद्ध्यादि से संयुक्त होने से पूर्व जीवात्मा तो था कहीं। प्रलय काल में भी वह कहीं तो रहता ही है। अतः जीवात्मा भी पूर्व रूप में लीन होने वाला कहा जा सकता है। हम चाहें तो जीवात्मा को परमात्मा में लीन होने वाला कह सकते हैं लेकिन यह विषय विचार व शब्दों का क्षेत्र नहीं है, इसीलिए आप्त ही प्रमाण माना जाना चाहिए।

(८) व्यक्त जड़ की सावयवता तो स्पष्ट है। जीवात्मा के अवयव हैं भोक्तृत्व, अल्पज्ञत्व, सीमितता, आदि।

(९) परतंत्र :– व्यक्त जड़ तो अव्यक्त प्रधान के अधीन है। और जीवात्मा के सारे कार्य प्रकृतितंत्र में ही हैं। और इस तंत्र से वह मुक्त भी नहीं हो सकता। बार बार उसे जन्म लेना पड़ेगा ही। हां, प्रलयकाल में उसकी भोग प्रक्रिया में ठहराव अवश्य आ सकता है। मुक्त होने का अर्थ केवल दुःख से मुक्त होना है। स्वरूपतः भोक्ता होने से भोग-विमुक्त जीवात्मा अकल्पनीय है। फिर स्वरूपतः अल्पज्ञ होने से उसे बार–बार बन्ध मोक्ष की अवस्थाओं को प्राप्त होना ही है।

उपर्युक्त नौ लक्षणोंके विपरीत लक्षण हैं अव्यक्त (प्रकृति और चेतन) के। अव्यक्त के कोई कारण नहीं, वह नित्य है, व्यापक है, निष्क्रिय है, एक है स्वाश्रित है, किसी के अनुमान मे लिंग नहीं है। न वह अन्य किसी में लीन होते हैं; वे निरवयव और स्वतंत्र हैं।

दसवीं कारिका में कार्य और कारण रूप में समस्त प्रमा का वर्गीकरण किया गया है। यह सांख्यस्वीकृत प्रत्यक्ष से "अनुमान" है। व्यक्त प्रत्यक्ष का विषय है, जिसके आधार पर अव्यक्त अनुमेय है।

अब, प्रमा का एक अन्य तरीके से वर्गीकरण कर, उसके व्यक्ताव्यक्त स्वरूप साधर्म्य वैधर्म्य की चर्चा की गई है।

तदनुसार अव्यक्त जड़--प्रधान- का व्यक्त से साधर्म्य है। इस कारिका (११ वीं) में चूंकि स्पष्टत: अचेतन शब्द का प्रयोग हुआ है, अतः "व्यक्त" को एक वर्ग जड़--के ही अर्थ में ग्रहण करना चाहिए। त्रिगुणत्व, अविवेकित्व, विषयत्व, सामान्यत्व, प्रसवधर्मिता, अचेतनता इस प्रकार का षड्विध साधर्म्य है व्यक्ताव्यक्त जड़ वर्ग में। इस प्रकार व्यक्त जड़ में ९ (दसवीं कारिकानुसार) + ६ (ग्यारहवीं कारिकानुसार) लक्षण हैं। इसके बाद कहा गया है: "तद् विपरीत: तथा च पुमान"। विवेच्य कारिकाओं में ये पद कुंजीपद हैं और इनकी व्याख्या में परम्परागत भाष्यों में मतभेद है।

सांख्यकारिका के तत्त्वकौमुदीकार के अनुसार अहेतुमत् अनित्यत्वादि में पुरुष का प्रधान से साधर्म्य है, इसी प्रकार अनेकत्व में व्यक्त से साधर्म्य है। फिर यद्यपि अहेतुमत् आदि में साधर्म्य है तथापि प्रधान से त्रिगुणत्वादि में वैधर्म्य है।[1]

यहां विचारणीय यह है कि प्रधान और व्यक्त दोनों से साधर्म्य की बात कहां से आई। और फिर व्यक्त से साधर्म्य में केवल एक ही लक्षण से समानता है, वह भी अनेकत्व से यह संकेत कारिका में कहां है? किस आधार पर भाष्यकार ने व्यक्त के नौ धर्मों में से अनेकत्व को पुरुष में स्वीकार किया? पुरुष का अर्थ मात्र "जीवात्मा" माने बिना यह संभव न था। अन्यथा सीधे व्यक्त से विपरीत मान लेने पर जीवात्मा अनेक न रहकर "एक" रह जाता। और इसे पूर्वाग्रह रूप में प्राप्त सांख्यदर्शन में स्वीकार नहीं किया जा सकता।

तत्त्वप्रभा के रचयिता डॉ. रमाशंकर त्रिपाठी ने अनेकत्व के अतिरिक्त सक्रियत्व को भी व्यक्त से पुरुष के साधर्म्य में स्वीकार किया।[2] यहां भी उन्होंने संतोषप्रद कारण बिना बताए व्यक्त के दो धर्म पुरुष में आरोपित कर दिए।

आचार्य गौड़पाद ने "तथा च पुमानप्येकम्" कहकर पुरुष को एक स्वीकार किया; लेकिन इसकी व्याख्या नहीं की। लेकिन इससे इतना तो स्पष्ट है कि पुरुष साधर्म्य और वैधर्म्य के लिए उन्होंने 'व्यक्त' के नवविधनिरूपण को ही आधार बनाया। आचार्य माठर ने भी पुरुष को 'एक' स्वीकार किया। इस प्रसंग में डॉ. आद्याप्रसाद मिश्र की टिप्पणी विचारणीय है– "या तो माठर तथा गौड़पाद ने गलती की है या फिर जैसा विल्सन ने कहा है, वह एकत्व इस अर्थ में समझा जाता है कि प्रत्येक पुरुष अपने अनेक जन्मों में अनेक शरीर धारण करता

हुआ भी पुरुष एक ही रहता है"।[३] लेकिन इन दो विकल्पों की स्वीकृति की उन्होंने युक्ति नहीं दी।[४]

उपर्युक्त भाष्यकारों या व्याख्याकारों द्वारा "अर्थ ग्रहण" सही है या गलत है–यह हम नहीं कहना चाहते। हम केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि कारिकाओं की व्याख्या या भाष्य कारिकार्थ को स्पष्ट करने वाला ही होना चाहिए। पहली कारिका से ग्यारहवीं कारिका तक कारिकाकार ने यह संकेत भी नहीं दिया कि पुरुष का अर्थ सिर्फ जीवात्मा है, तब वैसा मानकर व्याख्या करना उचित नहीं है। अब, जब तक पाठक के मन में यह पूर्वमान्यता न हो कि सांख्य में पुरुष का अर्थ जीवात्मा ही है, सांख्य निरीश्वरवादी है तब तक इस तरह क्लिष्ट कल्पना द्वारा अर्थ ग्रहण नहीं हो सकता। जी हाँ, साधर्म्य वैधर्म्य के लिए धर्म चयन अनिश्चित और मनमाना ही प्रतीत होता है। ईश्वरकृष्ण का उद्देश्य था कापिल सांख्य को संक्षिप्त में छन्दोबद्ध करना। किसी भी बात को संक्षेप में कहने के लिए "स्पष्ट कथन" आवश्यक है अन्यथा वांछित अर्थ प्रकट नहीं होगा। क्या हम यह मानें लें कि ईश्वरकृष्ण "संक्षिप्त" विधान से अपरिचित थे? मन नहीं मानता। फिर बिना स्पष्ट संकेत किए उन्होंने कारिका क्यों रच डाली? या तो हम यह मानें कि भाष्यकार कारिकार्थ निरूपण करने में सफल नहीं हुए या फिर कारिकाओं को अस्पष्ट मान लें।

हम समझते हैं कि कारिकाओं का दोष नहीं है। कारिकाएँ स्पष्ट हैं। यदि हम सांख्य की प्राचीन परम्परा को ध्यान में रखें और युक्ति-संगत क्रम से शब्दों को समझने का प्रयास करें तो खींच–तान की आवश्यकता नहीं रहेगी। दोनों विवेच्य कारिकाओं को देखने से एक बात स्पष्टतः दिखाई पड़ती है, वह है "व्यक्त" को निरूपण का आधार बनाना। सांख्य के मान्य प्रमाण हैं: प्रत्यक्ष अनुमान और शब्द (आप्त ऋषियों के वचन और चार वेद)। प्रत्यक्ष व्यक्त का ही हो सकता है। अतः व्यक्त को आधार बनाना उचित था। दसवीं कारिका में "व्यक्त" के लक्षण बताकर "अव्यक्त" को उसके विपरीत कहा गया। ग्यारहवीं कारिका में भी त्रिगुणत्वादि "व्यक्त" के लक्षणों के रूप में प्रस्तुत कर "तथा प्रधानम्" कहकर प्रधान का "व्यक्त" से साधर्म्य बताया गया। तब "तद्विपरीतः" में "तद्" को भी "व्यक्त" सूचक ही क्यों न माना जाय? प्राचीन भारतीय आस्तिक दर्शनों में वेदवाणी में, बौद्धिक वर्ग में अथवा जन-सामान्य में–हर किसी के सामने जड़–चेतन–भेद इतना स्पष्ट और प्रचलित रहा है कि ईश्वर कृष्ण ने यह कल्पना ही नहीं की होगी कि पुरुष का "अचेतन" प्रधान से भी वैधर्म्य निरूपित करना होगा।

अतः साधर्म्य अथवा वैधर्म्य–किसी के भी लिए प्रधान पुरुष (चैतन्य) के लिए तुलनीय ही नहीं है। अतः साधर्म्य वैधर्म्य के लिए युक्ति-संगत आधार "व्यक्त" (कारिका–१०) को ही बनाया जाना उचित है। तब "तद्विपरीत-स्तथा च पुमान्" की व्याख्या होगी पुरुष (चेतना) व्यक्त (कारिका–१०) के विपरीत और समान भी है। अर्थात्, चेतनतत्त्व हेतुमत्, अनित्य...आदि युक्त भी है (जीवात्मा) और अहेतुमत्, नित्य......एक......स्वतंत्र आदि भी है। एक अन्य महत्त्वपूर्ण संकेत भी ध्यान में रखना होगा। विवेच्य कारिकाओं में पुरुष को हेतुमत्......अहेतुमत्...... अनित्य / नित्य.....अनेक–एक कहा गया है। एक ही साथ, किसी सत्ता का ऐसा निरूपण निरपेक्ष भावेन नहीं किया जा सकता। यहाँ "तद्विपरीतस्तथा च पुमान्" निःशर्त कथन है। तब यही मानना होगा कि कारिकाकार दो प्रकार के चेतन तत्त्वों का उल्लेख कर रहा है। अब यह सहज ही समझा जा सकता है कि वे दो प्रकार के चेतनतत्त्व हैं, जीवात्मा (व्यक्त) और परमात्मा (अव्यक्त)। विवेच्य कारिकाओं का उद्देश्य–प्रतिज्ञा में कहे गए तीन तत्त्वों का उल्लेख–सीमित था। इनकी विस्तृत चर्चा आगे की कारिकाओं में की गई है। दोनों कारिकाओं का सार हम इस प्रकार रख सकते हैं।

कारिका १० और ११ का सार इस प्रकार रखा जा सकता है–

१. व्यक्त से नवविध साधर्म्यतः निरूपित पुरुष (चेतना) जीवात्मा है।

२. व्यक्त से वैधर्म्यतः निरूपित चेतना–परमात्मा है।

३. व्यक्त से नवविध वैधर्म्यतः निरूपित अचेतन तत्त्व–प्रधान है।

४. व्यक्त जड़ और प्रधान में षड्विध साधर्म्य है।

एक समस्या यहाँ उठाई जा सकती है– व्यक्त यदि जड़ और जीवात्म-बोधक है तो उनकी अव्यक्त अवस्था भी होनी चाहिए। ऊपर जो व्याख्या हमने प्रस्तुत की है उसमें जीवात्मा के अव्यक्त अवस्था में लक्षणों का उल्लेख नहीं है। अब या तो यह मानें (अ, अव्यक्त (कारिका– १०) से वैधर्म्यतः निरूपित चेतना के लक्षण जीवात्मा व परमात्मा दोनों पर घटित किए जाएँ। तब अव्यक्तावस्था में जीवात्मा को एक मानना होगा जो सांख्य-सम्मत नहीं होगा। या (ब) जीवात्मा के व्यक्ताव्यक्त अवस्थाओं में लक्षण भेद नहीं है। कारिका– १८ इस दूसरी बात की ही पुष्टि करती है। अतः विवेच्य कारिकाओं में इसका पृथक् उल्लेख अनावश्यक समझा गया।

अब उन कारिकाओं की ओर ध्यान दें जिनमें पुरुष की विस्तृत चर्चा है। वे कारिकाएँ हैं सत्रहवीं, अठारहवीं और उन्नीसवीं। इन तीनों ही कारिकाओं में प्रयुक्त पुरुष पद को जीवात्म बोधक मानने की परम्परा चल पड़ी है। फलस्वरूप ये कारिकाएँ कुछ विसंगत सी प्रतीत होती हैं। उन्नीसवीं कारिका में बताए गए धर्म यदि जीवात्मा के हैं तो अठारहवीं कारिका उस पर चरितार्थ नहीं होगी। साक्षी, अकर्ता, दृष्ट व केवल जीवात्मा जन्ममृत्यु में कैसे फंसा ? उत्तर होगा अज्ञान के कारण। लेकिन प्रश्न अपनी जगह पूर्ववत् रहता है। अज्ञान कहाँ से आया ? सांख्य तो सत्कार्यवादी है। जो स्वरूपतः मुक्त है वह बन्धन में पड़ ही नहीं सकता। यदि जीवात्मा पुरुष को अल्पज्ञ मानें तो वह साक्षी, द्रष्टा, केवल, अकर्ता आदि नहीं हो सकता।

अतः यदि हम पुरुष का अर्थ "जीवात्मा" के ही अर्थ में लें तो विवेच्य कारिकाओं को अस्पष्ट या विसंगत मानना होगा या फिर इन तीन कारिकाओं के बीच एक कारिका को लुप्त मान लेना होगा। हमारा विचार है कि न तो कारिकाएँ विसंगत है न कोई कारिका लुप्त है। विसंगति पुरुष को मात्र जीवात्मा मानने में है। वास्तव में पुरुष शब्द चेतना के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। प्रसंगानुसार जीव चैतन्य अथवा परमात्म चैतन्य के अर्थ में ग्रहण करना चाहिए। सत्रहवीं कारिका में कहा है।

संघातपरार्थत्वात् त्रिगुणादि विपर्ययादधिष्ठानवत्।
पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च ।।

अर्थात् समस्त जड़ समुदाय पर प्रयोजन होने से, उस पर का त्रिगुणादि से विपरीत होने से, जड़ को अधिष्ठान अपेक्षित होने से, भोग्य के भोक्ता की अपेक्षा होने से, जीव मात्र में कैवल्यार्थ प्रवृत्ति होने से पुरुष-चेतना का अस्तित्व सिद्ध होता है।

छन्द रचना में कारिकाकार की प्रतिभा का एक उदाहरण है यह कारिका। इस कारिका में न केवल प्रत्यक्षाधृत अनुमान से चेतन सत्ता की स्थापना हुई है अपितु उक्त चेतन सत्ता के अचेतन से संबंधों की व्याख्या भी कर दी गई है।

संघात-त्रिगुण सम्मिलित-जड़ है, अचेतन है। सृष्टि में यह प्रत्यक्षतः देखा जाता है कि विभिन्न वस्तुओं का संघात उन वस्तुओं के प्रयोजन से नहीं होता बल्कि कोई अन्य जो स्वयं जड़ मात्र न होकर- उसका नियंत्रक, व्यवस्थापक, भोक्ता होता है। अतः यह अनुमान किया जाता है कि सत्त्वादि तीन गुणों का

मिश्रण गुणों के उद्देश्य के लिए नहीं हो सकता। उन्हें किसी अन्य की अपेक्षा है जिसके प्रयोजन के लिए गुण सम्मिलन होता है। जिसके प्रयोजन के लिए सृष्टि होती है वह निश्चय ही चेतन सत्ता होगी। वह चेतन सत्ता दो प्रकार की है: परमात्मा और जीवात्मा।[५] अव्यक्त प्रकृति में गुण विक्षोभ जीवात्मा का उद्देश्य या प्रयोजन नहीं हो सकता; क्योंकि वह सीमित, अल्पज्ञ है। हाँ, सृष्टि में अचेतन वस्तुओं से उसका प्रयोजन अवश्य सिद्ध होता है। अतः "पर" जीवात्मा भी है, परमात्मा भी। सत्वादि गुणों के संघात परमात्मा के प्रयोजनार्थ और भौतिक पदार्थ रूपी संघात जीवात्मा के लिए। समस्त संघात अचेतन है, त्रिगुणात्मक है जोकि "पर" के लिए हो तो यह "पर" त्रिगुणात्मकता से विपरीत होगा ही। परमात्मा और जीवात्मा दोनों ही निर्गुण (सत्वादि गुण रहित) हैं।

प्रकृति का, सृष्टि का अधिष्ठाता, संचालक अपेक्षित है और वह अचेतन नहीं चेतन ही हो सकता है। जीव, शरीर का अधिष्ठाता है—यह तो प्रत्यक्षतः अनुभव सिद्ध है। लेकिन क्या प्रकृति का अधिष्ठान जीवात्मा हो सकता है? यदि हो सकता है तो न दुःख होता, न बन्ध-मोक्ष होता। प्रकृति जब तक अव्यक्त है, सत्वादि गुण-सन्तुलन है तब तक तो अल्पज्ञ जीवात्मा प्रकृति पाश में फंस भी नहीं सकता क्यों कि "पाश' तो व्यक्त रूप है। अतः प्रकृति का अधिष्ठान तो परमात्मा ही है। यहाँ कारिकाकार का भी यही अभिप्राय है। इसी लिए जीवात्मा को भोक्ता, जन्म, मृत्यु में लिप्त तो माना गया है परंतु अधिष्ठान कहीं नहीं कहा गया।[६] हमारे विचार से कारिका के प्रथम अंश में बताए गए हेतु चेतन सत्ता के परम - रूप की ओर ही इंगित करते हैं। भाष्यकारों में केवल आचार्य माठर ने ही स्पष्ट रूप से परमात्मा को ही अधिष्ठान माना।

कारिका के शेषांश की प्रचलित व्याख्याओं पर हमें आपत्ति नहीं है। सत्रहवीं कारिका में कारिकाकार ने चेतन सत्ता के अस्तित्व में हेतुओं का उल्लेख किया। चेतन सत्ता चूंकि दो प्रकार की है, भिन्न है इसलिए दोनों के ही अनुमान प्रस्तुत किए गये। अगली कारिका में इनमें से एक - जीवात्मा के बारे में चर्चा है। वहाँ कहा है " कि जन्म, मरण तथा इंद्रियों की व्यवस्था एक साथ प्रवृत्तिक न होने से तथा गुणों के भेद (विषमता), वैविध्य होने के कारण "पुरुष" की सत्ता सिद्ध होती है।

यहाँ पुरुष बहुत्व सिद्धि के लिए अनुमान में प्रत्यक्ष को ही आधार बनाया गया, जो स्पष्टतः जीवात्मा के लिए ही है। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि कारिकाकार जन्म, मृत्यु, भोगादि युक्त संसरणशीलता जीवात्मा के लिए आगंतुक

काल्पनिक या मिथ्या प्रतीयमान मात्र नहीं मानते । इसके साथ ही कारिकाकार ने पुरुष बहुत्व सिद्ध कहकर जीवात्मा के अस्तित्व के लिये उसकी संसरणशीलता और अनेकता प्रस्तुत कर प्रसंग का समापन कर दिया । जीवात्मा के स्वरूप के विषय में कहने का अब कुछ भी नहीं बचा । कथ्य की अपूर्णता का संकेत लेशमात्र में भी इस कारिका में नहीं है । तब आगे वे कहते हैं---

तस्माच्च विपर्यासात्सिद्धं साक्षित्वं अस्य पुरुषस्य ।
कैवल्यं माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च ॥

अर्थात् और उससे विपरीत होने से इस पुरुष का साक्षित्व, कैवल्य, माध्यस्थ्य द्रष्टृत्व और अकर्तृभाव सिद्ध होता है ।

भाष्यकारों ने इसे जीवात्मा के धर्म निरूपणार्थ रचित कारिका ही समझा है । अठारहवीं कारिका के भाष्यान्त में तत्त्वकौमुदीकार कहते हैं, "एवं पुरुषबहुत्वं प्रसाध्य...तस्य धर्मानाह..." । ऐसा मानने पर एक स्पष्ट विसंगति तो यह दीखती है कि इस कारिका में बताए गए धर्म पिछली कारिका में सिद्ध "जीवात्मा" के साथ मेल नहीं खाते । फिर कारिकाओं में कहीं व्यवहार परमार्थ का अद्वैतवाद भी स्वीकार नहीं किया गया । अतः दोनों कारिकाएँ (१८ वीं और १९ वीं) जीवात्मा की दो अवस्थाओं का या स्तर का बोध कराती हैं ऐसा भी माना जा सकता है । उन्नीसवीं कारिका को जीवात्मबोधक मान लेने पर कारिका-रचना या संकलन को अपूर्ण या विसंगत ही मानना होगा । लेकिन कापिल सांख्य को दृष्टिगत रखने पर यह विसंगति दूर हो जाती है । ऐसा प्रतीत होता है कि किन्हीं ऐतिहासिक कारणों से (संभवतः बौद्ध प्रभाव से) कारिकाओं को निरीश्वरवादी मान लिया गया और ऐसी हर संभावना को, जिससे कारिकाएँ परमात्मवादी निरूपित होती हों बलात् अन्यथा व्याख्यायित कर दिया गया । अन्यथा इस (१९ वीं) कारिका को ग्यारहवीं कारिका से जोडने का युक्ति-हीन या क्षीण-युक्ति प्रयास न होता ।[६] उन्नीसवीं कारिका को अठारवीं कारिका से अलग करने के लिए वाचस्पति मिश्र कहते हैं-"विपर्यासादस्मात् इत्युक्ते त्रैगुण्यविपर्ययादित्यन्यतरोक्तं संबंधयेत्, अतस्तन्निरासाय 'तस्मात्' इत्युक्तम् ।" यहाँ पहली बात तो यही विचारणीय है कि भाष्यकार ने यह कल्पना ही किस आधार पर की कि कारिकाकार पिछली कारिका का इस कारिका से होनेवाले संबंध का निरास करना चाहते हैं ? सांख्यकारिका निरीश्वरवादी है ऐसी पूर्व मान्यता की स्वीकृती के बिना यह कल्पना संभव नहीं है । जब तक कोई स्पष्ट निर्देश न हो तब तक उपलब्ध क्रमानुसार ही निरन्तरता बोधक शब्दों का अर्थ ग्रहण करना चाहिए । 'तस्मात्' को पिछली कारिका (१८

वीं) से ही जोड़ा जाना चाहिए। "तस्माच्च" में 'च' पद पुरुष के बहुत्व धर्म के साथ अन्य धर्मों (साक्षित्वादि) को समुच्चय में प्रस्तुत नहीं करता, बल्कि चेतना की सत्ता के लिए अनुमान प्रस्तुत करता है जिसमें अधिष्ठान व भोक्तृभाव आदि लक्षण भी प्रस्तुत किये गये हैं, जो क्रमशः परमात्मा और जीवात्मा पर लागू होते हैं। पर दोनों की अलग-अलग चर्चा की गई। पहले जीवात्मा की, फिर परमात्मा की।

एक बात और विचारणीय है। अठारहवीं कारिका में साध्य "सिद्ध" हो गया। उसी के अन्य धर्मों की चर्चा करते समय पुनः "सिद्ध" कहने की क्या आवश्यकता थी? अन्य धर्मों के समुच्चय के लिए "विपर्यासात्" कहे बिना अन्य किसी शब्द का प्रयोग हो सकता था। लेकिन पहले विपर्यासात् कह कर अर्थ-संदेह को जन्म देकर फिर उसके निरास के लिए तस्मात् का प्रयोग करने की क्या आवश्यकता थी? ईश्वरकृष्ण एक विशाल दर्शन को संक्षेप में प्रस्तुत कर रहे हैं तब अस्पष्टता और संदेह उत्पन्न करने वाली प्रक्रिया क्यों अपनाएंगें? अस्तु, हमारे विचार में उन्नीसवीं कारिका के 'तस्मात्' को ग्यारहवीं कारिका से पूर्वाग्रह के अतिरिक्त अन्य किसी युक्ति से नहीं जोड़ा जा सकता।

वास्तव में इस उन्नीसवीं कारिका का संबंध अठारहवीं कारिका से ही है। जन्म लेना, मरना, अलग-अलग प्रवृत्ति होना आदि के विपरीत धर्म और पुरुष-बहुत्व के विपरीत एकत्व उन्नीसवीं कारिका का विषय है। अर्थात्-जन्म मरण-आदि युक्तियों से सिद्ध पुरुष (चेतना) के विपरीत होने से यह (परमात्मा) साक्षी, द्रष्टा आदि सिद्ध होता है। हमने इस कारिका को इस प्रकार समझा है।

चेतना (का एक प्रकार) संसरणशील है जो जन्मता है, मरता है, प्रवृत्त होता है और संख्या में अनेक है। और परमात्मा इन बातों से विपरीत होने से चेतना (का अन्य प्रकार) साक्षी, केवल, मध्यस्थ, द्रष्टा, अकर्ता सिद्ध होता है। इस प्रकार जन्म मरण आदि के आधार पर जीवात्मा की सिद्धि और इसके विपरीत अज, अमर, प्रवृत्तिरहित, बहुत्व के विपरीत 'एक' परमात्मा की सिद्धि उन्नीसवीं कारिका में है।

इस तरह ये दोनों कारिकाएं "द्वा सुपर्णा..." की स्वीकृति को अभिव्यक्त करती हैं। कारिकाकार के अनुसार जीवात्मा में भोग और कैवल्य की ओर प्रवृत्ति है जबकि परमात्मा साक्षी, द्रष्टा, अकर्ता और केवल है। अब देखें कि ईश्वर कृष्ण के अनुसार परमात्मा के लक्षण क्या हैं। एक बात यहाँ भलीभांति ध्यान में रखनी चाहिए कि सांख्य सम्मत प्रमाणों में एक है "शब्द प्रमाण"।

कारिकाओं में इसका उपयोग कहीं किया गया हो ऐसा 'स्पष्ट' उल्लेख नहीं है। यह महज संयोग नहीं है कि शब्द प्रमाण और परमात्मा दोनों का उल्लेख मात्र है; उपयोग, महत्त्व नहीं बताया गया। वास्तव में इसकी आवश्यकता नहीं थी। सांख्य वेदमतानुसारी है अतः वेदों में परमात्मा विषयक मान्यता से इसकी पूर्ण सहमति है। परमात्मा सर्वव्यापक सत्ता है, जीवात्मा सीमित और अल्पज्ञ है; अतः परमात्मा के विषय में समस्त विचार, शब्द, प्रतीक अधूरे ही होते हैं और अन्ततः आप्त प्रमाण–अपौरुषेय वेद–द्वारा ही जाने जा सकते हैं। उस पर विवाद, युक्ति आदि बिना आप्त आस्था के नहीं किया जा सकता। जीवात्मा अपने शुद्ध रूप में अवस्थित होकर (स्वयं को प्रकृति से तटस्थ कर) परमात्मा के गुणों को अनुभव कर सकता है। जिस तरह ऊर्जा को उसके "प्रभाव" और कार्य द्वारा, जाना और अनुभव किया जाता है उसी तरह सृष्टि के प्रत्येक कण में, घटना में परमात्मा की अनुभूति होती है। लेकिन ज्ञान और अनुभव का यह क्षेत्र पूर्णतः व्यक्तिगत होने से इस पर चर्चा बिना समकक्ष अनुभव के नहीं की जा सकती। और परमात्मा के दर्शन या अनुभव कराना शास्त्र प्रयोजन भी नहीं है। शास्त्र का प्रयोजन तो सृष्टि और स्वयं को समझने में सहायता करना है। शेष तो स्वयमेव होने लगता है। जिन लक्षणों से युक्त परमात्मा की इस कारिका में चर्चा की गई है उन लक्षणों की चर्चा लगभग सभी परमात्मवादी दर्शनों में प्रचलित है (अद्वैत वेदान्त के अतिरिक्त)। प्रकृति अचेतन है अतः बिना किसी चेतन सत्ता की प्रेरणा अथवा नियंत्रण के क्रियाशील नहीं होती। जीवात्मा अल्पशक्तिवाला, अल्पज्ञ और स्वरूपतः भोक्ता होने से प्रकृति का नियंता नहीं हो सकता। अतः वह चेतन तत्त्व परमात्मा ही हो सकता है। चूंकि प्रकृति से परमात्मा अप्रभावित ही रहकर उसे प्रेरणा देता है, साक्षित्व और कैवल्य इसी एकांगी संबंध के लिए प्रयुक्त पद हैं। इन शब्दों से परमात्मा "क्या है"– यह समझ पाना महत्त्वपूर्ण नहीं है बल्कि यह समझना कि परमात्मा प्रकृति का प्रेरक होते हुए भी स्वयं सर्वथा उससे अप्रभावित रहता है; इसके विपरीत जीवात्मा प्रकृति में मुग्ध होता है।

परमात्मा अचेतन प्रकृति को प्रकाशित करता है, प्रेरणा देता है तो उसे अकर्ता क्यों कहा गया होगा ? संभवतः इसलिए कि "कर्ता" कहते ही साध्य उद्देश्य की बात उठती है। परमात्मा में कोई अभाव नहीं है। अतः उसका "कर्ता" होना युक्तिसंगत नहीं है, प्रेरणा देना परमात्मा का स्वरूप है। वह निरन्तर प्रकृति को प्रेरित करता रहता है। इसीलिए अनादि है। इसका अन्त होगा- यह भी अकल्पनीय है, यहां तक कि प्रलय काल में भी।

प्रकृति और जीवात्मा के मध्य संबंध स्थापना प्रकृति के गुणक्षोभ के बाद हो सकता है, चूंकि गुणक्षोभ में निमित्त परमात्मा है, इसीलिए उसे जीवात्मा और प्रकृति के बीच "मध्यस्थ" कहना उचित ही है। जीवात्मा भोग और अपवर्ग दोनों ही अवस्थाओं में स्वयं प्रकृति से सम्बद्ध रहता है; अत: उसे "मध्यस्थ" नहीं कहा जा सकता। चूंकि, कारिकाओं का उद्देश्य "दु:खत्रयाभिघात" है और दु:ख होते हैं जीवात्मा का स्वयं को "कर्ता" समझने के कारण, जब वह सिर्फ भोक्ता है। वस्तुत: प्रकृति स्वभावत: ही भोग्य होने से सुखात्मकता और दु:खात्मकता उसके विकारों में ही निहित है। जीवात्मा के समस्त भोग बुद्धि द्वारा संपन्न कराए जाते हैं, जो स्वयं प्रकृति का परिणाम हैं। अपने स्वरूप को समझकर, प्रकृति को जानकर सृष्टि रहस्य को समझकर, उससे तटस्थ होने का अभ्यास कराने का मार्ग दिखाना ही कारिकाओं का उद्देश्य था। अत: परमात्मा के स्वरूप की विस्तृत चर्चा अपेक्षित नहीं थी। फिर, समूचे दर्शन को ६८ कारिकाओं में प्रस्तुत किया गया जिनमें से कमसे कम तीन (११, १८ और १९) (कुछ सीमा तक कारिका २० भी) परमात्मा का प्रतिपादन करते हैं तो यह अपर्याप्त नहीं है।

निष्कर्षत: हम यह कहना चाहते हैं कि सांख्य कारिका में तीन अनादि तत्त्वों को माना गया है। प्रकृति, परमात्मा व जीवात्मा। इस अर्थ में वह वेदों के समान त्रैतवादी है। जड़–चेतन वर्ग भेद से वह द्वैतवादी कहा जा सकता है। चूंकि सांख्यकारिका भी ईश्वरवादी है, अत: सांख्य दर्शन का सेश्वर निरीश्वर विभाजन उचित नहीं है।

हमारे इस निष्कर्ष से, निष्कर्ष तक पहुँचने की अर्थप्रक्रिया से, बहुत से (संभवत: सभी) विद्वानों को आपत्ति होगी। हमें भी इसमें कुछ खामियां प्रतीत हुई, लेकिन सबकी चर्चा करने के लिए सारी कारिकाओं पर "भाष्य" ही करना होगा। एक लेख में सीमा स्वत: आ जाती है, इसलिए हमने संभावित खामियों की चर्चा नहीं की। लेकिन समस्त सांख्य विशेषज्ञों से विनम्र निवेदन है कि आलोचना और आपत्ति, मार्गदर्शन के रूप में विस्तार से अवश्य दें।

बी. कामेश्वर राव
तुलनात्मक धर्म एवं दर्शन विभाग
रविशंकर विश्वविद्यालय, रायपुर

टिप्पणियाँ

१. सांख्यतत्त्वकौमुदी, ग्यारहवीं कारिका पर वाचस्पति मिश्र
२. सांख्यकारिका पर तत्त्वप्रभा नामक व्याख्या– ग्यारहवीं कारिका पर
३. सांख्यतत्त्वकौमुदीप्रभा, ग्यारहवीं कारिका पर टिप्पणी; संपा. डॉ. आद्याप्रसाद मिश्र, प्रेम प्रकाशन, इलाहाबाद, १९७३.
४. तुलनीय– The interpretation offered by Prof. Wilson and Colebrooke, that Purusha is one in the sense that he remains 'single' or 'individual' throughout his numerous migrations is evidently absurd." Prof. A. K. Mujumdar; *The Samkhya Conception of Personality*, Bharatiya Book Corporation, Delhi, 1981,
५. आचार्य उदयवीर शास्त्री कहते हैं– "सांख्य मतानुसार प्रकृति की प्रेरणा अथवा नियन्त्रण के लिये परमात्मा का अधिष्ठातृत्व स्वीकृत है, जीवात्मा का नहीं। ऐहिक विषयक कार्यों में जीवात्मा का अधिष्ठातृत्व स्वीकार किया जाता है। ." सांख्यसिद्धान्त, विरजानन्द वैदिक संस्थान, गाजियाबाद, १९७१ (द्वितीय संस्करण).
६. द्रष्टव्य– विवेच्य कारिका पर वाचस्पति मिश्र.

प्रत्यभिज्ञादर्शन में जगत्स्रष्टा ईश्वर

दर्शन जिन समस्याओं के समाधान को अपना लक्ष्य मानता है उनमें सृष्टि का मूल कारण, नियमन तथा संहार प्रमुख हैं। अन्य समस्याएँ इन्हीं में अन्तर्भूत हैं। इस त्रयी में भी सृष्टि के प्रादुर्भाव का प्रश्न प्राथमिक है और शेष प्रश्न पर-कालिक। जो दर्शन-संप्रदाय सृजन की समस्या के समाधान के रूप में जिस तत्त्व या सिद्धांत को प्रस्तुत करता है उसके लिए यह स्वाभाविक है कि वह नियमन और प्रलय तथा इनसे संबद्ध अन्य समस्याओं के समाधान के लिए भी उसी सिद्धांत का निर्वाह करे। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक दर्शन-संप्रदाय के सृष्टि-विषयक सिद्धांत का अनुगमन तथा अनुरणन ही उसके समस्त चिन्तन का केन्द्र बिन्दु है।

जगत् का विश्लेषण करके इसके मूलकारण के अस्तित्व और स्वरूप का निर्धारण दर्शन संप्रदायों की सामान्य प्रक्रिया है। कुछ दर्शन इस प्रक्रिया से द्वैत के निष्कर्ष तक पहुँचते हैं तो कुछ अद्वैत के, जिसे दूसरे शब्दों में चेतन-अचेतन का द्वैत और चिन्मात्र रूप अद्वैत कहा जा सकता है। प्रत्यभिज्ञादर्शन[1] के आचार्य इसी प्रक्रिया से चेतन तत्त्व की सत्ता का निष्कर्ष निकालते हैं और उसे ईश्वर या शिव का अभिधान देते हुए अद्वैतवाद की प्रस्थापना करते हैं। यहाँ यह उल्लेख भी आवश्यक है कि ईश्वर जैसे तत्त्व की सर्वप्रथम आवश्यकता सृष्टि के प्रादुर्भाव के प्रसंग में ही है। बिना ईश्वर के यदि सृजन संभव है तो फिर आगे के सोपानों में उसकी वैसी अनिवार्यता नहीं रह जाती। अत: ईश्वरवादी प्रत्यभिज्ञादर्शन में ईश्वर के स्वरूप और उसकी महत्ता पर विचार के लिए सर्वप्रथम सृष्टि के प्रादुर्भाव के प्रसंग में उसकी भूमिका का मूल्यांकन आवश्यक है। शैवाचार्य तो इससे आगे बढ़ते हुए सप्रमाण यह भी सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि न केवल सृष्टि अपितु स्थिति व संहार आदि के लिये भी ईश्वर अपरिहार्य है।

प्रत्यभिज्ञादर्शन में पारमार्थिक तत्त्व शिव अथवा ईश्वर है [१]। यह चिन्मात्र नहीं, चेतन है [३]। चैतन्य इसका अविच्छिन्न स्वभाव है। इसी चैतन्य को संवित्, चिति [४], स्फुरता [५], सार, शक्ति, स्वातंत्र्य [६] अथवा उस ईश्वर का ऐश्वर्य कहा जाता है। वह सत् अथवा अस्ति मात्र नहीं है अपितु उसमें अपने अस्तित्व के प्रकाशन की क्षमता भी विद्यमान है। अतः अस्ति-भाति अथवा प्रकाश-विमर्श [७] ये दो भिन्न-भिन्न तत्त्व न होकर दोनों का नित्य सामरस्य [८] है। पूर्ण सामरस्य और समन्वय का यही सिद्धान्त अद्वयवाद है। यह अद्वय-तत्त्व सृष्टि, स्थिति, संहार, निग्रह और अनुग्रहरूप पांच कृत्यों को निरन्तर करता रहता है। [९]

शक्ति से यहाँ तात्पर्य है पाँच प्रमुख शक्तियाँ- चित्, आनंद, इच्छा, ज्ञान और क्रिया [१०]। स्वातंत्र्य का अर्थ है कि ईश्वर इन शक्तियों के संकोच और विकास में पूर्णतः आत्मनिर्भर है, किसी भी प्रकार से किसी अन्य तत्त्व के अधीन नहीं है। [११] शक्तिमान् और स्वतंत्र ईश्वर इसी ऐश्वर्य की सामर्थ्य से अपने में पूर्वतः विद्यमान जगत् का अपने द्वारा, अपने में ही विस्फार करता है। [१२] अतः जगत् और कुछ नहीं शिव की शक्ति का अथवा शिव का ही विस्फार है। इस लोक का वैविध्य उसके स्वातंत्र्य के विविध आख्यान हैं।

सत्य और चेतन शिव का आभास होने के कारण जगत् भी सत्य और चेतन है। [१३] ईश्वर और जगत् में स्वरूपगत पारमार्थिक भेद नहीं है किन्तु व्यावहारिक स्तर पर भेद है। ईश्वर पूर्णतः स्वतंत्र है जबकि जगत् का स्वातंत्र्य संकुचित है। जगत् अपने प्रादुर्भाव और तिरोभाव के लिए शिव के अधीन है किन्तु शिव किसी भी दृष्टि से जगत् के अधीन नहीं है। यही इस दर्शन का आभासवाद तथा अभेद में भेद और भेद में अभेद दृष्टि का सिद्धान्त है। शिव तथा उससे (स्वेच्छया, स्वात्मभित्ति पर) आभासित जगत् के परस्पर सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिए इस दर्शन के दार्शनिक अग्नि-विस्फुलिंग [१५], जल-वीची [१६], बीजांकुर, [१७] चन्द्र-तत्प्रतिबिंब, [१८] दपर्ण-नगर, स्वप्न, नट, योगी [१९] आदि के उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। जहाँ तक लोक में दिखाई देने वाली चेतन-अचेतन के भेद की समस्या है- उसका समाधान शैवाचार्यों ने बड़ी कुशलता से किया है। तदनुसार चेतन और अचेतन का भेद अवास्तविक है [२०] क्योंकि चेतन के बिना अचेतन की सत्ता ही नहीं हो सकती। [२१] सम्पूर्ण जगत् चेतन ही है किन्तु जिस जागतिक तत्त्व में चैतन्य अधिक जागृत है, अभिव्यक्त है उसे चेतन कह दिया जाता है तथा जिसमें चेतन अत्यन्त अनभिव्यक्त, संकुचित

और पूर्णत: अप्रकाशित है उसे अचेतन कह दिया जाता है। इस मान्यता के अनुसार पशु, पक्षी, मनुष्य आदि अथवा (तथा) उनका आत्म तत्त्व तो चेतन है ही किन्तु अचेतन कहे जाने वाले पाषाण आदि भी चेतन ही हैं। पाषाण आदि में चैतन्य संकुचित है और मनुष्य आदि में उसकी अभिव्यक्ति अपेक्षाकृत अधिक है। स्वरूप के संकोच और विकास का अर्थ वस्तु का स्वरूपगत भेद नहीं है, उसका सर्वथा भिन्न–भिन्न होना नहीं है। अत: चेतन–अचेतन के रूप में विभक्त दिखाई देने वाला जगत् वस्तुत: चेतन है और चेतन शिव से अभिन्न है। इसी विचार–प्रक्रिया से यह सूत्र प्रादुर्भूत हुआ कि जो सत् है वह चेतन है और जो अचेतन है वह असत् है। चेतन में चेतन के रहने और चेतन से चेतन के प्रादुर्भाव से चेतन में क्षोभ अथवा विकार की समस्या नि:शेष हो जाती है।[२२]

जगत्स्रष्टा ईश्वर के अस्तित्व एवं उपर्युक्त स्वरूप के विषय में शैवाचार्यों ने जो केंद्रीय तर्क प्रस्तुत किये हैं वे संक्षेप में इस प्रकार हैं–

१. कार्यरूप जगत् और इसके पदार्थ–विशेष सन्निवेश वाले हैं। कार्य के स्वरूप में इस सन्निवेश के आविर्भाव के लिए अचेतन उपादान और सहकारी कारण उत्तरदायी नहीं हो सकते क्योंकि अचेतन बुद्धिमान नहीं है। अत: कार्य का निमित्तकारण बुद्धिमान् होना आवश्यक है जो अपने कौशल से सन्निवेश विशेष के रूप में कार्य को अभिव्यक्ति दे सके।[२३]

यहाँ बुद्धिमान् को प्रत्येक कार्य का सामान्यत: निमित्त कारण माना गया है केवल घटादि कार्य के अंतर्गत कुंभकार आदि के प्रसंग-विशेष में ही नहीं।[२४] जैसे धूम–अग्नि के सामान्य सम्बन्ध को जानने से खदिरवृक्ष की विशेष अग्नि और विशेष धूम के सम्बन्ध का बोध हो जाता है[२५] उसी प्रकार सामान्य बुद्धिमान् के निमित्त कारण के ज्ञान से संसार के समस्त प्रसंगों में बुद्धिमान् चेतन के, चाहे वह मृत्तिका के प्रसंग में कुंभकार हो या शरीरादि के प्रसंग में ईश्वर हो, सभी निमित्त कारणों का बोध हो जाता है।

२. कार्य की अभिव्यक्ति अथवा उत्पत्ति के लिये तीन कारणों की चर्चा मुख्यत: होती है; उपादान कारण, सहकारीकारण और निमित्तकारण। शैवाचार्यों के मत में प्रथम दो की भूमिका गौण और अन्तिम कारण की भूमिका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। कार्य अचेतन उपादान और सहकारी का अनियत, अव्यवस्थित संग्रह मात्र नहीं है। कार्य का विशेष सन्निवेश निमित्तकारण में कार्य की इच्छा, तदनुकूल उपादान और सहकारी कारणों का चयन और संयोजन तथा कार्य की विशिष्ट अर्थक्रिया का द्योतक है। उपादान एवं सहकारी कारणों का अचेतन होना और निमित्त कारण का चेतन होना सहज ही निमित्तकारण के प्रामुख्य की सिद्धि करता है। सहकारी कारणों की प्रेरणा से उपादान कारण में क्रिया भले ही

उत्पन्न मानी जाए किन्तु अचेतन सहकारी कारणों में भी क्रिया स्वयमेव नहीं हो सकती। इसके लिये चेतन निमित्तकारण मानना आवश्यक है।

यहाँ पवन की प्रेरणा से अग्नि के एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने की क्रिया का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए उक्त मत पर आपत्ति उठाई जा सकती है। किन्तु उत्तर पक्ष का उत्तर यह है कि प्रथमतः तो बिना निमित्तकारण के मात्र सहकारी कारण से उपादान कारण में क्रियोत्पत्ति संभव नहीं है और यदि किसी उदाहरण में ऐसा प्रतीत होता है तो भी वहाँ निमित्तकारण को ही क्रिया का प्रेरक मानना होगा। क्योंकि जगत् या घटादि का निर्माण नियमानुसार एक व्यवस्थित क्रिया है और यह व्यवस्था तथा नियम अचेतन का स्वभाव नहीं हो सकता।[२६]

३. जगत् में वैविध्य दिखाई देता है।[२७] इस वैविध्य का कारण अचेतन उपादान या सहकारी कारण नहीं[२८] हो सकता। बुद्धिमान् निमित्तकारण की यह इच्छा, ज्ञान,[२९] और स्वातंत्र्य है कि वह किस उपादान व सहकारी कारण का कैसे, कितना उपयोग करे, कैसे उनका संयोजन करे और अपनी इच्छा और आवश्यकता के अनुरूप कैसे किस कार्य को अभिव्यक्ति दे।

४. कार्य की इच्छा, ज्ञान व क्रिया का एक ही तत्त्व में सामानाधिकरण्य मानना आवश्यक है, अन्यथा अनेक असंगतियाँ उत्पन्न होंगी।[३०]

जडकारणवाद का खण्डन

सृष्टि के प्रादुर्भाव के प्रसंग में यद्यपि सांख्य पुरुष की आंशिक भूमिका स्वीकार करता है[३१] किन्तु जहाँतक विकृतियों के विश्लेषण से उनके मूल कारण के अनुसंधान का प्रश्न है उसका मुख्य निष्कर्ष अचेतन प्रकृति ही है। प्रकृति ही विकृतियों के रूप में परिणत होती है और अन्त में विकृतियाँ उसी में लीन होती हैं। सत्कार्यवाद का सिद्धांत पुरुष को नहीं, प्रकृति को ही लक्ष्य करके प्रस्तुत किया गया है। इसी प्रकार परमाणुवाद निमित्तकारण के रूप में यद्यपि ईश्वर की चर्चा करता है[३२] किन्तु उसकी भूमिका अत्यंत गौण है तथा जगत् का वास्तविक उपादान कारण व लय स्थान परमाणु ही माने गये हैं। इस प्रकार प्रमाता की दृष्टि से प्रकृति और परमाणु दोनों प्रमेय[३३] और जड़ हैं। अतः शैवाचार्य[३४] इन मतों को जडकारणवाद की श्रेणी में रखकर इनकी आलोचना करते हैं।[३५]

जडकारणवाद के विरुद्ध शैवों के प्रमुख तर्क ये हैं—

१. जड पदार्थ सृष्टि का कारण नहीं हो सकता क्योंकि उसमें किसी भी प्रकार की इच्छा, अपेक्षा, ज्ञान, व क्रिया आदि संभव नहीं हैं।[३६]

२. अचेतन कारण में सर्व प्रथम क्रिया का प्रादुर्भाव क्यों और कैसे हुआ?

३. अचेतन को स्वाभाविक रूप से यदि क्रियाशील माना जाए जैसा कि सांख्य रजोगुण के कारण प्रकृति को सक्रिय मानता है तो फिर किसी भी स्तर पर उसकी क्रिया निरुद्ध नहीं होगी और सृष्टि का विलय सम्भव नहीं होगा। प्रादुर्भाव और विलय दो भिन्न-भिन्न स्वभाव हैं जो अचेतन के नहीं हो सकते क्योंकि अचेतन कूटस्थ होता है।[३७] स्वभाव का वैचित्र्य चेतन का ही वैशिष्ट्य है। बद्ध और मुक्त के लिए एक ही समय से प्रकृति कैसे विकृतियों की उत्पत्ति व निरोध करेगी ? देह में जबतक चेतन है, मुक्त पुरुष के लिए भी विकृतियों की उत्पत्ति माननी पड़ेगी।[३८]

४. लोक में वैचित्र्य का प्रत्यक्ष पदे-पदे होता है। इस वैचित्र्य की सुसंगत व्याख्या जडकारणवाद में नहीं है। जड सदा एक-सी सृष्टि उत्पन्न करे यह तर्करक्षा के लिए मान भी लिया जाए किन्तु एक ही जड में सांसारिक वैचित्र्य को उत्पन्न करने की क्षमता कैसे सम्भव है ? गुण-वैषम्य को यदि वैचित्र्य का कारण माना जाता है तो इस गुणवैषम्य का पुनः क्या कारण है ? परमाणुओं के संयोजन में वैचित्र्य का आधान कौन करता है ? अचेतन उपादान कारण मात्र कार्यों में वैचित्र्य का उत्तरदायी नहीं हो सकता।

५. सृष्टि के प्रादुर्भाव का प्रसंग हो अथवा मृत्तिका में घटनिर्माण का प्रसंग -कार्योत्पत्ति के ये समस्त प्रसंग, प्रयोजन की अपेक्षा रखते हैं। जडकारणवाद में प्रयोजन की सुसंगत व्याख्या नहीं मिलती। अचेतन होने से उसका स्वयं का कोई प्रयोजन नहीं है और न ही उसमें किसी दूसरे के उपकार की कोई आकांक्षा संभव है। "कार्यविशेष से प्रयोजन-विशेष की सिद्धि होगी अतः उस सिद्धि के अनुकूल उपादान व सहकारी कारणों का हानोपादान करूँ" ऐसी इच्छा और बुद्धि अचेतन में सम्भव नहीं है।[३९] पुरुष के लिए प्रकृति विकृतियाँ उत्पन्न करती है[४०] ऐसा मानें तो भी प्रकृति में यह ज्ञान कैसे संभव है कि पुरुष को क्या अभीष्ट है और क्या नहीं ? प्रकृति में पुरुषार्थ को यदि उपचार-मात्र माना जाए तब भी मूल समस्या हल नहीं होती है।

६. उपादानकारण के रूप में जड प्रकृति अथवा परमाणु को कारण मानने के बावजूद यदि कार्योत्पत्ति में चेतन अपरिहार्य है[४१], चाहे प्रकृति में प्रयोजन का आधान करने के लिए हो[४२] अथवा परमाणुओं को सक्रिय करने वाले निमित्तकारण के रूप में हो,- जैसे घट के प्रसंग में कुंभकार को माना जाता है- तो इसका तात्पर्य यही हुआ कि बिना चेतन के जड सृष्टि नहीं कर सकता।[४४] अतः जब चेतन को कारण मानना ही आवश्यक है, ईश्वर को निमित्त कारण के रूप ही स्वीकार करना आवश्यक है तो क्यों न कार्य का पूर्ण उत्तरदायी मानकर उसे

वास्तविक गौरव प्रदान किया जाए ? चेतन तत्त्व को मानकर भी उसे अपूर्णरूप में मानना अथवा अचेतन उपादान व सहकारी कारणों के अधीन मानना उसके ऐश्वर्य को सीमित करना है, उसकी सर्वज्ञता, सर्वक्रियता पर संदेह है, सिद्धांत की असंगति है। चेतन और अचेतन का भेद स्वातंत्र्य और परतंत्रता का है। चेतन यदि अचेतन के अधीन है तो वह परतंत्र है और परतंत्र तत्त्व ईश्वर नहीं हो सकता।

चिन्मात्रकारणवाद का खण्डन

शांकर मत भी जड को जगत् का कारण नहीं मानता। जड की कारणता में शंकर ने अधिकांश असगतियाँ वे ही मानी है जिन्हें शैवमत मानता है। जड-कारणवाद का तिरस्कार करके शंकर अजड को उपादान और निमित्त कारण मानते हैं, यह पक्ष भी शैवमत के अनुकूल है। चिद्कारण और जगत् में भेद और अभेद दोनों है यह निष्कर्ष भी दोनों मतों में सामान्य है। किन्तु शंकर जहाँ उपादान कारण की दृष्टि से अभेद और निमित्त कारण की दृष्टि से भेद मानते हैं वहीं शैवों का कहना है कि संकोच और पूर्णता का भेद है तथा स्वरूपगत अभेद है।

शंकर और शैव मतों में जगत् का कारण ईश्वर है किन्तु उसकी व्याख्या में भेद है। शंकर का ईश्वर मायाधिष्ठित ब्रह्म है और शैवों का ईश्वर शुद्धाध्वा का एक तत्त्व। ब्रह्म–ईश्वर तथा शिव–ईश्वर में दोनों मत अभेद भी मानते हैं। किन्तु इस अभेद की व्याख्या में पुनः भेद है। माया को परे हटाकर शंकर ब्रह्म-ईश्वर मे अभेद मानते हैं जबकि शैव ईश्वर–शिव में संकोच–पूर्णता के भेद को अवास्तविक मानकर अभेद मानते हैं।

दोनो ही मत कार्य अथवा प्रवृत्ति से पूर्व इच्छा अथवा संकल्प को स्वीकार करते है। किन्तु शकर इस इच्छा को मायाधिष्ठित ब्रह्म में और शैव परमार्थ तत्त्व शिव (ईश्वर) में मानते हैं। शंकर इच्छादि से ब्रह्म के स्वरूप मे विकृति की आशका करते हैं जबकि शैव अपनी अद्वयवादी विशिष्ट व्याख्या से इच्छादि को स्वभाव मानकर उनके शुद्धत्व का निर्वाह करते हैं। दोनों ही मत कार्य अथवा प्रवृत्ति से पूर्व इच्छा अथवा सकल्प को स्वीकार करते हैं किन्तु शंकर इस इच्छा का अधिष्ठान मायाधिष्ठित ब्रह्म को और शैवाचार्य परमार्थ तत्त्व शिव (ईश्वर) को मानते हैं। शंकर इच्छादि से ब्रह्म के स्वरूप में विकृति की आशंका करते हैं जबकि शैव अपनी अद्वयवादी विशिष्ट व्याख्या से इच्छादि को उसका अविच्छिन्न स्वभाव मानकर उसके शुद्धत्व का निर्वाह करते हैं। ब्रह्म में इच्छा, क्रिया आदि

का अभाव स्वीकार करते हुए शंकर स्पष्ट रूप से ब्रह्म को स्रष्टा नहीं करते हैं किन्तु शैवाचार्य इच्छादि को ईश्वर का ऐश्वर्य कहते हुए उसे स्रष्टा सिद्ध करते हैं।

अजडकारणवाद में भी सृष्टि के प्रयोजन का प्रसंग पर्याप्त महत्त्वपूर्ण है। शंकर मतानुसार सृष्टि के प्रादुर्भाव में ब्रह्म का कोई सूक्ष्म प्रयोजन नहीं है क्योंकि वह पूर्ण है, निष्काम है। फिर भी लौकिक दृष्टि से लीलामात्र को उसका प्रयोजन कहा जा सकता है। शैवाचार्य इस प्रसंग में क्रीडा शब्द का प्रयोग करते हुए यह टिप्पणी करते हैं कि लीला अथवा क्रीडा की जैसी सुसंगत व्याख्या स्वातन्त्र्य वाद में संभव है, वैसी ब्रह्मवाद में नहीं।

निष्कर्ष :- जगत् के विश्लेषण से मूल कारण के अनुसंधान की प्रक्रिया निःसंदेह युक्तियुक्त एवं प्रामाणिक है किन्तु जगत् के वास्तविक स्वरूप का निर्धारण भी इसी से सम्बद्ध एक महत्त्वपूर्ण समस्या है। किस दर्शन-सम्प्रदाय की सृष्टि पदार्थ को किस रूप में देखती है और पदार्थ के स्वरूप के निश्चय के लिये किस प्रमाण-प्रक्रिया का स्वीकार करती है इस पर भी उसकी तत्त्वमीमांसा और मूलतत्त्व का स्वरूप निर्भर करता है। जडकारणवादी दर्शन जगत् को सत्य मानते हैं और प्रत्यक्षादि प्रमाणों से उसे ग्राह्य मानते हैं। अतः वे तदनुरूप मूलकारण को जड उपादान के रूप में देखें - यह स्वाभाविक है। जडकारणवाद अपनी ओर से पर्याप्त प्रयास करता है कि उसकी अधिक से अधिक मान्यताएँ - व्याख्याएं यथासंभव चेतन-निरपेक्ष हों किन्तु यह कठोर सत्य है कि उसके समस्त प्रयासों के बावजूद वह चेतन की सर्वथा उपेक्षा नहीं कर पाता और किसी न किसी रूप में चेतन को स्थान देने के लिये बाध्य हो जाता है। सांख्य-न्यायादि दर्शनों के लिये श्रुति-समर्थन प्राप्त करना एक समस्या बन गया और श्रुतियों द्वारा उद्घोषित चेतन तत्त्व की स्वानुकूल व्याख्याएं करके उन्हें उसका सामंजस्य करने के लिये बाध्य होना पड़ा। इसलिये चेतन तत्त्व को पूर्ण गौरव के साथ स्वीकार न करने वाले दर्शनों को जडकारणवादी घोषित करना सर्वथा उचित है। जड को कारण के रूप में गौरव प्रदान करने वाले दर्शन यदि जड की सीमाओं और असमर्थताओं के कारण आलोचनाओं से घिरे अथवा जड-अजड के सम्बन्ध की उनकी अस्पष्ट व्याख्याओं पर असंगतियां आक्रमण करें तो यह भी स्वाभाविक ही है। जड का कर्तृत्व लोकानुभव के विपरीत है, इस तथ्य को रहस्यमयी व्याख्याओं से झुठलाया नहीं जा सकता।

अनादिकाल से अगणित प्रमाताओं के अनुभव का विषय बनने वाले जगत् को सत्य मानने का जडवाद का संकल्प स्तुत्य है, युक्तियुक्त है, सर्व प्रमाणसिद्ध है। किन्तु इसी जगत् की अस्पष्ट, रहस्यवादी और विलक्षण व्याख्याओं को प्रस्तुत करके तथा पारमार्थिक स्तर पर इसकी घोर उपेक्षा करके चिद्कारणवाद उसी दोष की पुनरावृत्ति करता है जो दोष जडकारणवाद में हैं। जडकारणवाद चैतन्य की उपेक्षा का दोषी है तो चिद्कारणवाद अचित् की उपेक्षा का। जड-कारणवाद ने चैतन्य की उपेक्षा की किन्तु चिद्कारण ने उसे अपूर्ण रूप में स्वीकार करके, उसे जडतुल्य बना दिया। इसलिये पूर्णत्व का गौरव उसे दोनों ही पक्षों से नहीं मिला। प्रत्यभिज्ञादर्शन चेतन को पूर्णता का गौरव प्रदान करता है, उसकी सुसंगत व्याख्या करता है और उसे लोकानुभूतियों से प्रमाणित करता है। अतः इस दर्शन के ईश्वरवाद पर अचेतन की उपेक्षा, चेतन-अचेतन के अतार्किक सम्बन्ध और अस्पष्ट-असंगत व्याख्याओं के वैसे आरोप नहीं लगाये जा सकते जैसे जडकारणवाद और चिद्कारणवाद पर लगाये जाते रहे हैं।

प्रत्यभिज्ञादर्शन का ईश्वर मात्र स्रष्टा ही नहीं है अपितु अपने स्वातन्त्र्यपूर्ण पञ्चविधकृत्यों के कारण सृष्टि का नियन्ता और संहारकर्ता भी है। यहाँ यह उल्लेख भी आवश्यक है कि सृष्टि-प्रक्रिया का अंतिम सोपान संहार नहीं, निग्रह है जिसके बिना सृष्टि के पुनः प्रादुर्भाव का प्रसंग मुमुक्षुओं को सदैव भयभीत करता रहेगा। अनुग्रह का सम्बन्ध निश्चय ही सृष्टि प्रक्रिया से न होकर स्वात्मबोध से है। किन्तु एक विचार-प्रक्रिया यह भी है कि अनुग्रह ही वह कृत्य है जो चेतन के चैतन्य को सार्थक करते हुए उसे तथाकथित अचेतन से भिन्न सिद्ध करता है। क्लिष्ट और कुटिल तर्कों के बल पर सृष्टि आदि कृत्यों का श्रेय जड तत्त्व को भले ही दे दिया जाए किन्तु अनुग्रह का वैशिष्ट्य एक मात्र चेतन तत्त्व में है, और इस पर उसी का एकाधिकार है। क्रियादि शक्तियों से सम्पन्न ईश्वर में जहाँ अनुग्रह सम्भव और सार्थक है वहीं जडतुल्य निष्क्रिय चिद् में असंभव और अर्थहीन है।

– सूर्यप्रकाश व्यास

संस्कृतविद्या संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी – २२१००५ (उ. प्र.)

टिप्पणियाँ

१. द्रष्टव्य – व्यास, सू. प्र.; बौद्ध, वेदान्त एवं काश्मीर शैवदर्शन, पृ ८.
२. यद्यपि प्रत्यभिज्ञा दर्शन में पारमार्थिक तत्त्व के लिये शिव शब्द का व्यवहार हुआ है और शिव से प्रादुर्भूत शुद्धाध्वा (शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर और सद्विद्या) में ईश्वर एक तत्त्व है तथापि अन्य दर्शनों से तुलना में सौविध्य की दृष्टि से इस लेख से ईश्वर शब्द का प्रयोग प्रत्यभिज्ञा दर्शन के पारमार्थिक तत्त्व शिव के अर्थ में किया गया है।
३. द्रष्टव्य परमार्थसार, कारिका ६, १०, ११.
४. (अ) चितिः प्रत्यवमर्शात्मा परावाक् स्वरसोदिता। ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-विमर्शिनी, १. ५. १३
(ब) चितिः स्वतंत्रा विश्वसिद्धिहेतुः। प्रत्यभिज्ञा हृदय सूत्र, १
५. ध्यायेयं तां त्वां कथं स्वस्फुरत्ताम्। रहस्यपञ्चदशिका ४, ८
६. स्वातंत्र्यमेतन्मुख्यं अद्वयस्वयं परमेशितुः। ईप्रवि, १. ५. १३.
७. (अ) प्रकाशो हि विमर्शसारः विमर्शोऽपि प्रकाशसारः। भास्करी, १.१.३
(ब) प्रकाशश्च विमर्शं विनाऽसत्कल्प एव। वही, १. १. १.
(क) प्रकाशमान् न पृथक् प्रकाशात्।
स च प्रकाशो न पृथग्विमर्शात्।। विभैवि, १३७.
(ड) प्रकाशमानता हि प्रकाशभेदः। शिदृ, ४. ७.
(य) स एव विमृशत्त्वेन नियतेन महेश्वरः। ईप्रका, १. ८. ११.
(र) विमर्शो नाम विश्वाकारेण विश्वप्रकाशेन विश्वसंहरणेन च अकृत्रिममहमिति स्फुरणम्। पराप्रवेशिका, पृ. २.
(ल) विमर्शो हि सर्वं सहः परमपि आत्मीकरोति आत्मानंच परीं करोति उभयमेकी करोति एकीकृत द्वयमपि न्यग्भावयति इत्येवं स्वभावः। ईप्रवि, १.८.११
और भी द्रष्टव्य, ईप्रविवि। पृ. ६; विभैवि (शिवोपाध्याय) १३७, पृ. १२२; पराप्रवेशिका, पृ. १; शिवदृष्टि वृत्ति, २. १९.
८. द्रष्टव्य शिवृ, ३. २. ३; ईप्रवि, १. ६. ७; महार्थ मंजरी १. २८.
९. द्रष्टव्य र. पं. ७. १५; प्रहृ, मगलाचरण ४, सूत्र १०, ५५; सर्वदर्शन संग्रह में उद्धृत योगराजकारिका; मम, पृ. ५३
१० (अ) तत्र परमेश्वर पञ्चभिः शक्तिभिः निर्भरः। तंत्रसार, आ. ८, पृ. ७३
(ब) प्रकाशरूपता चिच्छक्तिः। वही, पृ. ६

(स) स्वातंत्र्यम् आनंदशक्तिः। वही

(द) तच्चमत्कार इच्छाशक्तिः। वही; परामर्शो हि चिकीर्षारूपेच्छा।
ईप्रवि १, पृ. १८१.

(य) आमर्शात्मकता ज्ञानशक्तिः। तंत्रसार, पृ. ६; परतस्तस्मिन् विश्वलक्षणे कार्ये यज्ज्ञानं, तत्प्रकाशनशक्तिरूपता सा ज्ञानशक्तिः।
शिदृवृ, पृ. १८

(र) सर्वाकारयोगित्वं क्रियाशक्तिः। तंत्रसार पृ. ६;
भासना च क्रियाशक्तिरिति शास्त्रेषु कथ्यते।
यथा विचित्रतत्त्वादिकलना प्रविभज्यते।। मालिनीविजयवार्तिक १. ९०

११. द्रष्टव्य– ईप्रवि, १. १. २, १. ८. ११; तंत्रा १. ६७–६८

१२. द्रष्टव्य– शिदृ १. १.; परमार्थसार, पृ. ९२, ९६; स्त. चि. ५; प्रहृसू, २; ईप्रविवि, पृ. ५; शिदृवृ, २. ९.

१३. द्र.– शिदृवृ, १. २; ईप्रवि, १. १. १; भा १, मंगलचरण; पसा, २५ पसावि, ५. ४१, ७७; प्रहृसूवृ, ३.

१४. यच्च जगतस्तुच्छता कथ्यते तज्जगत्वापेक्षामात्रेण, परमार्थतस्तु सारात्प्रादुर्भूतत्त्वेन तदपि सार एव। भा. १. ५. १४.
और भी द्र.– शिदृवृ, १. २; प्रहृ, पृ. २९.

१५.

१६. द्र.– तंत्रालोक, भाग ३, आ ४, १८४; शिदृ, ३. ३७. १८; शिदृवृ पृ. ११३

१७. द्र.– परात्रिंशिका, २४, २५.

१८. द्र.– पसा, ७-८.

१९ (अ) वही, ६, ९; प्रहृ, पृ. ३६, पसावि, पृ. ९९-१०० (१९ ब. १९ क पसा, पृ. ३-४, शिवसूत्र, ३. ९. तंत्रा ३. ४.
(ड) द्र. ईप्रका, २. ४. १०, ईप्रवि, २. ४. १०.

२०. चेतनाचेतनानामपि स्वात्मनि निर्विशेषत्वम्। अप्रति, १;
और भी द्र. भा. १. १. ३; २. ४. १९.

२१. जडस्य सत्तेव कथं चिद्व्यक्ति विना सिद्धा। स्फुरद्रूपता हि सत्ता, स्फुरद्रूपता च प्रकाशमानता। शिदृवृ, ४. ७.

२२. उपनिषद् (ईशा शान्तिपाठ) से तुलनीय–
पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।

२३. द्र– ईसि, पृ. १.

२४. वही, पृ. ५ और कारिका, ८.
२५. वही, पृ. ५ और कारिका, ११.
२६. वही, पृ. २.
२७. वही, पृ. १०.
२८. वही, पृ. १० और कारिका, १५-१७.
२९. वही, पृ. ४.
३०. वही, पृ. ७.
३१. द्र. सांका, २०
३२. शास्त्री, धर्मेन्द्रनाथ; क्रिटिक ऑफ इंडियन रिअलिज्म्, पृ. २३४, Ch. VII
३३. द्र.– ईप्रति, २. ४. १९.
३४. जडकारणवाद के खण्डन तथा ईश्वरवाद की स्थापना के प्रसंग में आचार्य उत्पल का विशिष्ट योगदान है। अपने अन्य ग्रंथों में इस विषय का विवेचन करने के अतिरिक्त इन्होंने केवल इसी उद्देश्य से अजडप्रमातृसिद्धि और ईश्वरसिद्धि नामक स्वतंत्र कारिका ग्रंथ लिखे (जो सम्बन्धसिद्धि के साथ 'सिद्धित्रयी के रूप' में प्रकाशित हैं)।
३५. उपादानकारणतया परमाणुस्थान एव प्रधानस्य मूलकारणत्वेन समर्थनात्। ईसि, पृ. १२.
३६. इद्द अपेक्षाशून्यत्त्वात् जडानां कार्यकारणभावो न भवेत्। तंत्रावि, ९.१३
३७. द्र – ईप्रविवि, १. पृ. ९.
३८. द्र.– ईसि, पृ. २६
३९. द्र.– शिदृवृ, ४. ४२–४३.
४०. द्र.– ईसि, २१. कारिका, २५. २८.
४१. द्र – शिदृवृ, ४. ४२–४३.
४२. द्र.– शास्त्री, उदयवीर; सांख्य सिद्धान्त, पृ. १८६.

तुलनात्मक दर्शन : कुछ आधारभूत प्रश्न

मार्क्स की इस स्थापना से सहमत होने के लिए मार्क्सवादी होना अनिवार्य नहीं है कि सिद्धांत व्यवहार का पूर्ववर्ती नहीं बरन् उत्तरवर्ती होता है। क्रिया अथवा व्यवहार जब कुछ समय हो चुकता है तब कुछ विशिष्ट रूप से आत्म-चेतन व्यक्ति उस पर समीक्षात्मक विमर्श करना प्रारंभ करते हैं। यही पूर्ण विकास प्राप्त कर दर्शन का रूप ले लेता है। इसी अर्थ में दर्शन "खोज का दूसरा चरण" (Second order inquiry) माना जाता है। कार्य तथा सिद्धांत-निर्माण के बीच स्पष्टतः एक द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध है— दोनों एक-दूसरे के निर्धारक हैं तथा एक-दूसरे को विकसित होने के लिए बाध्य करते हैं। फलस्वरूप सिद्धांत-निर्माण के बाद कार्य अधिक व्यवस्थित, संगठित तथा सोद्देश्य बन जाता है। उदाहरण के लिए, भरत मुनि को नाटक-विधा का सर्जक नहीं कहा जा सकता, किन्तु क्या गुणात्मक दृष्टि से उनके पूर्ववर्ती नाटक उसी कोटि में आते हैं जिसमें उनके द्वारा प्रणाली-बद्ध होने के बाद वे आये ? संभवतः विकास के उच्चतर धरातल पर पहुँचना ही सिद्धांत-निर्माण—समस्त विचारशीलता -- का प्रयोजन है।

एक सायास तथा आत्म-चेतन व्यापार के रूप में तुलनात्मक दर्शन बहुत पुराना नहीं है, यद्यपि दार्शनिक विचारों की तुलना सभी संस्कृतियों में प्राचीन-काल से होती आ रही है। अपने छोटे-से जीवनकाल में ही तुलनात्मक दर्शन ने अतिवादी प्रतिक्रियाओं को प्रेरित किया है। दार्शनिकों का एक वर्ग मानव-एकता की दृष्टि से उसे आवश्यक मानता है वहीं दूसरे वर्ग का विश्वास है कि यह एक असम्भव अथवा/एवं अनुपयोगी कार्य है। यह प्रश्न अवश्य शोध की अपेक्षा रखता है कि अन्य अनेक- और संभवतः अधिक दूरगामी- दार्शनिक प्रश्नों की अपेक्षा तुलनात्मक दर्शन सम्बन्धी प्रश्न इतनी तीव्र प्रतिक्रियाओं को क्यों जन्म देता है। किन्तु इस निबन्ध का प्रयोजन इस प्रश्न को उठाना नहीं है। सम्भवतः पक्ष

तथा विपक्ष में इतना लिखा जा चुका है कि समर्थन अथवा विरोध के लोभ का संवरण कर कुछ आधारभूत तथा प्रणालीगत प्रश्नों पर विचार करने का समय अब आ गया है । दर्शन का लक्ष्य ही अन्ततः समीक्षात्मक आत्म-चेतना के स्तर को निरन्तर ऊपर उठाना है ! यह खेदजनक होगा कि इसके अभाव में दर्शन की एक विधा अविश्लेषित— और परिणामतः अर्ध-ज्ञात— रह जाय ।

प्रसंगारंभ मे कुछ शब्दार्थों पर विचार कर लेना आवश्यक है । 'तुलनात्मक' शब्द के अंग्रेजी पर्यायवाची "कम्पेरीजन" का अर्थ मिलान करना एव सामने या बराबर मे रखना कहा जा सकता है । "तुलना" का सम्बन्ध तौलने से है । व्यावहारिक प्रसंग में तौलने का तात्पर्य भी मेय और मान के बीच समीकरण को निर्धारित करना होता है । यह समीकरण एक स्थिर काल्पनिक मानदण्ड के संदर्भ में ही सार्थक होता है । भौतिक विज्ञानों के ये मानदण्ड 'क्या', 'कितना' आदि से सम्बन्धित जिज्ञासाओं के समाधान हेतु पर्याप्त होते हैं । तौलना हमारे जीवन के साधारणतम कार्यों में से एक है । मानव जाति ने अपने प्रारंभिक चरणों में ही यह कार्य सीख लिया होगा, क्योंकि विनिमय जैसे प्राथमिक कार्य की कल्पना भी बिना तुलना के संभव नहीं है । वैचारिक विनिमय के विषय में भी यही बात कही जा सकती है । जब हम दर्शनशास्त्र में तुलनाओं की बात उठाते है तो हमें यह ध्यान रखना होता है कि उसकी प्रकृति मूल्यपाती और तर्कपाती साथ-साथ होती है । जीवन दर्शन की परिभाषा को भी मन मे रखना आवश्यक है । अन्त में यह तथ्य महत्त्वपूर्ण है कि किसी समाज की सामूहिक पहचान उसके द्वारा मान्य दार्शनिक विश्वासों द्वारा होती है । अतः दर्शनों की तुलनाओं मे मेय और मान के बीच स्थिर और संख्यात्मक समीकरण विभिन्न दर्शनों के बीच सहमतियों मे बदल जाते है । अर्थात् तुलनात्मक दर्शन, दर्शनशास्त्र की वह पद्धति है जिसमे तथ्यों, सत्ताओं या धाराओं से सम्बन्धित विचारों के समान या असमान बिन्दुओं के आधार पर विभिन्न विचारों का स्पष्टीकरण किया जाता है अथवा नई समस्याओं की ओर ध्यान आकृष्ट किया जाता है । दूसरे शब्दों मे यहाँ समस्याओं की द्विसन्दर्भात्मक या अनेक-सन्दर्भात्मक व्याख्याएँ की जाती हैं ।

तुलनात्मक दर्शन को एक आधुनिक उपलब्धि मानना उचित होगा । सारी विविधताओं के बावजूद मानव-जाति तथा विश्व मूलतः एक है, यह एक आधुनिक सोच है । मानवीय एकात्म्य बोध एक तर्क निरपेक्ष प्रत्यक्षीकरण पिछली दो शता-

ढियों में ही बना है। अनुमान का विषय न होने के कारण इसके लिए प्रमाण न संभव है न आवश्यक। मानव की यह प्रश्नातीत एकता ही वस्तुतः तुलनात्मक दर्शन का आधार है। प्राचीन भारत में "वसुधैव कुटुम्बकम्" तथा बाइबिल में पूरे विश्व (सारे राष्ट्रों) की चर्चा अवश्य सुनाई देती है किन्तु यह मानना कठिन है कि इन शब्दों का प्रयोग करने वालों को विश्व तथा मानव की विशालता तथा विविधता का अनुमान था। सभी जातियों तथा सांस्कृतिक परंपराओं को वस्तुतः एक-दूसरे के सामने ला खड़े करने का श्रेय आधुनिक संचार साधनों को है। "तुलना" के संप्रत्यय में ही दो तुल्यों का साथ-साथ होना निहित है। सभी जातियों को एक प्रकार से अपने-अपने खोलों से बाहर आकर अन्य जातियों को समझने के लिए बाध्य होना पड़ा है। तुलनात्मक दर्शन — या सभी तुलनात्मक अध्ययन— इस ऐतिहासिक घटना का परिणाम है। न केवल मानव का जिज्ञासु स्वभाव वरन् सह-अस्तित्व की व्यावहारिक माँग उसे अन्य जातियों/परंपराओं को जानने के लिए विवश करती है। और जैसा हम कह चुके हैं, प्रश्न जानने तक सीमित नहीं रह जाता। अपने आपको श्रेष्ठ सिद्ध करने के लिए अनेक लेखक दूसरों को निकृष्ट सिद्ध करना आवश्यक मानते हैं और इस कार्य के लिए भी तुलनात्मक अध्ययन की आवश्यकता होती है। शब्दान्तर से दर्शन की अन्य विधाओं से हटकर, तुलनात्मक दर्शन सदैव ज्ञान-वृद्धि को मानकर नहीं चल सका है। इस तथ्य ने इस विधा की गुणवत्ता को विशेष रूप से प्रभावित किया है। निश्चय ही अनेक निम्नस्तरीय कार्य भी विधा के अनियोजित विस्तार, पूर्वाग्रह-ग्रस्त होने तथा लक्ष्य की अनिश्चितता के कारण हुए हैं। इससे विद्वानों के एक वर्ग को इस विधा की वैधता पर ही प्रश्नचिन्ह लगाने के लिए प्रेरित किया है। किन्तु क्या ऐसा करना उचित कहा जा सकता है? तुलनात्मक दर्शन के क्षेत्र में किए गए कार्यों के स्तर का मूल्यांकन तथा एक विधा के रूप में स्वयं तुलनात्मक दर्शन की वैधता या संभावना पर प्रश्न उठाना एक ही बात नहीं है। अनेक वैज्ञानिक खोजों तथा उपलब्धियों के दुरुपयोग ने क्या किसी को विज्ञान की वांछनीयता में सन्देह करने के लिए प्रेरित किया है? कोई भी मानवीय कार्य निरुद्देश्य नहीं होता। अतः मूल्यांकन उद्देश्य का भी होना चाहिए और कार्य का भी। इन्हें एक मान लेना वास्तव में 'अति सरलीकरण" का उदाहरण होगा।

तुलनात्मक दर्शन को नितान्त भिन्न उद्देश्यों द्वारा प्रेरित माना जा सकता है। एक उद्देश्य को वस्तुतः व्यावसायिक कहना होगा, यद्यपि उससे प्रेरित दार्शनिक यह बात स्वीकार नहीं करते। वे भी अपने कार्यों को उदात्त बौद्धिक उद्देश्यों से प्रेरित मानते हैं। हम सहानुभूतिवश इस प्रतिबद्धतागत स्खलन के

ऐतिहासिक और परिस्थितिगत कारण खोज सकते हैं, यद्यपि इससे कार्य की स्तर-हीनता में कोई परिवर्तन नहीं होगा।

आधुनिक युग में भारत का पश्चिम के साथ बौद्धिक सम्पर्क बराबरी के स्तर पर नहीं हुआ। भारतीय चिन्तन राजनीति में एक पराजित राष्ट्र का चिंतन था, जिसे विजेता राष्ट्र के बुद्धिजीवियों तक पहुँचाना भारतीयों के अपने हित में था। कम से कम कुछ प्रभावशाली भारतीय लेखकों के कार्य में यह मान्यता स्पष्टत: दिखाई पड़ती है। इन लेखकों ने शुद्ध व्यावसायिक कारणों से तुलनात्मक दर्शन को अपनाया। भारतीय दर्शन को "पश्चिमी ग्राहकों" के सम्मुख उन्हीं के मुहावरों में प्रस्तुत करना इन्हें आवश्यक प्रतीत हुआ। यह तभी सम्भव था जब भारतीय सिद्धांतों, विचारों तथा अवधारणाओं को पश्चिमी सिद्धांतों आदि के समरूप अथवा समकक्ष सिद्ध किया जाए। यहाँ तुलनात्मक दर्शन दार्शनिक अन्त-र्वर्ती दार्शनिक सहमतियों-असहमतियों के आधार पर विचारों या अवधारणाओं का विस्तार या समस्याओं की द्विसंदर्भात्मक व्याख्या न होकर मात्र समानता प्रदर्शन या केवल अपने पूर्वाग्रहों का पोषण रह गया। ये विद्वान् पश्चिम को उसी के सिद्धांतों के माध्यम से अपने सिद्धांत समझाना चाहते थे। यहाँ एक मनोवैज्ञा-निक लाचारी की ओर संकेत करना अप्रासंगिक न होगा। हम जो कुछ भी सम-झते हैं या समझ सकते हैं वह हमारी पहले से मौजूद समझ के आधार पर ही सम्भव होता है। अपने अनुभव क्षेत्र के नितान्त बाहर की वस्तु की हम कल्पना तक नहीं कर सकते। समानता-सिद्धि की सहायता से इन विद्वानों द्वारा निष्पा-दित हमारे मर्म को समझने में पश्चिम को निश्चय ही कुछ आसानी हुई होगी। परंतु सुगम बनने की लालसा में कुछ लेखक अपनी स्थिति को ही भुला बैठे। यही नहीं एक उत्तरदायी बुद्धिजीवी से अपेक्षित वस्तुनिष्ठता और सजगता के न्यूनतम स्तरों की भी उपेक्षा की गई। दर्शनों के मूल में स्थित अव्यक्त पूर्व मान्यताओं, दार्शनिक उद्देश्यों, प्रणालीगत मौलिकताओं, परिस्थितिगत विलक्षणताओं और संरचनागत विशिष्टताओं तथा, सबसे स्थूल बात, कालगत पूर्वापरताओं तक को ध्यान में रखने की आवश्यकता महसूस नहीं की गई। समुद्रगुप्त को "भारत का नेपोलियन", कालिदास को "भारत का शेक्सपियर", शंकर को ब्रेडले जैसा या नागार्जुन को हेगेल जैसा सिद्ध करना ऐसे ही कार्यों के कुछ उदाहरण हैं। यह भाषा प्रयोग स्पष्टत: अपमानजनक है। दासता के उस युग में यदि इसने तीव्र प्रतिक्रिया को जन्म नहीं दिया तो इसे हमारे अल्प कालिक राष्ट्रीय पराभव का ही साक्ष्य कहा जाएगा। इस वर्ग के लेखकों के हाथों तुलनात्मक दर्शन का मुख्य तत्त्व विशेषत: पूर्व और पश्चिम और सामान्यत: किन्हीं भी दो विचारधाराओं में समानता प्रदर्शित करना या खींचतान कर अपने पूर्वाग्रहों का पोषण करना बन

पक्षा। कुछ गिने-चुने उद्धरणों को उनके सन्दर्भों से तोड़ कर और उन्हें समूची विषय-सामग्री या दार्शनिक परंपरा का पर्याय बता कर मनमानी समानताएँ-विषयमताएँ गढी गई तथा अपने निजी आग्रहों और अभिवृत्तियों के पोषणार्थ दो दर्शनों की संरचनागत विलक्षणताओं को ताक पर रख दिया गया। बुद्ध को उपनिषदों का अनुयायी या विरोधी और बौद्ध परम्परा को औपनिषदिक परम्परा का अंग या उसके विरुद्ध विद्रोह मानना इसी प्रकार के प्रयासों का फल कहा जा सकता है। लगता है कि इन विद्वानों ने स्वयं अपने निर्णयों के निहितार्थों पर समुचित ध्यान नहीं दिया। इनके निष्कर्षों में विकल्प बहुत ही सीमित और पूर्वनिर्धारित से लगते हैं, जैसे-- समान-असमान, अनुयायी-विरोधी आदि। तुलनात्मक दर्शन या तो अपनी अभिवृत्ति की महत्त्व-सिद्धि का प्रयास बन गया या वैचारिक दास्य की स्वीकृति। इसमें कथित "श्रेष्ठ परंपराओं" के पक्ष में मत परिवर्तन के प्रयत्न की गन्ध भी आती है।

कोई भी राष्ट्र बहुत समय तक इस गर्हित अवस्था को सहन नहीं कर सकता। राजनीति अथवा भौतिक स्तर पर जो भी स्थिति हो, वैचारिक स्तर पर तीव्र प्रतिक्रिया अवश्यंभावी थी। तुलनात्मक दर्शन पर एक विधा के रूप में विचार इसी प्रतिक्रिया के दौरान हुआ। यह स्वाभाविक ही था कि एक अतिवाद का उत्तर दूसरे अतिवाद से दिया गया।

तुलनात्मक दर्शन के विरोधी विद्वानों के अनुसार उपर्युक्त दार्शनिक लीपापोती के लिए तुलनात्मक पद्धति ही उत्तरदायी है। उनके अनुसार तुलनात्मक दर्शन स्वभाव से ही भ्रमोत्पादक है क्योंकि वह कुछ भ्रामक पूर्वमान्यताओं पर आधारित है। इन भ्रामक पूर्वमान्यताओं का एक ब्यौरा प्रो. मराठे ने अपने एक लेख "मार्क्स और भगवान् बुद्ध : मूलभूत विरोधी प्रेरणाओं का दुःख निवृत्ति के परिप्रेक्ष्य में अध्ययन" में दिया है। यह लेख उन्होंने फरवरी ८५ में संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, द्वारा आयोजित "बौद्ध धर्म और मार्क्सवाद" नामक संगोष्ठी के लिए लिखा था। उनके अनुसार वे गलत मान्यताएँ निम्न हैं जिनके कारण लोग तुलनात्मक दर्शन की ओर प्रवृत्त होते हैं --

१. यह स्वीकार कर लिया जाता है कि पौर्वात्य पाश्चात्य विचारकों के सामने या किन्हीं भी दो विचारकों के सामने मानव की या समस्त जगत् की समान प्रकार की संकल्पना रही होगी।

२. विभिन्न विचारधाराओं की अन्तरमानवीय तथा जगत् और मानव के बीच सम्बन्धात्मक संकल्पनाओं में कोई अन्तर नहीं है और जो अन्तर दिखाई देता

है वह ढाँचे का नहीं प्रस्तुतीकरण का है।

३. मानवीय अस्तित्व के सूत्रों के विश्लेषण की समान पद्धति के आधार पर यह मान लिया जाता है कि उनकी मूल-धारणाएँ भी एक-सी हैं।

४. यह पूर्वमान्यता कि अन्यान्य विचारकों के अनुसार मानव के व्यक्तिगत तथा सामूहिक जीवन की वैचारिक, नैतिक, धार्मिक तथा आध्यात्मिक महत्त्वाकांक्षाओं का ढाँचा एक ही जैसा होता है।

५. अगर दो विचारकों के प्रति जनमानस में समान रूप से व्यापक या उभयनिष्ठ आकर्षण दिखाई देता है तो उनके विचारों में ढाँचागत एकता भी होनी चाहिए।

पूरे लेख पर दृष्टिपात करने पर स्पष्ट होता है कि ये विविध विचार-बिंदु एक ही केंद्रीय स्थापना के विभिन्न आयाम हैं- किन्हीं भी दो विचार परम्पराओं की या विचारकों की मूल अवधारणाओं, स्वीकृत वैयक्तिक, सामाजिक और तात्त्विक अन्तर-सम्बन्धों एवं मानवीय महत्त्वाकांक्षाओं में मौलिक, संरचनात्मक या ढाँचागत तथा गुणात्मक अन्तर होता है न केवल प्रस्तुतीकरण का। यह भी कि उनमें एक आधार पर दूसरे को कदापि नहीं समझा जा सकता। इस प्रकार के प्रयास निश्चय ही भ्रमोत्पादक होंगे क्योंकि एक के लिए प्रयुक्त प्रवर्गों में दूसरे की बात नहीं समझी जा सकती।

इस स्थापना की जड़ में यह पूर्वमान्यता परिलक्षित होती है कि दर्शन किसी समाज या संस्कृति की निजी विरासत होता है। यह एक सामान्य विज्ञान न होकर समाज में इतिहास जैसी स्थिती रखता है। जिस प्रकार इतिहास की किसी घटना की सार्थकता उसके निजी सामाजिक संदर्भ में ही होती है, और वह भी अभूतपूर्व (न भूतो न भविष्यति) रूप से, उसी प्रकार दर्शन भी परिस्थिति-सापेक्ष होता है। जिस प्रकार इतिहास की दो घटनाओं की या दो देशों के इतिहास की तुलना का न कोई आधार है और न उपयोगिता, उसी प्रकार दो दर्शनों की या दो विचारकों के विचारों की तुलना भी निराधार और अनुपयोगी प्रयास है। एक दर्शन में प्रयुक्त सम्प्रत्ययों का मर्म और महत्त्व किसी अन्य संस्कृति द्वारा अपने दर्शन में प्रयुक्त उसी सम्प्रत्यय के मर्म और महत्त्व से बिल्कुल भिन्न होता है। यह भिन्नता इतनी विलक्षण और मौलिक होती है कि उस सम्प्रत्यय के लिए प्रयुक्त शब्दों के किसी महत्त्वपूर्ण अर्थ में समानार्थ नहीं कहा जा सकता। एक संस्कृति के दर्शन का मर्मज्ञ उसी पदावली में दूसरे दर्शन का मर्म समान रूप से

नहीं समझ सकता। उदाहरणार्थ ईश्वर सम्प्रत्यय का मर्म सेमेटिक परम्परा और भारतीय परम्परा में इतना भिन्न है कि इनकी तुलना का या इनमें परस्पर सहमति-असहमति खोजने का कोई आधार नहीं है।

प्रो. मराठे के विचार एक विशिष्ट दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करते हैं। तुलनात्मक दर्शन के विद्यार्थी के लिए उन्हें अत्यंत गम्भीरता से लेना आवश्यक है। व्यावसायिक उद्देश्य से प्रेरित लेखकों ने उनके द्वारा उठाये गए प्रश्नों को सम्भवतः समझा ही नहीं है इसलिए उनके समाधान पर इन लेखकों द्वारा विचार हो ही नहीं सकता था। विभिन्न परम्पराओं की अनदेखी करके अथवा जान-बूझ कर उन्हें झुठला कर की गई तुलना मात्र समय और श्रम का अपव्यय है।

तुलनात्मक दर्शन की, तथापि, एक ही प्रेरणा नहीं है। व्यावसायिक दृष्टिकोण से मुक्त लेखकों ने भी इस विधा को समृद्ध किया है। उनकी ओर से प्रो॰ मराठे द्वारा उठाई गई आपत्तियों का निराकरण सम्भवतः अनुचित न होगा। दो तथ्य विशेष रूप से ध्यातव्य हैं। जो कुछ प्रो. मराठे ने विशिष्ट दार्शनिक परम्पराओं के विषय में कहा है वही एक सीमा तक सम्प्रेषण की सम्पूर्ण प्रक्रिया के विषय में कहा जा सकता है। विचारों का आदान-प्रदान जिनके बीच होता है उन सबकी अपनी पूर्व-स्वीकृत मान्यताएँ आदि होती हैं जिनके संदर्भ में ही किसी भी शब्द का अर्थ उनके लिए होता है। इसी आधार पर विख्यात शिक्षा-दार्शनिक फ्रेअर सारे सम्प्रेषण को मूलतः अनुवाद कहते हैं। हम जो भी सुनते हैं पहले उसकी अपनी समझ के अनुसार व्याख्या करते हैं। यही कारण है कि एक ही शब्द का अर्थ (तथा प्रतिक्रिया को जन्म देने की क्षमता, अलग-अलग व्यक्तिओं के लिए अलग-अलग होती है। यह हमारे दैनिक जीवन में इतनी सरलता से प्रमाणित होता है कि अन्य साक्ष्य की जरूरत नहीं है। किन्तु क्या इसी आधार पर हम, सार्त्र की भाँति किन्तु भिन्न कारणों से, सम्प्रेषण को असम्भव कह सकते हैं? क्या जीवधारियों की कोई भी जाति एक क्षण के लिए भी सम्प्रेषण के बिना काम चला सकती है?

दूसरा प्रश्न अधिक व्यावहारिक धरातल का है। इसमें कोई संदेह नहीं हो सकता कि मानवीय समुदायों के बीच अन्तर घटने की जो प्रक्रिया पिछली कुछ शताब्दियों में तेज हुई है वह आने वाले युग में मानव-एकता को स्पष्ट कर देगी। एक-दूसरे को सर्वांगतः जानना प्रत्येक समुदाय की बाध्यता बनती जा रही है। अभी तक एक देश या महाद्वीप में जो कुछ होता था उसका प्रभाव अन्य स्थानों में कम महसूस किया जाता था। क्या अब यह सम्भव है? और क्या किसी समुदाय को उसकी वैचारिक परम्परा की अनदेखी करके जाना जा सकता

है ? जब भी हम अपनी परम्परा के बाहर की किसी भी विचारधारा को जानने का प्रयास करेंगे, हमें तुलना करनी ही होगी, क्योंकि कोई दूसरों की आँखों से नहीं देख सकता। अज्ञात का ज्ञान ज्ञात के आधार पर, उसकी सहायता से ही हो सकता है, अन्यथा नहीं। इस मनोवैज्ञानिक विवशता को स्वीकार करना तथा उसमें निहित अन्य घटकों को विश्लेषण द्वारा प्रकाश में लाना अथवा स्पष्ट करना अधिक उपयोगी होगा।

प्रो. मराठे तथा उनकी विचारधारा को अपनाने वाले अन्य विद्वान् या तो "क" या "ख" के निरपेक्ष विकल्पों के पदों में सोचते प्रतीत होते हैं। तर्कशास्त्र के क्षेत्र में अवश्य ऐसे विकल्प सम्भव हैं किन्तु वास्तविक जीवन कहीं अधिक जटिल होता है। काण्ट का अनुकरण करते हुए हमें मान लेना चाहिए कि हम क्या जान पाते हैं यह केवल इस बात पर निर्भर नहीं करता कि ज्ञेय सामग्री क्या है वरन् इस पर भी निर्भर करता है कि हम में जानने की क्षमता कितनी और किस प्रकार की है। हम चाहें या न चाहें तुलना तो हम कर ही रहे हैं क्योंकि दूसरों की बातों को जानना-समझना हमारे जीवन के लिए आवश्यक है। विश्व को तो लगातार छोटा होना ही है तथा विभिन्न समुदायों के बीच की सांस्कृतिक दीवारों को गिरना ही है। तब तुलना या तुलनात्मक दर्शन हमारा शौक नहीं, बाध्यता बन जायगा। दर्शन की जो भूमिका कभी एक राष्ट्र या संस्कृति विशेष के लिए होती थी, तब वह सम्पूर्ण विश्व / मानव मात्र के लिए निभानी होगी।

एक बार इस सत्य को स्वीकार करते ही हमारा प्रयास "अनायास" को "सायास" से परिवर्तित करने का होगा। यह सत्य है कि कोई भी व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की बात को पूरी तरह नहीं समझ सकता क्योंकि दोनों के व्यक्तित्वों के आत्मनिष्ठ पक्ष सम्प्रेषणीय हो ही नहीं सकते। किन्तु फिर भी लक्ष्य अधिक से अधिक समझना ही हो सकता है, अन्य कुछ नहीं। यहाँ तुलनात्मक विधि का उपयोग करके एक उदाहरण दिया जा सकता है। कुछ दशकों पूर्व तक इतिहासकार "वस्तुनिष्ठ सत्य" की खोज का दावा किया करते थे। आत्म-चेतना के स्तर में प्रगति के साथ अब यह स्पष्ट तथा सर्वमान्य हो गया है कि ऐतिहासिक सत्य भौतिक नियमों के अर्थ में वस्तुनिष्ठ हो ही नहीं सकता। इतिहासकारों ने ऐतिहासिक सत्य का पता लगाने की प्रक्रिया में अनिवार्यतः निहित आत्मनिष्ठ घटकों को पहचान लिया है। किन्तु इस कारण पूर्वाग्रह आदि आत्मनिष्ठ तत्वों के प्रभाव को अधिक से अधिक सीमित करने के प्रयासों में कोई कमी नहीं आ गई है। यदि हमें एक "विश्व दर्शन" स्थापित करना है तो दूसरों की दार्शनिक

परम्पराओं को तुलनात्मक विधि की सहायता से समझना ही होगा। क्या तुलना के बिना स्वस्थ समझदारी और सहानुभूति का विकास सम्भव होगा? हमारा लक्ष्य इस कार्य में बोधक आत्मनिष्ठ तत्वों को अधिक से अधिक निष्क्रिय बनाना होना चाहिए। यह केवल समीक्षात्मक आत्म-चेतना में निरंतर वृद्धि-तथा परिणामस्वरूप प्राप्त सजगता और बौद्धिक सावधानीद्वारा ही हो सकता है। दर्शन निश्चय ही संस्कृति-सापेक्ष, परिस्थिति सापेक्ष तथा विशिष्टतापरक होता है। किन्तु इन विशेषताओं के कारण क्या मानव-जाति को संवादहीन, गवाक्ष-हीन, बन्द इकाईयों में बँटा हुआ माना जा सकता है? ऐसा प्रतीत होता है कि तुलनात्मक दर्शन के व्यावसायिक कर्ता यदि दार्शनिक परम्पराओं की विशिष्टता-ओं की अनदेखी कर रहे हैं तो उनके विरोधी मूल मानव-एकता की। ये दोनों ही अतिवाद हैं। व्यवसायियों ने हर तरफ समानता ही समानता देख कर उस अद्भुत विविधता को ही झुठलाने का हास्यास्पद तथा निश्चित रूप से असफल प्रयास किया जो मानव जाति की प्रमुख विशेषता है। प्रतिक्रियास्वरूप हम यदि विविधता ही विविधता देखने लगेंगे तो वह भी पूर्णतः तथ्यात्मक नहीं होगा।

मनोहर लाल चौरसिया

दर्शन-विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर – ४७० ००३

रामानुज का ख्यातिसिद्धान्त (सत्ख्यातिसिद्धान्त)

रामानुज के दर्शन से किसी वस्तु का तदेतर वस्तु के रूप में प्रत्यक्ष किया जाना भ्रान्ति है जैसे शुक्ति का रजत के रूप में प्रत्यक्ष किया जाना। रामानुज के लिए भ्रान्त प्रत्यक्ष भी अपने अधिष्ठान स्वरूप किसी न किसी सत् पदार्थ से युक्त होता है।[1] अतएव इनकी दृष्टि में शुक्ति–रजत भ्रान्ति में शुक्ति ही नहीं अपितु प्रत्यक्ष की हुई रजत भी सत् है। भ्रान्त प्रत्यक्ष के पदार्थ को सत् माना जाना चाहिए नहीं तो हमें यह व्यर्थ मान्यता स्वीकार करनी पड़ेगी कि असत् पदार्थ की भी प्रत्यक्ष अनुभूति हो सकती है। जैसे आकाश–कुसुम असत् है और यह कभी भी भ्रान्त प्रत्यक्ष का भी विषय नहीं हो सकता है। इनके ख्यातिसिद्धांत के अनुसार जब कोई प्रत्यक्ष भ्रान्त होता है तो वह इसलिए भ्रान्त नहीं होता है कि उसका विषय कल्पना-प्रसूत होता है, बल्कि वह इसलिए भ्रान्त होता है कि उसमें प्रत्यक्ष किया हुआ तत्त्व दमित अवस्था में होता है और इसलिए वह सम्बद्ध विषय या पदार्थ का निर्धारक नहीं होता। इसी कारण से भ्रान्ति में अनुभूत पदार्थ जीवन की व्यावहारिक आवश्यकताओं को भी सन्तुष्ट करने में असफल होता है। जब शुक्ति में रजत का प्रत्यक्ष होता है तो प्रत्यक्ष की हुई रजत शुक्ति में विद्यमान होती है, किन्तु यह उसमें बहुत ही अल्प मात्रा में होती है और इसीलिए शुक्ति को कोई भी रजत नहीं कहता है।[2] अतएव रामानुज के लिए समस्त ज्ञान सत्य एवं सविशेष है।[3] इस ख्यातिसिद्धान्त का आधार त्रिवृत् करण का सिद्धांत है जिसके अनुसार सभी (तीन) तत्त्व विभिन्न पदार्थों में विभिन्न अनुपात में निहित होते हैं। अतएव चूंकि सभी तत्त्व विभिन्न पदार्थों में विभिन्न अनुपात में निहित होते हैं,[4] जगत् के विभिन्न पदार्थ वास्तव में परस्पर पूर्ण रूप से भिन्न नहीं हैं।[5] साथ ही प्रत्येक पदार्थ कुछ न कुछ अंश में तदेतर पदार्थ के सदृश होता है। शुक्ति रजत के सदृश होती है क्योंकि वह रजत के अंश से युक्त होती है।[6] रज्जु में विद्यमान तत्त्व सर्प में विद्यमान तत्त्व के सदृश ही है। अन्तर मात्र परिणाम का ही है। अत. जब कोई व्यक्ति रज्जु के स्थान पर सर्प का प्रत्यक्ष

करता है तो वह वास्तव में रज्जु के सपाँशों का प्रत्यक्ष करता है जो परिमाण में बहुत ही कम होते हैं। रज्जु-अंश जो परिणाम में अधिक होते हैं और सम्बद्ध पदार्थ में अधिक प्रभावी होते हैं कतिपय अपरिहार्य कारणों से उस व्यक्ति को प्रकाशित नहीं होते हैं। जब वे अपरिहार्य कारण दूर हो जाते हैं तो रज्जु अंश प्रत्यक्ष होने लगते हैं और हम कहते हैं कि व्यक्ति पदार्थ को सही प्रत्यक्ष कर रहा है। अतएव सर्प जो भ्रान्त प्रत्यक्ष का विषय है काल्पनिक नहीं है। यह सत् है और सम्बद्ध पदार्थ में अवदमित अवस्था में विद्यमान है।

रामानुज के ख्यातिसिद्धांत में भ्रान्त अनुभूति का विषय या पदार्थ तथ्य से संगत होता है। साथ ही सम्बद्ध विषयी को यह विश्वास भी होता है कि उसकी अनुभूति (भ्रान्ति) एवम् वास्तविक तथ्य में संगति है। परन्तु भ्रान्त अनुभूति एवम् तथ्य की असंगति व्यावहारिक उपयोगिता के सन्दर्भ में स्पष्ट हो जाती है। भ्रान्त अनुभूति एवम् सत् अनुभूति दोनों बिना किसी माध्यम के वास्तविक पदार्थों या विषयों से एक ही प्रकार से प्राप्त होती है।[७] अन्तर केवल इतना ही होता है कि एक व्यावहारिक दृष्टि से उपयोगी नहीं होती है जबकि दूसरी होती है। इनके मत में भ्रान्त अनुभूति में विषयी अपनी कल्पना से किसी वस्तुतः असत् तत्त्व को नहीं मिलाता है। उसके द्वारा अनुभूत वस्तु विद्यमान होती है। इस सन्दर्भ में उपनिषदों की कतिपय उक्तियाँ एक प्रकार से रामानुज को समर्थन देती हुई सी लगती हैं। भ्रान्ति का भी मूल सत् में ही होता है, ऐसी किसी वस्तु को अनुभूत करना असंभव है जो असत् का कार्य हो।[८] कोई भी अनुभूत पदार्थ असत् नहीं होता है।[९] असत् की उपलब्धि नहीं हो सकती है।[१०] भ्रान्ति में प्रयुक्त बाह्य विषय तथ्य की असंगति से वास्तव में नहीं प्रहीत होता है। सम्बद्ध बाह्य विषय जगत् में उसी तरह से होता है जैसा कि उसे अनुभूत किया जाता है। भ्रान्ति का विषय रजतांश सम्बद्ध पदार्थ में होता है और विषयी की इन्द्रियों को आकर्षित करता है। फलतः विषयी शक्ति को नहीं बल्कि रजत को अनुभूत करता है। यह तथ्य ही कि भ्रान्ति में विषयी का मस्तिष्क विषय तथा वास्तविक निर्धारक स्वरूप ग्रहण कर पाने में असफल रहता है और मात्र उसका एक अवदमित स्वरूप ग्रहण करता है इस बात को साबित करता है कि मानसिक स्तर पर भ्रान्त अनुभूति एवं सत् अनुभूति में कुछ अन्तर रहता है। पदार्थ के निर्धारित स्वरूप को अनुभूत करने की विषयी की अक्षमता का कारण विषयी की मानसिक स्थिति में ही निहित होता है। अपने मस्तिष्क में वासना विशेष की उपस्थिति के कारण ही विषयी ऐसे स्वरूप को अनुभूत करता है जो पदार्थ या विषयी में अवदमित अवस्था में रहता है ... ऐसी ... स्थिति से युक्त

होता है कि जैसे ही वह किसी ऐसे पदार्थ को देखता है जिसमें यद्यपि रजत मुख्य तत्त्व नहीं होता है फिर भी उस पदार्थ में वर्तमान अन्य तत्त्वों की अपेक्षा अधिक प्रभावी होता है वैसे ही उसकी आँखें रजतांश को ग्रहण कर लेती हैं और वह उस पदार्थ को रजत-सा अनुभूत करता है। यहां पर दोष उस व्यक्ति द्वारा शुक्ति के संस्कारों को ग्रहण कर पाने की अक्षमता के कारण है और यह अक्षमता उस अदृष्ट या वासना के कारण है जिसे उस व्यक्ति ने अपने भूत संस्कारों के कारण विकसित किया है।[11] अतएव भ्रान्ति के तथ्यात्मक होते हुए भी भ्रान्ति एवं सत् अनुभूति में सम्बद्ध पदार्थ के अंशों के अधिग्रहण के सम्बद्ध में अन्तर है।

इस प्रकार रामानुज के अनुसार दो चन्द्रमा की प्रत्यक्षात्मक भ्रान्त अनुभूति मनोदैहिक दोष के कारण होती है। विषयी एक चंद्रमा के स्थान पर दो चंद्रमा का दिदृक्षु होता है और इसलिए वह अंगुली से एक आँख के रेटिना को थोड़ा नीचे की ओर दबाता है फलतः वह दूसरी आंख के रेटिना से संगत नहीं बैठता है। ऐसी स्थिति मे दोनों आँखों से प्रकाश दो भागों में आता है और इसलिए दो चंद्रमा की अनुभूति होती है। इसके विपरीत जब पीलिया से ग्रस्त व्यक्ति श्वेत शुक्ति को पीत अनुभूत करता है तो भ्रान्त अनुभूति पूर्ण रूप से दैहिक दोषों के कारण होती है।

अपने अनुभव में हम यह पाते हैं कि शुक्ति रजत के सदृश होती है। रजत के कुछ तत्त्व शुक्ति में विद्यमान होते हैं। कभी-कभी दृष्टिदोष के कारण रजतार्थी व्यक्ति शुक्ति के शुक्ति-अंश की अवहेलना करके उसके रजत अंश को ही ग्रहण कर लेता है। जब दृष्टि-दोष दूर हो जाता है तो वह शुक्ति अंश को भी ग्रहण करता है तथा सम्बद्ध पदार्थ का परित्याग कर देता है। इस प्रकार शुक्ति में रजत का ज्ञान सत् का ज्ञान है। भ्रान्त अनुभूति का उत्तरवर्ती सत् अनुभूति द्वारा बाध सम्बद्ध तत्त्व के सापेक्षित प्राधान्य के ज्ञान से सहज ही व्याख्येय है। जब शुक्ति की अनुभूति उसके (शुक्ति के) प्रधानांशों के प्रकाश में होती है तो 'यह रजत नहीं है' यह बाधक ज्ञान 'यह रजत है' इस भ्रान्तज्ञान का व्याघात कर देता है।[12] शुक्ति अंश के प्राधान्य के ज्ञान का अभाव सम्बद्ध भ्रान्ति का कारण है तथा इसका उत्तरवर्ती सत् ज्ञान भ्रान्ति को निरस्त कर देता है।[13] किन्हीं दो पदार्थों का आंशिक तादात्म्य कतिपय संदर्भ विशेषों में सादृश्य के कारण होता है जैसे मृगतृष्णा एवं जल में होता है। हम मृगतृष्णा में जल का प्रत्यक्ष करते हैं क्योंकि जल प्रकाश एवम् क्षिति-अणुओं के संयोग में निहित होता है। रामानुज के अनुसार ईश्वर जीवों के भूत कर्मों के अनुसार

उनके उपभोग के लिए सम्पूर्ण बाह्य जगत् का निर्माण करते हुए कुछ ऐसे पदार्थों का निर्माण करता है जो सभी जीवों की चेतना के विषय होते हैं तथा कुछ ऐसे पदार्थों का भी निर्माण करता है जो कतिपय जीव-विशेषों द्वारा ही स्वप्न-जगत् की भाँति अनुभूत हो सकते हैं। बाधक ज्ञान एवम् बाधित ज्ञान का अन्तर मात्र पदार्थों के इस भेदपर ही निर्भर करता है कि कौन से पदार्थ सभी जीवों की चेतना के विषय हैं और कौन से पदार्थ वैसे नहीं हैं। इसी प्रकार से लाल फूल के पास का श्वेत पत्थर लाल प्रतीत होता है। फूल की लाल रश्मियाँ श्वेत पत्थर के सान्निध्य से अपने को अधिक अच्छी तरह से प्रकाशित करती हैं। दर्पण में मुख के प्रतिबिम्ब का प्रत्यक्ष भी सत् है। हमारी आँखों की रश्मियाँ दर्पण की सतह से अवरुद्ध होकर दर्पण एवम् मुख को इतनी शीघ्रता से ग्रहण करती हैं कि हम उनके अन्तर को नहीं समझ पाते हैं। अतः यह समझना गलत है कि कुछ अनुभूतियों के पदार्थ सत् होते हैं एवम् कुछ अनुभूतियों के पदार्थ असत् होते हैं। मानव ज्ञान या अनुभूति सामान्यतया आंशिक एवं अपूर्ण है। जब हम शुक्ति को रजत समझते हैं तो हम मात्र कुछ पहलुओं पर ही ध्यान रखते हैं और कुछ की उपेक्षा कर देते हैं। पीत शुक्ति के मतिभ्रम में हम शुक्ति की श्वेतता पर ध्यान नहीं देते हैं। जागृतावस्था मे अपने चतुर्दिक् बाह्य जगत् के ज्ञान के सम्बन्ध में हम उस सब की उपेक्षा कर देते हैं जो हमारे व्यावहारिक उद्देश्यों के लिए अनावश्यक होता है। इस प्रकार भ्रांत ज्ञान (भ्रम) तथा सत्ज्ञान (प्रमा) दोनों अपूर्ण हैं। सत्ज्ञान हमारे व्यावहारिक उद्देश्यों के लिए आवश्यक पहलुओं पर विशेष ध्यान देता है और हमारी आवश्यकताओं को संतुष्ट करता है जब कि भ्रान्तज्ञान इस वांछित ध्येय को पूर्ण नहीं कर पाता है। दैनिक जीवन में सत्ज्ञान ही उपयोगी है। मृगतृष्णा इसलिए भ्रांति नहीं है कि उसमें जल का तत्त्व नहीं होता है बल्कि यह इसलिए भ्रांति है कि इसमें वर्तमान जल पिपासा को शांत करने में समर्थ नहीं होता है।

सत्ख्याति का ध्येय यह दिखाना समझ पड़ता है कि अनुभूति (तथाकथित भ्रांति सहित) कभी भी वास्तविकता से विच्छिन्न नहीं होती है तथा साथ ही इसका उद्देश्य यह बताना भी लगता है कि उन पदार्थों के सम्बन्ध में भी जिनकी सत्ता मात्र व्यक्ति-विशेषों द्वारा ही सृष्ट की जाती है कोई प्रत्यात्मक या विषयी-गत तत्त्व नहीं होता है। यदि समस्त ज्ञान सत् है तो यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि प्रमा एवम् भ्रम का अंतर जो सामान्यतया स्वीकृत है कैसा समझा जा सकेगा। इस ख्याति सिद्धांत के अनुसार भ्रम एक प्रकार से अपूर्ण ज्ञान है। पीत शुक्ति के सम्बन्ध में यह अपूर्ण ज्ञान उस शुक्ति की श्वेतता को न समझ पाने

(अर्थात एक प्रकार की उपेक्षा या असम्पादन) के कारण है। प्रमा में भी उपेक्षा (या असम्पादन) के तत्त्व हो सकते हैं जैसे जब हम शुक्ति को शुक्ति समझते हैं तो भी उसमें रजत विद्यमान रहता है किन्तु यह तथ्य उस समय उसी सीमा तक उपेक्षित किया जाता है जिस सीमा तक कि रजत उस समय शुक्ति में उपेक्षित होती है जब हम उस पदार्थ को शुक्ति समझ लेते हैं। सच्चाई यह है कि जहाँ सत्ख्याति में वही ज्ञान होता है जो अनुभूति में प्रदत्त होता है वहीं यह ख्याति सिद्धांत यह नहीं स्वीकार करता है कि अनुभूति का प्रदत्त अपने पूर्णत्व में ज्ञात होता है। ज्ञान वास्तव में सदा प्रदत्त का ही होता है तथा प्रदत्त के अतिरिक्त और किसी का नहीं होता है किन्तु यह जरूरी नहीं है कि यह सम्पूर्ण प्रदत्त का ही हो। [१४] अतएव यह कहना वास्तव में सही नहीं है कि आमतौर पर भ्रांति अपूर्ण ज्ञान है क्योंकि अपूर्णता भी यथार्थता की ही भांति प्रमा को भ्रम से पृथक् कर पाने में सक्षम नहीं है। इस स्थल पर रामानुज यह कहते हैं कि आमतौर पर व्यवहृत अर्थ में ज्ञान को सत् होने के लिए यथार्थ होने के साथ-साथ जीवन में उपयोगी भी होना चाहिए। जब हम शुक्ति-रजत को असत् कहते हैं तो हमारा अभिप्राय यह नहीं होता है कि शुक्ति में रजत नहीं है क्योंकि उस स्थिति में हमें उसका भान ही न हुआ होता, अपितु उस समय हमारा आशय यह होता है कि वह व्यावहारिक जीवन में उपयोगी नहीं है। इस प्रकार रामानुज के लिए प्रमा एवम् भ्रम का अंतर व्यावहारिक दृष्टि से ही सार्थक है, सैद्धांतिक दृष्टि से नहीं। समस्त ज्ञान बिना किसी अपवाद के यथार्थ है किन्तु इस यथार्थता के माने यह नहीं है कि समस्त ज्ञान व्यवहारिक आवश्यकताओं को संतुष्ट करने में सक्षम है। कोई भूगर्भशास्त्री किसी कच्चे लोहे के टुकड़े को स्वर्णमय घोषित कर सकता है किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि इससे कोई आभूषण बनाया जा सकता है। वास्तव में इसी को ध्यान में रखकर प्रमा की परिभाषा में यथार्थ के साथ-साथ व्यवहारगुण शब्द भी यतींद्रमतदीपिका में रखा गया है। यदि ज्ञान को व्यवहार से संगत होना है तो उसे दो शर्तों को पूरा करना है। प्रथम इसे सार्वजनिक अनुभूति के विषयों से संदर्शित होना पड़ेगा। इसी की कमी उपरोक्त पीत शुक्ति एवं स्वप्न-हाथी को असत् माने जाने के लिए उत्तरदायी है। कारण यह है कि इनका एक व्यक्ति-विशेष के लिए व्यक्तिगत होना सम्बद्ध समय पर उपेक्षित कर दिया जाता है और ये जाग्रत अवस्था के समान पदार्थों के रूप में स्वीकार ली जाती है। सही पता लगने पर इनका असत् होना प्रकट हो जाता है। द्वितीय, इसे (ज्ञान को) प्रदत्त पदार्थ में प्रधान तत्त्व को ग्रहण करना पड़ेगा। शुक्ति नाम से अभिहित पदार्थ रजत युक्त हो सकता है किन्तु इसमें शुक्ति अंश प्रधान होता है और यह प्रधानता ही शुक्ति के रूप में इसकी उपयोगिता को चरितार्थ करती है

रजत के रूप नहीं। रजत वर्तमान होते हुए भी अपने अल्पत्व के कारण व्यावहारिक दृष्टि से उपयोगी नहीं होती है। पता लगने पर यही तथ्य सम्बद्ध संवित् के भ्रांतित्व को जाहिर करता है। प्रमा में यथार्थ ज्ञान ही नहीं होता है अपितु यह उपयोगी भी होती है। भ्रम भी यथार्थ होता है परंतु यह हमारी आशाओं के अनुरूप उपयोगी नहीं होता है।

इस सिद्धांत से दो प्रकार के निष्कर्ष स्वतः निसृत होते हैं। प्रथम यह कि जीवन की व्यावहारिक उपेक्षाएँ हमारे द्वारा हमारी परिस्थिति के पूर्ण ज्ञान की उपेक्षा नहीं रखती हैं। इतना ही पर्याप्त है कि हम उन्हें लगभग पूर्ण रूप से जानें। दूसरे शब्दों में, व्यावहारिक ज्ञान चयनात्मक है, पूर्ण नहीं है। द्वितीय यह कि अपूर्ण या आंशिक ज्ञान निश्चित रूप से जीवन के सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति के लिए बाधा स्वरूप नहीं है। यह ख्याति-सिद्धांत ज्ञान के एक सामाजिक या अंतर्वैयक्तिक पक्ष को भी स्वीकार करता है। जहाँ तक ज्ञान के सैद्धांतिक नैश्चित्य का प्रश्न है सम्बद्ध व्यक्ति से सामान्य (सार्वजनिक) संवित् की अपेक्षा वांछित नहीं है क्योंकि अर्थ-प्रकाशन के कार्य में ज्ञान का वैयक्तिक या सार्वजनिक होना प्रासंगिक नहीं है। इसके विपरीत ज्ञान का उपयोग होना समाज या मानव जाति की सामान्य (सार्वजनिक) स्वीकृति पर निर्भर करता है। रामानुज के लिए भ्रम में भी अर्थ-प्रकाशन होता है। इस प्रकार इनके अनुसार ज्ञान के दो कार्य हैं (१) अर्थ-प्रकाशन या यथार्थ होना, (२) व्यावहार गुण या उपयोगी होना। ये दोनों कार्य समान रूप से महत्त्वपूर्ण हैं।

इस ख्यातिसिद्धांत के संदर्भ में ज्ञान के सम्बन्ध में प्रासंगिक प्रश्न यह है कि क्या ज्ञान का व्यावहारिक जीवन पर कोई प्रभाव होता है या नहीं। ध्यान देने की बात है कि ज्ञान के सम्बन्ध में यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण नहीं है कि क्या ज्ञान तार्किक दृष्टि से वैध है या नहीं। इसका कारण यह है कि इस सम्बन्ध में असमर्थ होने पर ज्ञान ज्ञान रह ही नहीं जायगा। दूसरे शब्दों में, ज्ञान के लिए वैधता उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं है जितनी कि प्रासंगिकता। हम देख ही चुके हैं कि प्रमा भी अर्थ का अपूर्ण प्रकाशन ही करती है। इस प्रकार सत्ख्याति सिद्धांत एक ऐसे ज्ञान के प्रति संकेतों से युक्त है जो यथार्थ होने के साथ-साथ व्यावहारिक भी है। इस संसार में ज्ञान सीमाओं में व्यवहृत होता है क्योंकि एक या दूसरे प्रकार की कमियाँ इसकी स्वतंत्र गति का प्रतिबंधित करती हैं। अतः सार्वजनिक ज्ञान (प्रमा सहित) सत् का अर्थ प्रकाशन ही करता है। इसका पूर्ण प्रकाशन मोक्ष में ही होता है जब सभी कमियाँ दूर हो जाती हैं और भ्रांति की सभी सम्भावनाएँ समाप्त हो जाती हैं।

प्रकारांतर से रामानुज प्रमा एवं भ्रांति के बीच के सामान्य तौर पर समझे जाने वाले अंतर की अवहेलना भ्रांति की एक नयी परिभाषा देकर करते हुए लगते हैं। इनके अनुसार भ्रांति सत् का प्रत्यक्ष नहीं है अपितु वह एक ऐसी स्थिति है जिसमें एक पदार्थ दूसरा पदार्थ समान तत्त्वों की उपस्थिति के कारण समझ लिया जाता है। इस प्रकार रामानुज यह मानते हैं कि प्रत्यक्ष में कुछ न कुछ सत् अवश्य वर्तमान रहता है। हालाँकि रामानुज के अनुसार यह सम्भव है कि यह कुछ न कुछ ' अन्यथा प्रकाशित हो जाय। यह अन्यथा प्रकाशन उपरोक्त आंशिक समानता से भी हो सकता है तथा इंद्रियों के दोषों एवं सीमाओं के कारण भी हो सकता है। रामानुज की यह भी मान्यता है कि संवित् या ज्ञान को सत् एवं असत् में विभाजित करना भी एक गलती है। सभी अनुभूतियों में एक ऐसा प्रस्तुत्यात्मक तत्त्व होता है जो न्यून या अधिक मात्रा में प्रत्यक्ष किये जाने के कारण सत् एवं भ्रान्ति के तथाकथित अंतर को निर्धारित सा करता है। अतएव मोटे तौर पर यह फलित होता है कि यद्यपि सभी प्रत्यक्षात्मक अनुभूति सत् है, इसकी सत्यता विभिन्न अंशों से युक्त होती है। किसी भी प्रत्यक्षात्मक अनुभूति एवं उसके विषय में कुछ अंशों में समानता अवश्य होती है। भ्रान्ति विषय या पदार्थ के अपूर्ण ज्ञान के कारण होती है। चूंकि यह अपूर्ण ज्ञान व्यावहारिक दृष्टि से उतने प्रकार का हो सकता है जितने प्रकार के व्यक्तिगत ज्ञाता हो सकते हैं, सत् एवं भ्रांति का अंतर ज्ञाता की तरफ से एक व्यक्तिगत मामला सा हो जाता है। पीलिया से ग्रस्त व्यक्ति श्वेत शुक्ति को पीत समझता है तथा सोता हुआ व्यक्ति स्वप्न में श्वेत हाथियों को देखता है। इन दोनों में से किसी को भी भ्रांति कैसे कहा जा सकता है? एक कारण तो यह हो सकता है कि ये अनुभूतियों की संगत संरचना में ठीक नहीं बैठतीं हैं। दूसरा कारण यह हो सकता है कि ये सामाजिक अनुभूतियों से सगत नहीं बैठती हैं। न तो श्वेत शुक्ति की पीतता और न ही स्वप्न का हाथी सभी द्वारा अनुभूत किये जाते हैं। परंतु इस संदर्भ में रामानुज का यह कहना है कि ये अनुभूतियाँ उन पदार्थों की हैं जो सम्बद्ध व्यक्ति के लिए सत् हैं यद्यपि इनकी सत्ता सार्वजनिक नहीं है। श्वेत शुक्ति की पीतता एक वास्तविक गुण है जो सम्बद्ध शुक्ति को प्रत्यक्ष कर्ता द्वारा सम्प्रेषित किया जाता है। स्वप्न का हाथी भी सत् पदार्थ है जो सोते हुए व्यक्ति की चेतना में रामानुज के अनुसार ईश्वर द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। यदि हम इन अनुभूतियों के लिए सत् शब्द नहीं प्रयुक्त करना चाहते हैं तो यह इसलिए नहीं कि इन अनुभूतियों में वास्तविक पदार्थ नहीं वर्तमान हैं बल्कि इसलिए कि इन अनुभूतियों का स्तर सार्वजनिक न होकर व्यक्तिगत है। सच्चाई यह है कि हम इन पदार्थों

को व्यावहारिक कारणों से सत् नहीं मानते हैं। इन पदार्थों की कोई व्यावहारिक उपयोगिता नहीं है। फिर भी रामनुज के लिए ये सभी अनुभूतियां सत् हैं।

समीक्षा

भ्रान्ति में विभिन्न व्यक्ति विभिन्न विषयों या पदार्थों को एक ही अधिष्ठान में अनुभूत कर सकते हैं। फलतः रज्जु विभिन्न व्यक्तियों को एक ही समय में विभिन्न पदार्थों (जैसे सर्प, माला या छड़ी) के रूप में प्रतीत हो सकती है। सत्ख्यातिवादी को इस सिलसिले में यह स्वीकार करना पड़ेगा कि इन सभी (अनन्त) पदार्थों के घटक तत्त्व सम्बद्ध रज्जु में विद्यमान रहते हैं। अतएव इस अटपटी स्थिति के कारण सत्ख्याति का सिद्धान्त स्थापित नहीं किया जा सकता। पुनश्च त्रिवृत्करण के सिद्धांत को मानते हुए भी रामानुज के ख्यातिसिद्धांत के विरुद्ध प्रसिद्ध ग्रंथ ख्यातिवाद का लेखक आक्षेप करता है कि यदि दुग्ध, त्रिवृत्-करण के कारण, सुरायुक्त है तो सुरात्मक दुग्ध को पान करने वाले व्यक्ति को दोषी माना जाना चाहिए। इसका प्रत्युत्तर रामानुज की तरफ से यह हो सकता है कि दुग्ध में सुरा अत्यल्प परिमाण में होती है अतएव दुग्ध के पान से कोई व्यक्ति दोषभागी नहीं होता है। परंतु ठीक तकनीकी कारणों से यह बात भी स्वीकार्य नहीं हो सकती है क्योंकि श्रुति में यह नहीं कहा गया है कि कोई व्यक्ति अधिक मात्रा में सुरापान करने से ही दोष का भागी होगा। अतएव रामानुज द्वारा गृहीत त्रिवृत्करण का सिद्धांत (एवं सत्ख्यातिसिद्धांत) स्वीकार करने पर समस्त खान-पान से छुट्टी लेनी पड़ेगी और ऐसी स्थिति की कल्पना भी नहीं की जा सकती है।

श्रुति ने सोमलता के स्थान पर पुटिका (इलायची) के प्रयोग को मान्य किया क्योंकि सोमलता के धारक तत्त्व पुटिका (इलायची) में भी वर्तमान हैं। दो पदार्थों के बीच सादृश्य यह द्योतित करता है और कि उनमें से एक के धारक तत्त्व के भी धारक तत्त्व हैं। ख्यातिवादकार इस स्थल पर प्रश्न करता है कि क्या पुटिका एवं सोम पुण्य एवं पाप समान रूप से प्रदान करते हैं? चूंकि उनमें तादात्म्य नहीं है, अतः ख्यातिवादकार के अनुसार दोनों पुण्य एवं पाप समान मात्रा में नहीं दे सकते हैं। इस स्थल पर यदि रामानुज की तरफ से यह कहा जाय कि पुटिका एवं सोम सम्बद्ध विधि वाक्य के आधार पर समान रूप से पुण्य एवं पाप प्रदान करते हैं तो पुण्य एवं पाप सम्बद्ध विधिवाक्य से फलित होंगे न कि इस तथ्य से कि सोम एवं पुटिका के धारक तत्त्व एक ही हैं। फिर भी यदि विधिवाक्य किसी वस्तु में पुण्य एवं पाप सृजन की शक्ति ला सकते हैं तो कोई भी वस्तु सोम के स्थान स्थानापन्न हो सकती है। अतः ऐसी स्थिति में पुटिका ही सोम का स्थानापन्न क्यों

स्वीकृत की गई है ? यदि यह कहा जाए कि पुटिका का विधान इसलिए किया गया है क्योंकि यह सोम के अंशों से अत्यधिक मात्रा में युक्त है और इसलिए अधिकतम मात्रा में पुण्य प्रदान कराने में सक्षम है तो भी सम्बद्ध कठिनाई का निवारण पूर्ण-रूप से नहीं हो पाता है। यहाँ भी ख्यातिवादकार कहता है कि यदि ऐसा है तो जो व्यक्ति स्वभावतया अत्यधिक पुण्येच्छु है वह साधारणतया सोम के उस स्थानापन्न को प्राप्त करने का प्रयास करेगा जिसमें सोम के अंश अत्यधिक मात्रा में हों। ऐसी स्थिति में श्रुति में सोम के स्थानापन्न के रूप में मात्र पुटिका का ही विधान क्यों है ? अतएव श्रुति-विहित पुटिका का दृष्टांत रामानुज के त्रिवृत्करण एवं सत्ख्यातिसिद्धांत को अग्राह्य-सा बना देता है।

यह कहा जा सकता है कि यदि दुग्ध सुरात्मक है तो शास्त्रों में इसका भी सुरा की भाँति निषेध क्यों नहीं किया गया ? इसका उत्तर यही हो सकता है कि दुग्ध में सुरा-अंश एवं दुग्ध-अंश दोनों मिश्रित होते हैं तथा दुग्ध-अंश अत्यधिक होता है। फलतः दुग्धपान से दोष या पाप नहीं होता है। धर्मशास्त्रों में गोमांस-विक्रय वर्जित है किन्तु गो-विक्रय वर्जित नहीं है यद्यपि गो-शरीर मांस युक्त है। साथ ही ब्राह्मण के लिए तेल-विक्रय वर्जित है किन्तु उसके लिए तेल-बीज-विक्रय वर्जित नहीं है यद्यपि तेल-बीज तेल-युक्त होता है। वास्तव में ये शास्त्रीय तथ्य भी रामानुज के सत्ख्यातिसिद्धांत को विचित्र अटपटी स्थिति में ला देते हैं।

रजत की अनुभूति के लिए सामन्यतया उत्तरदाई सभी उपकरण शुक्ति में नहीं होते। अतः शुक्ति में अनुभूत रजत, जो रामानुज के लिए सत् भी है, प्रत्यक्ष-कर्ता की वह सेवा करने में सक्षम क्यों नहीं होता है जो वास्तविकता रजत कर लेता है ? क्रिया में अन्तर स्वभाव में होने वाले अन्तर से फलित होता है और यहाँ पर स्वभाव में अन्तर नहीं माना जा सकता है क्योंकि दोनों (रजतों) का नाम एक ही है और दोनों का एक ही तात्त्विक स्तर है। इस सिलसिले में रामानुज की तरफ से यह कहा जा सकता है कि, चूंकि उन्होंने जगत् को किसी भी तरह से जीव पर निर्भर नहीं माना है, वह यह साबित करना चाहते हैं कि ज्ञान का कोई भी विषय या पदार्थ (प्रमेय) कल्पना जन्य नहीं है। जगत् सत् है, स्वयं वस्तुनिष्ठ है एव ईश्वर में प्रतिष्ठित है। प्रमेय (विषय) से मानसिक (विषयी) तत्त्व को पूर्णरूप से समाप्त करना एक दुरूह कार्य है। रामानुज के ख्यातिसिद्धांत में कमियाँ मुख्य-रूप से इस कारण से है कि वे कुछ ऐसी बात साबित करने के लिए सन्नद्ध दीख पड़ते हैं जो सामान्यजन के साधारण अनुभवों के विपरीत जाती है। अपने दैनंदिन अनुभवों से हम यह विश्वास करने के लिए बाध्य से हो जाते हैं कि हमारे प्रत्यक्ष कभी-कभी भौतिक पदार्थों की अभिव्यक्ति के द्योतक होते हैं और कभी-

कभी नहीं होते हैं। अतएव यह कहना कि भ्रान्ति भ्रान्त नहीं होती है तथा यह वास्तविक अनुभव की भाँति ही है अपने आप में पूरे पक्के विश्वास का सबूत है। वास्तव में प्राचीन भारतीय दर्शन में रामानुज का ही अकेला व्यक्तित्व ऐसा है जिसने प्रतिभासित पदार्थों को सत् स्थान प्रदान किया है। वस्तुवादी न्यायदर्शन द्वारा स्वीकृत अन्यथा ख्यातिसिद्धांत भी भ्रान्ति पदार्थ को पूर्ण वास्तविक एवं तथ्यात्मक नहीं मानता है। यह रामानुज का बहुत ही महत्त्वपूर्ण योगदान है कि उन्होंने भ्रान्ति को विषयीमूलक नहीं माना है। इसे स्थापित करने के लिए भले ही अन्य दार्शनिक उनकी आलोचना करें एवं भले ही उनके तर्क सबल न दीख पड़ते हों, फिर भी इससे उसके महत्त्व में वास्तव में कोई कमी नहीं आती है जिसके वे वास्तव में इस ख्यातिसिद्धांत के सन्दर्भ में अधिकारी हैं।

अन्त में यह द्रष्टव्य है कि रामानुज के लिए सत् ही ज्ञेय है। सत्ता सदा सविशेष है, निर्विशेष नहीं। जो वस्तु जैसी है उसे वैसी जानने में हम यह भी जान जाते हैं कि वह क्या है। सत्ख्यातिवाद आधुनिक अर्थ में वस्तुवाद नहीं है क्योंकि यह सृष्टि के भौतिक, आध्यात्मिक एवं दैनिक सभी रूपों पर दृष्टि रखता है। इसका पूर्ण फलितार्थ सद्विद्या के इस सिद्धांत में निहित है कि एक को जान लेने से सब ज्ञात हो जाता है। जगत् के अधिष्ठान ब्रह्म को जान लेने से जगत् भी ज्ञात हो जाता है। जगत् ब्रह्मात्मक है। यह सत् से निसृत है असत् से नहीं, और इसलिए यह सत् है। सृष्टि व्यवस्था एवं जीव समुदाय अपनी अस्मिता ब्रह्म से प्राप्त करते हैं जो सभी का आत्मन् स्वरूप है। अतः सब कुछ ब्रह्म का ही वाचक है। इस प्रकार रामानुज सद्विद्या के प्रकाश में सत्ख्याति को एक बृहत्तर अर्थ देते हैं और कहते हैं कि चूँकि ब्रह्म सत् है अतः जगत् भी सत् है।

जगत् नारायण मिश्र

मानविकी एवं सामाजिक विज्ञान
विभाग
भारतीय तकनीकी प्रौद्योगिक संस्थान
कानपुर– २०८०१६
(उ. प्र.)

टिप्पणियाँ

१. यथार्थं सर्वविज्ञानम् इति वेदविदां मतम्। श्रीभाष्य १, १, १

२. ....स्वल्पत्वात् तत्र न व्यवहार इति तज्ज्ञानम्
भ्रम: । यतीन्द्रमतदीपिका

३. सर्व ज्ञानं सत्यं सविशेषविषयं च । वही

४. श्रुत्यैव दर्शिता, तस्मात् सर्वे सर्वत्र संगता: । श्रीभाष्य १, १, १

५. पृथिव्यादिषु सर्वत्र सर्वभूतानां विद्यमानत्वात् ।
यतीन्द्रमतदीपिका ।

६. तदेव सादृश्यम् तस्य यत् तद्-द्रव्यैक-देशभाक् । शुक्त्यादौ रजतादेश्च
भाव: श्रुत्यैव चोदित: । श्रीभाष्य १, १, १

७. अत: सर्वम् विज्ञानजातम् यथार्थ इति सिद्धम । वही

८. नासतो जातं किंचित् गृह्यते लोके कार्यम् । तैत्तिरीयोपनिषद् २. ६

९. नासत्वं क्वचिदिति ब्रूम: । छां. उप ६. २. ३

१०. यन्नास्ति तन्नोपलभ्यते ..... । तैत्तिरीयोपनिषद् २. ६

११. ...... शुक्त्यांशाग्रहहेतु:
अदृष्टवासाश्च रजतग्रहणम् ।
श्रीभाष्य १. १. १ (श्रुतप्रकाशिका)

१२. अतो यथार्थ रूप्यादि-विज्ञानम् शुक्तिादिषु बाह्यबाधक-
भावोऽपि भूयस्त्वेनोपपद्यते । श्रीभाष्य १, १, १

१३. नातो मिथ्यार्थ-सत्यार्थ-विषयत्व-निबन्धना: । एवं
सर्वस्य सर्वत्वे व्यवहार-व्यवस्थिति: । वही

१४. सत्‌ख्याति सिद्धान्त को यह बात अभिप्रेत है कि भ्रान्ति किसी भी
तरह से किसी भी प्रकार की क्रिया के सम्पादन से उद्‌भूत नहीं
होती है ।

वैष्णव धर्म एवं विश्वशांति

धर्म मनुष्य की चेतना का आयाम है जो उसके जीवन को अर्थवत्ता देता है।[1] प्राय: अर्थवत्ता की सीमा में सामान्य रूप में यह सब कुछ मान लिया जाता है जो बाह्य सुविधादि से युक्त हो। किंतु यदि यह सही हो तो अधिकांश व्यक्ति इस स्थिति को उपलब्ध होते हैं, परंतु वे स्वयं यह मानते हैं कि उनके जीवन में अर्थवत्ता नहीं है। अत: प्रश्न उठता है कि धर्म यदि जीवन को अर्थवत्ता देता है तो किस प्रकार से? या धर्म केवल एक भावनात्मक भ्रम है?

सभी युगों में यह प्रश्न मनुष्य के चिंतन का कलेवर रहा है किसी भी युग का कोई भी चिंतक, सुधारक या साधक क्यों न हो, उसे इस प्रश्न से टकराना पड़ा है। न केवल इतना ही, अपितु जब तक उसने इस प्रश्न को अपने युग एवं परिस्थिति के अनुसार सुलझा न लिया हो तब तक वह आगे नहीं बढ़ सका है। युग एवं चिंतक बदलते रहे किंतु प्रश्न फिर भी अपनी जगह खड़ा है। आज भी उसकी यही पुकार है। पूर्व युगों में इस प्रश्न के जो उत्तर दिए गये हैं वे उत्तर क्या व्यर्थ हैं, यह जिज्ञासा उठना स्वाभाविक है। यदि वे उत्तर व्यर्थ हैं या थे तो उन्हें उत्तर ही क्यों माना गया, यह भी शंका उठती है। जब इस तरह की जिज्ञासा एवं शंका एक–दो नहीं अपितु समाज के कई लोगों को कई स्तरों पर होती हो तो या तो धार्मिक-अनास्था का प्रभुत्व बढ़ने लगता है या धर्म की भूमिका के पुर्नमूल्यांकन की तीव्र आवश्यकता होती है। आज यही स्थिति बन गयी है। मनुष्य समाज दो अतिरेकों में विभाजित हो रहा है। अर्थवत्ता स्थापित न कर पाने के कारण धर्म के प्रति अनास्था रखनेवाला वर्ग और दूसरी तरफ धर्म के पुर्नमूल्यांकन और पुनर्व्याख्या में लगा हुआ वर्ग। दोनों ही वर्गों की पद्धति एक दूसरे को काटने, तिरस्कृत करने और स्वयं को समाज के नेतृत्व के योग्य मानने की रही है। अनास्थावादी वर्ग के पास विज्ञान और उसके चमत्कार हैं तो दूसरे वर्ग के पास प्राचीनशास्त्र, संत-परम्परा और श्रद्धा का आधार है। दोनों ने ऐसी स्थिति पैदा कर दी है कि जनसामान्य या तो इस वर्ग का रहे या उस वर्ग का।

चुनाव की यह तथाकथित अनिवार्यता व्यक्ति को न तो अनास्थावादी वर्ग में संतोष दे पा रही है न पुनर्व्याख्यावादी वर्ग में। जब वह पहले वर्ग में होता है तो उसे शांति और सहृदयता की कमी अनुभव होती है और जब वह दूसरे वर्ग में होता है तो उसे सुख, ऐश्वर्य और सुविधा आकर्षित करते हैं। यही कारण है कि कभी वह इस वर्ग में तो कभी उस वर्ग में दिखाई देता है। यह अनिश्चितता की स्थिति उस दृष्टिकोण का परिणाम है जो जीवन को वर्गीकृत मानता है। अनास्थावादी वर्ग जीवन की समग्रता से अपरिचित है तो पुनर्व्याख्यावादी वर्ग उसे विस्मृत कर चुका है। दोनों वर्गों की इस स्थिति का सीधा प्रभाव समाज पर गिरता है। अतः वहाँ भी एक अनिश्चय, द्वंद्व, तनाव और असंतोष है।

धर्म की शास्त्रीय परिभाषा जो कुछ भी हो उसकी मूलध्वनि उस अनुभूति की संकेतक है जो व्यक्ति, वर्ग, समाज, देश या विश्व को लाँघती हुई एक समग्रता का दृष्टिकोण देती है।[२] ध्यातव्य यह है कि धर्म में समग्रता का यह दृष्टिकोण विचारगत नहीं अनुभवगत होता है। विचार इस अनुभूति का अनुगामी है, उसकी परवर्ती उपज है। अतः मात्र विचार के आधार पर आई हुई समग्रता, इस अनुभूति से प्राप्त समग्रता से मात्रा में ही नहीं, गुणात्मक रूप में भी भिन्न होती है। यही कारण है कि विचार के आधार पर अंतरिक्ष और जगत् की समग्रता की चर्चा करनेवाले किसी भी तरह का विनाश करने में संकोच नहीं करते जब कि अनुभूति के आधार पर समग्रता की बात करनेवाले सुई चुभोने में भी संकोच करेंगे।[३] यह उस अनुभूति का ही परिणाम है जो क्रिया को प्रभावित करती है। जो क्रिया को प्रभावित न कर सके वह अच्छा सिद्धांत हो सकता है, धर्म नहीं। क्रिया अथवा व्यवहार के प्रभावित होने पर ही जीवन की अर्थवत्ता आधारित है। अतः धर्म यदि इस अनुभूति परिवर्तन का प्रयोजक बनता है तभी वह स्वीकार्य होता है। वैष्णव धर्म की समाज-स्वीकृति के मूल में यही कारण प्रमुख रहा है।[४]

विष्णु को परमतत्त्व अथवा ईश्वर मानते हुए उनके अन्य रूपों या अवतारों को भी समान महत्त्व देनेवाले इस धर्म की प्राचीनता ऋग्वेद तक पहुँचती है। विद्वानों की ऐसी मान्यता है कि ऋग्वेद का पुरुषसूक्त इस धर्म की नींव है।[५] इस सूक्त में एक ऐसे परम दिव्य पुरुष की कल्पना की गयी है जिसके सहस्त्रों सिर हैं, हाथ पैर हैं, वायु जिसका श्वास है, सूर्य चंद्र जिसके नेत्र हैं, आदि-आदि। इस तरह पुरुषसूक्त में पहली बार मानवीय हृदय ने दिव्य सगुणता के दर्शन किये। इसके बाद कई तरह से इस सगुणतामूलक धारा का विकास होता रहा। उपनिषदों में कहीं सगुणता प्रमुख है तो कहीं निर्गुणता।[६] ऐसा प्रतीत होता है

कि उपनिषदों में इन दोनों धाराओं को उनके पूरे विस्तार के साथ प्रस्तुत किया गया है और मनुष्य चेतना को अपनी अनुकूल धारा में प्रवाहित होने की पूर्ण स्वतंत्रता दे दी गयी हो। किंतु परवर्ती आचार्यों विशेषत: आदि शंकराचार्य ने तर्क-बल और पांडित्य-गांभीर्य के आधार पर जब अद्वैतवाद को एकमात्र औपनिषदिक उत्तराधिकारी घोषित किया, उसका प्रचार-प्रसार किया तो वर्षों तक धर्म एवं दर्शन के क्षेत्र में उनकी वाणी ही गूंजती रही। इसके तले अन्य स्वर दब गये। किंतु धीरे-धीरे तर्क, चिंतन, पारमार्थिकता, निर्गुणता और मायावाद ने जागतिक जीवन में अर्थहीनता और निष्क्रियता को फैला दिया। तर्क के सर्वोच्च शिखर तक पहुँचते-पहुँचते मानव हृदय स्नेह-शून्य होने लगा। यह भीषण शून्यता हृदय की कोमलता के लिए सह्य नहीं थी।[७] ऐसी स्थिति में मनुष्य के मन में भक्ति का निर्झर फूटता है और उसकी भावना समर्पण-प्रान्त में थिरकने लगती है।[८] जीवन के प्रति ललक, ऊष्मा, सौहार्द और धन्यता उत्पन्न होने लगते हैं। शंकर के तर्कवाद का यही परिणाम होना था। आलवार संतों के भक्ति साहित्य में भावना, समर्पण और विश्वास की जो त्रिवेणी प्रवाहित है उसने जनमानस के तर्क-शुष्क प्रांत में रस वर्षा कर दी।[९] इस आनंद के समक्ष माया, तर्क और बुद्धि की बातें बौनी लगने लगीं।

यह स्थिति एक भावधारा को दर्शाती है जिसमें वैष्णव संतों एवं आचार्यों ने भी अवगाहन किया। किंतु ऐसा नहीं है कि यह भावना मात्र ही वैष्णव धर्म का आधार है। वैष्णवाचार्यों ने इस भावना को चिंतन ज्ञान और तर्क की कसौटी पर भी परखा है। अत: वैष्णव धर्म मात्र भावुकता से ग्रस्त हृदय की पुकार ही नहीं है अपितु चिंतन की गहराई और बुद्धि-समर्पित जीवन दर्शन भी है। यहाँ संक्षेप में उन मूल मान्यताओं की चर्चा करना प्रासंगिक होगा जिन्हें वैष्णव धर्म के चारों हीं प्रमुख सम्प्रदाय स्वीकार करते हैं। ये हैं परमतत्त्व की सगुणता,[१०] जीव की परमतत्त्व से पृथक्ता,[११] जगत् की यथार्थता,[१२] परमलक्ष्य की आनंदपूर्णता[१३] और भक्ति की साधनता।[१४]

मनुष्य की आदि जिज्ञासा परम तत्त्व के अस्तित्व से अधिक उसके स्वरूप को जानने की रही है। चिन्तन एवं तार्किक आवश्यकता ने निर्गुणवाद को यद्यपि अनिवार्यता बनाकर प्रस्तुत किया है किंतु यह न केवल भावना के धरातल पर अपितु बौद्धिक धरातल पर भी स्वीकार्य नहीं है। वैष्णवाचार्यों की इस सम्बन्ध में मूल युक्ति यह है कि सगुणता अनन्त-

अनादि और चेतनामय है। "निर्गुण" कहने अथवा जानने के लिए भी सगुण अनिवार्य है। जिस सगुणता के बिना निर्गुणता का विचार भी संभव नहीं है, वही यथार्थ है।[15] निर्गुण तत्व को 'सत्-चित् आनंद' या 'सत्यं, ज्ञानं, अनन्तम्' से विभूषित करना सगुणता की ही स्वीकृति है। सगुणता मात्र साकारिता नहीं है। अतः वैष्णव मत निर्विवाद रूप से यह प्रस्तुत करता है कि परम तत्त्व सगुण है और उसे ब्रह्म, परमात्मा भगवान्, नारायण पुरुषोत्तम, राम या कृष्ण किसी भी संज्ञा से संबोधित किया जा सकता है।[16] यही सगुण तत्त्व शक्ति, सौंदर्य, आनंद सर्वीश्वरत्व और ज्ञान का पूर्ण समुच्चय है।

वैष्णव मत इस औपनिषदिक् मान्यता को स्वीकार करता है कि समस्त जीव अग्नि-स्फुल्लिगों की तरह पृथक् हैं। वे उस परम तत्त्व के गुणों को निहित रखते हुए भी उससे भिन्न हैं। यद्यपि जीव का शुद्ध रूप चेतनामय, निर्मल ज्ञान, आनंद और अमरता से युक्त है किंतु वह उस परम सगुण तत्त्व से एक नहीं है। यदि उन्हें एक मान लिया जाय तो आनंद-क्रीडा का लोप हो जाता है।[17] यद्यपि वैष्णव सम्प्रदायों में इस सम्बन्ध को लेकर भिन्न भिन्न मत हैं कि इसका स्वरूप क्या है किंतु कोई भी वैष्णवाचार्य दोनों को आत्यन्तिक रूप से एक स्वीकार नहीं करते हैं। अपनी पृथक् सत्ता के कारण जीव आनंद-निधि की ओर अग्रसर भी हो सकता है या फिर उस ओर भी जा सकता है, जहाँ बंधन, रोग, क्लेश, शोक और पतन है।

सृष्टि ईश्वर की कृति है और संसार मनुष्य की। अतः जगत् अपने रचयिता के समान यथार्थ है। किंतु संसार, जो कि सम्बन्धों की क्षणभंगुरता से निर्मित है, अयथार्थ और विनाशी है। ये सम्बन्ध मनुष्य के काम, क्रोध, लोभादि के कारण निर्मित होते हैं। अतः जीव इनसे तादात्म्य करने के कारण अपनी मूल स्थिति को विस्मृत कर देता है। वास्तविक सम्बन्ध तो वह है जो उस परम माधुर्यमय से होता है। वैष्णवमत सांसारिकता को मनुष्य-कृत मान कर उससे ऊपर उठने और ईश्वर की निकटता पाने की आवश्यकता प्रतिपादित करता है।

परमतत्त्व की सगुणता, जीव की पृथक्ता और जगत् की यथार्थता को स्वीकार करने के साथ ही वैष्णवमत मनुष्य के परम लक्ष्य को आनंद की पूर्णता

मानता है। आनंद चेतना की वह स्थिति है जब उसमें राग–मोहादि की मलिनता नष्ट हो गई हो और वह परमसाध्य का सान्निध्य प्राप्त कर लेती हो। इस सान्निध्य में वह पूर्ण तृप्ति है जिसकी प्यास जीव को जन्म-जन्मान्तरों तक भटकाती रही है, यहाँ तक कि इस सृष्टि के लिए वह कई बार अवांछनीय मार्ग का पथिक भी बन गया है। कभी धन, पद तो कभी इन्द्रिय सुख और कभी पाप कर्मों में उसने इस तृप्ति को पाना चाहा है किंतु इनसे वह और अधिक अतृप्त हुआ है। अत: वैष्णवमत परम लक्ष्य को परम आनंद मानता है। प्रश्न है कि इस आनंद की प्राप्ति कैसे हो? उत्तर रूप में वैष्णवमत की प्रस्तुति है कि इस आनंद की प्राप्ति का साधन भक्ति है। प्रत्येक जीव भक्त है किंतु अहंकार एवं स्वार्थ के कारण उसमें भक्ति उत्पन्न नहीं होती। फलस्वरूप वह उस परम माधुर्य की प्राप्ति से वंचित रह जाता है जो उसकी अन्तस्थ तीव्र आवश्यकता है। अहंकार और स्वार्थ को विगलित करने के लिए निम्न पांच उपायों को वैष्णवमत प्रस्तुत करता है– आनुकूलस्य संकल्प:, प्रातिकूलस्य वर्जनम्, रक्षायिष्यति विश्वासम्, गोप्तृत्ववरणम् एवं कार्पण्यम्। अर्थात् ईश्वर की इच्छा के अनुकूल आचरण का संकल्प और प्रतिकूल करने का निषेध। यह पूर्ण विश्वास रखना कि ईश्वर रक्षा करेगा। उस परम माधुर्यमय की शरणागति प्राप्त करना और दीन भाव रखना। इन्हीं उपायों में पारतन्त्र्य, निर्भरत्व, एकान्तित्व और सम्बन्धज्ञानित्व भी सम्मिलित माने गए हैं।

यहाँ हमने संक्षेप में उन मान्यताओं को ही प्रस्तुत किया है जिन्हें वैष्णवमत की स्वीकृति प्राप्त है। वैष्णवमत का समस्त उद्यम व्यक्ति में निहित उस भावराशि को प्रस्फुटित करने का है जो अर्धज्ञान एवं अहंकार के कारण प्रस्फुटित नहीं हो पाती है। इस प्रस्फुटन के बिना उसकी चेतना में व्याप्त अतृप्ति उसे संघर्ष, तनाव दबाव और परपीड़न के मार्ग पर ढ़केल देती है। जब कुछ व्यक्ति स्वयं की तृप्ति के लिए अन्य लोगों की उपेक्षा करते हैं या उन्हें अपनी तृप्ति का उपकरण मानने लगते हैं तो वे दूसरों को भी बाध्य करते हैं कि वे भी उन्हें उपकरण की तरह मानें। इस तरह इस संख्या–बहुल विश्व में संघर्ष और तनाव का वातावरण व्यक्ति, देश, समाज और विश्व स्तर पर प्रारंभ हो जाता है। इस संघर्ष और तनाव का कभी राजनैतिक–सामाजिक तो कभी आर्थिक–धार्मिक रूप होता है। किंतु इन सारे रूपों के पीछे मूलतम कारण वही अतृप्ति होती है। जन्म ले चुके प्रत्येक व्यक्ति को सुख, यश, प्रेम और सुरक्षा चाहिए। प्रदत्त सामाजिक, आर्थिक और

राजनीतिक व्यवस्था ऐसी सक्षम नहीं है कि वह सभी व्यक्तियों में निहित इस अतृप्ति की पूर्ति कर सके। जिन्हें कुछ सीमा तक यह तृप्ति मिलती है वे यह स्वीकार ही नहीं करते कि उन्हें कुछ प्राप्त हुआ है क्योंकि उनके अहंकार और स्वार्थ की तुलना में वह नगण्य है। ऐसी स्थिति में सभी संघर्षशील हो जाते हैं– वे भी जिन्हें कम प्राप्त है और वे भी जिन्हें इन कम प्राप्त व्यक्तियों से अधिक प्राप्त है। इस तरह यह संघर्ष एक असन्तुलन को अशांति को जन्म देता है। यह अशांति वैयक्तिक स्तर पर तो प्रभावी होती ही है लेकिन सामूहिक स्तर पर कहीं अधिक प्रभावी होती है। सामूहिकता ही राष्ट्रीयता और जातीयता के रूप में प्रकट होती है और इसका राजनीतिकरण होने पर यह युद्ध का कारण भी बन सकती है। युद्ध भी उसी अतृप्ति की पूर्ति के साधन रूप में आता है।[१८] किंतु जब इससे भी लक्ष्य प्राप्त नहीं होता तो शांति और समझौते की चर्चा प्रारंभ की जाती है।

प्रश्न पूछा जा सकता है कि शांति क्या है? क्या संघर्षहीनता या युद्धहीनता शांति है? शायद नहीं। शांति कहते ही हमारे मन में एक ऐसी सन्तुलित, आक्रोश और तनावरहित प्रेमयुक्त स्थिति का आभास होता है जैसे मन में धीरे–धीरे ठंडी हवा बहने लगी हो जो तृप्ति का अनुभव करवाती हो। वैयक्तिक स्तर पर इस सन्तुलित-प्रेमयुक्त स्थिति को शांति माना जाय तो विश्व स्तर पर इसका क्या स्वरूप होगा, यह प्रश्न उभरता है। प्रायः विश्वशांति को युद्धहीनता या निःशस्त्रीकरण के सन्दर्भ में ही समझा जाता है जो सही नहीं है। युद्ध न हो किंतु युद्ध की धमकी या दबाव हो सकता है। अथवा कुछ ऐसे अप्रत्यक्ष बंधन हो सकते हैं जो दो राष्ट्रों में लगाए गए हों। दूसरे को अपनी तृप्ति का उपकरण जब तक व्यक्ति एवं देश के स्तर पर माना जाता है तब तक वैयक्तिक शांति हो या वैश्विक शांति हो, उपलब्ध नहीं हो सकती।

प्रश्न यह है कि व्यक्ति को कैसे यह अनुभूति हो कि दूसरे भी उसी की तरह हैं? विज्ञान ने निश्चित रूप से बेशुमार अनुसन्धान–आविष्कार किए हैं किंतु अभी तक वह ऐसा कोई कैप्सूल नहीं बना पाया है जो व्यक्ति में इस तरह की अनुभूति उत्पन्न कर सके। इस अनुभूति के बिना उसकी क्रिया में परिवर्तन नहीं आ सकता। इस स्थिति में धर्म से ही अपेक्षा रखी जा सकती है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि वैष्णवमत अनुभूति मूलक धर्म है। तर्क, बुद्धि और ज्ञान से बढ़कर भावना

ही इसकी स्वीकृति है । यह धर्म व्यक्ति को आनंद का पीयूषपान करवाने में समर्थ है । चाहे उसका दास्य, सख्य, वात्सल्य, मैत्री या दांपत्य कोई भी रूप क्यों न हो । जहाँ व्यक्ति दूसरे की पीड़ा को, उसके दुःख को अपने दुःख जैसा मानने लगे, वहाँ ही वैष्णवभाव है । जब सभी लोगों के बारे में यही भावना रखी जाएगी तो इसका सामूहिक रूप ही विश्व शांति कहा जाएगा । विश्व शांति को राजनीतिक या सामाजिक अथवा आर्थिक रूपों में वर्गीकृत करके देखना उचित नहीं कहा जा सकता है क्योंकि इन सबके मध्य मनुष्य ही तो है । उसकी तृप्ति से ही तो आनंद की, रस की निष्पत्ति होगी । ऐसा हो सके इसके लिए एक के लिए अन्य को और अन्य के लिए एक को एक दूसरे का सहभागी बनाना पड़ेगा । वैष्णवमत में यही सहभागिता 'रास' है ।[१९] जहाँ 'रास' है वहाँ आनंद है, शांति है, चाहे व्यक्ति के स्तर पर हो या देश अथवा विश्व के स्तर पर ।

दर्शन विभाग
सुखाड़िया विश्वविद्यालय
उदयपुर– ३१३००१
(राजस्थान)

– एस्. आर्. व्यास

टिप्पणियाँ

१. H. A. Skinner, *The Meaning of Life*, p. १७३

२. John Hick, *The Philosophy of Religion*, p. १६०.
(II Ed.)

३. S. Thomson, *Beyond Science*, p. २३१.

४. Radhakrishnan, *Indian Philosophy*, Vol. II. pp. ६५९-६२

५. S. N. Dasgupta, *History of Indian Philosophy*, Vol. III
p. १६–१८.

६. बृ. उप. ४:३.३७ छा. उप. ६.२:१२.

७. S. N. Dasgupta, *History of Indian Philosophy*, Vol. III
p. १२

८. वही पृ. २५

९. वही, पृ. ३२.

१०. श्वेता. उप. १:१२, श्रीभाष्य, पृ. ८३.

११. बृ. उप. ३:६:३, श्वेता. उप. ५:९, ६:९, दशश्लोकी –१.

१२. ईशा. उप. ८, ब्रह्म सूत्र १:४:८, १:१:३, और २:१:१५, पर श्रीभाष्य.

१३. भागवत ११:१०:१४, ६:११:२६.

१४. श्रीभाष्य १:१:१, यतींद्र मत दीपिका पृ. ३८–४०.

१५. सर्वदर्शन संग्रह, पृ. ४३.

१६. मीरा श्रीवास्तव, मध्ययुगीन भक्तिधारा, पृ. ४२–४७.

१७. श्रीमद्भागवत १/२/११

१८. Brunner, *Man in Revolt*, p. १२३.

१९. राससुधानिधि – ४.

धर्म का क्षेत्र

छोटे से छोटे प्राणी के लिए भी जीवन विविधतापूर्ण है। बाहरी स्थितियों के विस्तार पर जीवन की प्रक्रिया व्यापक रूप से निर्भर करती है। किसी भी दिशा में अति होने पर उसे नियति या भाग्य पर छोड़ दिया जाता है। प्रत्येक जीव मन की असंख्य भावनाओं एवं संदेहों से मुक्त रहता है। प्राणी न केवल तात्कालिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है तथा न ही सामने आये संदेहों एवं कठिनाइयों पर विजय पाता है बल्कि वह भविष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति की भी व्यवस्था करता है तथा अपनी वंशपरम्परा की निरंतरता के लिए शिशु की कामना करता है। जीवन की यह विविधतापूर्ण प्रक्रिया कई समायोजनों पर निर्भर है तथा न ही इन समायोजनों का कहीं अंत है। इन समायोजनों के लिए विस्तृत तथा गहन मार्गदर्शन, निर्देशन तथा दिशा-संकेत अत्यंत आवश्यक है तथा इस मार्गदर्शन के अभाव में मधुर सम्बंधों की अपेक्षा नहीं की जा सकती है।

जब इस धरती पर मानव जाति के जीवन निर्वाह के साहसी एवं खोज प्रयत्नों का सर्वेक्षण किया जाता है तो मार्गदर्शन के दो महत्त्वपूर्ण एवं क्रांतिकारी तरीके स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं। जीवन जीने की जिस कला को भूतकाल में सफल माना गया है या कहा गया है उसी मार्ग पर जीवन को अग्रसर किया जाय। इस स्थिति में भविष्य पर कोई विचार न किया जाय, या भविष्य के कार्य-कलापों को इस सजगतापूर्वक कल्पना के सहारे आगे बढ़ाया जाय कि परम-शक्ति के क्या क्या आशीर्वाद प्राप्त हो सकते हैं तथा किन किन अशुभ कार्यों का निवारण करना है या उन पर काबू पाना है। दूसरा तरीका भविष्य को प्रज्ञा के सहारे जान कर वर्तमान में ऐसे सुधार लाने का है जिनके आधार पर वर्तमान भविष्य से संगत रीति से जोड़ा जा सके। पहला तरीका सहज प्रवृत्ति पर आधारित है। जब कि दूसरा बुद्धि पर। सहज प्रवृत्ति भविष्य के प्रति कभी लापरवाह नहीं रही है वरन् वह मानव को भूतकाल के अनुभवों से भविष्य में

विविधताओं का सामना करने के लिए तैयार करती है पर साथ ही वह भविष्य की रूपरेखा पर भी कोई विचार नहीं करता है।

इसमें यह विश्वास जुड़ा हुआ है कि सांसारिक व्यवस्थाओं का यह चक्र अविच्छिन्न रूप से चलता ही रहता है तथा एक बार जो व्यवस्था सफल हो गई वही सदैव के लिए उपयुक्त रहेगी। इसके विपरीत प्रज्ञा भूतकाल के तत्त्वों को भूलती नहीं है तथा मात्र बुद्धि ही यह संकेत देती है कि भविष्य में क्या होने वाला है? सहज प्रवृत्ति भविष्य के प्रति सजग नहीं है, जब कि बुद्धि भविष्य के प्रति सजग है।

आपसी समझ बूझ तथा सहज प्रवृत्ति ये दो कारक सांसारिक कार्यों के संचालन में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इन दो कारकों के बीच कई परिवर्तनीय तरीके या क्रम आते हैं जो मूलत: स्थायी नहीं है तथा एक या दूसरी ओर मुडते या रुख लेते पाये जाते हैं। यदि एक बार यह प्रश्न उठा कि काम क्यों किया जाता है? तथा किन उद्देश्यों या लक्ष्यों को दृष्टिगत रख कर काम किया जाता है? तो पूर्ण प्रज्ञा या बुद्धि या प्रकाश की स्थिति में विश्वास नहीं किया जा सकता। इसके दूसरी ओर, यदि कार्यों के औचित्य के स्पष्टीकरण पर आग्रह न किया जाय तथा रीति रिवाजों के अंध भक्त बन जाय तो व्यवहार तत्काल ही रूढ या परिवर्तन होने या लकीर पीटने के समान हो जायेगा तथा यह व्यवहार किसी भी पशु के समान सहज प्रवृत्ति जन्य होगा, जब तक कि चारों ओर के वातावरण में अप्रत्माशित झटके या स्थिर वस्तुओं में परिवर्तन आवश्यक न हो जाय या वे परिवर्तन को उद्यत न हो जाय।

बुद्धि का अपरिहार्य फल धर्म है। कोई यह नहीं पूछता कि धर्म का जन्म कैसे हुआ या धर्म कैसे अस्तित्व मे आया और किस काम के लिए या उद्देश्य के लिए आया? इससे धर्म के विकास पर विचार को टाला जा सकता है यद्यपि यह विकास पर विचार पारम्परिक रीति से नहीं हो सकता। कोई बच्चा, जिसे कोई काम सम्पन्न करने को कहा गया है, पूछता है "माता जो! मुझे यह काम क्यों करना चाहिये?' यह प्रश्न ही धर्म की ओर से आंख मूंदने वाला एक प्रारम्भिक कदम है। एक प्रश्न दूसरे प्रश्न को जन्म देता है। जब कार्य करने के उद्देश्य पूछने की शुरुआत होती है तो रुकने की कोई सम्भावना नहीं लगती है, जब तक कि स्वयं जीवन का ही उद्देश्य ज्ञात न हो जाय। अन्य प्रश्न कि – कार्य कैसे होता है या यह किससे बना है? विज्ञान की ओर मुडने को प्रेरित करते हैं तथा यह प्रश्न कि "इसके बारे में कैसे आश्वस्त हुआ जा सकता है?" यहीं से

आलोचनात्मक दर्शन-शास्त्र के अध्ययन की शुरुआत होती है। यह प्रश्न कि "यही क्यों किया जाय ? नैतिक उद्देश्यों या मूल्य के संदर्भ में ही पूछा जाता है तथा ऐसे प्रश्न का अन्तिम रूप से धर्म द्वारा ही उत्तर दिया जा सकता है।

मानव के अस्तित्व के अंतिम उद्देश्यों को जानने के लिए ही मानवीय प्रयत्नों के रूप में तथा शाश्वत मूल्यों के संदर्भ में जीवन व्यवहार को संचालित करने के लिए धर्म का विकास हुआ। इस प्रकार के उद्देश्य के साथ इस प्रकार की उपज धर्म अब तक के मानवीय प्रयत्नों के रूप में व्यापक समन्वय का अभिन्न कारक बनना चाहिये। अन्य किसी भी क्षेत्र में मानव ने इतनी प्रगति नहीं की है और न ही जीवन के प्रत्येक कार्य को इकाई के रूप में संगुथित करने के लिए मानव ने साहस के साथ कार्य ही किया है। धर्म से जुड़े दो महत्त्वपूर्ण प्रश्न "मैं यहाँ कैसे हूँ ?" तथा किस उद्देश्य या कार्य के लिए ? तथा "इस उद्देश्य को मैं कैसे प्राप्त कर सकता हूँ ?" सिद्धांतों तथा अनुभवों के क्षेत्र में सुदूर उडाने भरने को, विचार विमर्श करने को प्रेरित करते हैं। मानव को बहुत कम जानकारी है या काफी जानकारी उससे असम्बंधित या अलाभप्रद है। दूसरे शब्दों में, काफी सूचनाएँ मानव के लिए निरर्थक है।

पहला प्रश्न कि "मैं यहाँ कैसे हूँ या किस उद्देश्य के लिए ?" बिना विश्व के व्यापक ज्ञान, उसकी उत्पत्ति तथा उसके पक्ष–विपक्ष को जाने कठिनाई से ही उत्तर दिया जा सकता है। ये दार्शनिक समस्याएँ है पर यदि दर्शनशास्त्र बिना विज्ञान के संदर्भ में विचार करें तो ऐसे दर्शनशास्त्र पर सम्भवतः श्रद्धा नहीं हो सकती या ऐसे दर्शन शास्त्र को सम्मान की दृष्टि से नहीं देखा जाता। प्रत्येक धर्म दर्शन से जुड़ा हुआ है तथा आधार पाने के लिये, उस धर्म एवं दृष्टिकोण की प्राप्ति के लिए तत्त्वज्ञानियों की और दृष्टिपात करता है। ज्योंही धर्म अपने समय के प्रबुद्ध विचारकों की राय से दूर हटता है तो वह अपने को अनिश्चय की स्थिति में पाता है। वह समय की आवश्यकताओं के अनुरूप सजीव एवं उपयोगी सिद्धांतों की अपेक्षा पुराना सम्प्रत्यय या विचार बन जाता है। यदि उलझनपूर्ण स्थितियों का वैज्ञानिक तथा दार्शनिक धरातल पर तालमेल नहीं हो सके तो नई पीढी की दृष्टि से धर्म भाग्य से अधिक कुछ नहीं हो सकता। सूझबूझ वाले व्यक्तियों एवं संवेदनशील हृदयों में तालमेल के प्रयत्न सदैव होते रहेंगे। संतुष्ट करने वाला धर्म वैज्ञानिक तथ्यों तथा स्वीकृत दार्शनिक सिद्धांतों में मधुर सम्बंधों का जनक बनना चाहिये एवं इस तालमेल से शक्ति एवं साहचर्य बढ़ना चाहिये।

दर्शन, धर्म एवं विज्ञान तीनों का समन्वित पाठ्यक्रम आश्चर्यजनक एवं महान् उपलब्धियों की प्राप्ती कराने वाला हो सकता है तथा किसी भी अनुशासन की कमी को दूर कर सकता है। यदि इस प्रकार के विचार विमर्श से सामान्य वैचारिक पृष्ठभूमि की रचना होती है तो वह विज्ञान या दर्शन के क्षेत्र में कोई गड़बड़ी या उलझन पैदा नहीं करेगी। फलतः विज्ञान तथा दर्शन को अपने सिद्धांतों में संशोधन करने की आवश्यता नहीं होगी। प्रज्ञा एवं धर्म, दर्शन तथा विज्ञान से परे नहीं है बल्कि लाभदायक रूप से उन्हें मार्गदर्शन करते हैं। तत्त्वज्ञान से गलत अर्थ लिया गया है, जब कि प्रज्ञा एवं धर्म ने सभी आध्यात्मिक परम्परायें तैयार की हैं, नैतिक विकास किया है। ऐतिहासिक आंशिक विकृत रूप में धर्म केवल पूर्ण मानव के लिए ही सार्थक हो सकता है पर उसका मार्गदर्शन सभी सत्य के प्रेमी एवं निष्कपट व्यक्तियों को मिलना चाहिये।

निश्चय ही धर्म सदैव ही दर्शन से कुछ अधिक व्यापक रहा है। दूसरा प्रश्न है—"मैं जीवन के लक्ष्य को कैसे पा सकता हूं?" प्रश्न ही उडान या विचार के क्षेत्र से कर्म के क्षेत्र में लाता है। सभी महान् धर्म मनुष्य के भाग्य पर विचार करते हैं तथा घोषणा करते हैं कि बिना प्रयत्न किये जीवन के उच्च उद्देश्य प्राप्त नहीं हो सकते। हम क्या होंगे? या हम क्या बनेंगे? यह अंततः इस पर निर्भर करता है कि हम आज क्या हैं या हमारी अंतरात्मा कैसी है? चरित्र तथा कार्य एक दूसरे से प्रभावित होते हैं। हम क्या हैं? यह इससे निश्चित किया जाता है कि हम क्या कर रहे हैं? ठीक उसी प्रकार जैसे कि हम जो करते हैं उसी से हम क्या हैं? यह धारणा स्पष्ट होती है। हर सहज कार्य अपना संकेत, छाया या प्रभाव चरित्र पर छोडता है। इसलिए सभी मानवीय क्रियायें तथा संस्थाएं जो उन कार्य व्यवहारों को संरक्षण तथा दिशा-निर्देश देती हैं, धर्म के क्षेत्र में समाविष्ट की जाती हैं। मानवीय जीवन के सभी पक्षों पर धर्म उद्देश्यों के साथ जुडा हुआ है। पालने से शमसान तक गिरते, उठते, खाते, पीते, उठते—बैठते, प्रगति या पतन के समय समर्पित व्यक्ति धर्म से मार्गदर्शन पाने की अपेक्षा करता है। धर्म को नैतिकता से पृथक् नहीं किया जा सकता। सभी मानवीय क्रियाओं का नैतिक पक्ष होता है। महान् आध्यात्मिक परम्परायें लम्बे समय से नैतिक मूल्यों पर आग्रह करती रही हैं जिससे शिक्षार्थी एक पवित्रात्मा बन सके। एक व्यक्ति न्यूनाधिक रूप से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्षतः अपने ही साथी के कल्याण को प्रभावित कर सकता है।

विज्ञान तथा दर्शन की अध्ययन हेतु अपनी अपनी विधियाँ हैं तथा दोनों का एक विशिष्ट समय में अपना अपना पर्यावरण होता है। यह पर्यावरण आज के धर्म के साथ तालमेल बिठा लेगा, यह कठिन है। न केवल इतना ही, बल्कि वह धर्म का आक्रामक बन जायेगा तभी मानवीय प्रज्ञा एक कठिनाई का सामना करती है। इस प्रकार धर्म का क्षेत्र विज्ञान या दर्शन से पृथक् नहीं माना जा सकता। वास्तविकता यह है कि धर्म, विज्ञान तथा दर्शन एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। हाँ, यह सम्भव है कि उनका प्रभावित करने का तरीका समन्वित न हो! किसी भी एक या अन्य दो के साथ मधुर संबंध बनाने की अपेक्षा की जाती है। आज विश्व में विज्ञान, धर्म तथा दर्शन में समन्वय की महती आवश्यकता है। तीनों के सिद्धांतों या निष्कर्षों को एक स्थान पर रखने से काम चलने वाला नहीं है बल्कि अध्ययन को आगे बढ़ाने के लिए एकीकृत तरीकों का विकास किया जाय। ऐसा करने से ही वैज्ञानिक विधि या पांडित्य के प्रति दार्शनिक का प्यार तथा अन्तिम सत्यों के लिए धार्मिक प्रतिबद्धता का अनुसरण होगा।

इसका अनिवार्यत: यह अर्थ नहीं है कि धर्म प्रत्येक मानवीय क्रिया की तकनीकियों से सम्बन्ध रखे। यदि ऐसा हुआ तो बृहत् स्तर पर समग्र परिवर्तन हो जायेगा जिससे उद्देश्य के ओझल होने का डर सामने आ सकता है, और न इसका यही मतलब है कि सभी क्रियाकलाप प्रार्थना, हवन, शास्त्रोक्त विधि एवं संस्कारों की आड में दब जाय। यहाँ धर्म फिर अपने उद्देश्य से दूर सन्देहों से घिरा हुआ लगता है। इसका सीधा सा मतलब है कि किसी भी प्रकृति का मानवीय प्रयत्न बाहरी संस्कारों द्वारा सामने लाया जाता है और इसके दूसरी ओर किसी भी तकनीकी ज्ञान या यांत्रिक कौशल से संयोजित किया जाता है। न केवल नियंता भाग्य द्वारा चरित्र पर प्रभाव डालने में असफल रहता है बल्कि काम के क्षेत्र से जुडे व्यक्तियों को भी प्रभावित करता है तथा ये संशोधन अंततः भाग्य को प्रभावित करते हैं। सभी कार्यों के प्रभाव की जांच करने का कार्य धर्म का है। यह आवश्यक है कि योग्य निर्णय बताया जाय, अशुभ स्थितियों का परिष्कार किया जाय। जब धर्म दैनिक जीवन तथा व्यावहारिक कार्यों की ओर मुड़ता है तथा उन्हें अपने क्षेत्र से परे बताता है तो कार्य के सम्मुख स्वयं अपनी अनुपयुक्तता स्वीकार करता है, जीवन के मार्गदर्शन के रूप में उसका कार्य समाप्त हो जाता है। चूंकि धर्म को पूर्व-स्वीकृत उद्देश्यों की पूर्ति करनी है अतः वह मानव को उसके जीवन में हर कदम पर मार्गदर्शन करने को प्रतिबद्ध है। इस कार्य के लिए वह कई शक्तियों के साथ, यहाँ तक कि सरकार के साथ भी तालमेल बिठाता है।

व्यावहारिक रूप में धर्म तथा सरकार का इस प्रकार का संबंध असंतोष-जनक पाया गया है। यही बात आध्यात्मिक मूल्यों के लिए भी कही जा सकती है। कुछ स्वस्थ मस्तिष्क वाले विवेकी प्रबुद्ध जन धन तथा शक्ति की चमक-दमक के प्रति उदासीन पाये जाते हैं। जब कभी ये राज्य की नीतियों पर नियंत्रण कर सकें तब उन्होंने इन्हें ठीक से सही रूप में समझ लिया हुआ होना चाहिये। आध्यात्मिक मार्ग–दर्शन के बजाय ये निर्वाचित राजनीतिज्ञ सम्पत्ति धारी भूस्वामी बन जाते हैं। परिवर्तन के प्रति अविश्वास तथा सामान्य प्रकाश का डराने वाला अंश या पक्ष अज्ञान में आदमियों को पकड़े रखता है तथा राष्ट्र को बन्धक के रूप में निष्क्रिय रखता है। दुःख की स्थिति तो यह है कि धर्म के प्रकाश में नीतियों का निर्धारण नहीं हो रहा है तथा न ही नीतियाँ दिशा–संकेत या मार्गदर्शन पा रही हैं। धर्म तथा सरकार के बीच प्रत्यक्ष की अपेक्षा परोक्ष सम्बन्ध बनने चाहिए। धर्म का ही काम है कि वह मानव के हृदय तथा मस्तिष्क में सत्य के प्रति आग्रह एवं प्रेम, न्यायपरायणता तथा प्रेम भरे, आदमी प्रबुद्ध बने, सही रूप से ऊपर उठे, उन्नति की ओर बढे, वे स्वयं अपने साथियों के हित में कानून बनाये, अपनी नागरिक संस्थाएँ कायम करें तथा इनमें धर्म का कोई हस्तक्षेप न हो। पर जब एक प्रबुद्ध जन को क्षणिक शक्ति मिलती है तो वह सबसे छोटा तथा आसान रास्ता लेने का लोभ नहीं छोड सकता। मानव हृदय उसकी आँखों से परे हो जाता है तथा वह सीधा नागरिक प्राधिकरण की ओर अन्मुख होता है। ऐसी स्थिति में धर्म मानव हृदय में आंतरिक प्रकाश का आनन्द भरने की अपेक्षा शीतल हो जाता है तथा औपचारिक शास्त्र-सम्मत विधियाँ थोपी जाती हैं।

जब तक मानव छोटे कबीलों में रहता आया है अपने सदस्यों की रुचियों तथा क्षमताओं में समानता थी, निकट साहचर्य के समय भी हानि नहीं हुई– यहाँ तक कि कई बार वे अपने ही हाथों में राज्य या धर्म की शक्तियाँ देखते थे। मानव विकास के सोपानों में, कुछ सीमा तक, इस स्थिति से छुटकारा सम्भव नहीं था। परन्तु आधुनिक महान् राष्ट्र के नागरिकों को रुचियों, शिक्षा, प्रकृति-दत्त क्षमता तथा उद्यम में विविधता धर्म तथा राज्य को असहनीय बना देते हैं। धर्म का पवित्र कार्य है कि वह समग्र मानव जीवन में उद्देश्यों को प्राप्ति के लिए कदम कदम पर मार्गदर्शन उपलब्ध करें। यह पूर्व में इस तरह की कही गई बात का विरोध नहीं है। धर्म की व्यापकता ही राज्य के संकुचित उद्देश्यों के साथ भयंकर एवं उलझनकारी स्थितियाँ प्रस्तुत करती हैं। राज्य का प्रमुख कार्य अपने नागरिकों को उनकी सम्पत्ति तथा सुरक्षा की गारंटी प्रदान करना है, राजकीय

कर्मचारियों या व्यक्तियों के विवेकहीन हस्तक्षेप से मुक्ति दिलाना है । इसके बिना वे दैनिक जीवन में प्रसन्नता की जगह कठिनाइयाँ अनुभव करेंगे तथा जीवन का उद्देश्य पूरा नहीं कर पायेंगे । प्रजातांत्रिक सरकार में इन कार्यों को यों स्वीकार किया जा सकता है कि वह अपने नागरिकों के भौतिक कल्याण, शिक्षा-स्वास्थ्य, विकास एवं संतुलित भोजन का उत्तरदायित्व स्वीकार करें । व्यक्ति में धर्म की अपेक्षा राज्य की रुचि अधिक मर्यादित हो गई है । धर्म का प्रबंध मनुष्य की अंतरात्मा से है तथा राज्य उस मनुष्य के सामान्य व्यवहार से जुड़ा हुआ है । धर्म उसके अस्तित्व पर विचार करता है; राज्य समय तथा स्थान दोनों की दृष्टि से सीमायें निर्धारित करता है तथा धर्म राज्य की अपेक्षा व्यक्ति के जीवन में अधिक व्यापक तथा निकटता से प्रवेश करता है ।

पुरानी कहावत के अनुसार वह राज्य सबसे अच्छा है जो कम से कम शासन करें । इस दृष्टि से राज्य के कानून भी कम से कम हो वे सुनिश्चित तथा स्पष्ट हों, आदर्श के रूप में वे इतने कम हो या वे मात्र इतने ही हों कि जिनके बिना काम ही न चल सके तथा नागरिकों के जीवन तथा संपत्ति की सुरक्षा के लिए अत्यन्त आवश्यक हों, उनका उल्लंघन स्वीकार न हो तथा उल्लंघन करने पर सुधार की दृष्टि से कड़ी सजा की व्यवस्था हो । एक ऐसा कानून जो किसी की मानवता को परे धकेल दे, मानवता का अपमान करें, कानून नहीं कहा जाना चाहिए । इसके विपरीत कानून को जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में वहाँ तक सही रूप में सही दिल से योगदान करना चाहिए जहाँ तक नैतिक तथा आध्यात्मिक मूल्य अनुमति देते हों । प्रयत्न किया जाना चाहिए कि छोटी छोटी बारीकियों के जाल या भूल-भूलैया में कहीं कानून का मन्तव्य अस्पष्ट या दोषपूर्ण न बन जाय । धार्मिक आदेश इस अर्थ में कानून नहीं बनना चाहिए कि उनका उल्लंघन किसी औपचारिक अधिकारी की व्याख्या द्वारा सजा का प्रावधान करता है । सभी धर्म स्वीकार करते हैं कि कानून अभिन्न रूप से स्वतः एवं सहज रूप में मानवीय पक्ष की ओर, पापों या अधर्मों पर विचार न करते हुए आगे बढते हैं । नैतिक विधि-विधान नागरिक कानूनों के समान नहीं माने जाते हैं, न उनके समान दंडाज्ञा ही दी जाती है, क्योंकि प्रतिशोध निश्चित तथा अपरिहार्य है । बड़ों की या माता पिता की आज्ञा न मानने पर नागरिक कानूनों में कोई दंडाज्ञा का प्रावधान नहीं है । व्यक्ति ही विवेक से यह निश्चित करता है कि धर्म का कौनसा व कितना उपदेश वह

मानता है, धारण करता है तथा कितना व किस सीमा तक यह मानने से इन्कार कर सकता है।

धर्म का तात्कालिक सन्दर्भ मनुष्य की अन्तरात्मा से है जो उसके भावी प्रारब्ध को या कार्य-प्रणाली को निश्चित करता है। यद्यपि यह स्वीकार करने के पर्याप्त आधार हैं कि वैधानिक या अन्य बाहरी दबावों पर जो कुछ किया जाता है, चरित्र या प्रकृति को प्रभावित करने में असफल नहीं हो सकता। सहज एवं मुक्त वरीयता का अभ्यास नैतिकता की रचना में उसका अपना अनोखा प्रभाव छोड़ने में अधिक प्रभावी होता है। धर्म का उद्देश्य सबसे अच्छे रूप में तब प्राप्त किया जाता है जबकि वह अपना मार्गदर्शक प्रकाश जीवन-पथ के हर मोड़ पर तथा पेंचिली स्थितियों में फैलाता है तथा व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार उन्हें मानने या न मानने के लिए स्वतंत्र छोड़ देता है। समय-समय पर कुछ निश्चित तरीकों से उपयुक्त आदेश देकर राज्य अपनी आवश्यकताएँ पूरी कर लेता है तथा नागरिक इन आदेशों को मानने के लिए बाध्य होता है। इस प्रकार राजाज्ञाओं का पालन अनिवार्य होता है। धर्म तथा राज्य के इन कार्यों का समन्वय किसी भी व्यक्ति को भ्रम में डाल सकता है, जो भग्नाशा तथा असन्तोष का कारण बनता है। इस प्रकार एक ओर तो धार्मिक जीवन मात्र औपचारिकता बन जाता है तथा दूसरी ओर वैधानिक कानूनों की कठोरता में शिथिलता आती है क्यों कि एक कानून के भंग होने पर उसकी कमी को दूर करने के लिए दूसरा कानून बनाया जाता है तथा यह शृंखला अन्तहीन बन जाती है एवं फल यह होता है कि उनका कठोरता से पालन करवाना असंभव हो जाता है।

राज्य ही जीवन, बाहरी सुरक्षा तथा स्थायित्व प्रदान करने का उत्तरदायित्व वहन करता है। राज्य के इस आश्वासन के बिना मानवीय जीवन कष्टपूर्ण हो सकता है, परिपक्व नहीं होता एवं फलफूल नहीं सकता है। राज्य द्वारा प्रदत्त अधिकारों, सीमाओं एवं क्षेत्रों के सन्दर्भ में मानव-जीवन को धर्म आध्यात्मिक दृष्टि प्रदान करता है जिसमें मनुष्य धार्मिक शासन में अपनी क्षमताओं के श्रेष्ठतम शिखर पर पहुंचता है। विज्ञान किसी भी स्थिति का बारीकी से विधिवत् अध्ययन करता है पर वह पूर्ण विकास की सम्भावनाओं का संकेत दृढतापूर्वक नहीं करता है। यह दर्शन-शास्त्र का काम है कि वह वैज्ञानिक ज्ञान का अन्तिम या शाश्वत वास्तविकताओं से सम्बन्ध जोड़े तथा मानवीय मूल्यों के सन्दर्भ में उनके महत्त्व की सार्थकता

की खोज करें। जब वह अर्थ लगाने से आगे बढ़ता है तो जीवन की राह बन जाता है; जब सर्वोत्कृष्ट क्षमताओं तक विकसित होने का साहसी कार्य वह पूरा करता है तो दर्शन पर धर्म से पृथक् विचार करना अति कठिन है। धार्मिक दर्शनशास्त्र तथा दार्शनिक धर्म पर विचार-विमर्श करना मानव का अति महत्त्वपूर्ण तथा उच्च श्रेणी का साहसपूर्ण कार्य रहा है। जीवन के अन्तिम सत्य की खोज के प्रयत्न में विश्व-ज्ञान का सर्वेक्षण किया गया है तथा इस प्रकार बनी धारणाओं के आधार पर जीवन व्यतीत करने के लिए मानव ने मार्गदर्शन पाया है। ऐक्य के लिए, मधुर सम्बन्धों के स्थायित्व के लिए संघर्ष किया गया है, तथा सभी क्रिया-कलापों को दिशा निर्देश दिया गया है। सिद्धांत तथा व्यवहार के समन्वय या श्रेष्ठ एकीकरण के लिए पुरजोर प्रयत्न हुए हैं। मानव की यही अब तक सर्वोत्कृष्ट एवं व्यापक उपलब्धि है।

विचारकों के एक सम्प्रदाय के अनुसार स्वानुशासित मानव ने ही दर्शन तथा धर्म की रचना की है। मानव की असंगतियाँ या कमजोरियां दूर करने के लिए मानवीय प्रयत्नों के रूप में उसका उत्साह समाप्त नहीं हुआ है। उनका विश्वास है कि मनुष्य के दैनिक कार्य के व्यवहारों के चारों ओर जो आलोचनाएँ या कमियां दीखती हैं, वे दूर नहीं हो पाई हैं। ये कमियां दो प्रकार की हैं– एक ओर तो समस्या से जुड़े तथ्यों की सावधानी से खोजबीन किए बिना शीघ्रता में त्रुटिपूर्ण निष्कर्ष निकालने का डर है। इस प्रकार तार्किक आधार पर किसी के सोचने विचारने की प्रक्रिया समाप्त करना है तथा वैकल्पिक अर्थ पर विचार करने से आंखें मूंद लेना है तथा इसके दूसरी ओर जीवन पर निरर्थक क्रिया-कलापों का भार लाद देने का मोह है। यह विचार कितना भ्रम पैदा करता है कि चरित्र या प्रकृति के निर्माण में समाज को विच्छिन्न करने वाले तथा जीवन को कष्टपूर्ण बनाने वाले धार्मिक रीति-रिवाज अधिक प्रभावी होते हैं। भ्रमपूर्ण पहला विचार दृढ़ मतावलंबी बनाता है जो इसके पक्ष-विपक्ष पर विचार करने से दिमाग अव-रुद्ध करता है तथा दूसरा विचार मात्र धार्मिक रीति-रिवाजों के बाह्य आडम्बरों को जन्म देता है जो बिना उसकी वास्तविक मंशा या इच्छा जाने या उन पर विचार किए हाथों तथा जीभ (कर्म तथा वचन) पर नियंत्रण कर लेता है। कोई सा भी महान् धर्म किसी एक या इन दोनों कमियों से मुक्त नहीं है। आधुनिक दुनिया के लोकप्रिय धर्म पुराने विश्वासों रूपी कड़ी चादर से ढके हुए हैं जो आलोचनात्मक बुद्धि के मारे व्यग्र हैं तथा पाषाण युगीन धार्मिक रीति-रिवाजों

को आज अनुपयुक्त पाते हैं। इतने पर भी, यह निष्कर्ष निकालना मूर्खता होगी कि कोई भी धर्म पूर्ण नहीं है तो बिना धर्म के भी काम चलाऊ जीवन-यापन किया जा सकता है या उससे भेद कर पाना कठिन है। यदि धर्म छोड़ दिया जाता है तो जीवन को नियंत्रित करने के लिए कोई बन्धन या विधान नहीं है। ऐसी स्थिति में मन की अन्तर्ध्वनि कर्कश या अर्थहीन हो जाती है तथा उसकी बाहरी सभी विविध पर संयुक्त आवश्यकताएँ समग्र रूप से स्थिर हो जाती हैं। कार्य के प्रति उदासीन नहीं हुआ जा सकता; धर्म की आलोचना सही नहीं जा सकती। इसलिए वह श्रेष्ठ उद्देश्यों की ओर अधिक निकटता एवं तत्परता से आगे बढता है जो कि बहुत पूर्व में सहज ही निश्चित हुए हैं। इस प्रकार विज्ञान, धर्म तथा दर्शन का चोली दामन का साथ है पर जैसा कि बताया गया है धर्म दर्शन से कुछ अधिक है। हाँ, यहाँ धर्म शब्द शाब्दिक एवं रूढ अर्थ में न लेकर, व्यापक अर्थ में लिया गया है।

— जमनालाल बाहेती

राजकीय शिक्षक प्रशिक्षण
महाविद्यालय
बीकानेर– ३३४००१
(राजस्थान)

"विदेहमुक्ति" पर विद्यारण्य के विचार : एक नूतन अभिव्यक्ति

अद्वैत वेदांत में चार प्रकार की मुक्ति मानी गयी है : जीवन्मुक्ति, सद्योमुक्ति, क्रममुक्ति और विदेहमुक्ति। जीवित पुरुष को कर्तापन, भोक्तापन, सुखदुःखादि अंतःकरण का धर्म क्लेशों का उत्पादक होने से बंधन होता है। इस क्लेशरूप चित्त के धर्म का जो निवारण है, उसे जीवन्मुक्ति कहते हैं,[१] अथवा यह वह स्थिति है जिसमें सम्पूर्ण अध्यास का भान तिरोहित हो जाता है, यद्यपि कि शरीर प्रारब्ध कर्म के क्षय होने तक बना रहता है।[२] सद्योमुक्ति ज्ञान-प्राप्ति के तुरंत बाद ही मिल जाती है, जिसमें सम्पूर्ण कर्मों का नाश हो जाता है। यह आत्मज्ञान या शुद्ध चैतन्य के साक्षात्कार का परिणाम है।[३] "यह उन संन्यासियों को प्राप्त होता है जिन्होंने अपने को सम्यक् दर्शन में स्थित कर दिया है।"[४] इसे ज्ञान-समकाल मुक्ति भी कहते हैं। क्रममुक्ति उन साधकों को मिलती है जो इस जन्म में आत्मज्ञान प्राप्त नहीं कर सके हैं और जिन्हें अपनी साधना के फलस्वरूप देवयान के मार्ग से स्वर्ग में जाना पड़ता है जहाँ उन्हें सम्पूर्ण अज्ञान बंधन से छुटकारा मिल जाता है।[५]

विदेहमुक्ति, यानि शरीर नाश के पश्चात् मुक्ति की प्राप्ति होने पर प्रारब्ध कर्म से भी छुटकारा मिल जाता है। जीवन्मुक्त ही मरने पर विदेहमुक्त हो जाता है।[६] वह तभी तक इस संसार में बना रहता है जब तक कि शरीर से छुटकारा नहीं मिल जाता। तत्पश्चात् वह ब्रह्मैकत्व को प्राप्त हो जाता है।[७] इस प्रकार विदेहमुक्ति अज्ञान के सभी प्रकारों से आत्मा की पूर्ण स्वतंत्रता की अवस्था है (अविद्यास्तमयोमोक्षः)। यह आत्मा के पूर्ण प्रकाशन की स्थिति है (केवलेनैवात्मनाविर्भवति)।[८] कठोपनिषद् (४/१५) में इसी विदेहमुक्ति को लक्ष्य करके कहा गया है कि जिस प्रकार शुद्ध जल को शुद्ध जल में मिलाने पर शुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार द्रष्टा की आत्मा (विदेह मुक्ति मिलने पर) शुद्ध चैतन्य में एकाकार हो जाती है।

परामर्श (हिन्दी), वर्ष ९, अंक ४, सितम्बर, १९८८

परंतु विद्यारण्य[९] का मत उपर्युक्त शास्त्रों के मत से भिन्न है क्योंकि वे विदेहमुक्ति की एक नयी व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। प्रस्तुत निबंध में मेरा उद्देश्य इसी मत का प्रतिपादन करना है। जो मरने के पश्चात् विदेहमुक्ति मानते हैं, उस विदेहमुक्ति पद में 'देह' शब्द से सम्पूर्ण देह (भूत, वर्तमान एवं भावी देह) का बोध होता है। सकल देह की निवृत्ति तो मरणोपरांत ही होती है। परंतु विद्यारण्य स्वामी विदेहमुक्ति पद से तात्पर्य केवल भावी देह की निवृत्ति से मानते हैं (भाविदेह मात्र विवस्योच्यते)। इसके समर्थन में वे यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि भावी देह का आरंभ न होने के लिए ज्ञान सम्पादन किया जाता है। यह वर्तमान शरीर जिसमें हम आत्मज्ञान प्राप्त करते हैं, भूत कर्मों का परिणाम है। इस वर्तमान देह का तो ज्ञान होने के पूर्व ही आरंभ हो चुका है, अतएव ज्ञान से भी वर्तमान शरीर का निवारण संभव नहीं है। वर्तमान शरीर की निवृत्ति भी कोई ज्ञान का फल नहीं है क्योंकि प्रारब्ध का क्षय होता तो अज्ञानी लोगों का भी वर्तमान देह निवृत्त हो जाता।[१०]

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि यदि वर्तमान स्थूल शरीर की निवृत्ति ज्ञान का फल नहीं है तो वर्तमान लिंग शरीर का नाश ज्ञान का फल मानना चाहिए क्योंकि ज्ञान हुए बिना लिंगदेह का नाश नहीं होता है। परंतु विद्यारण्य का मत इसके पक्ष में नहीं है क्योंकि जीवन्मुक्त पुरुष को ज्ञान प्राप्त होने पर भी उसके लिंग शरीर का नाश नहीं होता है। यह वैसे ही बना रहता है। इस प्रकार ज्ञान का कार्य किसी भी प्रकार के शरीर को नष्ट करना नहीं है। तेज और तम के तुल्य ज्ञान ही अज्ञान का विरोधी है। लिंगदेह तो अज्ञान का कार्य होने से उसका तो अज्ञान के साथ विरोध होता ही नहीं है। अतएव ज्ञान द्वारा अज्ञान की निवृत्ति होती है।[११]

पर विचारणीय तथ्य यह है कि यदि ज्ञान-प्राप्ति के समय लिंग शरीर की निवृत्ति नहीं होती है तो उस समय उसकी निवृत्ति का क्या साधन है? विद्यारण्य स्वामी का उत्तर यह है कि जिस सामग्री से लिंग देह उत्पन्न होता है उस सामग्री की निवृत्ति से लिंग देह की निवृत्ति होती है। इनके अनुसार कार्य की निवृत्ति दो प्रकार से होती है: एक तो विरोध के सद्भाव से और दूसरा, सामग्री की निवृत्ति से। उदाहरण स्वरूप, जैसे तेलबत्ती आदि दीप की सामग्री होने पर भी विरोधी वायु से वह शांत हो जाता है, उसी प्रकार लिंग-देह का साक्षात् विरोधी तो कोई पदार्थ देखने में नहीं आता इसलिए उसकी सामग्री-निवृत्ति से निवृत्ति होती है। प्रारब्ध कर्म और संचित अनारब्ध कर्म यों दो प्रकार की लिंग देह की सामग्री है। अज्ञानी का लिंग देह इन दो सामग्रियों करके, इह लोक और पर लोक में स्थिर

रहता है। ज्ञानी पुरुषों का अनारब्ध कर्म, ज्ञान द्वारा निवृत्त होता है और प्रारब्ध कर्म की योग से निवृत्ति होती है। अतएव तेल, बत्ती आदि रूप सामग्री के नाश से जैसे दीप को नाश प्राप्त होता है, उसी प्रकार उसका लिंग देह उक्त दो प्रकार के कर्म रूप सामग्री की निवृत्ति से निवृत्त होता है।[12]

पूर्व-पक्षियों का यहाँ यह आक्षेप हो सकता है कि क्या भावीदेह का अनारम्भ ही ज्ञान का फल है, या भावीदेह के अनारम्भ का पालन अर्थात् अनारम्भ सदा बना रहे यह भी उसका फल है। यदि भाविदेह का अनारम्भ ही ज्ञान का फल है तो यह संभव नहीं क्योंकि भाविदेह का अनारम्भ इस भाविदेह का प्रागभावरूप होने से अनादि सिद्ध है, अतएव यह ज्ञान से उत्पन्न होता नहीं है। उसी प्रकार दूसरा विकल्प भी संभव नहीं। क्योंकि भाविदेह के आरंभ के प्रागभाव का पालन अर्थात् सर्वकाल भाविदेह का अभाव ही रहना, यह तो संचित कर्मरूप सामग्री की निवृत्ति से ही होता है। अनारब्ध कर्म (संचित कर्म) रूप सामग्री की निवृत्ति भी ज्ञान का फल नहीं। केवल अविद्या की निवृत्ति ही विद्या का फल है।

परंतु विद्यारण्य के अनुसार यदि हम ज्ञान का फल भावि जन्म की प्राप्ति न होना न मानें तो श्रुति ही निषिद्ध हो जाती है क्योंकि "यस्माद् भूयों न जायते" आदि श्रुतिवाक्य इसमें प्रमाणभूत हैं। दूसरे हम यह भी देखते हैं कि "अब्रह्मत्वं" (मैं ब्रह्म नहीं ऐसा मिथ्या निश्चय) इत्यादि बंधन को श्री पंच-पादिकाचार्य ने अज्ञान ही माना है। पुनर्जन्म, "अब्रह्मत्वं" आदि बंधन की निवृत्ति जो ज्ञान का फल न हो तो अनुभव में ही विरोध उत्पन्न हो जाता है, क्योंकि ज्ञान प्राप्त होने पर जैसे अज्ञान की निवृत्ति होती है उसी प्रकार उसके साथ अब्रह्मत्व आदि बंधन की भी निवृत्ति होती है, यह बात अनुभव सिद्ध है। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि विद्यारण्य के मतानुसार भाविदेह की अप्राप्ति रूप विदेहमुक्ति "ज्ञानसमकाल" ही है।[13] जनक को विश्वास दिलाते हुए याज्ञवल्क्य ने इसी निश्चितता की ओर संकेत किया है: "हे जनक, तुम अभय को प्राप्त हो गये हो।[14] इतना ही यथार्थ अमृतत्व है"।[15]

तर्क की दृष्टि से भी यही खरा उतरता है कि यदि तत्त्वज्ञान होने पर भी उसके फलस्वरूप विदेहमुक्ति उस समय न हो और कालांतर में हो, तो ज्योतिष्टोम कर्म समाप्ति के अनन्तर तत्काल, स्वर्गादि फल न मिलने से जैसे अपूर्व नाम के संस्कार-विशेष की कर्म विषय में कल्पना की जाती है,[16] उसी प्रकार ज्ञान के भी अपूर्व की कल्पना करनी पड़ेगी और ऐसा करने पर कर्म और ज्ञान का अंतर ही तिरोहित हो जायेगा क्योंकि तब तो कर्मशास्त्र के अंदर ही ज्ञान-शास्त्र

को समाविष्ट करना पड़ जायेगा, जो विद्यारण्य को मान्य नहीं है।

पर हम यहाँ यह मान सकते हैं कि प्रारब्ध से प्रतिबंध को प्राप्त होने पर ज्ञान प्रारब्ध के अंत में विदेहमुक्ति रूप फल देगा जैसे मणि-मंत्रादि द्वारा आग की दाहक शक्ति अवरुद्ध हो जाती है, वैसे उसके छूट जाने पर अग्नि अपना काम करता है। विद्यारण्य के मत में यह भी मान्य नहीं है क्योंकि भाविदेह के अभाव रूप में विदेहमुक्ति और प्रारब्ध कर्म में उनके अनुसार कोई विरोध नहीं है कारण कि प्रारब्ध कर्म तो वर्तमान देह को प्रतिबंधित करता है और यदि प्रारब्ध कर्म विदेहरूप ज्ञान के फल का बंधन नहीं हो सकता तो वह क्षणिक है। अतः कालांतर में स्वयं ही नहीं होने से विदेहमुक्ति को कैसे उत्पन्न कर सकता है? यदि हम यह कहें कि मरण समय में "चरम साक्षात्कार" रूप अन्य ज्ञान उत्पन्न होकर विदेहमुक्ति प्रदान करेगा तो भी यहाँ संभव नहीं क्योंकि इस समय अन्य ज्ञान का उत्पादक कोई अन्य साधन होना चाहिए जिसका अत्यंताभाव है। प्रतिबंधकरूप प्रारब्ध कर्म की निवृत्ति हो जाने से ज्ञान के साधन गुण, शास्त्र, देह और इंद्रिय आदि सम्पूर्ण संस्कार की प्रतीति की निवृत्ति हो जाती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विद्यारण्य के मतानुसार ज्ञान का फल भाविदेह से तुरंत मुक्ति है। इसे मरणोपरांत फल प्रदान करने के लिए इंतजार करने की आवश्यकता नहीं है। यह विदेहमुक्ति तो ज्ञान समय में ही प्राप्त होती है।[१७] यही कारण है कि विद्यारण्य तत्त्वज्ञान को विदेहमुक्ति का साक्षात् साधन होने से प्रधान मानते हैं।

दर्शन विभाग
मु. म. टाउन स्नातकोत्तर महाविद्यालय
बलिया (उ. प्र.)

ललित किशोर लाल श्रीवास्तव

टिप्पणियाँ

१. जीवतः पुरुषस्य कर्तृत्वभोक्तृत्व सुखदुःखादि....... तस्य निवारणं जीवन्मुक्ति-जीवन्मुक्तिविवेक, पे. २९, दी थियोसाफिकल पब्लिशिंग हाउस, अड्यार मद्रास, १९३५

२. स्वस्मिन्स्वधा सतताभ्यासाप्रतिभासे सति यावत् प्रारब्धम् स्वविता-व्यवस्थिति-जीवनमुक्ति विवेक पर टीका.

३. एवम् सद्योमुक्ति कारणम् अध्यात्मज्ञानम् – ब्रह्मसूत्रशांकर भाष्य पे. ११८
४. भगवद्गीता शंकर भाष्य, पे. २७६
५. ब्रह्मसूत्र ४/३/९०
६. कठोपनिषद् २/२/१
७. छांदोग्य ६/१४/२– शंकर भाष्य
८. सर्वबंधविनिर्मुक्त: शुद्धेनैवात्मनाव तिष्ठते – शांकर भाष्य, पे. ८९३
९. विद्यारण्य स्वामी (१४ वीं शताब्दी) अद्वैतमत में शकराचार्य के परवर्ती दार्शनिक माने जाते हैं। अद्वैत दर्शन में इनका विशेष योगदान है। पचदशी, जीवन्मुक्ति विवेक, विव ण प्रमेय संग्रह, दृक्दृश्य विवेक आदि इनकी पुस्तकें महत्त्वपूर्ण हैं।
१० जी. मु. वि. पे. ११८
११ यतोज्ञानमज्ञानस्यैव निवर्तक :– पचपादिकाचार्य, जीवन्मुक्तिविवेक से उद्धृत पे. ११९
१२. जी. मु. वि. पे. १२०
१३. तस्माद् भाविदेहराहित्य लक्षण विदेहमुक्ति ज्ञानसमकालीना – जी. मु. वि पे १२२
१४. बृहदारण्यक ४/२/४
१५. वही ४/५/१५
१६. पूर्व मीमांसा दर्शन में यह स्वीकार किया जाता है कि यज्ञादि (ज्योतिष्टोमादि) सम्पन्न करते ही नष्ट हो जाते हैं, फिर भी स्वर्गादि की प्राप्ति अदृश्य (अपूर्व) के द्वारा होती है।
१७. "तीर्थे स्वपचगृहे वा न नष्टस्मृतिरपि परित्यजन्देहम् ज्ञानसमकालमुक्तिः कैवल्यं यातिहतशोकः" – "शेष" जी. मु. वि. में उद्धृत पे. १२५

अस्तित्ववाद एवं कार्ल यास्पर्स का अस्तित्वादी दर्शन

अस्तित्ववादी चिन्तनधारा एक ऐसी मिश्रित चिन्तनधारा का प्रतिनिधित्व करती है जिसमें दार्शनिकों, मनोवैज्ञानिकों, साहित्यकारों तथा अन्य कई विधाओं में संवेदनशील चिन्तकों ने योगदान दिया है। ऐसी स्थिति में इसे एक निश्चित रूप में उपस्थित करना प्रायः असंभव तो नहीं, कठिन अवश्य प्रतीत होता है। अस्तित्ववाद की यह विविधता ही इसकी जीवन्तता का प्रमाण है। विश्व-युद्धों के बाद तत्कालीन चिन्तनधारा में स्वतः मानव अस्तित्व के प्रति एक ममत्व का उभार देखने को मिलता है। यह निरपेक्षवादी चिन्तनधारा के विरोध का प्रतिफलित रूप है। ऐसा विरोध दर्शन, धर्म, साहित्य तथा चिन्तन की अन्य विधाओं में भी मुखर प्रतीत होता है। अस्तित्ववादी चिन्तनधारा का विकास ईश्वरवादी एवं अनीश्वरवादी– दो दिशाओं में देखने को मिलता है। प्रथम दिशा के उद्घोषक सोरेन कीर्केगार्ड हैं जबकि दूसरी दिशा के प्रबल पक्षधर फ्रेडरिक नीत्शे को स्वीकारा जाता है। कीर्केगार्डीय विचार का विकास गैबरिल मार्सेल तथा कार्ल यास्पर्स जैसे चिन्तकों के विचारों में स्पष्टतः परिलक्षित होता है, जबकि मार्टिन हैडेगर तथा ज्याँ पाल सार्त्र अनीश्वरवादी विचारों को पल्लवित करते हुए प्रतीत होते हैं। ऐसा लगता है कि अन्य महत्त्वपूर्ण बातों में समानता के बावजूद ईश्वर के अस्तित्व अथवा अनस्तित्व को लेकर इनके बीच स्पष्ट मतवैभिन्य है।

वैयक्तिक सत्ता पर बल, व्यक्ति की परिस्थितियां ही अस्तित्ववादी परिस्थितियों के बोधक, मानव अस्तित्व की मूल संरचना का मूल स्वर वैयक्तिक अस्तित्व की चेतना एवं व्यक्ति की अनिवार्य स्वतंत्रता में निहित होना तथा स्वेच्छाचारिता और बौद्धिक एवं सामाजिक शक्तियों से उत्पन्न स्वतत्रता की आपातिकता का विरोध एवं मानव व्यक्ति द्वारा स्वतंत्रता एवं उत्तरदायित्वपूर्ण जीवन जीने को प्रश्रय देने को अस्तित्ववाद रूपायित करता है। इसकी मान्यता है कि स्वेच्छाचारिता एवं

दबाव के प्रभाव के कारण व्यक्ति–व्यक्ति के भाव विनष्ट हो जाते हैं एवं अस्तित्व की अनुभूति में अर्थहीनता का भान होने लगता है । दर्शन का वास्तविक रूप यहाँ व्यक्ति के जीवन एवं अनुभूति की व्याख्या में निहित माना गया है । इस दृष्टि से अस्तित्ववाद एक जीवन दर्शन का प्रतीक है जो विश्वास-योग्य है । [२]

अतः स्पष्ट है कि अस्तित्ववाद मानव-जीवन में व्याप्त वैसे समस्त विचारों का विरोध करता है जो मूर्त्त से दूर कोरी तार्किकता में आस्था रखते हैं तथा व्यक्ति के अस्तित्व को अमहत्त्वपूर्ण कर देते हैं । यह मानव अस्तित्व मनुष्य की खोई हुई स्वतन्त्रता तथा उत्तरदायित्वपूर्ण जीवन को वापसी में आस्था रखता है । इस दृष्टि से वह जीवन के सम्बन्ध में बातें करने की अपेक्षा जीवन जीने की प्रेरणा देता है ।

अस्तित्ववाद का विचार इतने प्रकार की विभिन्नताओं का केंद्र बना हुआ है कि इन्हें एक सुव्यवस्थित सिद्धांत के रूप में बाँधना बड़ा ही कठिन है । फिर भी अस्तित्ववादी चिन्तकों की चिन्तन–धारा में कुछ ऐसे सामान्य विचार देखने को मिलते हैं जिनके आधार पर अस्तित्ववाद के कुछ महत्त्वपूर्ण पहलुओं की चर्चा की जा सकती है ।

दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में अस्तित्ववाद को निरपेक्ष प्रत्ययवाद तथा बुद्धिवाद के चरम रूप का विरोधी माना जाता है । निरपेक्ष प्रत्ययवाद का समर्थन हीगेल एवं हीगेलवादी विचारकों के विचारों में देखने को मिलता है । निरपेक्ष प्रत्यय को चरम सत्ता मानने के कारण ऐसे विचार में ससीम अस्तित्व का महत्त्व समाप्त हो जाता है; तथा बौद्धिक धरातल पर उनकी निरर्थकता स्पष्ट हो जाती है । अस्तित्ववादी विचारक ऐसे निरपेक्षवाद का विरोध करते हैं । हीगेल के द्वारा समर्थित बुद्धि की वास्तविकता के विचार का विरोध करते हुए अस्तित्ववादी विचारकों ने व्यक्ति की वास्तविकता को स्वीकारा है । इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि अस्तित्ववाद निर्वैयक्तिकता तथा निरपेक्षता का पूर्ण विरोधी है तथा यह वैयक्तिकता एवं सापेक्षता के विचार का समर्थन करता है ।

इनका विरोध आधुनिक विज्ञान एवं प्रविधि के प्रभाव से भी है । आज का मानव अपने ही वैज्ञानिक आविष्कारों तथा प्रावैधिक कुशलताओं का शिकार हो गया है । अणु–आयुधों के कारण वह स्वयं निरीह एवं तुच्छ हो गया है । आज वह अपने ही द्वारा बनाए गए मशीनों के आधिपत्य में है । इन यंत्रों के कारण इसका जीवन यंत्रवत् हो गया है । इतना ही नहीं, अस्तित्ववाद यह मानता है कि विज्ञान

का विकास मानव के अस्तित्व को महत्त्वपूर्ण बनाने के लिए है, उन्हें तुच्छ एवं निरीह स्थिति में लाने के लिए नहीं। अतः अस्तित्ववादी विचारक विज्ञान के चरम आधिपत्य का विरोध करते हैं।

अस्तित्व एवं सार का विवाद दर्शनशास्त्र के क्षेत्र का एक प्रमुख विवाद रहा है। आरंभिक काल से ही अधिकतर विचारकों ने अस्तित्व की अपेक्षा सार गुण के महत्त्व को स्वीकार किया है। अस्तित्व की अपेक्षा सार गुण को महत्त्वपूर्ण मानने वाले विचारक तत्त्ववादी कहे जाते हैं। इनके विचार को "एसेन्शियलिज्म" की संज्ञा दी जाती रही है। इनके अनुसार किसी भी वस्तु को या किसी भी व्यक्ति को उसके सार गुण के माध्यम से ही हम जान पाते हैं। मनुष्य की व्याख्या उसके सारगुण अथवा विवेकशीलता के आधार पर किया जाना ऐसे विचार का उदाहरण है। "मनुष्य एक विवेकशील प्राणी है" जैसी अभिव्यक्ति मनुष्य को उसके सारगुण के आधार पर परिभाषित किए जाने का एक स्पष्ट प्रयास है। इस विचार की चरम परिणति प्लेटो, डेकार्ट तथा हीगेल आदि के विचारों में देखने को मिलती है। प्लेटो द्वारा प्रतिपादित सम्प्रत्यय के सिद्धांत, डेकार्टीय दर्शन के केंद्र–स्थल के रूप में "काजिटो अर्गो सम" अर्थात् मैं सोचता हूँ, इसलिए मेरा अस्तित्व है तथा हीगेल द्वारा समर्थित निरपेक्ष प्रत्यय के विचारों में ऐसे सार तत्त्व की प्राथमिकता स्वीकार की गई है। डेकार्ट ने तो स्पष्टतः "मैं चिन्तन करता हूँ, इसलिए मेरा अस्तित्व है" के द्वारा अस्तित्व की अपेक्षा चिन्तन अथवा सार तत्त्व के महत्त्व को स्वीकार किया है। इस प्रकार, चिन्तन को प्राथमिक एवं अस्तित्त्व को गौण स्थान देकर इन्होंने तत्त्ववादी विचार को बल प्रदान किया है। इन तथ्यों से यह स्पष्ट है कि तत्त्ववादी दर्शन मे सार तत्त्व की प्राथमिकता स्वीकार की गई है।

अस्तित्ववादी विचारक तत्त्ववादी विचारधारा का विरोध करते हुए यह स्वीकारते हैं कि सार तत्त्व की अपेक्षा अस्तित्व का महत्त्व है। अस्तित्व पहले आता है, सार तत्त्व बाद में। यह तथ्य मनुष्य के अस्तित्व के सम्बन्ध में और अधिक स्पष्ट हो जाता है। यदि मनुष्य का अस्तित्व ही नहीं होता हो तो फिर उसे अपने को परिभाषित करने का अवसर ही नहीं मिलता। प्रमुख अस्तित्ववादी विचारक सार्त्र ने स्पष्टतः स्वीकारा है कि मनुष्य पहले अस्तित्ववान् होता है और तदुपरांत ही वह अपने को परिभाषित करता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि अस्तित्ववादी विचारक सारगुण की अपेक्षा अस्तित्व को महत्त्व देते हैं तथा मानते हैं कि सारगुण की अपेक्षा अस्तित्व की प्राथमिकता है। अस्तित्ववादी विचा-

रकों के अनुसार डेकार्टीय विचार " मैं चिन्तन करता है हूँ, इसलिए मैं हूँ " को परिवर्तित कर अर्थात् " मैं हूँ, इसलिए मैं चिन्तन करता हूँ " के रूप में समझने की आवश्यकता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सारतत्त्व की अपेक्षा अस्तित्व का महत्त्व है । इसी प्रकार हीगेल द्वारा प्रतिपादित " बुद्धि का सत्ता है " को अस्तित्ववादी चिन्तक " व्यक्ति की ही सत्ता है " मे परिवर्तित कर समझना श्रेयस्कर मानते हैं। ऐसी स्थिति में वैयक्तिक निर्वैयक्तिक की अपेक्षा महत्त्वपूण हो जाता है तथा अस्तित्व सार-तत्त्व की अपेक्षा महत्त्व प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार अस्तित्ववादी विचारक अस्तित्व की प्राथमिकता स्वीकार करते हैं तथा सारगुण को अस्तित्व पर ही आधारित मानते हैं।

अस्तित्ववादी विचारक यह मानते हैं कि मनुष्य एक विशेष परिस्थिति में रहता हैं, जीता है तथा कार्यरत रहता है। इस प्रकार को जगत् की संज्ञा दी जाती है। अस्तित्ववादी विचार इसे मानवीय स्थिति की संज्ञा देते हैं। मनुष्य इस स्थिति से अलग हटकर व्यक्तित्व का वास्तविक विकास नहीं कर सकता है। यही वह परिस्थिति है जिसमें व्यक्ति जन्म से मृत्यु तक रहता है तथा तथा अपने अस्तित्व का विकास कर पाता है । ऐसी हो स्थिति में अपने जीवन को जीता है। अस्तित्ववादी विचारकों के अनुसार मानवीय परिस्थिति एक मनोवैज्ञानिक परिस्थिति है। यहाँ मनुष्य हमेशा अपने को विकल्पों के बीच पाता है। ऐसी परिस्थिति के महत्त्व को कभी भी अस्वीकारा नहीं जा सकता। परिस्थिति विशेष में व्याप्त विभिन्न विकल्पों में से वह स्वतंत्रतापूर्वक तथा उत्तरदायित्वपूर्ण ढंग से किसी एक विकल्प का चयन करता रहता है। मानव जीवन में ऐसी स्थिति भी सदा आती है जहाँ कुछ लोग ईश्वर का सहारा लेकर असमंजस की स्थिति को पार करने की चेष्टा करते हैं । कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो ईश्वर के अस्तित्व को नहीं मानते तथा उत्तरदायित्वपूर्ण ढंग से निर्णय लेने मे विश्वास करते हैं। दोनों स्थितियाँ अस्तित्ववाद के ज्ञान तथा अस्तित्व की उपलब्धि में सहायक हैं। भेद केवल दृष्टिकोण का है। जहां वे अपनी-अपनी स्थितियों के अनुसार चयन करते हैं तथा अपना-अपना जीवन जीते हैं। यही दो दृष्टिकोण अस्तित्ववादी विचारकों को ईश्वरवादी एव अनीश्वरवादी- दो समूहों मे विभक्त कर देते हैं। इस भेद के बावजूद इतना तो अवश्य माना जा सकता है कि सभी अस्तित्ववादी विचारकों ने मनुष्य द्वारा एक परिस्थिति-विशेष में निवास करने की वास्तविकता को स्वीकारा है। सह विशेष परिस्थिति वैसी परिस्थिति है जिसका स्वरूप मनोवैज्ञानिक है तथा जिसे प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन में महसूस करता है। वह ऐसी परिस्थिति में रहता

है, कार्य करता है तथा विभिन्न विकल्पों के बीच वह निर्णय लेता रहा है। यही कारण है कि अस्तित्ववादी विचारकों ने मानव-परिस्थिति की अनिवार्यता एवं इसके महत्त्व को स्वीकारा है।

अस्तित्ववाद में आत्मानुभूति को प्रमुख माना गया है। यहाँ साधारणतया निर्वैयक्तिकता, वस्तुनिष्ठता तथा वैसे सारे विचारों का विरोध किया जाता है जिन्हें वस्तुनिष्ठ विचार की संज्ञा दी जाती है। वैज्ञानिक अनुसंधानों एवं अन्य वस्तुनिष्ठ विचारों के विकास के कारण मानव अस्तित्व की महत्ता क्षीण होती है। मनुष्य को इन वैज्ञानिक उपकरणों की विलक्षणता के समक्ष ऐसा लगता है कि उसकी आत्मानुभूति का कोई महत्त्व ही नहीं है। वह तो एक विस्तृत मशीन का एक अंग मात्र है। इसे आधुनिक वैज्ञानिक अनुसंधानों के परिप्रेक्ष्य में समझा जा सकता है। आज का मनुष्य अपने आविष्कारों का स्वयं ही शिकार हो चुका है। अणुबम के आविष्कार के फलस्वरूप मनुष्य के अस्तित्व को ही खतरा उत्पन्न हो चुका है तथा मानव अस्तित्व एवं मानवीय अनुभूति का कोई महत्त्व ही नहीं रह गया है। दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में भी विज्ञान के प्रभाव के कारण दार्शनिक विचारों में वस्तुनिष्ठता आ गई है। इसका उदाहरण तार्किक भाववाद तथा इसके विभिन्न रूप जैसे, भाषा-विश्लेषण आदि हैं। मानव के अस्तित्व को अस्वीकार करने में निरपेक्षवादी दर्शन सबसे आगे हैं, जहाँ मनुष्य की भावना एवं संवेग का कोई महत्त्व है। मानव व्यक्ति की आत्मानुभूति आज निर्वैयक्तिक अनुभूति या वस्तुनिष्ठ अनुभूति पर ही आधारित हो गई है। इतना ही नहीं, आज के विचारकों ने आत्मानुभूति की व्याख्या भी वस्तुनिष्ठ अनुभूति के रूप में की है। इन तथ्यों से यह स्पष्ट है कि निर्वैक्तिक या वस्तुनिष्ठ विचार की प्राथमिकता के कारण आत्मनिष्ठ अनुभूति का स्थान गौण हो जाता है। अस्तित्ववादी विचारक आत्मनिष्ठ अनुभूति की प्रधानता स्वीकार करते हैं तथा मानते हैं कि मनुष्य को आत्मनिरीक्षण से कभी भी अलग नहीं होना चाहिए। वस्तुतः आत्मानुभूति में ही मानव-व्यक्तित्व का वास्तविक रूप निखर पाता है। ग्रीक विचारक सुकरात ने भी ऐसी ही आत्मानुभूति पर बल दिया है। इन्होंने लिखा है कि अपने को जानो, क्योंकि अविचारित जीवन जीने योग्य नहीं होता है। इसी प्रकार भारतीय परंपरा में भी ऐसे विचार का समर्थन उपनिषदों में देखने को मिलता है, जहाँ यह कहा गया है— "आत्मानं विद्धि" अर्थात् आत्मज्ञान या आत्मा को जानिए। इन विचारों में आत्मनिष्ठ अनुभूति के महत्त्व को स्वीकारा गया है। इस दृष्टि से इन विचारों को अस्तित्ववादी विचार का पुरोगामी माना जा सकता है।

आत्मानुभूति की प्राथमिकता को आभ्यन्तरिक व्यक्तिपरकता के माध्यम से स्पष्ट किया जा सकता है। यह देखा जाता है कि अधिकतर मनुष्य दूसरे के प्रति वस्तुनिष्ठ होते हैं। दूसरों के व्यवहारों को एक विशेष मापदण्ड पर आँकने का प्रयास करते हैं, किन्तु अपने को उस माप दंड से पूर्णतः भिन्न रखने की चेष्टा करते हैं। अस्तित्ववादी विचारों की यह मान्यता है कि मनुष्य को हमेशा अपने को मान्य माप दण्ड के अन्तर्गत रखना चाहिए, जबकि दूसरों के प्रति हमें आत्म-निष्ठ होना चाहिए। भारतीय विचारधारा में "आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति सं पंडितः" के द्वारा ऐसे ही विचार की प्रतिस्थापना की गयी है। सारेन किर्के-गार्ड जैसे प्रमुख अस्तित्ववादी विचारक ने तो स्पष्टतः कहा है कि हमें अपने प्रति वस्तुनिष्ठ तथा दूसरों के प्रति आत्मनिष्ठ होना चाहिए। ऐसी स्थिति की वास्त-विकता यदि सिद्ध हो जाए तो जीवन में किसी कठिनाई का सामना व्यक्ति नहीं कर सकेगा। इसी अर्थ में अस्तित्ववादी आत्मनिष्ठ अनुभूति अथवा आत्मानुभूति की महत्ता स्वीकारते हैं तथा वस्तुनिष्ठ एवं निर्वैयक्तिक विचारों को गौण स्थान देते हैं। यहाँ यह स्मरणीय है कि अस्तित्ववादी विचारकों द्वारा समर्थित आभ्यन्तरिक व्यक्तिपरकता के विचार व्यक्ति-निष्ठावाद से सर्वथा भिन्न हैं।

अस्तित्ववाद की पहली आवश्यकता एवं शर्त मानव-स्वतंत्रता है। प्रत्येक अस्तित्ववादी विचारक यह मानता है कि मनुष्य अनिवार्यतः स्वतन्त्र है। सार्त्र ने तो मनुष्य के जीवन में स्वतंत्रता की अनिवार्यता को इतना अधिक महत्त्व दिया है कि इन्हें कहना पड़ा है,– "मैन इज फ्री, मैन इज फ्रीडम" अर्थात् मनुष्य स्वतंत्र है तथा मनुष्य ही स्वतंत्रता है। इतना ही नहीं, सार्त्र ने मानव-स्वतन्त्रता को मानव जीवन का अनिवार्य अंग मानते हुए लिखा है— "मैन इज कन्डेम्नड् टू बी फ्री." इसका अर्थ यह है कि मानव-स्वतन्त्रता मानव जीवन के लिए अत्यंत ही उपलब्ध वस्तु की तरह है जिसका महत्त्व उसके जीवन में नहीं रह पाता है। इस विचार को स्पष्ट करने के लिए स्वतंत्रता की तुलना नमक से की जा सकती है। जिस प्रकार नमक भोजन का अनिवाय अंग बनकर महत्त्वहीन हो गया है, उसी प्रकार स्वतंत्रता मानव जीवन में घुलन-शीलता की स्थिति में आकर तुच्छ हो गयी है। प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन में निर्णय लेने में उसके व्यक्तित्व का सम्यक् विकास निहित है। किन्तु गलत निर्णय से मानव व्यक्तित्व में ह्रास आ जाता है। यही कारण है कि अस्तित्व-वादी विचारक उत्तरदायित्वपूर्ण निर्णय के महत्त्व को स्वीकार करते हैं तथा स्वतंत्रता के उपयोग के क्रम में उत्तरदायित्वपूर्ण निर्णय लेने की राय देते हैं।

सामान्यतया यह देखा जाता है कि मनुष्य सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक दबावों को महसूस करता है जिसके कारण उसे स्वतंत्रतापूर्वक निर्णय लेने में कठिनाई होती है। अस्तित्ववादी विचारकों की यह मान्यता है कि यदि व्यक्ति इन दबावों में न आये तथा अपना मार्ग स्वतंत्रतापूर्वक प्रशस्त करे तो शायद उसे व्यक्तित्व-विकास के क्रम में कठिनाई नहीं होगी। अतः स्वतंत्रता, चयन तथा उत्तरदायित्व-पूर्ण निर्णय अस्तित्ववादी विचारकों द्वारा उपस्थित की गईं महत्त्वपूर्ण मान्यताओं में से हैं।

अस्तित्ववादी विचारक जीवन की वास्तविक परिस्थिति का चित्र उपस्थित करने में विश्वास करते हैं। इनके अनुसार, असुरक्षा, चिंता, नैराश्य तथा निरर्थकता मानव जीवन के वास्तविक तथ्य हैं। अस्तित्व की अनुभूति के क्रममें मानव-व्यक्ति अपने को असुरक्षित महसूस करता है। फलस्वरूप उन्हें चिंता, नैराश्य तथा जीवन की निरर्थकता की अनुभूति होती है। जब व्यक्ति जगत् में प्रतिकूल परिस्थितियों में फंस जाता है, तो उसे चिंता होती है। जब व्यक्ति इच्छानुसार कोई कार्य करने में समर्थ नहीं होता तो उसे निराशा होती है। जब वह अज्ञात भय से भयभीत होता है तो उसे सन्त्रास होता है। वस्तुतः इनकी उत्पत्ति का कारण सांसारिक सुख का अपहरण है। यह सभी जीवन के आवश्यक तथ्य हैं जिन्हें अस्वीकार नहीं किया जा सकता। किंतु मनुष्य एक विकासशील प्राणी है। वह एक विशेष वातावरण में रहता है। वह एक विशेष परिस्थिति में अपना जीवन व्यतीत करता है। ऐसी स्थिति में चिंता, असुरक्षा, सन्त्रास तथा जीवन की निरर्थकता का एहसास होना स्वाभाविक ही है। किंतु वह एक स्वतंत्र प्राणी है, उसे जीवन की असामंजस्यपूर्ण घटनाओं पर विजय प्राप्त करना है। ईश्वर में विश्वास करने वाले अस्तित्ववादी विचारक मानते हैं कि मनुष्य ईश्वर में विश्वास कर इन विषमताओं पर विजय प्राप्त कर सकता है। इसी प्रकार ईश्वर में विश्वास नहीं करने वाले अस्तित्ववादी विचारक मानते हैं कि मनुष्य अनिवार्यतः स्वतंत्र है। इन विषमताओं का सामना वह इसलिए नहीं कर पाता है कि वह अपनी स्वतंत्रता का सही उपयोग नहीं कर पाता। यदि मनुष्य अपने जीवन में सही ढंग से चुनाव करें, सही ढंग से निर्णय ले, सही ढंग से स्वतंत्रता का उपयोग करे तथा यदि उसके व्यवहार सदा उत्तरदायित्वपूर्ण हों तो वे कभी जीवन की विषमताओं का एहसास नहीं कर पायेंगे। तथा उसके व्यक्तित्व का, उसके अस्तित्व का वास्तविक रूप विकास के क्रम में निखर सकेगा।

अस्तित्ववादी मूलतः मानववादी विचार है जहाँ ईश्वर, जड़तत्व तथा विज्ञान आदि के विवेचन की अपेक्षा मानव-जीवन, उसकी कठिनाईयों एवं

उपलब्धियों के विचार की प्रमुखता देखी जा सकती है। ऐसे दर्शन का कार्य मनुष्य-मनुष्य में उपलब्ध वैशिष्ट्य का अध्ययन करना है, उनके सामान्य एवं सारगुण पर आधारित उनका तात्त्विक विवेचन करना नहीं। प्रत्येक व्यक्ति एक विशिष्ट एवं विलक्षण सम्भावनाओं को अपने में ही सजोये रहता है। अस्तित्ववाद इन्हीं सम्भावनाओं की विशिष्टता का उद्घाटन करना श्रेयस्कर समझता है। अस्तित्ववादी विचारकों के अनुसार मनुष्य वस्तुतः प्रदत्त विषय नहीं, बल्कि सम्भावनाओं एवं भव का एक विलक्षण संयोजन है। अतः मनुष्य बनने एवं मनुष्य बने रहने का सदेश ही अस्तित्ववाद का मूल संदेश है।

इस प्रकार अस्तित्ववाद दर्शन के वैसे विचार क्षेत्र का बोधक है, जहाँ व्यक्ति की वैयक्तिक सत्ता पर बल दिया गया है। व्यक्ति ऐसी सत्ता को अपने ही परिवेश में समझने की चेष्टा करता है, अपने भय, अपनी आशा तथा अपने संकटों की पृष्ठभूमि में देखना चाहता है। ऐसे ही बोध के फलस्वरूप व्यक्ति को अपने अस्तित्व का बोध हो पाता है तथा उसे अपनी अनिवार्य स्वतंत्रता की चेतना हो पाती है। उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि अस्तित्ववाद व्यक्ति की मौलिक एवं आंतरिक समस्याओं का समाधान अपने बाह्य परिवेशों में करने की राय देता है। अस्तित्ववाद का मानव व्यक्ति स्वतंत्र एवं उत्तरदायित्वपूर्ण ज्ञाता, कर्त्ता एवं भोक्ता है। वह अपनी सत्ता में निहित स्वतंत्रता का उद्घाटन अपने अस्तित्व की अनुभूति के माध्यम से कर पाता है। ऐसा दर्शन वस्तुतः जीवन-दर्शन एवं आत्मानुभूति का दर्शन है। इसे जीवनधारा की संज्ञा दी जा सकती है, वैसी जीवनधारा की जिसमें व्यक्ति स्वयं प्रवाहशील रहता है और प्रवाहशील जीवन जीता है। ऐसे विचार में जीवन का सहज रूप प्रतिबिम्बित हो पाता है। सहज प्रवाहशील जीवनधारा का चित्र होने के कारण अस्तित्ववादी दर्शन सहज दर्शन के रूप में ग्राह्य हो चुका है। सच तो यह है कि यह दार्शनिक पद्धति का एक उदाहरण ही नहीं है, बल्कि जीवन-दर्शन है जिसे समझकर जीवन में उतारने की आवश्यकता है। यदि यह कहा जाय कि ऐसा दर्शन मात्र चिंतन के लिए ही नहीं है, बल्कि जीने के लिए है, तो शायद कोई अत्युक्ति नहीं होगी। इस दृष्टि से ऐसे दर्शन का पूर्ण सामजस्य भारतीय दर्शन से है जिसका उद्देश्य भी मात्र चिंतन ही नहीं बल्कि जीवन जीने का मार्ग प्रशस्त करना है। अतः अस्तित्ववाद "जीवन-दर्शन" का एक विशिष्ट रूप है।

१८८३ ई. में जर्मनी के ओल्डेनबर्ग में जन्मे कार्ल यास्पर्स प्रोटेस्टैण्ट धर्म के अनुयायी थे। इन्होंने कानून एवं चिकित्साशास्त्र का अध्ययन कर सहायक

मनोचिकित्सक के पद पर काम किया। इनकी प्रथम कृति मनोचिकित्सा एवं मनोविज्ञान के क्षेत्र में ही उपलब्ध है। १९१६ ई में इन्होंने हेडेलबर्ग विश्वविद्यालय में मनोविज्ञान के आचार्य का पद सम्भाला तथा दर्शन के क्षेत्र में भी अनेक अनुसंधान किये। इन्हीं अनुसंधानों के कारण इन्हें हेडलबर्ग में १९२१ ई. तथा बैस्ले में १९४८ ई. में दर्शनशास्त्र में प्रोफेसर का पद मिला।

कार्ल यास्पर्स का अस्तित्ववादी दर्शन सोरेन किर्केगार्ड, नीत्शे जैसे विपरीत चिंतनधाराओं को प्रश्रय देने वाले चिंतकों के विचार से प्रभावित दिखता है क्योंकि इन विपरीत चिंतनधाराओं के बीच मानव पुरुष की अपनी परिस्थिति के प्रति चेतना [३] को लेकर साम्य देखने को मिलता है। इन दोनों चिंतकों से प्रभावित होते हुए कार्ल यास्पर्स ने अपने अस्तित्ववादी दर्शन में मानव परिस्थिति के परिवेश में मानव व्यक्तित्व के विकास का मार्ग प्रशस्त किया है तथा ऐसी परिस्थिति की चर्चा की है जिससे कोई भी व्यक्ति वास्तविक मानव कहलाने का हकदार हो सकता है। इसी तथ्य को ध्यान में रख कर इन्होंने आधुनिक युग में मानव द्वारा झेले जाने वाली समस्याओं की व्याख्या की है तथा उनका समाधान ढूंढा है।

कार्ल यास्पर्स का यह विश्वास है कि विज्ञान एवं प्रविधी के इस द्रुतगामी विकास के युग में व्यक्ति घुटन-सा महसूस कर रहा है। वस्तुतः इसके बीच बौद्धिक एवं नैतिक अस्थिरता का समावेश देखने को मिलता है। फलतः मशीन का गुलाम होने के साथ--साथ मनुष्य की वास्तविक चेतना अवरुद्ध हो रही है जिसके प्रभाव से दर्शन का वास्तविक स्वरूप भी अछूता नहीं रह सका है। इस तथ्य को ध्यान में रख कर ही इन्होंने विज्ञान एवं दर्शन के बीच भेद किया है। इनका यह विश्वास है कि ऐसे भेद से ही दर्शन के वास्तविक स्वरूप को पुनर्जीवित किया जा सकेगा। ऐसी स्थिति के आगमन के फलस्वरूप ही मानव व्यक्ति अपने को बौद्धिक परिस्थिति में उपस्थित करने में समर्थ हो सकेगा तथा व्याप्त बाधाओं से जूझ कर अपने वास्तविक व्यक्तित्व का विकास एवं अपनी वास्तविक अस्तित्वानुभूति कर सकेगा। जब विज्ञान द्वारा प्राप्त ज्ञान को ही जीवन का अंग मान लिया जाता है तब मानव अस्तित्व को ही परिताप या मनोव्यथा का सामना करना पड़ता है। ऐसी स्थिति में विज्ञान वैज्ञानिक अंधविश्वास का रूप ले लेता है। [४] अतः यास्पर्स का यह विश्वास है कि विज्ञान एवं दर्शन के बीच भेद किया जाना चाहिए ताकि विशुद्ध विज्ञान के द्वारा रचित बाधाएँ एवं दर्शन से अलग हटने वाले विचारों — दोनों से मुक्ति मिल सके। इसी विभेद के फलस्वरूप मनुष्य अपने अस्तित्व की रक्षा कर सकता है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि कार्ल यास्पर्स आधुनिक युग में

पलने वाले मानव की व्याख्या तो करते ही हैं, साथ ही साथ दर्शन के शाश्वत कार्य-क्षेत्र का भी उद्घाटन कर देते हैं।

कार्ल यास्पर्स ने अपने अस्तित्ववादी दर्शन में अस्तित्व के विभिन्न प्रकारों की चर्चा की है तथा इनके द्वारा अस्तित्व के स्वरूप पर प्रकाश डाला है। सर्वप्रथम इन्होंने अस्तित्व को आनुभविक अस्तित्व के रूप में स्वीकारा है तथा माना है कि इसमें व्यक्ति अपने अस्तित्व के विषय में अपने अनुभव द्वारा सचेतन होता है। वह आनुभविक अस्तित्व है। इसमें व्यक्ति को आत्म-चेतना होती है। उसे अपने देह और मन के विषय में चेतना होती है। वह यह जानता है कि सामाजिक परि-स्थितियों के क्रिया-प्रतिक्रिया स्वरूप ही उसके मन में विचार उठते हैं। पुन. इन्होंने अस्तित्व को सम्भाव्य अस्तित्व कहा है। व्यक्ति को अपने सम्भाव्य अस्तित्व के विषय में भी ज्ञान होता है। उसे अपने सम्भाव्य स्वतंत्र ज्ञान और कार्य की चेतना रहती है। वह अपने सम्भाव्य अस्तित्व के द्वारा अपनी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की जानकारी प्राप्त कर लेता है। सम्भाव्य अस्तित्व काल के माध्यम से व्यक्त होता है। अस्तित्व काल से जुड़ा हुआ है। फिर इन्होंने अस्तित्व को अनुभवातीतता कहा है। अस्तित्वात्मक संवेदना प्रमाता और प्रमेय दोनों से अतीत है। यद्यपि यह अस्तित्वात्मक संवेदना अनुभवातीत है, तथापि केवल उसी में यह शक्ति है कि प्रमाता और प्रमेय का एक ऐतिहासिक अवस्थिति में समन्वय और एकीकरण कर सके। अस्तित्व अपने स्वरूप से ही अनुभवातीत अवस्था में नहीं पहुंच पाता, किंतु मानव में अनुभवातीत अवस्था तक पहुँचने की स्वतंत्रता निहित है। मानव का चित्त गत्यात्मक है। इसी गत्यात्मकता के द्वारा वह अनुभवातीत अवस्था को पहुँच सकता है।

जीवन में नाना प्रकार के पारस्परिक प्रतिषेध हैं। जीवन में स्वतंत्रता और पराधीनता, पारस्परिक संवाद और एकाकीपन तथा सुख–दुःख इत्यादि क पारस्परिक वैषम्य स्पष्ट है। इन पारस्परिक विरोधों के तनातनी के कारण मानव में एक विचित्र मानसिक ताप रहता है। किंतु, यही मानसिक ताप उस अस्तित्व की ओर हमें अग्रसर करता है जो कि अंततोगत्वा एक परम रहस्य है और जिसका अनुभव एक आश्चर्य या विस्मय के रूप में ही किया जा सकता है। काल के भीतर अकाल निहित है, विवशता के भीतर स्वतंत्रता छिपी हुई है। काल में अकाल का अन्तःप्रवेश, क्षर मे अक्षर की विद्यमानता अस्तित्व का सबसे महान् रहस्य है। विज्ञान इस रहस्य के विषय में कुछ नहीं बतला सकता और यही रहस्य तो अस्तित्व की पराकाष्ठा है।

यास्पर्स मानव को जीवन एवं जगत् की समस्त समस्याओं का केंद्र मानते हैं। इनके अनुसार, सारे जीवन की समस्याएँ व्यक्ति की समस्याएँ हैं। चूंकि व्यक्ति का अस्तित्व है, इसलिए उसमें हर्ष-विषाद हास्य-रुदन, आकांक्षाएँ और नैराश्य, जीवन-मरण जैसे प्रश्न उठते रहते हैं। इनके अनुसार मानव यंत्र नहीं है। वह तो आशाओं आकांक्षाओं तथा अन्य मनोभावों का केंद्र है। उनके मनोभावों में ज्वारभाटाओं की तरह परिवर्तन होते रहते हैं। यास्पर्स यह मानते हैं कि अस्तित्व उसकी चेतना के माध्यम से व्यक्त होता है तथा उसकी चेतना के विश्लेषण से ही हम उसके अस्तित्व को समझ सकते हैं। वस्तुतः मानव व्यक्ति अन्ततः एक वैयक्तिक अनुभूति का धाम है जहां वह अभ्यास एवं निर्णयों को बढ़ावा देता रहता है।

अस्तित्वानुभूति में ये विवेक के महत्त्व को स्वीकारते हैं। विवेक द्वारा ही अस्तित्व स्पष्ट हो पाता है। इस दृष्टि से अस्तित्व एवं विवेक एक दूसरे के विरोधी नहीं, बल्कि पूरक हैं। तथा एक के अस्तित्व को दूसरों के द्वारा ही समझा जा सकता है। सत्य तो यह है कि उनमें परस्पर विकास में योगदान देने की क्षमता है जिसके फलस्वरूप दोनों स्पष्टता एवं सत्तात्मकता की प्राप्ति कर पाते हैं।"[६]

अस्तित्व से सम्बंधित "अवस्थिति" (द झाइन) शब्द का प्रयोग यास्पर्स करते हैं। इसके अनुसार, अवस्थिति का अर्थ है — किसी विशेष देश और काल से सीमित होकर रहना। किसी विशेष स्थिति अथवा दशा में रहना यास्पर्स के अनुसार, अवस्थिति का बोधक है। अवस्थिति से भिन्न शुद्ध अस्तित्व देश और काल की स्थिति का अतिक्रमण कर जाता है। वह प्रमेय को स्थिति में प्रदर्शित नहीं होकर स्फुरता मात्र रह जाता है। यह हमें बतलाता है कि मानव जगत् से घिरे हुये हैं तथा मानव से अलग जगत् का कोई अर्थ नहीं है। यास्पर्स के अनुसार अस्तित्व न तो पूर्णतः स्वनिष्ठ है और न पूर्णतः वस्तुनिष्ठ। यह तो जीवन है, दोनों का संश्लेषण है। इससे जगत् निर्मित है।

अस्तित्ववादी दर्शन की महत्त्वपूर्ण मान्यताओं में मानव व्यक्ति का अस्तित्व तथा अस्तित्वानुभूति है। कार्ल यास्पर्स अपने अस्तित्ववादी दर्शन में इस पर पूर्णरूपेण विचार करते हैं तथा उसे अवस्थिति तथा अस्तित्व की परिधि में स्पष्ट करने की चेष्टा करते हैं। इनके अनुसार यद्यपि मनुष्य की सृष्टि ईश्वर द्वारा हुयी है, फिर भी वह इस जगत् में गौरव एवं प्रतिष्ठा के साथ देवदूत की तरह आया है।[७] यद्यपि इन्होंने मानव व्यक्ति को अत्यधिक प्रतिष्ठित किया है किंतु

इसका अर्थ यह नहीं है कि वह ईश्वर से भी पूर्णतः मुक्त है। वस्तुतः यास्पर्स के अनुसार मानव व्यक्ति ससीम है, क्योंकि वह स्वयं पर आश्रित नहीं रह सकता।[८] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सत्य स्वरूप मानव व्यक्ति कि अपनी कुछ सीमाएँ भी हैं। वह तो ज्ञान का विषय है तथा स्वतंत्र भी है।[९] ऐसा मान कर इन्होंने मनुष्य के जीवन में होने वाले समस्त निर्णयों की, समग्रता में किसी वस्तु को समझने की उसकी क्षमता को, मानव अस्तित्व का मूलाधार स्वीकारा है। जहाँ तक मनुष्य को स्वतंत्रता के रूप समझने का प्रयास है, ये मानते हैं, कि मनुष्य गलत रूप से निरपेक्ष आदर्श की राह को चुन लेता है। फलस्वरूप उसका सम्बन्ध टूट जाता है। इसी दृष्टि से ये यह मानते हैं कि कोई भी मनुष्य पूर्ण नहीं हो सकता।[१०] यास्पर्स इस प्रकार यह मानते हैं कि कोई भी मनुष्य को अपनी क्षमता का उद्घाटन करना चाहिए। आनुभविक अस्तित्व का जीवन में उतारा जाना ही मनुष्य का वास्तविक रूप है। यद्यपि मनुष्य का अंतिम लक्ष्य शाश्वतता की प्राप्ति करना है फिर भी प्राथमिक स्रोत से उनका नाता बनाये रखने की राय यास्पर्स देते हैं। इसे इन्होंने स्वतंत्रता की श्वास की संज्ञा दी है।

कार्ल यास्पर्स दर्शन एवं विज्ञान के बीच भेद करते हैं तथा दर्शन को चरम विज्ञान कहते हैं।[११] यास्पर्स के अनुसार, प्रामाणिक अस्तित्व की प्राप्ति ही मानव जीवन का लक्ष्य है तथा दर्शन इस लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक सिद्ध हो सकता है।[१२] इनका यह विश्वास है कि अस्तित्व को प्रकाशित करने वाली क्रिया में दर्शन योगदान देता है।[१३] मनुष्य अपनी मानसिक शक्तियों के द्वारा अपनी सीमाओं को जान पाता है और अपनी सत्ता को भी। अतः यास्पर्स मानव चेतना को मानव द्वारा प्रोन्नत एवं जागृत करने की राय देते हैं।[१४] इस प्रकार इनके अनुसार दर्शन सिद्धांतों का धाम नहीं है, बल्कि अर्थपूर्ण जीवन को उजागर करने वाली अनेकानेक सम्भावनाओं के प्रति मनुष्य को जागृत करने की क्रिया है। इसी दृष्टि से यास्पर्स व्यापक सत्ता एवं दार्शनिक आस्था के बीच तादात्म्य स्थापित करने की चेष्टा करते हैं।

कार्ल यास्पर्स अस्तित्ववादी अथवा प्रामाणिक पहलुओं की चर्चा करते हैं तथा आनुभविक सफलताओं से असन्तुष्टि, निरपेक्ष सत्ता के प्रति समर्पण एकत्व का उत्स, अमरत्व की चेतना —— जैसे पक्षों की चर्चा कर वे अस्तित्ववादी परिस्थिति एवं उनका मुकाबला करने की अवस्थिति को उजागर करते हैं। मनुष्य अस्तित्व की अवस्थिति में रहता है। उसे स्वतंत्रता रही है, किंतु जब अपनी स्वतंत्रता द्वारा यह ईश्वरीय संकल्प की अनुभूति की क्षमता को उजागर करता है, तो उसे यास्पर्स "ईश्वर की भाषा"[१५] बोलने वाला मानते हैं।

कार्ल यास्पर्स के मानव व्यक्ति के विचार को बिना जगत् के परिप्रेक्ष्य में समझा नहीं जा सकता। मनुष्य एक अस्तित्ववान् प्राणी के रूप में जगत् के परिवेशों के साथ जुड़ा रहता है तथा जगत् को अपनी दृष्टि से देखने की चेष्टा करता है।[२६] यास्पर्स यह मानते हैं कि जगत् के अध्ययन के साथ ज्ञानमार्ग, आत्मानुभूति जुड़ी हुयी है। यदि हम जगत् में समाहित हो जाते हैं तो इसका अर्थ होता है कि हम स्वयं को समाहित कर देते हैं।[२७] यास्पर्स यह मानते हैं कि शाश्वत सत्ता तथा क्षणिक अभिव्यक्तियाँ — दोनों ही जगत् में मिलती हुयी दिखाई देती है। अतः यह कहा जा सकता है कि इस क्षणिक जगत् में शाश्वत सत्ता काल के रूप में अभिव्यक्त रहती है।[२८] अतः स्पष्ट है कि मनुष्य एवं अनुभवातीत सत्ता का जगत् मिलन-मंदिर है। जगत् में ही मानव अपनी स्वतंत्रता को अभिव्यक्त कर पाता है तथा अस्तित्वानुभूति करने में समर्थ हो पाता है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि अस्तित्व मानव स्थिति का परिचायक है। यह स्थिति जीवन एवं जगत् की स्थिति है। इससे सम्बंधित समस्याएँ वस्तुतः अस्तित्ववादी समस्याओं की बोधक हैं। जिसे हम बाह्य एवं आंतरिक दृष्टिकोण से देख पाते हैं, वही अस्तित्व के परिचायक हैं। जिस प्रकार मेघ आकाश में उन्मुक्त विचरण करता है, उसी प्रकार वास्तविक अस्तित्व स्वतंत्रता में ही अनुभूत होता है। ज्ञान, अनुराग, आस्था तथा बोध की पहुँच अस्तित्व तक है। किंतु अस्तित्व इनके अतिरिक्त और भी कुछ है। यह तो व्यापक चेतना का बोधक है। बुद्धि, संवेग एवं संकल्प — तीनों के संतुलन में इसकी वास्तविक अभिव्यक्ति देखी जाती है। यह तो सतत प्रवास में ही उजागर होता है तथा अस्तित्वानुभूति में मुखर होता है। वस्तुतः अस्तित्वानुभूति की मूर्तता विश्वातीतता में निहित है। कार्ल यास्पर्स के अस्तित्ववादी दर्शन में यह तथ्य मुखररूप में अभिव्यक्त हुआ है। अतः उनके दर्शन को अस्तित्ववादी दर्शन का एक उत्कृष्ट रूप कह सकते हैं जिसकी तह में प्यार एवं चाह की भावना निहित है। इससे ऐसा लगता है कि अन्य अस्तित्ववादी चिंतकों की तरह कार्ल यास्पर्स भी अस्तित्व की समस्याओं एवं अर्थ की व्याख्या में रुचि रखते हैं, विशेषकर मनुष्य के आंतरिक अस्तित्व में।

अन्य अस्तित्ववादी चिंतकों की तरह यास्पर्स भी सारतत्त्व की अपेक्षा अस्तित्व के महत्त्व को स्वीकारते हैं तथा अस्तित्व को व्यक्ति के वास्तविक सत्ता के साथ समन्वित करते हैं। मानव अस्तित्व को ये महत्त्वपूर्ण मानते हैं, सामान्य या सामान्यीकरण के सीमांकन में इनकी आस्था नहीं है। इनका यह विश्वास है कि मानव अस्तित्व कि अनुभूति अंतःस्थल में अनुभूत हो सकती है। इसका आनंद

लिया जा सकता है, इसमें यातना को सहन किया जा सकता है तथा इसमें संकल्प के द्वारा निवास किया जा सकता है। इस दृष्टि से ये समाज की अपेक्षा व्यक्ति के हिमायती हैं तथा वैयक्तिक अस्तित्वानुभूति को प्रश्रय देते हैं।

अन्य अस्तित्ववादी चिंतकों की तरह कार्ल यास्पर्स भी धार्मिक, राजनीतीक सांस्कृतिक, नैतिक तथा सामाजिक क्षेत्रों में तर्क सम्बन्धी समस्याओं के समाधान में व्यक्ति की स्वतंत्रता एवं उत्तरदायित्व के महत्त्व को स्वीकारते हैं। इन्हें किसी भी प्रकार का आधिपत्य मान्य नहीं है।

जहाँ तक ज्ञानमीमांसा का क्षेत्र है, ये बुद्धि, तर्क तथा वस्तुनिष्ठता का विरोध करते हैं तथा आंतरिक वैयक्तिक अनुभूति का महत्त्व स्वीकार करते हैं। इस दृष्टि से, यह स्वच्छंदतावाद, अंत:-अनुभूतिवाद तथा आत्मनिष्ठतावाद के समीप प्रतीत होते हैं। ये मानव जीवन में निहित आंतरिक संघर्ष तथा आंतरिक अनुभूतियों के महत्त्व को स्वीकारते हैं तथा उनकी व्याख्या बड़े ही महत्त्वपूर्ण ढंग से करते हैं। ऐसी स्थिति में कभी–कभी इनके विचार विरोधाभास को भी रूपायित करते हैं।

इस प्रकार, अन्य अस्तित्वादियों की तरह यास्पर्स तत्त्वमीमांसीय चिंतन को प्रश्रय नहीं देते और न अनुभवातीत सत्ता के अनुभवातीत फेरे में ही जाने की चेष्टा करते हैं। इसके विपरीत वे तत्त्वमीमांसीय सत्ताओं को अस्तित्वानुभूति की सीमा में लाकर वैयक्तिक अनुभूति के पकड़ में ले आते हैं। अत: शुद्ध तर्कज्ञान की अपेक्षा ये अस्तित्वानुभूति पर जोर देते हैं। व्यापक सत्ता तथा दार्शनिक आस्था इसके स्पष्ट उदाहरण हैं। यास्पर्स मानव एवं मानव-भवितव्यता को अस्तित्वानुभूति के साथ जोड़ कर यह दिखलाने की चेष्टा करते हैं कि यह जगत् समग्रता में मानव व्यक्ति के ज्ञान से परे है। किंतु वे मानते हैं कि चरम सत्ता का मानव सीमित अभिव्यक्ति है। मानव स्वतंत्रता मनुष्य को अपनी इस क्षमता का ज्ञान करा देती है जिससे ईश्वरीय संकल्प की अनुभूति व्यक्ति कि अनुभूति में परिणत हो जाती है और इस दृष्टि से मनुष्य के लिए जगत् ईश्वर की प्रतीकात्मक भाषा का रूप ले लेता है।

नरेश नारायण सिंह

दर्शन विभाग
पूर्वोत्तर रेलवे महाविद्यालय
सोनपुर (सारण) (बिहार)

टिप्पणीयाँ

१. विलियम बैरेट तथा हेनरी डी. एकेन द्वारा सम्पादित ग्रंथ फिलॉसफी इन द ट्वेण्टिएथ सेन्चुरी, पृष्ठ १४६.
२. पॉल रौबिक जेक, एक्जिस्टेंशियलिज्म फॉर एण्ड एगेन्स्ट, पृष्ठ १०.
३. एच्. जे. ब्लैकहम, सिक्स एक्जिस्टेंशियलिस्ट थिंकर्स, पृष्ठ ४३.
४. कार्ल यास्पर्स, " साइंस एण्ड फिलॉसफी इन द प्रेजेण्ट इण्टलेक्चुअल सिचुयेशन ", यूनिवरसिटास वॉल्यूम- ८, नं.- ४, १९६६.
५. कार्ल यास्पर्स, रीज़न एण्ड एक्जिस्टेंस, पृष्ठ- ६८.
६. कुर्ट हौफमैन, " द बेसिक कन्सेप्ट ऑफ यास्पर्स फिलॉसफी ", द फिलॉसफी ऑफ कार्ल यास्पर्स, सम्पादक- पी. ए. शिल्प, पृष्ठ- ९७
७. कार्ल यास्पर्स, द पैरेनियल स्कोप ऑफ फिलॉसफी, पृष्ठ- ५४.
८. वही
९. वही, पृष्ठ- ५७.
१०. वही, पृष्ठ- ७०.
११. कार्ल यास्पर्स, वे टु विज्डम, पृष्ठ- १४७.
१२. विलियम बैरेट के फिलॉसफी ऑफ द ट्वेण्टिएथ सेंचुरी की प्रस्तावना, पृष्ठ- ४६७.
१३. वही,
१४. वही, पृष्ठ- ४६८.
१५. कार्ल यास्पर्स, पेरेनियल स्कोप ऑफ फिलॉसफी, पृष्ठ- ५९.
१६. ए. टी. एडवर्ड, सोसियलिज्म एण्ड एक्जिस्टेंस, पृष्ठ- ११९.
१७. कार्ल यास्पर्स, द पेरेनियल स्कोप ऑफ फिलॉसफी, पृष्ठ- ३९
१८. कार्ल यास्पर्स, वे टू विज्डम, पृष्ठ- ८४

नव्य-न्याय के पारिभाषिक पदार्थ (८)

अनुयोगिता

जैसे सांसर्गिक प्रतियोगिता और अभावीय प्रतियोगिता के दो भेद से प्रतियोगिता दो प्रकार की होती है, उसी प्रकार अनुयोगिता भी उक्त दो प्रकार की होती है। इन्हीं दो प्रकार की अनुयोगिता को संक्षिप्त चर्चा प्रस्तुत करना इस लेख का उद्देश्य है।

यह कहा जा चुका है कि सम्बन्ध हमेशा दो पदार्थों में हुआ करता है। इस प्रकार सम्बन्ध दो पदार्थों के बीच होते हुए भी उक्त दो पदार्थों की तात्त्विक स्थिति समान नहीं होती। जैसे कपि, और वृक्ष का संयोग कपि और वृक्ष इन दोनों में है। परंतु कपि ही वृक्ष पर संयोग सबंध से रहता है, वृक्ष कपि पर संयोग सम्बन्ध से नहीं रहता। इसी तरह भूतल पर संयोग सम्बन्ध से घट रहता है. लेकिन घट पर भूतल संयोग सम्बन्ध से नहीं रहता। तथापि इसका कारण क्या है? इसका कारण यह है कि सम्बन्ध दो सम्बन्धियों में समान रूप से होने पर भी उन सम्बन्धियों की तात्त्विक स्थिति समान नहीं है। सम्बन्ध के दो आश्रयों में से एक सम्बन्ध का प्रतियोगी होता है तो दूसरा अनुयोगी। जो जिस सम्बन्ध से कहीं आश्रित होता है वह उस सम्बन्ध का प्रतियोगी कहलाता है तथा जो जिस संबंध का अनुयोगी होता है उसमें उस सम्बन्ध से प्रतियोगी आश्रित होता है। जैसे, कपि और वृक्ष के संयोग के विषय में कपि प्रतियोगी तथा वृक्ष अनुयोगी होता है क्यों कि कपि वृक्ष पर रहता है, वृक्ष कपि पर नहीं। जब भी धर्म और धर्मि के सम्बन्ध में चर्चा होती है तो वहाँ धर्म को प्रतियोगी और धर्मि को अनुयोगी के रूप में समझा जाता है। क्योंकि धर्म सदा धर्मि पर आश्रित होता है; धर्मि आश्रित न हो कर आश्रय होता है। इसका तात्पर्य यह है कि सम्बन्ध के दो मुख्य घटकों में से जो मुख्य रूप से गृहीत होता है वह उस सम्बन्ध का प्रतियोगी होता है, तथा जिसका उस सम्बन्ध-प्रत्यय के सन्दर्भ में गौण स्थान होता

है वह उस सम्बन्ध का अनुयोगी होता है। अनुयोगी को स्वीकार किये बिना सम्बन्ध के संकल्पना की व्याख्या सम्भव नहीं है।[१]

शाब्दबोध में भी जब एक पदार्थ के साथ दूसरा पदार्थ सम्बन्ध संसर्ग-मर्यादा के अधीन प्रतीत होता है, तो वहाँ भी एक पदार्थ प्रतियोगी के रूप में तथा अपर पदार्थ अनुयोगी के रूप में स्वीकार किया जाता है।[२] अनुयोगी पदार्थ में रहनेवाली अनुयोगिता भी प्रतियोगिता के समान ही स्वरूप-सम्बन्ध-विशेष-रूप अथवा अतिरिक्त पदार्थ के रूप में मानी जा सकती है।[३]

"सम्बद्धं वर्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिना" (चक्षुरादि से वर्तमान का जो ग्रहण होता है वह सम्बन्धाधारित ही होता।) इस नियम के आधार पर यह सिद्ध होता है कि सम्बन्ध के साक्षात्कार के लिए प्रतियोगी तथा अनुयोगी इन दोनों का साक्षात्कार कारण होता है। यदि अनुयोगी का साक्षात्कार न हो तो सम्बन्ध का भी साक्षात्कार नहीं होता है। जैसे, घटाकाश के सम्बन्ध का ग्रहण साक्षात् इसलिए नहीं होता है क्योंकि उसके अनुयोगी का याने आकाश का साक्षात्कार नहीं होता है।[४]

सांसर्गिक अनुयोगिता

ऊपर यह बताया जा चुका है कि अनुयोगिता सांसर्गिक तथा अभावीय इन दो प्रकार की होती है। अनेक व्याप्ति आदि के लक्षणों में उत्पन्न होने वाले दोष का परिहार करने के लिए साध्यतावच्छेदकता, हेतुतावच्छेदकता आदि की पर्याप्ति का निवेश करना पडता है। वह सांसर्गिक अनुयोगिता के प्रवेश के बिना सम्भव नहीं होता है। नैयायिक मानते हैं कि द्वित्व, उभयत्व, त्रित्व आदि के समान अवच्छेदकता भी पर्याप्ति सम्बन्ध से रहनेवाला पदार्थ है।[५] जैसे, द्वित्व दो वस्तुओं में सम्मिलित रूप में रहता है और असम्मिलित रूप में भी रहता है। जब यह पर्याप्ति सम्बन्ध से रहता है तो सम्मिलित रूप से ही रहता है, असम्मिलित रूप से नहीं। उस समय द्वित्व का आश्रय सम्बन्धित वस्तुओं में से एक वस्तु नहीं होती है। उसी तरह अवच्छेदकता के आश्रय भी पर्याप्ति सम्बन्ध से जितने अवच्छेदक होते हैं वे सब एकसाथ होते हैं। उदाहरण के लिए देखे- हमें "अग्नि का अभाव" बताना है। इसे यदि हम इस तरह व्यक्त करते हैं कि "अग्नि में रहनेवाली अग्निता से नियमित प्रतियोगिता वाला अभाव" तो पर्वतीय अग्नि का अभाव तथा अग्नि और धूम इन दोनों का अभाव आदि भी उसके अन्तर्गत लिए जा सकते हैं। क्योंकि जो प्रतियोगिता पर्वतीय अग्नित्व, और अग्नित्व धूमत्व और उभयत्व से नियमित है वह अग्नित्व से नियमित अवश्य ही

है। ऐसी स्थिति में अग्निसामान्याभाव और उभयाभाव या विशेषाभाव का विश्लेषण करने के लिए न्यूनता-वारक तथा इतर-वारक पर्याप्ति का प्रयोग करना पड़ता है। अग्नि का अभाव केवल अग्नित्व से नियमित प्रतियोगिता का अभाव न हो कर अग्नित्व पर्याप्त अवच्छेदकता से निरूपित प्रतियोगिता वाला अभाव होता है। अवच्छेदकता के पर्याप्ति-रूप सम्बन्ध की जो अनुयोगिता है वह केवल अग्नित्व में है। उसका अवच्छेदक संख्यात्मक रूप अग्नित्व में रहने वाला एकत्व है। जब "अग्निधूम उभय का अभाव" कहा जाता है तो प्रतियोगिता की अवच्छेदकता और अवच्छेदक के बीच में होनेवाले पर्याप्ति सम्बन्ध के अनुयोगी अग्नित्व, धूमत्व तथा उभयत्व ये तीनों होते हैं। अत: अनुयोगिता का अवच्छेदक रूप त्रित्व होता है। इसलिए वह अभाव त्रित्व नियमित अग्नित्व, धूमत्व और उभयत्व में रहने वाली पर्याप्ति सम्बन्ध की अनुयोगिता से निरूपित अवच्छेकता से प्रदर्शित प्रतियोगिता वाला अभाव है, जब कि केवल अग्नि का अभाव अग्नित्व गत एकत्व से नियमित पर्याप्ति सम्बन्ध की अनुयोगिता से निरूपित अवच्छेदकता से प्रदर्शित प्रतियोगिता वाला अभाव है। इस प्रकार पर्याप्ति सम्बन्ध की अनुयोगिता के माध्यम से सामान्याभाव का विश्लेषण कर उभयाभावादिकों से उसे अलग किया जाता है।

इस प्रकार जहाँ जहाँ भी पर्याप्ति का प्रयोग किया जाएगा वहाँ उक्त संसर्ग के अन्तर्गत अनुयोगिता का निवेश आवश्यक है। अनुयोगिता पदार्थ को स्वीकार किए बिना पर्याप्ति का निवेश सम्भव ही नहीं है।

सम्बन्धियों की प्रतियोगी-अनुयोगियों के रूप में विलक्षण स्थिति की द्योतक सम्बन्ध की प्रतीति ही है। 'पर्वत पर अग्नि है' यहाँ पर्वत के साथ अग्नि का संयोग है, अग्नि के साथ पर्वत का नहीं इस प्रतीति के आधार पर सम्बन्ध के दो आश्रयों की विलक्षणता स्पष्ट हो जाती है और उस विलक्षणता को प्रदर्शित करने के लिए नैयायिकों ने एक सम्बन्धी को प्रतियोगी तथा दूसरे सम्बन्धी को अनुयोगी माना है।[६]

सम्बन्धियों की विलक्षणता के आधार पर सम्बन्धों का भेद किया जाता है। जगदीश ने "दण्डिमान् दण्डिसंयोगात्" यह सद्हेतु-स्थल प्रदर्शित किया है। जहाँ जहाँ दंडिसंयोग रहे वहाँ वहाँ दण्डि रहने पर ही यह सद्हेतु बनेगा। परंतु दण्डिसंयोग दण्डि में है वहाँ दण्डि नहीं है। अत: यह असद्हेतु हो जाएगा। उसके सद्धेतुत्व की रक्षा के लिए "स्वप्रतियोगिकत्वविशिष्टसंयोग" को हेतु बनाना पड़ेगा जिससे संयोग द्विष्ठ होने से दण्डि में वर्तमान होने पर स्वप्रतियोगिकत्व-विशिष्टसंयोग" दण्डि में नहीं है। वह संयोग अनुयोगी अर्थात् दण्ड में रहने से और वहाँ संयोग सम्बन्ध से दण्डि के रहने से सद्धेतु होता है। इस तरह सम्बन्धियों

की भिन्नता प्रतियोगी और अनुयोगी के रूप में प्रदर्शित करना आवश्यक हो जाता है।[७]

यद्यपि सांसर्गिक प्रतियोगित्व तथा अनुयोगित्व को सम्बन्धित्व के रूप में माना जाता है तथापि उक्त दो स्थानों में पृथक् रूप से रहने वाली सम्बन्धिता का पार्थक्य करने के लिए उनकी प्रतियोगिता तथा अनुयोगिता के रूप में ही विभक्त करना आवश्यक है।

जो जिसके सम्बन्ध का आश्रय होता है वह उस सम्बन्ध से उस वस्तु का आश्रय होता है ऐसी व्याप्ति प्रदर्शित की जाती है। जैसे, घट-संयोग का आश्रय भूतल घट का आश्रय होता है। परंतु यह व्याप्ति समीचिन नहीं है, क्योंकि भूतल-संयोग का आश्रय घट भूतलवान् नहीं है। अथवा, रूप का समवाय वायु में होने पर भी वायु रूप का आश्रय नहीं है। उक्त आपत्तियों का वारण अनुयोगिता की संकल्पना के आधार पर नैयायिक करते हैं।[८] उनका कहना है कि "यो यदीय सम्बन्धवान्" इस व्याप्ति का अर्थ है "यो यन्निरूपितत्वविशिष्ट सम्बन्धवान् स तत् सम्बन्धेन तद्वान्"। अर्थात्, जो जिससे निरूपित सम्बन्ध का आश्रय होता वह उस सम्बन्ध से उसका आश्रय होता है। सम्बन्ध का आश्रय अनुयोगिता सम्बन्ध से ग्रहण करना चाहिए। अतः वायुरूप समवायी है यह प्रतीति न होने से वायु में रूप-निरूपित समवाय की अनुयोगिता नहीं है। घट-निरूपित संयोग की अनयोगिता भूतल में होने से "घटसंयोगी भूतल" यह प्रत्यय होता है। "घटसंयोगी भूतल" इस प्रत्यय में संयोग के बाद प्रयुक्त मत्वर्थीय प्रत्यय का अर्थ प्रतियोगित्व नहीं है। उसका अर्थ उपर्युक्त अनुयोगित्व ही करना पडेगा। उसका अर्थ प्रतियोगित्व करने पर "घटसमवायी रूपं" यह प्रतीति भी होनी चाहिए, जो नहीं होती। अतः सम्बन्धवाचक पद के बाद मतुप् अर्थ में प्रयुक्त ईय प्रत्यय का अर्थ अनुयोगिता करना आवश्यक है।

जिन संयोगादि सम्बन्धों से जहाँ प्रमात्मक विशिष्ट बुद्धि उत्पन्न होती है वहाँ उन सम्बन्धों को किञ्चित्प्रतियोगिक तथा किञ्चिदनुयोगिक मानना आवश्यक है। धूमसंयोग में अयोगोलकानुयोगिक सम्बन्धत्व नहीं है क्योंकि अयोगोलक में धूमसंयोग नहीं रहता है। अतः धूमसंयोग की अनुयोगिता अयोगोलक में नहीं रहती है। यथार्थ विशिष्टबुद्धि का नियामक सम्बन्ध ही तदनुयोगिक सम्बन्ध कहलाता है।[९]

इस प्रकार सम्बन्ध का एक प्रतियोगी तथा दूसरा अनुयोगी अवश्य होता है। अतः प्रतियोगिता के समान ही अनुयोगिता पदार्थ को स्वीकार करना आवश्यक है। सांसर्गिक प्रतियोगिता के समान ही सांसर्गिक अनुयोगिता के सम्बन्ध में भी नैयायिकों के अनेक मत हैं।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि सांसर्गिक अनुयोगिता तथा अधिकरणता में क्या भेद है? भूतल में जहाँ घट-संयोग की अनुयोगिता है वहाँ उसकी अधिकरणता भी है। यद्यपि जहाँ अधिकरणता है वहाँ अनुयोगिता है यह बात बिलकुल सत्य है तथापि अनुयोगिता अधिकरणरूप नहीं है। जहाँ सम्बन्ध वृत्यनियामक होता है वहाँ अधिकरणता नहीं रहती है। वृत्तिनियामक सम्बन्ध से ही आधाराधेय भाव प्रतीत होता है, वृत्यनियामक सम्बन्ध से नहीं। परंतु वृत्यनियामक सम्बन्ध में भी प्रतियोगी-अनुयोगी-भाव प्रतीत होता है। अत: वृत्यनियामक सम्बन्ध से अधिकरण न होने पर भी उसका अनुयोगी होता ही है। अत: अनुयोगिता अधिकरणता से भिन्न पदार्थ है।

अभावीय अनुयोगिता

अभावत्वात्मिका दूसरी अनुयोगिता होती है। जैसे प्रतियोगिता-निरूपकत्व सम्बन्ध में रहता है वैसे ही वह अभाव में भी रहता है। जब हम कहते हैं "यहाँ घट नहीं है" तब इस प्रतीति के विषय घटाभाव की घट में रहनेवाली प्रतियोगिता से निरूपित अनुयोगिता रहती है, जो अभावीय अनुयोगिता कहलाती है। प्रतियोगिता के समान ही अभावीय अनुयोगित्व के विषय में भी विवाद है।

कुछ नैयायिकों का कथन है कि घटाभाव में रहने वाली अनुयोगिता घटाभावत्व से भिन्न नहीं है, जब कि कुछ का कहना है कि यह अनुयोगिता स्वतन्त्र पदार्थ है। इसके अलावा कुछ और नैयायिकों का मत है कि यह स्वरूप-सम्बन्ध-विशेष है।[१०]

अभावीय अनुयोगिता को स्वीकार किए बिना अन्यतमत्वादि घटित लक्षणों की व्याख्या करना सम्भव नहीं है। जैसे, न्यायावयव का लक्षण किया गया है — न्यायान्तर्गतत्वे सति प्रतिज्ञादि अन्यतमत्वम्। यहाँ अन्यतमत्व का अर्थ किया गया है— प्रतिज्ञादिभिन्नभेदानुयोगितावच्छेदकरूपवत्वम्।[११] ध्वंस का लक्षण 'जन्यत्वे सति अभावत्वम्' यह किया जाता है। परंतु 'गोध्वंस:' इस बुद्धि में ध्वंस की प्रतीति ध्वंस के रूप में ही होती है, अभावरूप में नहीं होती है। इसलिए ध्वंस को अनुयोगिता का ही एक विशेष प्रकार माना गया है।[१२]

अभाव के आश्रय को भी अनुयोगी माना जाता है तथा उसमें रहने वाली विशेषता भी अनुयोगिता का एक प्रकार है ऐसा स्वीकार किया जाता है। जब हम कहते हैं "घटाभाववत् भूतलम्" तब उसका अर्थ होता है घट-प्रतियोगिक और भूतलानुयोगिक अभाव।[१३] यहाँ भूतल अनुयोगी होने से उसमें अनुयोगिता

रहती है। भूतल में रहने वाली अनुयोगिता घटाभाव की प्रतियोगिता से निरूपित होती है। प्रतियोगिता तथा अनुयोगिता के बीच निरूप्य–निरूपक–भाव होता है। घटाभावीय प्रतियोगिता निरूपित अनुयोगिता कहने पर अनुयोगिता निरूप्य होती है तथा प्रतियोगिता निरूपक होती है, जिस प्रकार अनुयोगिता निरूपित भी प्रतियोगिता होती है। अनुयोगिता से निरूपित प्रतियोगिता कहने पर अनुयोगिता निरूपक तथा प्रतियोगिता निरूप्य होती है। इसका तात्पर्य यह है कि नैयायिक प्रतियोगिता और अनुयोगिता में परस्पर निरूप्य–निरूपक–भाव मानते हैं। "घटाभाववत् भूतलम्" इस ज्ञान से उत्पन्न 'अभाव–पदप्रयोग–विषयत्व' को ही घट और भूतल के प्रतियोगी–अनुयोगी–रूप सम्बन्ध के रूप में गंगेश ने स्वीकार किया है।[१४]

"घटाभाववद्भूतलम्" यहाँ घटाभाव में रहने वाली आधेयता से निरूपित अधिकरणता भूतल में है और घटप्रतियोगिक अभावानुयोगिता भी भूतल में है। लेकिन इनमें परस्पर क्या सम्बन्ध है? कुछ नैयायिकों का कथन है कि उनमें तात्त्विक भेद नहीं है; उनमें अभेद है। परन्तु कुछ अन्य नैयायिकों का मत है कि अनुयोगिता और आधारता का सामानाधिकरण्य होने पर भी उनमें अभेद नहीं है। आधारता आधेयता से निरूपित है, जबकि अनुयोगिता प्रतियोगिता से निरूपित होती है।

अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव स्थलों में अभाव का आश्रय ही अनुयोगी होता। जैसे, "घटाभाववत् भूतलम्" में भूतल अनुयोगी होने से अनुयोगिता भूतल में रहती है, तथा "घट पट नहीं है" यहाँ घट में पट का भेद मालूम होने से घट यह उक्त भेद का अनुयोगी है। प्रतियोगिता के समान ही अनुयोगिता भी किञ्चिद्धर्मावच्छिन्न होती है। घटाभाव की भूतल में रहने वाली अनुयोगिता भूतलत्व से अवच्छिन्न (नियमित) होती है। परन्तु "घटपटौ न घटः" यह प्रतीति न होने से व्यासज्यवृत्ति (मिल कर रहने वाले उभयत्व आदि) धर्म से निरूपित एक वस्तु के भेद की अनुयोगिता प्रामाणिक नहीं मानी जाती।[१५] उसी प्रकार विशेष्य में रहने वाले धर्म का विशिष्टानुयोगिक अभाव नहीं होता है। "नीलो घटो घटान्यः" इस प्रकार की प्रतीति नहीं होता है।[१६]

अन्योन्याभाव के सन्दर्भ में दूसरी बात यह है कि प्रतियोगिवाचक पद के समान विभक्ति वाला अनुयोगिक पद न हो तो 'नञ्' से अन्योन्याभाव का बोध ही नहीं हो सकता। अतः अन्योन्याभाव की प्रस्तुति में प्रतियोगी तथा अनुयोगी–वाचक पदों का प्रयोग अनिवार्य रूप से होता है।[१७]

जिस प्रकार "घटाभाववद्भूतलम्" इस प्रतीति से घटप्रतियोगिक भूतला-नुयोगिक अभाव प्रतीत होता है, उसी प्रकार "घटो नष्टः" घट नष्ट हुआ ऐसी प्रतीति से जो घटध्वंस प्रतीत होता है वह भूतलानुयोगिक नहीं होता है। ध्वंस सर्वदा अपने प्रतियोगी के समवायि कारण में रहता है, अतः ध्वस की अनियोगिता हमेशा ध्वंस के प्रतियोगी के समवायी कारण में रहती है। जैसे "घटो नष्टः" इस प्रतीति में भासित घट के विनाश का अनुयोगी घट का समवायि कारण घट-कपाल (घट का आधा हिस्सा होता है। अतः घट-ध्वंस की घट में रहने वाली प्रतियोगिता से निरूपित अनुयोगिता घट-कपाल में रहती है।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि द्रव्य का नाश दो प्रकार से होता है : एक तो समवायि कारण के नाश से, तथा दूसरा असमवायि कारण के नाश से। असमवायि कारण के नाश से जहाँ द्रव्य का नाश होगा वहाँ वह नाश तो अपने प्रतियोगि के समवायि कारण में रहेगा। जैसा, तन्तु-संयोग के नाश से जब वस्त्र का नाश होगा तो वह तन्तुओं में रहेगा, परन्तु जब तन्तुओं के नाश से वस्त्र का नाश होगा तो वह नाश कहाँ रहेगा ? इस विषय में नैयायिकों का कथन है कि असमवायि कारण के नाश को ही वे द्रव्यनाश का कारण मानते हैं। समवायि कारण का नाश होने से असमवायि कारण का नाश हो कर द्रव्यनाश होता है। तन्तुओं के नष्ट होने पर तन्तु-संयोग-रूप असमवायि कारण भी नष्ट हो जाता है और उसके नष्ट होने पर द्रव्य का नाश हो जाता है। द्व्यणुक के लिए असमवायि कारण को मानना आवश्यक है क्यों कि द्व्यणुक का नाश परमाणुओं के नाश से सम्भव नहीं है।[१८] अतः असमवायि कारण के नाश को ही द्रव्यनाश का कारण मानने पर भी उसकी अनुयोगिता द्रव्य के समवायि कारण में मानने में बाधा रहती ही है। तन्तुनाश से जन्य संयोग का नाश भी कहाँ रहेगा ? इस विषय में नैयायिकों का उत्तर है कि ध्वंस अपने प्रतियोगि के समवायि देश मे रहता है। अतः ध्वंस की अनुयोगिता समवायि-देश में रहती है। प्रागभाव के विषय में भी यही मत है। प्रागभाव भी अपने प्रतियोगि के समवायि-देश में रहता है। "इन तन्तुओं से पट उत्पन्न होगा, घट नहीं" इस प्रतीति के आधार पर पट-प्रागभाव के प्रतियोगि पट के समवायि देश में प्रागभाव होने से पट के प्रागभाव की अनुयोगिता पट-समवायि-देश मे रहती है।[१९]

जैसे पिछले लेखों में स्पष्ट किया गया है, अनुयोगिता और प्रतियोगिता में मौलिक भेद यह है कि अनुयोगिता को सम्बन्धावच्छिन्न नहीं माना जाता, प्रति-योगिता को सम्बन्धावच्छिन्न माना जाता है।[२०] प्रतियोगिता और अनुयोगिता

दोनों भी धर्मावच्छिन्न होती हैं। अर्थात्, धार्मिक अवच्छेदकता से निरूपितत्व दोनों में समान रूप से रहता है; परन्तु सांसर्गिक अवच्छेदकता से निरूपितत्व अनुयोगिता में नहीं स्वीकार किया जाता। प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकाभाव के अनुरोध से अथवा बाधनिश्चयाभाव की कारणता के अनुरोध से अभावीय प्रतियोगिता को सम्बन्धावच्छिन्न तथा धर्मावच्छिन्न माना जाता है। परन्तु अनुयोगिता को भी सम्बन्धावच्छिन्न मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। प्रतियोगिता को सम्बन्धावच्छिन्न मान लेने से प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक-भाव बन जाता है यह पूर्व लेखों में प्रदर्शित किया जा चुका है। जब " घटाभाववद् भूतलम् " यह प्रतीति होती है तब भूतल की केवल अनुयोगि के रूप में ही प्रतीति होती है, उसके सम्बन्ध का ज्ञान नहीं होता है। अनुयोगिता सापेक्षिक धर्म है। वह हमेशा प्रतियोगिता-सापेक्ष होती है। अतः वह किसी सम्बन्ध से नियमित नहीं होती है। वह केवल धर्म से नियमित होती है। जैसे, घटाभाव की भूतल में रहने वाली अनुयोगिता भूतलत्व से नियमित होती है।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि जैसे प्रतियोगिता से निरूपित अनुयोगिता है वैसे अनुयोगिता से निरूपित प्रतियोगिता है। प्रतियोगिता और अनुयोगिता का परस्पर निरूप्य-निरूपक-भाव है। " घटाभाववद् भूतलम् " को घटप्रतियोगिक और भूतलानुयोगिक अभाव कहते हैं। उसका अर्थ न्याय की भाषा में जैसे " घटनिष्ठप्रतियोगितानिरूपित भूतलनिष्ठ अनुयोगिता निरूपक अभाव है " वैसे ही " भूतलनिष्ठ अनुयोगिता निरूपित घटनिष्ठ प्रतियोगिता निरूपक अभाव है " ऐसा होता है। अगर प्रतियोगिता-सापेक्ष जैसे अनुयोगिता है वैसे ही अनुयोगिता-सापेक्ष प्रतियोगिता है तो प्रतियोगिता को ही सम्बन्धावच्छिन्न (सम्बन्ध से नियमित) क्यों माना जाय? अनुयोगिता को क्यों नहीं? यह बात सत्य है कि दोनों को सम्बन्ध से नियमित मानने की आवश्यकता नहीं है। अगर दोनों में से एक को ही सम्बन्ध से नियमित मानना अनिवार्य है तो अनुयोगिता को ही क्यों न माना जाय? प्रतियोगिता का सम्बन्ध से नियमित मानने में क्या विनिगमक है? इस प्रश्न का समाधान अगले लेख में प्रस्तुत किया जायगा।

दर्शन विभाग
पुणे विश्वविद्यालय
पुणे- ४११००७

– बलिराम शुक्ल

टिप्पणियाँ

१. वेणीमाधव शास्त्री; अनुयोगिवृत्तिधर्मस्यैव सम्बन्धत्व स्वीकारात्। परिष्कारदर्पणे

२ तथा च एकपदार्थनिष्ठानुयोगितानिरूपक: अपरपदार्थनिष्ठप्रतियोगिता-निरूपक: संसर्ग: आकांक्षाप्रयोज्य संसर्गत्वाऽभिन्न शाब्दबोध-निरूपित विषयतावानिति बोध: — शिवदत्त मिश्र; व्युत्पत्ति-वादटीका, पृ. २

३. भवानन्द तर्कवागीश; प्रतियोगित्वानुयोगित्ववद् आधेयत्वमधिकरणत्व-ञ्च विलक्षणप्रतीतिसाक्षिक: स्वरूपसम्बन्धविशेष:। सचातिरिक्तोऽन-तिरिक्तो वेत्यन्यदेतत्। कारकचक्रे

४. शिवदत्तमिश्र; सामान्यनिरुक्तिटीका, पृ. २०

५. Mahesh Chandra Nyayaratna; संख्यादीनामिव वक्ष्यमाणाया, अवच्छेदकताया अपि पर्याप्तिसम्बन्धोऽङ्गीक्रियते। – Brief Note on the Modern Nyaya System of Philosophy and it Technical Terms, p. १२

३. जगदीश तर्कालङ्कार; संयोग: पर्वते वह्नेः सम्बन्धो न तु वह्नौ पर्वत-स्येत्यादि प्रतीत्या हि किञ्चित्प्रतियोगिक किञ्चिदनुयोगिक सम्बन्धत्व-मनुभवसिद्धम्, कुत्रचिदेव संयोगादौ न तु सर्वत्र तच्च स्वरूपसम्बन्धवि-शेषोऽतिरिक्तोवेत्यन्यदेतत्। सिद्धान्तलक्षणे

७. शिवदत्त मिश्र; दण्डिसंयोगादित्यत्र दण्डिसंयोगपदं दण्डिप्रतियोगिकत्व-विशिष्ट संयोगपरम्, तथा च संयोगस्य द्विनिष्ठतया दण्डिनि वर्तमान-त्वेऽपि न तद्धेतुत्वव्याघात: स्वप्रतियोगिकत्वविशिष्टस्य स्वस्मिन्नसत्वात्। सिद्धान्तलक्षणव्याख्यायाम्

८. शिवदत्त मिश्र; केचित्तु यो यन्निरूपितत्वविशिष्टसम्बन्धवान् स तत्सम्बन्धेन तद्वानिति व्याप्ति:। सम्बन्धवत्ता च अनुयोगिता सम्बन्धेन। एवं च रूपसमवायी वायुरित्यप्रत्ययाद्रूपनिरूपितत्वविशिष्टसमवायानुयो-गित्वं वायौ न स्वीक्रियते, स्वीक्रियते च कुण्डनिरूपितत्वविशिष्टसंयोगा-

नुयोगित्वं बदरे, कुण्डसंयोगी बदरं इति प्रत्ययात्। नापि सम्बन्धादिपदोत्तर मत्वर्थीयस्य प्रतियोगित्वमर्थः घटसमवायीरूप मित्वप्रत्ययादित्याहुः। सिद्धांतलक्षण टिप्पण्याम्

९. धूमसंयोगस्यायोगोलकानुयोगिक संसर्गत्व विरहादेव नातिप्रसङ्गः, तत्र यथार्थविशिष्टधीनियामकस्यैव तदनुयोगिक सम्बन्धत्वात्। वही।

१०. झळकीकर, भीमाचार्य; अभावत्वात्मिका यथा घटो नास्तीति प्रतीतिविषये अभावे घटनिष्ठप्रतियोगितानिरूपितानुयोगिता। इयमपि स्वरूपसम्बन्ध विशेष एवेति केचिन्नैयायिका वदन्ति। न्यायकोशे

११. गदाधर; अथ प्रतिज्ञादिभिन्नभेदानुयोगितावच्छेदकरूपवत्वं तत्। गादाधरी, अवयवलक्षणे

१२. शिवदत्त मिश्र; अनुयोगिता विशेषो हि ध्वंसत्वम्, अखण्डोपाधिरितियावत्, न तु जन्यत्वे सति अभावत्वम्। तथा च गोध्वंसवानिति बुद्धौ ध्वंसत्वेनैव ध्वंसस्य प्रकारतया अभावत्वेन ध्वंसस्याप्रकारत्वादित्याशयः। सिद्धान्तलक्षणस्य टीकायाम्

१३. Shrikrishna Sharma, E. R; In the Nyana language the non-existence of a pot on the floor is घटप्रतियोगिक भूतलानुयोगिक अभाव. – Introdnction to Manikana.

१४. गंगेशोपाध्याय; तद्बुद्धिजनिताभावपदप्रयोग विषयत्वमेव घटभूतलयो प्रतियोग्यनुयोगिरूपः सम्बन्धः। तत्त्वचिन्तामणि, प्रत्यक्षखण्डस्य अभाववादे

१५. नहि व्यासज्यवृत्तिधर्मावच्छिन्नानुयोगिताकः एकदेशभेदः प्रामाणिक घटपटौ न घट इति प्रतीतेरसिद्धेः। गादाधरी, अवयवलक्षणे

१६. विशेष्यवृत्तेर्विशिष्टानुयोगिकाऽभावानभ्युपगमात्। वही

१७. यत्तत्पदार्थाऽविवक्षायां प्रतियोगिवाचक पद समानविभक्तिक पदोपस्थाप्यास्याऽनुयोगिनोऽप्रवेशेन तत्र मनागन्योन्याभावबोध नासम्भवाच्च। वही

१८. न च समवायिकारणनाशस्य द्रव्यनाशकत्वे प्रमाणाभाव इति वाच्यम्। द्व्यणुकनाशान्यथानुपपत्तेरेव मानत्वादिति। दिनकरी कारणत्व निरूपणे

१९. ध्वंसप्रागभावयोः प्रतियोगिसमवायिदेशमात्रवृत्तित्वात्। रामरुद्री, कारणत्वनिरूपणे

१९. धर्मिगता अधिकरणता, अनुयोगिता, विशेष्यता, पक्षादयः सापेक्षधर्माः न केनापि सम्बन्धेनावच्छिन्नाः, केवलं धर्मेणैव तेऽवच्छिन्नाः। Mahesh Chandra Nyayacharya; Brief Notes on the Modern Nyada System of Philosophy and its Technical Terms.

प्रतिक्रिया

मार्च १९८८ के परामर्श (हिन्दी) के अंक में प्रकाशित "न्यायशास्त्रीय पद्धति के द्वारा देहात्मवाद की सम्भाव्यता" शीर्षक के लेख का विषय स्व. पं. बद्रीनाथ शुक्ल जी ने वाराणसी में आयोजित जिस न्याय-पंडितसभा में व्याख्यान के रूप में प्रस्तुत किया था उस सभा में मैं भी न्यायपंडित के रूप में सहभागी था। पंडित जी के व्याख्यान के दूसरे दिन के सत्र में व्याख्यान-विषय की ही चर्चा हुई थी। सभी आक्षेप्ताओं के प्रतिवाद का पंडितजी ने क्रमश: समाधान किया था। मैं ने कुछ तेरह आक्षेप लिख कर सभा में पढ़ कर सुनाये थे। पंडित जी ने मुझ से आक्षेपों की पांडुलिपि मांग ली किंतु आक्षेपों का उत्तर देने का प्रयास नहीं किया। तदनंतर दो दिन गोष्ठी चलती रही और मेरा पंडित जी से सम्पर्क बना रहा। तथापि आक्षेपों के सम्बन्ध में पंडित जी मुझ से कुछ बोले नहीं। इस पर से मैंने यह तर्क किया कि पंडित जी को मेरा प्रतिवाद मान्य था। वैसे भी आजन्म नैयायिक रह कर न्याय की भूमिका को अपनाये हुए स्व. शुक्ल जी ने देहात्मवाद के समर्थन का प्रयास एक प्रौढिवाद के रूप में भी किया हो तो आश्चर्य नहीं। वाद-विवाद में ऐसी बातें चलती ही हैं। तथापि इस प्रयास से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि न्याय का आत्मविषयक विचार देहात्मवाद से थोडा-बहुत मिलता-जुलता है। जहां इन दोनों में भेद है वहां पण्डित जी ने न्याय के कुछ सिद्धांतों या उपसिद्धांतों को बदल कर उन्हें देहात्मवाद के अनुकूल बनाने का प्रयास किया है। यह प्रयास बुद्धि-रंजक अवश्य है किंतु तर्कदोषयुक्त है। वाराणसी में मैं ने जो आक्षेप उपस्थित किये थे वे सब सामान्यतया देहात्मवाद को लागू होते हैं। यहां मैं उन आक्षेपों की चर्चा न कर पण्डित जी ने न्याय के सिद्धांतों में जो परिवर्तन किये हैं उन्हीं की चर्चा विशेषतया करूंगा।

न्याय के अनुसार आत्मा स्वभावत: निर्गुण है। वैसे सभी द्रव्य पदार्थ-पृथिवी, जल, तेज आदि-उत्पत्ति के क्षण में निर्गुण ही माने जाते हैं क्योंकि गुणों के कारण के रूप में उनका गुणोत्पत्ति के पूर्व एक क्षण निर्गुण रहना तर्कत:

आवश्यक है। लेकिन उत्पत्ति हो जाने पर गुण उस द्रव्य में बराबर बने रहते हैं। बीच-बीच में इन गुणों में परिवर्तन हो सकते हैं। आत्मा और अन्य द्रव्यों में इस सम्बन्ध में यह फर्क है कि देह से सम्बन्ध बने रहने तक आत्मा में बुद्धि, सुख, दुःख इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म आदि विशेष गुण विद्यमान होते हैं। आत्मा बन्ध-मुक्त यदि हो जाय तो उसके विशेष गुण समाप्त हो जाते हैं। अतः अनन्त काल तक मुक्त आत्मा ज्ञानादि से रहित हो कर जड़वत् ही विद्यमान होता है। यह विचार देहात्मवाद के बहुत अनुकूल है। देह भी जीवित अवस्था में ही ज्ञानादि-मान् होता है ऐसा देहात्मवादी कहते हैं। मृत देह से ज्ञानादि का विलोप हो जाता है। देह के सम्पर्क के बिना आत्मा में ज्ञानादि का उदय नहीं होता यह न्याय विचार भी देहात्मवाद का पोषक जैसा ही है। साथ ही देह के सीमित प्रदेश में ही आत्मा में ज्ञानादि उत्पन्न होते हैं, देह के बाहर आत्मा का अनन्त विस्तार होने पर भी वहाँ उस में ज्ञानादि नहीं उत्पन्न होते यह न्याय मत देह में ही ज्ञानादि उत्पन्न होते हैं इस देहात्मवादी विचार के बहुत ही निकट माना जा सकता है।

न्याय मत से देहात्मवाद को निष्कृष्ट करने के लिए पण्डित जी ने मुख्यतया यह सुझाव उपस्थित किया है कि आत्मा का कार्य नित्य मन को अंशतः और अनित्य शरीर को अंशतः सौंप कर अतिरिक्त आत्म कल्पना से छुटकारा पाया जा सकता है। आत्मा का जन्मान्तर संक्रमण पण्डित जी को स्वीकार्य है। वे एक जन्म में ही जीवन की समाप्ति नहीं मानते। किन्तु एतदर्थ उन्हें अतिरिक्त आत्मा का स्वीकार अनावश्यक प्रतीत होता है। नित्य अणुरूप मन से ही यह कार्य उनके विचार में सम्पादनार्ह है। आत्मा के विशेष गुणों में से वे गुण जो अन्य शरीरों में बुद्ध्यादि के उत्पादन के लिये अपेक्षित हैं --- जैसे, धर्म, अधर्म तथा संस्कार -- उन्हें वे मनोनिष्ठ मानते हैं और बुद्ध्यादि को शरीरनिष्ठ मानते हैं। इन शरीर-निष्ठ गुणों को वे विशेष गुण न मान कर परिमाण, संयोग आदि के समान सामान्य गुण ही मानते हैं। मनोनिष्ठ समझे गये धर्म, अधर्म, संस्कार विशेष गुण समझे जायें तो कोई आपत्ति नहीं, क्योंकि मन एक स्वतन्त्र पदार्थ है और विशेष गुण जिस द्रव्य पदार्थ में होते हैं उसे अन्य द्रव्य पदार्थों से भिन्नता या स्वतन्त्रता प्रदान करते हैं। शरीरनिष्ठ समझे गये बुद्ध्यादि भी विशेष गुण माने जायें तो पाञ्चभौतिक शरीर को एक स्वतन्त्र पदार्थ मानना आवश्यक होगा। इस कारण पण्डित जी ने बुद्ध्यादि को सामान्य गुण कहा है। यह प्रतिपादन बड़ा सूझपूर्ण है। किन्तु इसमें कुछ गम्भीर कठिनाइयाँ हैं।

पहली कठिनाई यह है कि सामान्य गुण होने के कारण बुद्ध्यादि अब पृथिव्यादि में भी नौ द्रव्यों में विद्यमान होने चाहिये। अन्य सामान्य गुण — संख्या,

परिमाण, पृथक्त्व, संयोग या विभाग सभी द्रव्यों में समान रूप में विद्यमान हैं। इसी कारण वे सामान्य कहे जाते हैं। यही बात बुद्ध्यादि के सम्बन्ध में भी घटित होनी चाहिये। शरीर पाञ्चभौतिक होने से पृथिवी, जल, तेज वायु तथा आकाश – जो शरीर के घटक-द्रव्य हैं — उनमें बुद्ध्यादि की सत्ता मान भी ली जाय तो भी आकाश, काल, दिक् आदि में ये गुण हैं ऐसा मानने के लिये कोई आधार नहीं है।

उक्त प्रतिपादन में दूसरी कठिनाई यह है कि उसके अनुसार बुद्ध्यादि गुणों का तथा उनके कारण धर्म या अदृष्ट आदि का आधार भिन्न-भिन्न पदार्थ–शरीर तथा मन – ये होते हैं। किन्तु कारण और कार्य को सहवृत्ति होना चाहिए। यदि किसी तरह असहवृत्ति गुणों में कार्य-कारण-भाव मान भी लिया जाय (यही पण्डित जी के एतत्सम्बन्धी विवेचन का तात्पर्य है) तो भी यह बताना कठिन है कि क्यों मनोनिष्ठ धर्म, अधर्म मन में भी बुद्ध्यादि को उत्पन्न नहीं करते। आत्मवाद में आत्मा ही सभी गुणों का आधार होता है। अत: इस प्रकार का प्रश्न आत्मवाद में उपस्थित नहीं होता।

तीसरी और विशेष गम्भीर कठिनाई यह है कि उक्त शरीरात्मवाद के अनुसार शरीर ही आत्मा है, मन केवल उसका उपकरण है। अत: जन्मान्तर संसरण शरीर का ही (या शरीर का अवयव) मानना होगा। मन का संसरण मान कर भी शरीर का संसरण न माना जाय तो आत्मा का एक ही शरीर के विनाश के साथ विनाश हो जाने से मन का संसरण मानना निष्फल सिद्ध होगा। जिसके लिये मनोरूप इन्द्रिय या उपकरण की आवश्यकता है उसी के नष्ट हो जाने पर उपकरण का क्या उपयोग हो सकता है? इस कठिनाई का निराकरण करने के लिये मन को आत्मा तथा शरीर को उसका उपकरण मान लिया जाय तो शरीरात्मवाद का परित्याग करने के सिवाय गत्यन्तर नहीं रह जायगा।

एक और कठिनाई भी इस मत में विचारार्ह है। मन के धर्म, अधर्म; संस्कार ये गुण सामान्य गुण न हो कर विशेष गुण हैं जब कि इन पर निर्भर माने गये शरीर के बुद्ध्यादि गुण विशेष गुण हैं। एक द्रव्य के सामान्य गुण अन्य द्रव्य के विशेष गुणों का उत्पादन करते हैं यह कथन न केवल न्याय दर्शन के विपरीत है लेकिन गुणों की अवधारणा के भी विपरीत है। जो गुण सामान्य गुणों से उत्पन्न होते है उन्हें विशेष गुण कहना कदापि तर्कसंगत नहीं होगा।

मन को शरीररूप आत्मा का उपकरण कह कर आत्मा के कर्ता, भोक्ता आदि होने के अनुभव का समर्थन तो पण्डित जी ने कर दिया, किन्तु अणु-परि-

माण मन किसी भी समय सम्पूर्ण शरीर से संयुक्त न हो सकने के कारण शरीर-व्यापिनी आत्म-भावना का उसके द्वारा कैसे सन्धारण हो पायेगा यह बतलाना उनके लिये सरल नहीं रहा। आत्मा शरीर-व्यापी होने से शरीर के एक देश से मन का संयोग होने पर भी उससे उत्पन्न होने वाला ज्ञान आत्मा में घटित होने से उसका अवच्छेद सारा शरीर कर सकता है और कभी कभी उसका एक अंश मात्र भी। किन्तु शरीरात्मवाद में मन से संयुक्त शरीर के एक अंश में उत्पन्न ज्ञान कैसे सम्पूर्ण शरीर में प्रसरण पायेगा यह कहना कठिन है। यह भी बात नहीं है कि प्रत्येक शरीरांश में उत्पन्न होने वाला ज्ञान सम्पूर्ण शरीर को व्याप्त करता ही है। इस सम्बन्ध में पण्डित जी का समाधान (पृ. १३५ परिच्छेद ३) इस प्रकार है— "अतिरिक्त आत्मवाद में आत्मा और मन का संयोग शरीर के किसी एक भाग में होने पर जैसे **सम्पूर्ण शरीर में बुद्धि प्रादुर्भूत** होती है उसी प्रकार देहात्मवाद में भी उसकी उपपत्ति होने में किसी बाधक की सम्भावना नहीं रहती।" इस उद्धरण में मैंने जिस वाक्यांश को बड़े टाईप में प्रस्तुत किया है उससे प्रतिपाद्य बात न्याय मत के विरुद्ध है। बुद्धि शरीर में नहीं आत्मा में प्रादुर्भूत होती है। शरीर केवल बुद्धि के आत्मगत प्रदेश का (यदि 'प्रदेश' शब्द का इस सन्दर्भ में प्रयोग उचित हो तो) परिच्छेदक होता है। इसका तात्पर्य यह है कि मन का शरीर के अंग-विशेष से संयोग होने पर (इसके साथ विषयेन्द्रिय संयोग भी बाह्य प्रत्यक्ष में अपेक्षित होगा) आत्मा में जो अनुभूति उत्पन्न होगी वह शरीर के उस अंग में ही घटित होती हुई सी जान पड़ती है। किन्तु अनुभविता वास्तव में आत्मा होने से तथा वह सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होने से शरीर के एक देश से परिच्छिन्न अनुभव को भी वह अपना ही समझता है क्यों कि वह मूलतः उसका अपना ही होता है। शरीरात्मवादी सम्पूर्ण शरीर को ऐसी एक अविभाज्य इकाई मानें तो शरीर के किसी अंगविशेष में भी उत्पद्यमान अनुभवों को शरीर अपना सकता है। किन्तु सम्पूर्ण शरीर के एक, दो, तीन या अनेक अवयव नष्ट हो जाने पर भी शारीरिक अनुभव की अखण्डता में कोई बाधा आती नहीं दिखायी देती। अतः यह मानना आवश्यक है कि अनुभवों को अपनाने वाला तत्त्व शरीर से भिन्न ही है।

सामान्य ज्ञानादि से अधिक आत्मभावना के उपपादनार्थ मन से भिन्न किसी द्रव्य के स्वीकार की आवश्यकता टाली नहीं जा सकती। इसका कारण यह है कि ज्ञानादि उत्पन्न और नष्ट होते रहते हैं। इस सतत परिवर्तनशील प्रक्रिया के लिये मन के शरीरावयवों से तत्तत्क्षण बनते बिगड़ते संयोगों को कारण माना जा सकता है। किन्तु आत्म-भावना या आत्मबुद्धि ऐसी बात नहीं है जो क्षण-क्षण बदलती

रहे। यह बुद्धि मन के संयोग से ही उत्पन्न होना सम्भव है। क्या यह संयोग कभी सम्पूर्ण शरीर को व्याप्त कर सकता है या कुछ समय तक भी स्थिर बना रह सकता है जब कि इन्द्रियों का व्यापार जारी हो? यदि नहीं तो आत्मबुद्धि में परिवर्तन या संशय के समय पर उसका शरीर के विभिन्न अंगों में ही केंद्रित हो जाना अवश्यंभावी है। किन्तु ऐसी वस्तुस्थिति नहीं है।

यदि शरीर ही आत्मा है तो "मैं शरीर हूँ" ऐसा प्रयोग क्यों नहीं किया जाता? इस सम्भाव्य शंका का उत्तर देते हुए पण्डित जी कहते हैं कि (पृ. १३६ परि ३) "'अहं' इस पद के अर्थ का ग्रहण 'स्व' में रहने वाले प्रत्यक्ष गुणों के आश्रय के रूप में ही होने से "मैं शरीर हूँ" इस प्रकार का ज्ञान........उत्पन्न नहीं होता।"·· "योग्य विशेष गुणों – ज्ञान, सुख दुःख आदि – के सम्बन्ध से ही आत्मा का प्रत्यक्ष होता है, किसी दूसरे प्रकार से नहीं।" आत्मा का मन के द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान उसके विशेषगुणों के माध्यम से ही क्यों होता है? इसका कारण यह हो सकता है कि मन एक इन्द्रिय है और वह अन्य इन्द्रियों के समान अपने विषय ज्ञानादि का ही प्रमुखतया आकलन करेगा। ज्ञानादि के बिना मन के द्वारा आत्मा का प्रत्यक्ष हो तो वह किस प्रकार का हो? पुरःस्थित घटादि के 'यह घट है' इस प्रत्यक्ष के समान अपने आत्मा का 'यह आत्मा है' ऐसा प्रत्यक्ष तो अकल्पनीय है। 'यह घट है' इस ज्ञान के लिये भी कम-से-कम घट का रूप दिखायी देना आवश्यक है। घट का रूप या आकार ही न दिखायी दे तो घट का घट के रूप में ज्ञान भी नहीं हो पायेगा। आत्मा का भी आंतरिक ज्ञान उसके किसी न किसी विशेष गुण के ज्ञान पर ही निर्भर करेगा।

इस स्पष्टीकरण से "मैं शरीर हूँ" जैसे प्रयोगों की अनानुभविकता तो स्पष्ट हो सकती है, किन्तु "मैं (शरीर नहीं) शरीरी हूँ" इस प्रकार के प्रयोग, जो सामान्यानुभव विषयक हैं, किस तथ्य की ओर इंगित करते हैं? क्या उनसे यह प्रकट नहीं होता कि आत्मा शरीरधारी या शरीराधिष्ठान ही है, शरीररूप नहीं? शरीर के गुण-दोषों का आवश्यक आत्मा में आरोप हुआ करता है जिसके प्रमाण "मैं कृश हूँ", "मैं सुंदर हूँ" जैसे प्रयोग हैं। किन्तु इन गुणों का स्वीकार करना या न करना (या उन्हें अपनाना या न अपनाना) बहुत कुछ आत्मा पर निर्भर करता है। कृश दिखायी पडने वाला व्यक्ति यदि कहे कि 'मैं कृश दिखायी देता हूँ किन्तु वस्तुतः कृश (या दुर्बल) नहीं हूँ" तो उसे असत्यभाषी नहीं माना जाता। इसका कारण यही हो सकता है कि शरीर में दिखायी पड़ने वाले गुण-दोष या विशेषताएँ आत्मा की आंतरिक विशेषताओं को ज्ञात या अज्ञात रूप से अभिव्यंजक समझी जाती हैं; ये दोनों सर्वथा अभिन्न नहीं मानी

जातीं। शारीरिक विशेषताओं के अस्वीकार का स्वातंत्र्य आत्मा को सदैव प्राप्त रहता है।

आत्मा शरीररूप ही हो तो 'मेरा शरीर' जैसे शरीर पर आत्मा के स्वामित्व या अधिकार का बोध कराने वाले शब्दप्रयोग कैसे होते है यह प्रश्न उठा कर पण्डित जी ने उसका परिचित उत्तर ही दिया है। वह उत्तर यह है कि ऐसे प्रयोग 'राहोः शिरः' इस रूढ प्रयोग के समान गौण ही है। राहू सिर ही है फिर भी 'राहू का सिर' ऐसा प्रयोग क्षम्य माना जाता है। यह प्रयोग गौण है। गौण प्रयोग की स्वीकार्यता मुख्य प्रयोग की संभावना पर अधिष्ठित होती है। राहू का शरीर मान लिया जाय तो सिर उसका एक अंग होगा। किन्तु शरीर के सम्बन्ध में शरीर–भेद–निदर्शक प्रयोग का आधार क्या होगा? शरीर ही शरीर का अंग नहीं होता। 'मेरा शरीर' इस प्रयोग में 'मेरा' पद के घटक सर्वनाम का अर्थ शरीर है। इस शरीर का अपने पर ही स्वामित्व कैसे हो सकता है? 'मेरा शरीर', 'मेरा मन', 'मेरी मनोवृत्तियाँ' जैसे प्रयोगों पर तटस्थ भाव से विचार किया जाय तो वे सब ही शरीर से परे किसी तत्त्व की ओर निर्देश करते हैं ऐसा मानना अनिवार्य प्रतीत होगा।

वास्तव में 'राहू का सिर' जैसा कोई रूढ प्रयोग ही नहीं है जिसको उपमान मान कर 'मेरा शरीर' जैसे प्रयोगों की गौणता प्रस्थापित की जा सके माधवाचार्य ने अपने सर्वदर्शनसंग्रह में इस प्रयोग का उल्लेख किया है। लेकिन इसे प्रमाण मानने की कोई अनिवार्यता नहीं है। तथाकथित मुख्य प्रयोग का एक भी उदाहरण उपलब्ध न होने पर किसी प्रयोग को गौण मान लेना कदापि तर्कसंगत नहीं हो सकता।

अब तक की चर्चा बहुत कुछ न्यायशास्त्र की पारिभाषिक शब्दावली के माध्यम से की गयी क्योंकि मूल लेख इस पदावली में ही प्रस्तुत किया गया है। यह चर्चा समकालिक देहात्मविषयक चिंतन के लिए कैसे प्रासंगिक है यह यहाँ विशद करना आवश्यक है, अन्यथा इस चर्चा का केवल ऐतिहासिक महत्त्व है ऐसी भ्रांति हो सकती हैं। न्याय दर्शन अन्य दर्शनों के समान शरीर, मन तथा आत्मा इन तीनों को मानवीय व्यक्तित्व का ('जीव' का) घटक मानता है। शरीर जड है तथापि उसके माध्यम से मन का विषयादि से सम्पर्क घटित होता है तथा विषयों से उद्भूत विविध उत्तेजनाएँ मस्तिष्क तक पहुँचती हैं। आधुनिक शरीर–विज्ञान के अनुसार मस्तिष्क–गत संवेदनादि केंद्रों के द्वारा ही इन उत्तेजनाओं का यथावत् समायोजन होता है जिससे कुछ ही चुनी हुई उत्तेजनाओं के प्रति उद्युक्त प्रतिक्रिया का निर्देश मस्तिष्क–गत अन्य केंद्रों से प्रसारित होता है और तदनन्तर शरीर के विशिष्ट अंग उस निर्देश को क्रमशः क्रियान्वित करते हैं। न्याय दर्शन

(एवं अन्य दर्शन भी) इस सम्बन्ध में शरीर–विज्ञान की विचारसरणी से सहमत नहीं प्रतीत होते। इसका कारण यह नहीं कि वे शरीर की क्रियाओं के नियन्त्रण या समायोजन में मस्तिष्क के महत्त्व को अस्वीकार करते हों। उनके विचार में जैसे शरीर के शेष अंग अपने में जड हैं वैसे ही मस्तिष्क भी जड ही है। यह बात अलग है कि मस्तिष्क का कार्य अन्य शरीरांगों के कार्य से अतीव जटिल होता है। किन्तु मस्तिष्क स्वयं कोई नियन्त्रण या समायोजन नहीं कर सकता। एतदर्थ एक स्वतन्त्र साधन की आवश्यकता है जिसे 'मन' के रूप में पहचाना जाता है। मन बाह्य इन्द्रियों के समान किन्तु उनसे कोई बातों में भिन्न एक इन्द्रिय है जो शरीर के समान विनाशी नहीं है और अणु परिमाणी है। मन से भिन्न आत्मा है जो बाह्य तथा आभ्यन्तर विषयों के समायोजित रूप का अनुभव अन्ततः प्राप्त करता है या उन्हें अपनाता है। जब तक विषयों से उद्गत उत्तेजनायें आत्मा द्वारा अपनायी नहीं जाती तब तक उन्हें अनुभव का स्वरूप प्राप्त नहीं होता। शुक्ल जी ने देहात्मवाद के समर्थनार्थ आत्मा के इस 'अपनाने' को (या अहंकार के कार्य को) शरीर को ही सौंप दिया। मन का भी कार्य वे शरीर या उसके अंगभूत मस्तिष्क को सौंप सकते थे; किन्तु भारतीय विचार परम्परा में रूढ जन्मान्तर की कल्पना को वे छोडना नहीं चाहते। अतः नित्य-अणु-परिमाणी मन का जन्मान्तर संसरण के लिये वे स्वीकार करते हैं। ऐसा करते हुए विशेष–गुण सामान्य–गुण का घपला जो उनसे हुआ है वह सूक्ष्मपूर्ण होते हुए भी उनके प्रयास की सदोषतापूर्णता को प्रकट करता है। मन को भी हटा दिया जाता तो शरीर को ही उत्तेजनाओं का वाहक, उनका समायोजक तथा उत्तेजनाओं से सम्बद्ध (या उत्पन्न) अनुभवों का भोक्ता आदि सबकुछ ठहराया जा सकता था। यही शुद्ध देहात्मवादियों की भूमिका है। यह भूमिका लोकप्रिय है और अविचारित रमणीय भी। किन्तु इसकी आंतरिक विसंगतियां तथा अनुभव–विरुद्धता भी इसे हठात् त्यागने के लिये हमें बाध्य करती हैं। यदि शरीर ही आत्मा हो तो वही कभी कभी उद्घोष करता है कि 'मुझे शरीर की किञ्चित् भी परवाह नहीं है।' तथाकथित शरीररूप आत्मा ही शरीरसुख की नितान्त उपेक्षा कर अत्यन्त कष्टकर कार्यों में सानन्द व्यापृत हुआ करता है। सबसे विस्मयावह बात तो यह है कि इस शरीर रूप आत्मा को शरीर में आत्मत्व की अनुभूति कभी होती ही नहीं।

— नारायणशास्त्री द्राविड़

'कॉफेक्शन'
४७४/अ, प्रोफेसर्स कालोनी
हनुमान नगर
नागपुर — ४४०००९

ग्रंथ-समीक्षाएँ

— १ —

शल्य, यशदेव; सत्ताविषयक अन्वीक्षा, भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद् नई दिल्ली, १९८७; पृ. XII + २३६; मूल्य— रुपये ७५। — (सजिल्द)

प्रस्तुत पुस्तक के लेखक श्री शल्य जी मनस्तत्त्व : दार्शनिक विश्लेषण, ज्ञान और सत्, संस्कृति : मानव कर्तृत्व की व्याख्या, मनुष्य और जगत्, विषय और आत्म जैसे कुछ विचार-परिप्लुत मौलिक दार्शनिक ग्रन्थों के रचयिता तथा एकाधिक दार्शनिक संकलनों एवं पत्रिकाओं के सम्पादक के रूप में हिन्दीभाषी मनीषियों को सुपरिचित हैं। प्रस्तुत पुस्तक में शल्य जी के पन्द्रह लेख संगृहीत हैं। ये लेख उन्होंने भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद् की शोधवृत्ति के कार्यकाल में लिखे और परामर्श (हिन्दी) तथा उन्मीलन में प्रकाशित किए। इन लेखों के शीर्षक इस प्रकार हैं : १. दर्शन के आधार २. सत्ता का परिशीलन ३. सत्ता और पर्याप्तता ४. प्राकृतिक जगत् ५. प्रकृति-तत्त्व ६. तत्त्व ७. ज्ञातृत्व ८. मूल्य : विषयिसत्ता ९ मूल्य : विषयसत्ता १०. अनिर्धार्य ११. मानव-तत्त्व १२. इतिहास-तत्त्व १४. प्राकृतिक विज्ञान, तथा १५. कालतत्त्व। इन विविध शीर्षकों से ही स्पष्ट हो जाता है कि केवल सत्ता के सम्बन्ध में ही नहीं अन्य अनेक विषयों पर भी इन लेखों में विचार किया गया है। यह विचार सर्वंकष, बहुत कुछ मौलिक और स्वच्छन्द भी प्रतीत होता है। भारतीय आस्तिक नास्तिक दर्शन-सम्प्रदाय तथा पश्चिम के अस्तित्ववाद, फेनॉमिनॉलॉजी, प्रत्ययवाद, अनुभववाद, विश्लेषणवाद आदि विचार-सम्प्रदायों का स्थान-स्थान पर स्पष्टीकरण, खंडन, समर्थन या मतभेद प्रदर्शनार्थ उपयोग सभी लेखों में किया गया है। इस पर से लेखक की सर्वतोमुखी प्रतिभा तथा विभिन्न विचार-सरणियों के तुलनात्मक तथा बहुश: निष्पक्ष परिशीलन की क्षमता का परिचय प्राप्त होता है। प्रत्येक

लेख में लेखक ने अन्यान्य मतों की चर्चा के सन्दर्भ में कुछ मौलिक विचार भी प्रस्तुत किए हैं। पिष्टपेषण किसी लेख में नहीं है। इन विविध लेखों में जो विचारधारा उभरती है वह बहुत कुछ अद्वैत-वेदान्तीय है, यद्यपि उसमें हेगलीय तथा कुछ अन्य पश्चिमी विचारसरणियों का पुट भी चढा हुआ सा लगता है। किन्तु पारम्परिक वेदान्तीय विचारधारा का ही यह आलोडन नहीं है। उस विचारधारा को आगे बढाने का– इतिहास, संस्कृति, मानवत्व आदि विषयों के सन्दर्भ में– इन लेखों में– बहुत कुछ सफल प्रयास किया गया है। एक प्रकार से वेदान्तीय जीवन–दृष्टि को ही समकालिक दार्शनिक चिन्तन के परिप्रेक्ष्य में लेखक ने यहाँ उद्घाटित किया है ऐसा कहा जाय तो अतिशयोक्ति नहीं होगी।

पुस्तक की समीक्षा के रूप में लेखों की विषय–वस्तु पर कुछ लिखने के पूर्व लेखों की विवेचन–शैली पर कुछ टिप्पणी करना आवश्यक प्रतीत होता है। लेखों की भाषा शुद्ध संस्कृत-निष्ठ हिन्दी है। शल्य जी हिन्दी के एक जाने–माने लेखक हैं। अतः यह अपेक्षा करना स्वाभाविक है कि कोई भी हिन्दीभाषी, समझदार दर्शन का विद्यार्थी इन लेखों को को पढ कर बिना किसी विशेष परिश्रम के उनमें उपस्थित किए गए विचारों का आकलन कर लेगा। दुर्भाग्यवश ऐसी वस्तुस्थिति नहीं है। दर्शन का सामान्य विद्यार्थी ही क्या अच्छे अभिज्ञ दार्शनिक भी एक दो बार पढ कर इन लेखों के मन्तव्य तक शायद ही पहुँच पाएं। प्रस्तुत समीक्षक शल्य जी की विचार–प्रणाली के विकास से अच्छी तरह परिचित रहा है। लेकिन उसके लिए भी इन लेखों के आशय को समझ पाना सरल नहीं रहा। क्या इस दूर्बोधता का कारण शल्य जी के विचारों की गूढता या जटिलता है या उनकी विलक्षणता? नहीं; विचार दुरूह बिलकुल नहीं हैं। उनके उपस्थापन की शैली ही विचित्र सी है जिससे पूरा लेख कई बार पढने पर भी कभी कभी समझ में नहीं आता कि लेखक का अभिप्राय या प्रतिपाद्य क्या है? ऐसा लगता है मानों लेखक ने 'स्वान्तःसुखाय' ही लेखन किया हो। इस प्रतिपादन या विवेचन–शैली की न्यूनताएँ क्या हैं यह ठीक - ठीक बताना तो कठिन है। तथापि जो बातें उभर कर नजर में आती हैं वे ये हैं— विचारों के पूर्वाभ्युपगमों को विशद किए बिना ही उन्हें सुपरिचित मान कर उन पर आधारित विचारों को प्रस्तुत करना; किसी मध्यवर्ती सूत्र के बिना ही एक के बाद एक विचारों की शृंखला बढाते जाना; बिना यौक्तिक समर्थन के ही अपने मतों का (प्रायः) साग्रह प्रतिपादन करते जाना; अन्य मतों की बारीकियों का विशेष ख्याल किए बिना ही उनके सम्बन्ध में प्रतिकूल निर्णय दे देना; जहाँ तक नपे–तुले कथन की आवश्यकता है वहाँ सामान्य स्थूल कथन के द्वारा ही अपने मन्तव्य को प्रस्थापित मान लेना आदि। यह बात

नहीं कि ये दोष प्रत्येक लेख में यत्र-तत्र विद्यमान हैं; तथापि यह इन्कार नहीं किया जा सकता कि अक्सर इनमें से कोई न कोई दोष हर दूसरे-तीसरे पृष्ठ पर उभर कर पाठक के सामने आता है जिसके कारण पुस्तक को आसानी से पढ पाना उसके लिए बड़ा कठिन हो जाता है। एक-दो उदाहरणों से ही यह बात स्पष्ट हो जाएगी। प्रथम, लेखक की निम्न पंक्तियाँ (पृ. २ पं. ७/८) लें – 'बाह्य सत् ऐन्द्रिक माध्यम में सद्य प्रस्तुति के रूप में ग्रहण होता है। इस प्रस्तुति का भौतिक होना आवश्यक नहीं है। यह तान्मात्रिक भी हो सकती है जैसे 'पौराणिकता' में। यहाँ 'पौराणिकता' शब्द से क्या अभिप्रेत है? इस शब्द का जो रूढ अर्थ है वह यहाँ बिलकुल अप्रासंगिक है। वैसे ही तान्मात्रिकता का पौराणिकता से कोई सम्बन्ध नहीं है। इस तरह स्वाभिप्रेत (किन्तु गूढ) अर्थों में परिचित शब्दों का प्रयोग करना पहेली बुझाने जैसा ही होता। दूसरा उदाहरण उसी लेख में से इस प्रकार है (पृ. १६, पं. ५ से ८ तक) – "...... शंकर के ब्रह्मसूत्र भाष्य में वैज्ञानिक- सैद्धांतिक दृष्टि का अभाव है। अवश्य नागार्जुन, वसुबन्धु, दिङ्नाग, ईश्वरकृष्ण आदि के तथा प्लेटो, काण्ट, फिख्त, शेलिंग और शोपेनहार आदि के दर्शन में वैज्ञानिक और आध्यात्मिक दोनों दृष्टियों का समन्वय है, किन्तु इनमें — विशेषत: उपर्युक्त भारतीय दार्शनिकों में - 'एषणा' त्मक' दृष्टि का संग्रह नहीं है।" इस कथन के सम्बन्ध में यह विचारणीय है कि लेखक ने 'सैद्धांतिक', 'एषणात्मक', 'वैज्ञानिक' आदि शब्दों के प्रयोग कथित वाक्य में इतनी सहजता से किए हैं कि मानों ये सामान्य बोलचाल के और सर्वविदित शब्द हों। इन शब्दों में से 'वैज्ञानिक' और 'सैद्धान्तिक' शब्दों के जो रूढ अर्थ हैं वे ब्रह्मसूत्र शांकर-भाष्य को लागू नहीं होते, किन्तु शापेनहावर आदि के दर्शनों को लागू होते हैं यह बात बिलकुल समझ के परे है। और यह 'एषणात्मक' दृष्टि क्या है? इसके सम्बन्ध में कुछ स्पष्टीकरण तो आवश्यक था। उसके बिना भारतीय दार्शनिकों में एषणात्मक दृष्टि का नितान्त अभाव है यह बात बिलकुल समझ में नहीं आती। इन अपेक्षित स्पष्टीकरणों तथा समर्थनों के बिना उक्त कथन केवल आग्रहपूर्ण स्वमतप्रतिपादन जैसा ही प्रतीत होता है।

ये त्रुटियाँ गंभीर हैं। इनकी उपेक्षा या इनके समर्थन का प्रयास आत्मघातक सिद्ध हो सकता है। यदि विद्वान् लेखक के विचारों का यथावत् संप्रेषण ही न हो पाये तो उनकी साधक-बाधक चर्चा कैसे हो सकेगी? अब तक लेखक महोदय ने प्रभूत दार्शनिक लेखन किया है। किन्तु शायद ही किसी ने लेखक के विचारों के प्रति अनुकूल या प्रतिकूल प्रतिक्रिया – उन्हें ठीक तरह समझ कर – व्यक्त की हो। इस सम्बन्ध में लेखक को गम्भीरता से सोचना चाहिये और अपनी विवेचन-शैली को आमूलाग्र बदल कर उसे पाठकाभिमुख करने का बुद्धया प्रयास करना

चाहिये। अन्यथा जैसे लेखक अपने विचारों की न्यूनताओं से अनभिज्ञ रह कर उन्हें सुधारने की इच्छा से वंचित रह जायेंगे वैसे ही पाठक भी लेखक के मौलिक विचारों से अनभिज्ञ रह जायेंगे।

पुस्तक के प्रवेश में लेखक ने अपनी दार्शनिक भूमिका पर प्रकाश डालते हुए कुछ महत्त्वपूर्ण बातें कही हैं। एक प्रसंग में वे यह प्रश्न उठाते हैं कि 'दर्शन-वाक् द्वारा अवाक्गोचर तत्त्व का अवगमन कैसे हो सकता है?' और उसका उत्तर देते हैं कि 'यह अवगमन इस कारण संभव होता है क्योंकि ये प्रत्यय स्वरूपत: आत्म–अतिक्रमणशील होते हैं और अपनी पूर्णता, अपनी सिद्धि अपने लिए अगोचर के अनुमान में ही पाते हैं।......अतिक्रामी अनुमान के लिये 'आन्वीक्षिकी' शब्द का प्रयोग उपयुक्त जान पड़ता है।' कुछ ही आगे आ कर यह भी लिखते हैं कि 'वाग्गोचर प्रत्यय का सत्य......तत्त्वसाक्षात्कार होता है।......' इन पंक्तियों से – जिसके अभिप्राय कुछ परस्पर असंगत से लगते हैं – यह निष्कर्ष निकलता है कि अवाग्गोचर दार्शनिक प्रत्यय स्वरूपत: आत्म–अतिक्रमण-शील होते हैं। अत: उनका अनुमान दर्शन के वाचिक प्रयास द्वारा सम्भव होता है। इसका मतलब यह हुआ कि 'अवाग्गोचर प्रत्ययों का वाग्गोचर प्रत्ययों, वस्तुओं आदि के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। इन वाग्गोचर प्रत्ययों आदि के बिना इनसे अन्य प्रकार के प्रत्यय न दार्शनिक अनुसन्धान के विषय हो सकते हैं न ज्ञेय। यदि यह बात सही हो तो लेखक की अग्रिम पृष्ठ पर की यह उक्ति कि '.....अस्तित्व सत्ता की पूर्णता के लिये......न केवल अनिवार्य ही नहीं है बल्कि अनावश्यक भी है।.....' बिलकुल असंगत प्रतीत होती है। अवाग्गोचर प्रत्ययों के लिये आत्माविष्करण या आत्मावतार जगद्रूप में आवश्यक ही न हो तो वाग्-रूप दार्शनिक चिंतन एक अनावश्यक तथा आगंतुक व्यापार हो जायगा। यही नहीं, इस व्यापार पर अधिष्ठित जो तत्त्व–साक्षात्कार है वह भी इन तत्त्वों या प्रत्ययों के लिये अनावश्यक हो जायगा। इस कठिनाई का निरसन करना हो तो यह स्वीकार करना होगा कि दार्शनिक चिंतन या वाचिक प्रत्ययों द्वारा तत्त्वों का आनुमानिक या विश्लेषणात्मक परीक्षण तथा स्वयं तत्त्वसाक्षात्कार भी तत्त्वों के आत्माविष्करण की प्रक्रिया के ही अभिन्न घटक हैं। तत्त्वचिंतन को वैश्विक प्रक्रिया से अलग उसके निरीक्षक या विमर्शक के रूप में देखना ऐसे द्वैत की कल्पना करना है जिसका अनायास निरास सम्भव नहीं। दार्शनिक चिंतन लेखक के ही शब्दों में 'प्रत्ययों के पराङ्मुख अभिसरण' का एक अनिवार्य सोपान ही है।

'अस्तित्व' के स्वरूप को विशद करते हुए 'प्रवेश' में ही लेखक महोदय कहते हैं कि 'अस्तित्व जब कि भाव का निरन्तर तिरोभाव है, इसका सत्य निर-

न्तर आविर्भाव है जिसमें तिरोभाव कारक बनता है।... इस प्रकार यह आत्म-निमीलीत भाव का उन्मीलन, क्रियान्वयन और विकसन है।' यहाँ एक महत्त्वपूर्ण समस्या – जो पुरातन काल से चली आ रही है – की ओर ध्यान देना आवश्यक है। इस समस्या के समाधान के प्रयास में ही विभिन्न वेदान्तीय दर्शनों का उदय तथा विकास हुआ है। समस्या परमतत्त्व तथा जगत् के सम्बन्ध के बारे में है। जगत्भाव परमतत्त्व के लिये नितान्त अनावश्यक होने पर भी जगत् के लिये परमतत्त्व अनिवार्यतया अपेक्षित है। यह एक विचित्र (इकतर्फी) सम्बन्ध है जिसका अद्वैतियों ने पुरस्कार किया है और शल्य जी ने इसे अपनाया है। किन्तु विशिष्टाद्वैतियों के अनुसार जगत् परतंत्र है और ईश्वर स्वतंत्र। तथापि जगत् से उपहित या विशेषित होने में ईश्वर के पूर्ण स्वातंत्र्य को कोई बाधा नहीं पहुँचती। जगत् एवं जीव ईश्वर के विशेषण, गुण या महिमाएँ हैं जिनके बिना ईश्वर की कल्पना ही नहीं जा सकती। यही नहीं, जगत् के विस्तार के साथ-साथ इन गुणों में सतत परिष्कार होते हुए ईश्वर की महिमा ही अधिकाधिक प्रकट होती रहती है। किन्तु अद्वैत के अनुसार जगत् वस्तुतः है ही नहीं। परमार्थतः तो वह केवल आभास है। अतः परमतत्त्व जगत् से न उपहित होता है न परिच्छिन्न। इन दृष्टियों में आत्यन्तिक विरोध है। एक के लिये सत् निर्विशेष ही है तो दूसरे के अनुसार सविशेष में ही सत् की महिमा है। लेखक महोदय के अनेक कथनों को मिल कर पढ़ने पर यह निश्चय करना अतीव कठिन हो जाता है कि वे इन दो दृष्टियों में से किसको अपना रहे हैं। यदि वे दोनों के समन्वय के पक्ष में हों तो वह समन्वय किस प्रकार (वदतोव्याघात के बिना) संभव होगा यह उन्हें बताना होगा।

पुस्तक में संगृहीत सभी लेखों पर विचार प्रदर्शन करना न सम्भव है न आवश्यक। सम्भव इसलिये नहीं कि प्रत्येक लेख में अनेक समस्याओं को लेखक ने उठाया है और उनके सम्बन्ध में मतमतांतरों पर सरसरी तौर पर (अधिकतर) टिप्पणी की है। इस सारी विचार सामग्री पर सामान्य मतप्रदर्शन करने के लिये भी इस लेख से कई गुना बड़ा लेख लिखना पड़ेगा जो सम्भव नहीं। सब लेखों पर विचारप्रदर्शन इसलिये आवश्यक नहीं है कि लेखक के दृष्टिकोण या वैचारिक भूमिका का ज्ञान दो–तीन लेखों के सम्यक् परीक्षण से भी हो जाता है और समीक्षा में प्रमुखतया लेखक के मूलभूत दृष्टिकोण की ही चर्चा करनी है। यह दृष्टिकोण प्रथम लेख में अच्छी तरह प्रस्तुत किया गया है। 'दर्शन का आधार' शीर्षक के प्रथम लेख में पुस्तक के समग्र विवेचन की केंद्रीभूत अवधारणा 'प्रत्ययों पर यदृमुख या ऊर्ध्वगामी निवर्तन अथवा अभिसरण' का स्पष्टीकरण किया गया है। इस स्पष्टीकरण का आरंभ 'सत्' तथा 'चित्' के सम्बन्ध के विमर्श से

होता है। लेखक महोदय कहते हैं कि 'सत् चित् से बाहर ज्ञेय नहीं होकर उसका अपना सत्य है जो जगद्भाव में अपने को सर्जित करता है और आत्मोन्मुख भाव में अपने तत्त्व में प्रतिष्ठित होता है। .... ज्ञान की ... यह आत्मवृत्ति में अवस्थिति उसके द्वारा की बाहर खोज में निष्फल होकर उसे अपने ही भीतर पाने में है।' आगे चल कर लेखक ने प्रश्न उठाया है कि 'प्रत्यय को विषयोन्मुख क्यों न माना जाय, भले ही विषय प्रत्यय का अन्तर्गत अर्थ ही क्यों न हो?' इस प्रश्न का समाधान उन्होंने यह दिया है कि 'आत्मसत्ता का विषयसत्ता में समर्पण बहुत महंगा पड़ता है क्योंकि इससे सर्व अर्थ-प्रसंग और अन्वेषण निराधार हो जाते हैं। सत्ता अवश्य शेष रहती है किन्तु अपनी अन्य निरर्थकता में स्थिर, जिससे सृजन, अन्वेषण... सब रिक्त हो जाते हैं।' 'यह मान भी लिया जाय कि सत् (या प्रत्यय) विषयमूलक है तो भी दर्शन उसे अपने आधार के रूप में स्वीकार नहीं कर सकता, क्योंकि दर्शन के लिये यह प्रत्ययात्मक विमर्श द्वारा निर्धार्य है कि सत् क्या है?' 'प्रत्यय किस प्रकार यह निर्धारण करता है?' ऐसा प्रश्न यहाँ उपस्थित कर उस पर लेखक महोदय कहते हैं कि 'प्रत्ययमूलक निर्धारण सर्वथा भिन्न प्रकार का होता है। प्रत्यय विषय का निर्धारण व्यापकता के व्यावर्तन के रूप में करता है। ......निर्धारणों का यह लक्षण है कि ये अपने व्यावर्तक के साथ व्यापकतर निर्धारण में एकाकार हो सकते हैं, जैसे परस्पर व्यावर्तक 'घट' और 'पट' निर्मित वस्तु में।......प्रत्यय के प्रत्येक ग्रहण का......व्यष्टि से व्यापकतर होना विशेष से स्वातंत्र्य का द्योतक है और यह स्वातंत्र्य चैतन्य के आत्मोन्मुख प्रवर्तन को प्रकट करता है।......घटव्यष्टि केवल घटजाति का एक उदाहरणमात्र नहीं होता बल्कि ऊर्ध्वोन्मुख प्रत्यय के इंद्रियगम्य माध्यम में आत्मनिरूपण का साधन भी होता है जिस कारण प्रत्येक घट सुधार कि अपेक्षा से गर्भित, असंख्य सम्भव घटरूपों में से एक रूप का धारक और व्यष्टिरूप में पूर्णतः आगंतुक और अनावश्यक होता है।'

इन उद्धरणों का समुच्चित तात्पर्य यह है कि जिसे हम वस्तु या विषय कहते हैं उसका स्वरूप हमारे तद्विषयक प्रत्यय निर्धारित किया करते हैं। यह निर्धारण क्रमशः अधिकाधिक व्यापक होता जाता है। जैसे किसी वस्तुविशेष – घट – से आरम्भ किया जाय तो अन्यान्य घटों का घटत्व से, घट और अघट द्रव्य-पदार्थों का द्रव्यत्व से द्रव्य और अद्रव्यों का प्रमेयत्व से निर्धारण हो सकता है। इन निर्धारण श्रेणियों का जनक प्रत्यय ही है। ऐन्द्रिक विषय भी परिप्रेक्ष्यात्मक होने से निर्धारण-सापेक्ष होते हैं। वस्तुमात्र प्रत्ययानुविद्ध है। निर्धारण परम्परा की परिसमाप्ति अनिर्धार्य में होती है जो सर्व निर्धारणातीत अद्वय मूलतत्त्व है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि यह सारा विवेचन हेगलीय प्रत्ययवाद से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। यह हेगलीय प्रत्ययवाद ही है ऐसा हम इसलिये नहीं कह रहे हैं कि इसमें इससे असंगत कुछ बातें भी मिला दी गयी हैं। विषयों के अस्तित्व को नितान्त आगंतुक बनाना इस प्रत्ययवाद के विरुद्ध है। ऐन्द्रिक विषय को परिप्रेक्ष्यात्मक मानते हुए भी उसे पूर्णतया आगंतुक कहना भी हेगलीय विचार–प्रणाली के विरुद्ध है। और प्रत्यय तथा प्रत्येय में परस्पर सापेक्षता हो जैसा एक स्थान पर स्पष्टतया कहा गया है – तो प्रत्ययों का पर्यवसान व्यापकतम प्रत्यय में होता है यह लेखक का कथन भी अतीव विचित्र प्रतीत होता है।

इसके बाद दर्शन का स्वरूप स्पष्ट करते हुए लेखक महोदय ने एक महत्त्व-पूर्ण तथ्य पर जो प्रकाश डाला है वह मननीय है। वे कहते हैं –' ... दर्शन को भूत तक सीमित करना और भाव्य का उसमें आकलन नहीं करना उसकी मूल-गामिता के आदर्श के विरुद्ध है। कोई समग्र दृष्टि सैद्धांतिक ग्रहण तक सीमित नहीं रह सकती।' '......परम (समग्र) दृष्टि भूत के साथ भाव्य का और इनसे ऊपर समत्व का भी समावेश करती है।' यहाँ तक तो ठीक है। लेकिन इसके बाद की दो-तीन पंक्तियों में क्या प्रतिपादित है यह ठीक समझना कठिन है। पंक्तियाँ इस प्रकार हैं ''हाइडेगर और सार्त्र में सैद्धांतिक और एषणात्मक दृष्टियों का एक व्यापकतर दृष्टि में समावेश मिलता है। किन्तु उनमें समत्वदृष्टि या आध्या-त्मिक दृष्टि का अभाव है। इसके विपरीत शंकर के ब्रह्मसूत्रभाष्य में वैज्ञानिक सैद्धांतिक दृष्टि का अभाव है। अवश्य नागार्जुन, वसुबन्धु, दिङ्नाग, ईश्वरकृष्ण आदि के..... दर्शन में वैज्ञानिक और आध्यात्मिक दोनों दृष्टियों का समन्वय है किंतु ....भारतीय दार्शनिकों में एषणात्मक दृष्टि का संग्रह नहीं है। ..' जैसे पीछे निर्देश किया जा चुका है वैज्ञानिक, सैद्धांतिक तथा एषणात्मक दृष्टियों का स्वरूप विशद किये बिना उपर्युक्त निश्चयात्मक कथन केवल वैयक्तिक आग्रह के ही निदर्शक प्रतीत होते हों तो आश्चर्य नहीं।

प्रत्ययों के ऊर्ध्वारोहण क्रम को हुसर्ल के स्थगनसंप्रत्यय की सहायता से समझाते हुए लेखक जो कहते हैं वह मननीय है। सम्बद्ध वाक्य इस प्रकार है— 'हुसर्लीय स्थगन वस्तुग्राही चैतन्य में अतिक्रमण करता है। गीता के उस चैतन्य में वस्तुग्राही के साथ-साथ आनुभूतिक भी है'......'वास्तव में प्रत्ययात्मक ऊर्ध्वा-रोहण द्वारा अपेक्षित वैराग्य की सिद्धि जगत् को एक तमाशे में बदल देती है, जो न केवल लक्षित के सत्त्व का स्थगन है बल्कि उसकी आकर्षकता का भी स्थगन है।'......'इस प्रकार दर्शन सिद्धान्त और अनुभूति दोनों का समावेश कर उसका अतिक्रमण करता है। इसके लिये आवश्यक है कि जगत को उसकी सम्पूर्णता में

ग्रहण कर उसका अतिक्रमण किया जाय और इस प्रकार विषयात्मक का ही नहीं भावनात्मक का भी, ज्ञानात्मक का ही नहीं भोगात्मक का भी, सैद्धांतिक का ही नहीं मूल्यात्मक और पारमार्थिक का भी अपने प्रत्यङ्मुख अभिसरण में समावेश और अतिक्रमण किया जाय।'

उद्धृत उक्तियां बहुत सुन्दर हैं। कहीं अधिक सुन्दर यह होता कि लेखक किसी दार्शनिक सम्प्रदाय का उदाहरण लेकर यह विशद करते कि कैसे उस सम्प्रदाय में अन्यान्य दृष्टियों का समन्वय सम्भव है। समन्वयवादी दर्शन बहुत हुए हैं परन्तु उनमें से किसी ने उपर्युक्त दृष्टियों के समन्वय का प्रयास किया हुआ दृग्गोचर नहीं होता।

एक अन्य 'मूल्य : विषय-सत्ता' इस शीर्षक का लेख प्रथम लेख के ही विचारों को अंशतः पुनः प्रस्तुत करता है। इसकी चर्चा हमने अन्यत्र की है। इसमें 'सत्ता' के सम्बन्ध में कुछ महत्त्वपूर्ण बातें चर्चित हैं। लेखक के विचार में तथ्य देशकाल-परिच्छिन्न होते हैं, जबकि मूल्य तथ्यों से परे चिदाकाश में प्रतिष्ठित होते हैं। अब प्रश्न है कि तथ्य यदि देशकालपरिच्छिन्न ही बने रहे तो वे देशकाल से अपरिच्छिन्न मूल्यों के अधिष्ठान कैसे होंगे ? इन दोनों को एक-दूसरे से पूर्णतया अलग समझना उपयुक्त नहीं। तथ्य और मूल्य में होने वाले भेद को सापेक्ष मान कर ही यह समस्या हल की जा सकती है। न तथ्य भूतमात्र स्वभाव होते हैं, न मूल्य ही भाव्यमात्र स्वभाव। तथ्य मूल्य की अभिव्यक्ति के माध्यम हैं यह मान लिया जाय तो प्रत्येक तथ्य को ही उसके सीमित स्वरूप में मूल्य का अभिव्यंजक अतएव मूल्याधिष्ठित या मूल्यक ही मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

अब 'कलातत्त्व' शीर्षक अन्तिम लेख को लें। इसमें कलात्मक अनुभूति के स्वरूप का विश्लेषण किया गया है। लेखक कहते हैं-"कला भावना-मूलक होती है और वास्तव को लक्षित नहीं कर विषय का कल्पना द्वारा आक्षेप करती है। ......कलाकार की कल्पनासृष्टि भावना के उपयोग के लिये नहीं होती। ...... कलाकार भावना के भोगित्व का प्रेक्षकत्व में अतिक्रमण करता है।......यह प्रेक्षकत्व न वस्तुलोक का होता है न प्रत्ययलोक का। यह......विषयिगत अर्थों का उनकी विषयिता में ही होता है। इस कलात्मक विमर्श में दृष्टि विषयित्व से उपरंजित नहीं होती। वह विषयित्व का विषयित्व की उपाधि से मुक्त हो कर अवगमन करती है।... कलाकार को विषयिता से उतना ही मुक्त होना होता है जितना वैज्ञानिक को। वैज्ञानिक देश-काल में निर्विशिष्ट स्थिति सिद्ध करना चाहता है।' क्या कलानुभूति का यह वर्णन स्वीकाराई है ? क्या कलाकार विषयता

से मुक्त हो कर विषयिगत अर्थों का साक्षात्कार करता है? वास्तविकता ठीक इसके विपरीत प्रतीत होती है। आदिकवि वाल्मीकी के मुख से सर्वप्रथम कविता जो प्रस्फुटित हुई वह व्याध के बाण से विद्ध क्रौंच पक्षियों के जोड़े में से एक को नीचे गिर कर तड़पते देख कर जो आत्यंतिक करुणा उनके हृदय में उमड़ पड़ी उसकी शाब्दिक अभिव्यक्ति ही थी। (जैसा कहा है: 'शोकः श्लोकत्वमागतः') वाल्मीकी प्रेक्षकभाव से क्रौञ्चपक्षी का तड़पना देख सकते तो न उन्हें शोक होता न वह काव्य के रूप में उनके मुख से फूट पड़ता। कलाकार न साक्षी होता है न सामान्य प्रेक्षक।

अभिनवगुप्त की कलानुभव की उपपत्ति की घटक जो साधारणीकरण की प्रक्रिया है उस पर लेखक कहते हैं कि ... 'शकुन्तला यदि नारी सामान्य के लिये संकेत बन जाती है तो फिर सीता किसके लिये संकेत बनती है?' समझ में नहीं आता कि साधारणीकरण का यह अर्थ लेखक महोदय ने कैसे किया? साधारणीकरण कलाकार रसिक आदि का होता है, न कि शकुन्तला आदि पात्रों का।

प्रथम लेख में लेखक की वैचारिक भूमिका का विवेचन होने से उस पर हमने विस्तृत टिप्पणी लिखी। वैसे प्रत्येक लेख प्रभूत चिन्तन-सामग्री प्रस्तुत करता है और तत्त्वचिन्तन को एक दिशा प्रदान करता है। भारतीय दार्शनिक जगत् में जहाँ स्वतन्त्र चिन्तन की प्रवृत्ति का अभावसा है वहाँ इस प्रकार की पुस्तक का यथोचित स्वागत होना चाहिये।

नारायणशास्त्री द्राविड़

'ॲफेक्शन'
४७४/अ, प्रोफेसर्स कॉलोनी
हनुमान नगर
नागपुर – ४४०००९

– २ –

वीरेन्द्र सिंह (डॉ.) (संपा.); समकालीन कविता-सम्प्रेषण : विचार : आत्मकथ्य, पंचशील प्रकाशन, जयपुर, १९८७; प्रथम संस्करण; पृ. १७५; सजिल्द; मूल्य : रुपये ६० /–

समकालीन कविता वीरेन्द्र सिंह द्वारा सम्पादित हाल ही में प्रकाशित, एक नए ढंग का समीक्षा-संकलन है। इस संकलन में समाविष्ट निबन्धों में से डॉ. धनराज चौधरी का "समसामायिक कविता और विज्ञानी तेवर" यह निबन्ध पहले परामर्श (हिंदी) के खण्ड ८ अंक २ में मार्च, १९८७ में प्रकाशित हुआ था, तथा डॉ. प्रकाश श्रीवास्तव का "ऐब्सर्डिटी बनाम समकालीन कविता" यह निबन्ध प्रस्तुत पुस्तक में प्रकाशित होने के पूर्व परामर्श (हिन्दी में प्रकाशनार्थ स्वीकृत किया गया था। इस संकलन के द्वारा वीरेन्द्र सिंह ने समीक्षा को एक ऐसे व्यापक धरातल पर प्रस्तुत करने का प्रयास किया है. जिसे वे अन्तरानुशासनीय कहते हैं। इस दृष्टि से प्रेरित होकर उन्होंने जिन समीक्षाओं कोप्रस्तुत किया है, उन्हें विभिन्न अनुशासनों से सम्बन्धित विज्ञों ने लिखा है, जो परोक्ष अथवा अपरोक्ष रूप में साहित्य से सम्बद्ध रहे हैं। इन समीक्षाओं के अतिरिक्त उन्होंने कुछ कवियों को कुछ विशिष्ट प्रश्नों के आलोक में, विचार अभिव्यक्ति के लिए आमन्त्रित किया है। इन आत्मकथ्यों के समावेश से संकलन की रोचकता तथा उसका महत्त्व दोनों बढ़े हैं। पूरक के रूप में उसका सामने रहना आवश्यक है।

इस समीक्षा-संकलन की समीक्षा एक सीधा काम इसलिए नहीं है कि विभिन्न समीक्षकों ने विभिन्न दृष्टियों से कविता के महत्त्वपूर्ण पक्षों की ओर संकेत किया है तथा विचारोत्तेजक बिन्दु उठाए हैं। स्पष्ट है कि उन्हें व्यक्तिशः नहीं लिया जा सकता, यद्यपि वह अधिक सार्थक होता। प्रमुख रूप में, हम इस अवसर पर, दो बिन्दुओं के विषय में संक्षिप्त टिप्पणियाँ प्रस्तुत करेंगे। प्रथम, समकालीन कविता की पहचान से सम्बन्धित है, तथा दूसरा अन्तरानुशासनी दृष्टि से। समीक्षाओं के अवलोकन के फलस्वरूप एक रोचक तथ्य यह उभरता है कि यद्यपि प्रत्येक समी-क्षक समकालीन कविता के विषय में वक्तव्य देता है, उसके वक्तव्य जो प्रश्न उद्वेलित करते हैं, वे उतने समकालीन कविता के विषय में नहीं हैं, जितने स्वयं कविता के विषय में। समकालीन कविता की पहचान का प्रश्न अन्ततः कविता की

पहचान का प्रश्न बन जाता है । इसके परिणामस्वरूप समकालीन कविता की संरचना और कथ्य की दृष्टि से, जिस विशेषता की ओर समीक्षक, पाठक का ध्यान आकर्षित करते हैं, या तो वह विशेषता है, जो उसमें नहीं है परन्तु होनी चाहिए, अथवा वह विशेषता है जो उसमें है तथा जो सभी श्रेष्ठ कविताओं में होती है ।

विष्णुकांत शास्त्री समकालीन कविता में ' लयविधान ' तथा ' नादात्मकता ' का अभाव पाते हैं । आनन्दप्रकाश दीक्षित कहते हैं कि " सजग रचनाकार अपने समय की लोकचेतना का साक्षी " होता है । राघवप्रकाश मानते हैं कि " जिस कविता में यथार्थ का बृहत्तम सन्दर्भ होता है, वही कविता श्रेष्ठतम होती है... " यह यथार्थ घटना के फलक पर उभरता है, और समकालीन कविता घटना प्रधान कविता है । विश्वम्भरनाथ उपाध्याय का मत है कि " जो कविता विक्षुब्ध कविता " नहीं है, वह " कविता क्षेत्र के केंद्र से छिटक कर परिधि की पैमायश " करती होती है, और " १९७५ के बाद की कविता में आक्रोश का ऊफान, विक्षोभ में बदलता दिखाई पड़ता है...... । " भौतिकीविज्ञ धनराज चौधरी विज्ञान और कविता को ध्रुव विपरीत नहीं मानते । वे कहते हैं कि ' माना कविता अन्तर्जगत् में खोज है, और विज्ञान प्रकटतः बाह्य में, अनुसन्धान से सम्बन्धित मगर किसे तो ऊपरी कहें और किसे भीतरी । " प्रभाकर श्रोत्रीय मानते हैं कि " समकालीन कविता एक महत्त्वपूर्ण संघर्ष जनता के संवेदनावृत्त को विस्तृत करने के लिए स्वयं को विस्तृत करना है । " दार्शनिक प्रकाश श्रीवास्तव का मत देखिए " ऐब्सर्डिटी बोध समकालीन कविता का एक सशक्त एवं सुन्दर पक्ष है । इसके बिना, शायद यह कविता अपनी अस्मिता ही खो देगी...... " साथ ही वे यह भी कहते हैं कि कविता तो कविता ही होती है, उसका गुण अवगुण उसके कविता होने में ही निहित होता है । " अन्य लेखों से भी इस आशय को पुष्ट करने वाले उद्धरण दिए जा सकते हैं ।

इन विभिन्न मतों के सम्बन्ध में एक रोचक तथ्य यह सामने आता है कि समीक्षक को कोई एक बात केंद्रिय रूप में आकर्षित करती है । विभिन्न समीक्षक अलग-अलग ऐसी अनेक विशेषताओं का अलग-अलग उल्लेख करते हैं । वे सब, क्योंकि समकालीन कविता के विषय में लिख रहे हैं, स्पष्ट है, कि समकलीन कवि-ताओं में ये अनेक विशेषताएँ अपने विविध रूपों में उपलब्ध होती हैं । परन्तु समी-क्षकों का ध्यान इस वैविध्य की ओर क्यों नहीं गया— क्या इसे दृष्टिबिन्दु की अपरिहार्य सीमा मानें ?

समकालीन कविता के वैशिष्ट्य के रूप में, लोकचेतना, विक्षोभ, क्रियाप्रधा-मता, ऐब्सर्डिटी, मिथक प्रयोग, सर्वहारा, सौन्दर्यबोध, गीतात्मकता, औपन्यासिकता, विस्तृत संवेदना, वृत्त, प्रश्नाकूलता, सादगी, निजी मुहावरों का प्रयोग, बेहतर दुनिया की ओर इशारा, जैसे कुछ लक्षणों का उल्लेख किया जा सकता है, जिन्हें संकलित समीक्षाओं में अलग-अलग केंद्रीय रूप में प्रस्तुत किया गया है।

दूसरा महत्त्वपूर्ण बिन्दु अन्तरानुशासनीय दृष्टि से सम्बन्धित है। भूमिका में सम्पादक ने स्पष्ट किया है कि "उनका प्रयास समकालीन कविता की पहचान को एक ऐसे क्षितिज में तलाश करना है, जो विचार के अत्यन्त व्यापक, गत्यात्मक, तथा द्वन्द्वात्मक स्वरूप से निर्धारित होता है। इस विचार परिप्रेक्ष्य में नकार का इतना महत्त्व नहीं है जितना कि विभिन्न दृष्टियों को यथास्थान स्थित देख पाना।" वीरेन्द्र सिंह, वर्तमान बोध के बिन्दु से, इस परिप्रेक्ष्य को अन्तरानुशास-नीय कहना चाहते हैं।

ज्ञान के विकासक्रम में एक स्थिति तो यह उत्पन्न हुई है कि किसी एक ज्ञान क्षेत्र में इतनी सामग्री एकत्र हो गई है कि उस क्षेत्र के उपविभाजन करने पड़ गए हैं, और उन विभिन्न उपविभाजनों में कहीं कहीं यह स्थिति है कि एक उपक्षेत्र का विशेषज्ञ दूसरे उपक्षेत्र से असंपृक्त रह जाता है। विशेषज्ञता की इस दिशा के विपरीत एक दूसरी स्थिति यह बन रही है, कि एक क्षेत्र के विशेषज्ञ को दूसरे क्षेत्र के विशेषज्ञ के सहयोग की आवश्यकता प्रतीत होती है। विशेषकर मानवीय संदर्भ में विभिन्न समाज समाजशास्त्रों तथा मानविकी के विभिन्न क्षेत्रों में दिनों-दिन एक ऐसे मंच के आविर्भाव को स्पष्ट लक्षित किया जा सकता है कि जिसे अन्तरानुशासनीय मंच की ही संज्ञा दी जा सकती है। साहित्य तो जीवन का ही दूसरा नाम है। यदि यह ठीक है, तो यह भी ठीक मानना चाहिए कि जितना व्यापक तथा विराट् जीवन है, उतना ही व्यापक तथा विराट् साहित्य भी है। इस दृष्टि से कवि या साहित्यिक ज्ञान की किसी विधा अथवा उसके किसी भी क्षेत्र से कैसे अलग-थलग रह सकता है? फलतः साहित्यिक दृष्टि, चाहे वह रचनाकार की दृष्टि हो, अथवा सुहृद् आलोचक की, स्वभावतः अन्तरानुशासनीय सरोकारों से जुड़ी होगी। व्यक्तिगत अनुभूति अथवा अनुभव जब तक इस व्यापक धरा-तल तथा विराट् क्षितिज के आंचल में पुष्ट नहीं होते उनमें वह गहराई नहीं आ सकती जो उन्हें मानवीय संवेदन के लिए सहज सुलभ तथा सम्प्रेषणीय बना सके।

परन्तु वीरेन्द्र सिंह 'अन्तर–अनुशासनीय' से एक दूसरा अर्थ भी लेते प्रतीत होते हैं जो अतिव्याप्त जान पड़ता है। 'भूमिका' में वे कहते हैं, "अन्तरानुशासनीय दृष्टि से देखने और परखने का मतलब है विचार और संवेदना के गतिशील रूप को पकड़ना तथा वादों और सिद्धांतों को सही लोकेट करना न कि उनको नकारना..." आगे अपनी समीक्षा में वे कहते हैं कि ऐसी दृष्टि "मात्र एक ही प्रस्थापना या विचारतन्त्र को अन्तिम सत्य के रूप में स्वीकार नहीं करेगी।" (पृ. १२७) "इस दृष्टि में 'विचारधारा' का नकार नहीं है.." (१२८) इन उद्धरणों से यह प्रतीत होता है कि जिन 'सिद्धान्तों', 'वादों', 'विचार-तंत्रों' को लोकेट करने की बात वीरेन्द्र सिंह कर रहे हैं, वे सब किसी एक ही अनुशासन से सम्बन्धित हैं– सम्भवतः समाजविज्ञान अथवा राजनीतिशास्त्र से। 'जनवादी', 'प्रतिक्रियावादी', 'यथार्थवादी' जैसे पद एक ही अनुशासन से जुड़े होने का संकेत करते हैं। निश्चय ही एक ही अनुशासन में विभिन्न विवादों तथा दृष्टियों को लोकेट करने की समस्या एवं विचार तथा संवेदना के व्यापक सन्दर्भ में–विषय के बहुधर्मी, बहुआयामी होने तथा तज्जनित दृष्टि-वैभिन्य को लोकेट करने की आवश्यकता है। इसके बाद ही, व्यापक सन्दर्भ में विज्ञान, इतिहास, दर्शन तथा अन्य अनुशासनों की भूमिका तथा प्रासंगिकता को अन्तरानुशासनीय परिप्रेक्ष्य में लक्ष्य किया जा सकता है।

'भूमिका' में ही वीरेन्द्र सिंह की एक टिप्पणी है, "हमारे कविगण केवल सवेदना और अनुभव के बल पर सृजन करना चाह रहे हैं और ज्ञानात्मक संवेदन के महत्व के प्रति बहुत अधिक सजग नहीं हैं।" जिस सन्दर्भ में यह बात कही गई है वह कवियों के अन्तरानुशासनीय बोध से सम्बन्धित है। वीरेन्द्र सिंह की इस बात से तो सभी सहमत होंगे कि सर्जक की संवेदना का क्षितिज ज्ञानात्मक पटल पर जितना व्यापक होगा उतना ही वह उसकी अनुभूति का समृद्ध बताएगा। परन्तु जब वे इस क्षितिज को "विभिन्न ज्ञान क्षेत्रों" के 'अनुशीलन' (पृ. १२७) में समेट लेते हैं, तथा उसे रचनाकार के लिए एक अर्हता के रूप में प्रस्तावित करते हैं तब वही खतरा उत्पन्न होगा जो "आरोपि", "प्रयोग" व 'सोच' (पृ. १३५) की अधीनता से जन्मेगा।

आत्मकथ्य खण्ड में जिस रूप में रचनाकारों ने व्यापक ज्ञानबोध को स्वीकारा है, शायद वही उसका सही रूप हो सकता है – अर्थात् वह रूप जिससे व्यापक ज्ञानबोध रचना पर सहज प्रभाव छोड़ता है। इस खण्ड के वक्तव्यों में एक रोचक पक्ष कवियों के सर्जन की विभिन्न स्थितियों तथा सोपानों

के निर्वचन के साम्य में परिलक्षित होता है। इस सन्दर्भ में नीरज ने एक महत्वपूर्ण बात की ओर ध्यान दिलाया है। वह यह कि साधारण रूप में सर्जन की जो भी अपेक्षाएं हैं, उनकी पूर्ति के बावजूद ऐसी कविता का निर्माण हो जाय जो शाश्वत अथवा कालजयी हो, यह आवश्यक नहीं है।

सृजनात्मकता यन्त्रबद्ध नहीं हो सकती, इसी में उसका तत्त्व निहित है।

पुस्तक में छपाई की भूलें कम हैं। साजसज्जा तथा मुखपृष्ठ पर रेखाकृति सुन्दर है। यदि सजिल्द कुछ और सबल होती तो और अच्छा होता।

दर्शन विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय
जयपुर– ३०२००४
(राजस्थान)

राजेन्द्रस्वरूप भटनागर

परामर्श (हिन्दी) खण्ड ९ के योगदाता

आजीवन सदस्य (व्यक्ति)

१७०. डॉ. नीलिमा सिन्हा

जगदम्बा भवन
नगमतिया (स्वराज्यपुरी) रोड
गया — ८२३००१
(बिहार)

प्रोफेसर जी. आर. मलकानी निबंध-प्रतियोगिता

किसी भी भारतीय शिक्षा–संस्था में अध्ययन करने वाले और २५ वर्षों से जादा उम्र न होने वाले स्नातक–पूर्व या स्नातकोत्तर छात्र / छात्राओं से प्रोफेसर जी. आर. मलकानी निबंध प्रतियोगिता के लिए "शंकराचार्य की प्रपञ्च-संकल्पना" इस विषयपर अंग्रेजी या हिन्दी में निबन्ध आमन्त्रित किए जा रहे हैं। प्रतियोगिता के लिए स्वीकृत निबन्धों के अधिनिर्णयन के लिए नियुक्त किए गए निर्देशियों के मतानुसार प्रथम तथा द्वितीय निबन्धों का क्रमश: रुपये २००/- और रुपये १००/- के पारितोषिक दिए जाएँगे, और पारितोषिक प्राप्त निबन्ध कालान्तर से **इण्डियन फिलॉसॉफिकल क्वार्टर्ली** की छात्रा-परिशिष्ट या **परामर्श** (हिन्दी) इन त्रैमासिकों में प्रकाशित किए जाएंगे। उक्त पारितोषिक के लिए पेश किए जाने–वाले निबन्धों को निम्नलिखित शर्तों के अनुसार प्रस्तुत करना होगा :–

१. निबन्ध डबल स्पेस में कागज़ की एक बाजू पर टंकलिखित किया हुआ और दो प्रतियों में होना चाहिए।

२. निबन्ध २५०० शब्दों में से जादा लम्बाई का न हो।

३. निबन्ध के साथ छात्र-छात्रा जिस संस्था में अध्ययन करता / ती हो उस संस्था / विभाग प्रमुख / अध्यक्ष का ऐसा प्रमाण-पत्र होना चाहिए कि

अ) छात्र / छात्रा उक्त संस्था / विभाग में अध्ययन कर रहा / ही है और उसकी उम्र २५ वर्षों से जादा नहीं है।

ब) प्रतियोगिता मे प्रस्तुत निबन्ध उक्त छात्र / छात्रा ने लिखा हुआ है।

४ यह आवश्यक है कि प्रतियोगिता के लिए प्रस्तुत किए जाने वाले निबन्ध डॉ. प्र. प्र. गोखले जी के पास दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, गणेशखिण्ड, पुणे ४११००७ इस पते पर हर हालत में ३१–१०–१९८८ तक पहूँच जाने चाहिए।

५. अधिनिर्णयन के लिए नियुक्त किए गए निर्देशियो का निर्णय सारे प्रति–स्पर्धियों पर बन्धन-कारक होगा और उक्त विषय में किसी भी प्रकार का पत्राचार नहीं किया जायगा।

अध्यक्ष, दर्शन विभाग
पुणे विश्वविद्यालय
गणेशखिण्ड, पुणे– ४११००७